भा०—ब्रह्मशक्ति तीन प्रकार की है (पूर्वा) प्रथम जो सृष्टि के पूर्व में या पूर्ण रूप में (अलसाला) अलं=अति अधिक गतिवाली, क्रियावती या (अ-लसाला) अव्यक्त (असि) है। और (उत्तरा) उसके बाद (सिल-अञ्ज्-आला) कण कण, परमाणु २ में व्यापक जगत् को व्यक्त करने में समर्थ हो जाती है। और इसका तीसरा रूप (नीलागलसाला) नील अन्धकारमय, तामस आगल=सबकी संहारक प्रचण्ड वेग वाली होती है।

सायण के मत से—आवयु=सर्षप। उसका रस तैल है। 'विहल्ल' और मदावती का कुछ पता नहीं। करम्भ-तेलमें भुना सरसों के पत्तों का शाक। तौविलिका=कोई पिशाची ऐनाक=आंख का रोग। बभ्रु, बभ्रुकर्ण नामक रोग दो कारण ! अलसाला, सिलांजाला और नीलागलसाला ये तीन प्रकार के धान्यों के नाम हैं। कौशिक ने 'शलाञ्जाला' नामक धान्य का का उल्लेख किया है। कदाचित् धान्य सामान्य को 'सलाञ्जाला' कहा जाता है। शेष भी इसीके नाम रूपभेद से प्रतीत होते हैं। कौशिक ने अन्नों के दोष शान्ति के निमित्त उर्वराभूमि में तीन धान्य मञ्जरी गाड़ने में इस ऋचा का विनियोग लिखा है। परन्तु ऋचा का रहस्य बहुत गूढ़ और अस्पष्ट है।



[१७] गर्भधारण, प्रजनन-विद्या।

अथर्वा ऋषिः। गर्भदृंहणं देवता। अनुष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ १ ॥

भा०—गर्भधारणकी मूल विद्या का उपदेश करते हैं। (यथा) जिस प्रकार (इयम्) यह (मही) विशाल (पृथिवी) पृथिवी

[१७] १-(च०) 'अनुसूत्रम्' इति सायणाभिमतः।

❀ ओ३म् ❀

अथर्ववेदसंहिता

भाषा-भाष्य

(द्वितीय खण्ड)

भाष्यकार

श्री पण्डित जयदेव शर्म्मा,

विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ.

प्रकाशक

आर्य्य-साहित्य मंडल, अजमेर.

मुद्रक—

सस्ता-साहित्य प्रेस, अजमेर.

प्रथमावृत्ति २००० } सं० १९८५ वि० { मूल्य ४) रुपये

और पालती है (एवा ते ध्रियताम् गर्भः) इसी प्रकार हे स्त्रि ! तेरा गर्भ पालित पोषित रहे, मरे न, जिससे (अनु सूतुं सवितवे) बाद में पुत्र सन्तति उत्पन्न हो ।



[१८] ईर्ष्या का निदान और उपाय ।

अथर्वा ऋषिः । ईर्ष्याविनाशनं देवता । १,४ अनुष्टुभः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम् ।
अग्निं हृदय्यं१शोकं तं ते निर्वापयामसि ॥ १ ॥

भा०—(ईर्ष्यायाः) दूसरे की उन्नति को देख कर हृदय में उत्पन्न होनेवाली ईर्ष्या के (प्रथमाम्) प्रथम (ध्राजिं) तीव्र वेग को (निः—र्वापयामसि) हम पहले ही शान्त कर लिया करें । यदि यह न हो सके तो (उत) फिर (प्रथमस्याः) पहले वेग से उत्पन्न दूसरा उससे मन्द वेग होता है उस (अपराम्) दूसरे वेग को ही (निः वापयामसि) हम शान्त कर लें । हे पुरुष ! हम तो (ते) तेरे (तम्) उस पूर्वोक्त प्रकार के (हृदय्यम्) हृदय में सुलगनेवाले (अग्निं) आग रूप (तं शोकम्) उस शोक-विषाद को भी (निः—वापयामः) शान्त करें ।

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा ।
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (भूमिः मृतमनाः) यह भूमि, मिट्टी मरे दिलवाली, अचेतन है और (मृतात्) यह मरे हुए मुर्दे से भी अधिक (मृतमनः—स्तरा) मुर्दादिल है (उत) और (यथा) जिस प्रकार

(द्वि०) 'मध्यमामधमामुत । सत्यं हृदय्यं' (च०) 'निर्मन्त्रया महे' इति पैप्प० सं० ।

भा०—मैं ऋणी या दोषी पुरुष (वैश्वानराय) समस्त पुरुषों के हितकारी जज मजिस्ट्रेट या धर्माध्यक्ष के समक्ष (यद् ऋणम्) जो मेरे ऊपर ऋण है उसको (प्रति-वेदयामि) स्पष्टरूपसे स्वीकार करता हूं। और (देवतासु) देव-विद्वान् पंचों के बीच (यः संगरः) जो मेरी प्रतिज्ञा है उसको भी निवेदन करता हूं। (सः) वह धर्माध्यक्ष ही (एतान् सर्वान् पाशान्) इन सब दण्डव्यवस्थाओं को (विचृतम्) स्पष्टरूप से (वेद) जानता है (अथ) और हम सब प्रजागण (पक्वेन सह) परिपक्व, सुविचारित परिणाम के साथ (सं भवेम) सहमत हों।

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत् संगरमभिधावाम्याशाम् ।
अनाजानन् मनसा याचमानो यत् तत्रैनो अप तत् सुवामि ॥३॥

भा०—(पविता) सत्य और असत्य दोनों का विवेक करने वाला (वैश्वानरः) सर्वहितकारी धर्माध्यक्ष अपने सत्य विवेक से (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे, मेरे दोष को दूर करे। (यद्) जब मैं (सं-गरम्) सत्य प्रतिज्ञा को (आशाम्) कालान्तर से पूर्ण करने की इच्छा (अभिधावामि) करूँ और (अनाजानन्) बिना जाने (मनसा) मन से (याचमानः) दया, क्षमा, याचना करता हुआ भी (तत्र) उस काम में (यत् एनः) जितना या जो अपराध है (तत्) उसको (अप-सुवामि) दूर करूँ।

[१२०] पापों का त्याग कर उत्तम लोक को प्राप्त होना।

कौशिक ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवता । १ जगती । २ पंक्तिः । ३ त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

३—(प्र०) 'पवमान् नः पवित्रैः' । (च०) 'अत्रैनो अव तत्' इति तै० आ० । (द्वि०)—'धावान्या' इति सायणाभिमतः ।

द्वितीय खण्ड की भूमिका



अथर्ववेद के सम्बन्ध में हमने सामान्यतः प्रथम खण्ड की भूमिका में विवेचन किया है। इस द्वितीय खण्ड की भूमिका में हम कुछ अन्य विवादास्पद विषयों पर अपने मन्तव्यों को स्पष्ट करना चाहते हैं।

अथर्ववेद में जादू टोना, अभिचार, कृत्या, मणि, वशीकरण, उच्चाटन, मोहन, झाड़ा फूंका आदि नाना तान्त्रिक प्रपञ्चों की बातें कौशिक सूत्र के आधार पर प्रायः मानी जा रही हैं। श्रीसायणाचार्य कृत माधवीय वेदार्थ प्रकाश में प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में विनियोगों को दर्शा कर पुनः भाष्य किया गया है। उससे सर्वसाधारण की यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि ये सब विनियोगों में कही बातें जैसे तैसे अथर्ववेद से ही सम्बद्ध हैं और उसमें विद्यमान हैं।

इस सम्बन्ध में पूर्व खण्ड की भूमिका में हमने 'अथर्ववेद और जादू टोना' इस शीर्षक के नीचे [पृष्ठ २३—३४] कुछ दिग्दर्शन कराया है। वहीं हमने अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है। उसको हम पुनः न दोहरा कर इस भूमिका में मुख्यतः मणि, कृत्या, अभिचार, भूत पिशाच, ओदन पशु बलि, तथा कुछ घृणित और मूर्खता पूर्ण विधानों पर प्रकाश डालेंगे।

(१) मणि

प्रथम नव काण्डों में से लगभग तीस सूक्तों के विनियोगों में श्री सायणाचार्य और उनके सम्पादक श्री शङ्कर पाण्डुरंग ने मणि बांधने का उल्लेख किया है। यह 'मणि' क्या पदार्थ है और वेद में 'मणि' शब्द से क्या पदार्थ अभिप्रेत है इसकी आलोचना करते हैं।

के नाशकारी (सोमम्) स्वच्छ वायु रूप अमृत का (पिव) पान कर। और हे (शूर) रोगनाशक जीव ! तू (माध्यन्दिने) दिन के मध्य काल के (सवने) सवन में बलिवैश्वदेव अतिथियज्ञ आदिके अवसर पर स्वयं भी (आ-वृपस्व) सब प्रकार अन्न आदि खाकर पुष्ट हो। और (रयि-स्थानः) शरीरके धनस्वरूप रयि=प्राण में स्थिति प्राप्त करके (अस्मासु) हम इन्द्रियगण में भी (रयिम्) उस प्राण को (आ धेहि) प्रदान कर। इससे हम सब बलवान् नीरोग रहेंगे।

[७७ (८२)] राष्ट्रवासियों के कर्त्तव्य।

अंगिराः ऋषिः। मरुतः सांतपना मन्त्रोक्ताः देवताः। १ त्रिपदा गायत्री। २ त्रिष्टुप्। ३ जगती। तृचात्मकं सूक्तम्॥

सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन। अस्माकोती रिशादसः॥१॥
ऋ० २७। ५६। ६॥

भा०—हे (सांतपनाः) भली प्रकार तपश्चरण करनेवाले (मरुतः) विद्वान् पुरुषो ! अथवा हे शत्रुओं को अच्छी प्रकार तपानेवाले (मरुतः) वायु के समान तीव्र गति वाले सैनिक भटो ! (इदं हविः) तुम लोगों के निमित्त यह अन्न पर्याप्त रूप में विद्यमान है। (तत्) उसको (जुजुष्टन) प्रेम से स्वीकार करो। और हे (रिशादसः) हिंसक शत्रुओं के विनाशक आप लोग (अस्माकम्) हमारी (ऊती) रक्षा के लिये रहो।

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति।
द्रुहः पाशान् प्रति मुञ्चतां सस्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम्॥२॥
ऋ० ७। ५१। ८॥

---

[७७] १—'युष्माकोती रिशादासः' इति ऋ०।
२—(प्र०) 'यो नो मरुतोऽभिदुर्हृणायुः' (तृ०,च०) द्रुहः पाशान् प्रति

मणि शब्द का अर्थ

उणादि सूत्र 'सर्वधातुभ्य इन्' ४ । ११८ ॥ के अनुसार 'मण' शब्दे' (भ्वादि) धातु से 'इन्' प्रत्यय करने से 'मणिः' शब्द सिद्ध किया है। भाष्य में महर्षि दयानन्द 'मणति शब्दयतीति मणिः' यह अर्थ लिखते हैं। अर्थात् जो उपदेश दे वही मणि है। फलतः वह पुरुष जो उपदेश दे, शिक्षा दे, मार्ग दिखावे, नेता, शिरोमणि, उपदेष्टा, गुरु, मार्गदर्शी आदि 'मणि' शब्द से कहे जाने योग्य हैं। इसी प्रकार 'मनु ज्ञाने' (दिवादिः), 'मन स्तम्भे (चुरादिः) 'मनु अवबोधने' (तनादिः) इन तीन धातुओं से 'इन्' प्रत्यय करने और छान्दस णत्व करने से 'मणि' शब्द सिद्ध होता है। इससे मणि शब्द से तीन अर्थों का लाभ होता है जो ज्ञानवान् हो, जो थामे, शत्रुओं का स्तम्भन करे, राज्य आदि का कोई भार अपने ऊपर ले, और जो दूसरों को ज्ञान करावे, चेतावे, बुद्धि देवे, ये सब 'मणि' शब्द से कहे जाने योग्य हैं। लोक में 'मणि' रत्न का वाचक है। इसकी व्युत्पत्ति मडि धातु से करके शोभा जनक रत्नादि का वाचक 'मणि' शब्द बना लेते हैं।

कौशिक सूत्रों में जहां 'मणि' बांधने आदि का प्रकरण है वहां किसी भी निर्दिष्ट पदार्थ को अभिमन्त्रित करके उसकी गुटिका बना कर या मणका बना कर या तावीज या पुटिका बनाकर बाहु, गले, कटि आदि भागों में पहनने के पदार्थ को ही 'मणि' शब्द से कहा गया है। ओषधि आदि भी धारण रोगों को दूर करने से 'मणि' कहा सकता है। परन्तु वेद में जहां २ मणि शब्द का प्रयोग है वहां क्या पदार्थ लेना चाहिये यह तो मन्त्र में प्रयुक्त मणि शब्द के विशेषणों से ही जानना चाहिये। अन्यथा अनर्थ होगा। उदाहरण के रूप में क्रम से विचार करते हैं।

(१)—कृष्णलमणि—अथर्ववेद [का० १ सू० ५] 'अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तु०' इस सूक्त से दो कृष्णलमणि धारण करने को लिखा है। इस सूक्त में ४ मन्त्र हैं। चारों मन्त्रों में कहीं भी मणि शब्द का

होओ । तीसरा चौथा दोनों मन्त्र अध्यात्म पक्ष में बड़े स्पष्ट हैं । (१) (यान् उशतः आवह हे देव तान् अग्ने स्वे सधस्थे प्रेरय) हे देव आत्मन् ! अग्ने मुख्य प्राण ! सबके नेतः ! विषयों की अभिलाषा करने वाले जिन इन्द्रियों को तुम धारण करते हो उनको शरीरप्रवेशकाल में अपने २ स्थान में प्रेरित करते हो । (सः वः जक्षिवांसः पपिवांसो मधूनि अस्मै वसूनि धत्त) हे वासकारी प्राणो ! तुम इस देह में कर्म फल भोगते और विषय रस का पान करते हुए भी मधुर ज्ञानों को आत्मा को प्रदान करो । (२) (हे देवाः वःसुगा सदनानि अकर्म ये मे सर्वे जुषाणाः आजग्म) हे प्राणगण ! देवो ! जो आप मुझ आत्मा के जीवनमय यज्ञ में मेरे से प्रीति रखते हुए आ गये हो तो तुम्हारे लिये सुख से गमन करने योग्य इन्द्रिय आयतनों को मैंने बना दिया है । (स्वा वसूनि वहमानाः भरमाणाः वसु घर्मं दिवम् अनु-आरोहत) अपने २ प्राणों को धारण करते हुए और ज्ञान को धारण करते हुए पुनः प्रकाशस्वरूप मोक्षानन्द को प्राप्त करो । इसी शैली पर यह वचन ईश्वर का मुक्त और भक्त आत्माओं के प्रति भी जानना चाहिये ।

यज्ञं य॒ज्ञं ग॑च्छ य॒ज्ञप॑तिं गच्छ । स्वां योनिं॑ गच्छ॒ स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

यजु० ८ । २२ ॥

भा०—हे (यज्ञ) आत्मन्, समाधि द्वारा ईश्वर के साथ संगति लाभ करनेहारे आत्मन् ! तू (यज्ञम्[१]) उस पूज्य यज्ञरूप परमेश्वर को (गच्छ) जा, प्राप्त हो। हे आत्मन् ! तू तो उसी (यज्ञ-पतिम्) समस्त यज्ञों, जीवों के पालक प्रभु को (गच्छ) प्राप्त कर । (स्वाहा) यह कितना अच्छा आदेश है कि तू (स्वां) अपने (योनिम्) परम आश्रयस्थान, स्वयोनि, आत्मभू स्वयम्भू, प्रभु को ही (गच्छ) प्राप्त हो । बस यही (स्वाहा) सबसे उत्तम आहुति है कि आत्मा को परमात्मा में समर्पण करे ।

५—१ यज्ञं परमात्मानं विष्णुमिति सायणः ।

प्रयोग नहीं है। फलतः यह विनियोग मूर्खता युक्त है। इस सूक्त का प्रयोग राष्ट्रच्युत राजा को पुनः राज्यासन पर बैठाने के लिये भी प्रयुक्त होता है। आयु, बल, वीर्य आदि प्राप्ति के कार्यों में भी इसका विनियोग है। राजा के लिये बल, वीर्य, और ब्रह्मचारी के लिये बल, वीर्य प्राप्त करनेपरक जो उत्तम उपदेश निकलते हैं वही इस सूक्त के समुचित अर्थ हैं। यह भाष्य में देखिये।

(२)—'शुक्ल वीरणोषीका मणि'—उद्विग्न पुरुष के उद्वेग नाश के लिये श्वेत सरकण्डे के सींख की बनी मणि को 'उप प्रागाद् देवः०' [अथर्व० १।२८॥] इस सूक्त से धारण करने के लिये लिखा है। इस सूक्त में भी कहीं मणि शब्द का प्रयोग नहीं हैं। परन्तु कौशिक ने भी मणि का नाम नहीं लिया। प्रत्युत वीरण की चार सींके लेकर उनको दोनों तरफ से बांधने, और दो जलती लकड़ियों को परस्पर रगड़ने की क्रिया लिखी है। जिसका अभिप्राय यह है कि यदि राजा को भय हो तो उसे आथर्वणिक विद्वान् यह उपदेश करे कि जैसे एक २ सींक कमजोर है, ऐसे अकेला पुरुष निर्बल है। जैसे ४ सींके बंधकर मजबूत हो जाती हैं उसी प्रकार कमजोर पुरुषों का भी संगठन कर लो। दूसरे जिस प्रकार एक जलती अकेली लकड़ी बुझ जाती है और कम जलती है, दो के मिलाने से दोनों अधिक ज्वाला देकर जलती हैं उसी प्रकार अग्नि के समान राष्ट्र के तेजस्वी पुरुषों को मिला कर प्रचण्ड करो और शत्रु से मुकाबला करो, फिर शत्रु से भय नहीं। इसी आशय को वेद मन्त्र में 'अग्नि' शत्रुसंतापक राजा के वर्णन में दर्शाया गया है। वह अग्नि-अर्थात् अग्रणी नेता, सेना नायक, राक्षसों का नाशकारी यातुधानों अर्थात् पीड़ा जनक पुरुषों का नाशक है। वह राष्ट्र में समस्त प्रकार के अनर्थकारी लोगों का दमन करे। इस प्रकरण को पाठक भाष्य में स्पष्ट देखें।

(३)—अभीवर्त्त मणि—रथनेमि मणि या रथचक्रनेमि मणि। अथर्व० का० १। सू० २८॥ अभीवर्त्तेन मणिना इत्यादि सूक्त से शत्रु से पीड़ित

राष्ट्र की वृद्धि के लिये उक्त मणि को धारण किया जाना लिखा है। सायण इसको 'रथचक्रनेमि मणि' नाम देता है। कौशिक रथनेमि मणि बतलाता है। वेद 'अभीवर्त्त' मणि कहता है। तो सन्देह होता है कि यह पदार्थ क्या है। मन्त्र में कौशिक ने तो 'अयःसीसलोहरजतताम्रवेष्टित हेमनाभि,' रथनेमि मणि का स्वरूप बतलाया है अर्थात् बीच में सोने के छल्ले पर क्रम से लोहा, सीसा, चांदी आदि के छल्ले लगे हों वह पहना जाय। परन्तु इससे राष्ट्र की वृद्धि हो यह असम्भव है।

वेद तो कहता है—(येन मणिना इन्द्रः अभि वावृधे) जिस 'मणि' से इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा बढ़ता है, हे (ब्रह्मणस्पते तेन अभीवर्त्तेन राष्ट्राय अस्मान् वर्धय) हे विद्वान् वेदज्ञ ! तू उस अभीवर्त से हम राष्ट्र के वीरों को या प्रजा को शक्ति प्रदान करता और राजा को भी शक्ति प्रदान करता है। अर्थात् शत्रु के बल को रोकने वाला पुरुष जो नगर को चारों ओर से सुरक्षित रखे वह नरमणि, शत्रु-स्तम्भक पुरुष 'अभीवर्त्त मणि' है। इसी की व्याख्या वेद अगले मन्त्र में करता है कि–(यः वः सपत्नान् अभि-वृत्य पृतन्यन्तं अभि तिष्ठ) जो हमारे शत्रु हों उनके मुकाबले पर डट जाय और सेना से चढ़ाई करने वाले का मुकाबला करे और (यः नः दुरस्यति तम् अभितिष्ठ) जो हम पर दुःखदायी शस्त्र फेंके उसका मुकाबला करे। वह पुरुष वीरश्रेष्ठ पुरुष 'मणि' है। इसी प्रकार वह मणि 'सपत्नक्षयण' (म० ४) शत्रुनाशक कहा गया है। उसको शत्रुओं के पराजय के लिये नियुक्त किया जाता है। राजा भी कहता है कि ऐसा नरपुंगव सेनापति ही (मह्यं राष्ट्राय सपत्नेभ्यः पराभुवे बध्यताम्) मेरे राष्ट्र के शत्रुओं के पराजय करने के लिये बांधा जाय, नियुक्त किया जाय।

यहां 'बध्यताम्' का अर्थ बांधा जाय है। केवल तावीज ही नहीं बांधा जाता है प्रत्युत अर्थ या धन द्वारा किसी पुरुष को रक्षा के कार्य पर नियुक्त किये जाने को भी 'बांधा जाना' कहा जाता है। जैसे महाभारत में भीष्म पितामह ने कहा है 'बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः।' मुझे कौरवों ने धन से बांध रखा है।

भाषा तक में प्रयोग होता है, नौकरी बन्ध गयी, वेतन बंध गया अर्थात् नियत होगया। फलतः यहां भी कोई ताबीज नहीं है प्रत्युत 'मणि' शब्द से शिरोमणि नेता, शत्रुस्तम्भक पुरुष ही अभिप्रेत है। उसके मानपद के सूचक चिन्ह को गौण रूप से 'मणि' शब्द से कहा जा सकता है। जैसे विशेष पदाधिकारी लोगों को पदक दिये भी जाते हैं।

(४) हिरण्यमणि—अथर्व० १।३५॥ सूक्त से पूर्व कहे कृष्णलामणि और हिरण्यमणि दोनों के बांधने का विनियोग है। यद्यपि वेद में 'हिरण्य' शब्द का प्रयोग अवश्य है। परन्तु वर्णन है 'यदाबध्नन् दाक्षायणाः हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः।' शुभ संकल्प वाले दाक्षायणों ने शतानीकको को 'हिरण्य' बांधा। इस सूक्त भर में मणि शब्द का प्रयोग नहीं। दूसरे यौगिक अर्थ से स्पष्ट है कि दाक्षायण अर्थात् दक्ष=बल और ज्ञान के एक मात्र स्थानभूत पुरुषों ने सैकड़ों सेनाओं के नायक को 'हिरण्य' बांधा। यहां 'हिरण्य' से सुवर्ण, बल और आत्मसामर्थ्य ही प्रतीत होता है। दूसरे मन्त्र में हिरण्य को 'दाक्षायण हिरण्य' कहा गया है। अर्थात् बल, उत्साह, क्रिया शक्ति को बढ़ाने वाला 'हिरण्य' है। हिरण्य अर्थात् वह पदार्थ जो हित भी हो और रमणीय भी हो। तृतीय मन्त्र में पहनने वाला स्वयं 'दक्षमाणः' अर्थात् बलवान् पुरुष है। वह तेजःस्वरूप 'हिरण्य' को धारण करता है। इसी प्रकार अथर्व० का० ५ में सू० २८ को भी हिरण्य-बंधन में लगाया गया है। उस में अमृत हिरण्य, आत्मा और आत्मिक बल का वाचक है। उसी को 'एकाक्षर' (५।२८।८) कहा है वह सिवाय परब्रह्म के दूसरा नहीं। वही महान् सेनापति के रूप में शत्रुओं के नाशक और उनको गिराने वाला 'भिन्दन् सपत्नानधरांश्च कृण्वत्' बतलाया गया है। इस से केवल हिरण्य शब्द से सुवर्ण धातु निर्मित खण्ड लेना दूरदर्शिता नहीं है।

(५) जङ्गिड़—जंगिड़ का वर्णन अथर्ववेद में दोनों स्थानों पर आया है। एक, का० २।४॥ में दूसरा, का० १९ सू० ३४,३५ में॥ इस मणि के धारण

करने के सायण ने तीन प्रयोजन बतलाये हैं १ कृत्या दूषण, २ आत्म रक्षा, ३ विघ्नशमन। यह किसी वृक्ष की लकड़ी का टुकड़ा समझा जाता है। यह वृक्ष बनारस की तरफ होता है। दारिल के मत में यह अर्जुन वृक्ष है। परन्तु वेद इस जंगिड़ का और ही महत्व बतलाता है। वह मणि 'विष्कन्धदूषण' [२।४।१] है। अर्थात् शत्रु के सेना शिविरों को विध्वंस करता है और उसको (दक्षमाणाः रणाय अरिष्यन्तः सदैव विभृमः) बल का कार्य करते हुए हम जब युद्ध के लिये जाना चाहें तब के लिये हम उसे बांधे, धारण करें। वह स्वयं (सहस्रवीर्यः २ । ४ । २) हजारों बल वाला है, उस के बल से (व्यायामे सर्वा रक्षांसि सहामहे २ । ४ । ४) युद्धोद्योग काल में समस्त दुष्ट पुरुषों को पराजित करते हैं। वही (कृत्यादूषिः) और (अराति दूषिः २ । ४ । ६) अर्थात् शत्रु के गुप्तघातक प्रयोगों और शत्रुओं को भी नाश करने वाला है। वह मणि, नरशिरोमणि किस प्रकार का सेना नायक हो सकता है यह पाठक स्वयं निर्णयकर सकते हैं। वेद को जंगिड़ शब्द से वही अभिप्रेत है। वृक्ष के नाम और गुण तो उस वर्णन में श्लेष से कह दिये हैं। जिनका विस्तृत वर्णन १७वें काण्ड में किया है जिसको हम चतुर्थ खण्ड में दर्शावेंगे।

(६) 'यवमणि'—अथर्व० का०२। सू०७ वें का विनियोग शाप, क्रूर दृष्टि, पिशाच आदि भय निवारण के लिये यवमणि के बांधने को लिखा है। सूक्त भर में 'यवमणि' का नाम नहीं है। यवमणि से शायद पाठक समझें, जौं के दाने तावीज में भरकर बांध लिये जाते हैं। ठीक है, कौशिक, सायण आदि तो यही मान कर सन्तुष्ट हैं। परन्तु वेद ने 'यव' का स्वरूप भी बतलाया है। अथर्व० का० ९। सूक्त २। मं० १२। में

अग्निर्यवः इन्द्रो यवः सोमो यवः। यवयावानो देवाः यावय त्वेनम् ॥

अग्नि अग्रणी पुरुष 'यव' है। 'इन्द्र' ऐश्वर्यवान् राजा 'यव' है। 'सोम' ज्ञानवान आचार्य 'यव' है। समस्त विद्वान, शासक लोग 'यव' को साथ लेकर अपने शत्रु का नाश करें। क्रूर पुरुषों की दृष्टि और दुष्ट

पिशाचों के नाश के लिये कैसा 'यव' चाहिये इस का निर्णय स्वयं करना उचित है। जौं तो भूख की निवृत्ति के लिये है।

(७) दशवृक्षमणि—ढाक, गुलर, जामुन, काम्पोल, स्रक्, बंव, शिरीष, स्रक्ति, वरण, बिल्व, कुटक, गृह्य, गलावल, बेतस, शिम्बल, सिपुन, स्यन्दन, अरणि, अष्मयोक्त, तुन्यु, पूतदारु, इन २१ वृक्षों में से किन्हीं १० वृक्षों की लकड़ी के छोटे २ टुकड़े लेकर मणि बनालें। वह 'दश वृक्ष मणि' या शाकल मणि कही जाती है। उसको लाख और सोने में जड़ कर धारण करते हैं। इसका सम्बन्ध दो सूक्तों से हैं अथर्ववेद २। ७। और ८। ७॥ इन में से (८।७) में तो नाना औषधियों का वर्णन है उक्त वृक्ष की मणि बना कर पहनने का कोई वर्णन नहीं है और (२।७) में 'दशवृक्ष' से दश प्राण युक्त 'जीव' का वर्णन किया है। मणि बन्धन का कहीं सूक्त भर में वर्णन नहीं है।

(८) स्राक्त्यमणि या तिलकमणि—वह स्रक्ति या तिलक वृक्ष की मणि बनायी जाती है। इसके बांधने के लिये दो सूक्त बतलाये जाते हैं, एक अथर्व० (२।११) दूसरा अथर्व (८।५) प्रथम में 'स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि, (२।११।१) इस शिरोमणि पुरुष को 'स्रक्त्य' कह कर उसका स्वरूप 'प्रत्यभिचरण' अर्थात् शत्रु के प्रति धावा करने वाला बतलाया गया है। उसके लिये आदेश है कि—'प्रति तम् अभिचर यो ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः' जो हम से द्वेष करे और जिससे हम प्रेम नहीं करते तू उस पर धावा करदे। उसी के विशेषण है 'सूरिः' 'विद्वान,' तनूपान' शरीरों का रक्षक। अथर्व (८।१) में भी वह 'वीर' वीर्यवान्, सपत्नहा, सहस्वान्, वाजी, उग्रः, आदि कहा है। कार्य भी बतलाया है—

स्राक्त्येन वै मणिना ऋषिणेव मनीषिणा।
अजैषं सर्वाः पृतनाः विमृधो हन्मि रक्षसः॥

इस सर्वद्रष्टा ऋषि के समान बुद्धिमान स्राक्त्य मणि से मैं समस्त सेनाओं को विजय करूं, सब राक्षसों का विनाश करूं। इत्यादि। यहां

भी वीर सेनानायक पुरुषों का ही वर्णन है। गौण रूप में वीरों को प्राप्त होने योग्य विशेष चिन्ह रूप मणि प्रति दृष्टान्त के रूप में भले ही माना जासकता है। हम समझते हैं कि पाठकगण इन नाना मणियों के विवेचन से अवश्य वास्तविक शिरोमणियों का अभिप्राय समझ गये हैं।

शेष 'अस्तृत' आदि मणियों का वर्णन १९ वें काण्ड में होने से उसका स्पष्टी करण वहां ही किया जायगा। विनियोग लेखकों ने (२। १७) पाठा मूलमणि, (३।५) पर्णमणि, (३।६) अश्वत्थमणि, (३।७) हरिणश्रृङ्गमणि, (३। ९) अरलु मणि, (३। १६) सिंहनाभि लोममणि, (३।२१) पलाशमणि, (३।२२) हस्तिदन्तमणि (३।२३) (३। २३) शरमणि, (४। ९) आञ्जनमणि, (४। १०) शंखमणि, (४। २०) त्रिसंध्यामणि, (४। २०) पुष्पमणि (६। १५) सर्षप-काण्ड मणि, (६। ७०) कृष्णाचर्म मणि, (६।७०) अर्कमणि (६।८९) लोहमणि, (६।८९) पाषाणमणि, (७। ७) नौ मणि, (७। १६) गो-बन्धनरज्जु मणि, (८। २) द्रुघण मणि, आदि नाना मणियों के बाँधने के लिये नाना सूक्तों को दर्शाया है। परन्तु बहुतों का तो सूक्त में कोई आधार नहीं, केवल प्रथामात्र होने से लिखा है। और दो एक जिनका कहीं नाम भर आ गया है उसका अभिप्राय न समझ कर उसको उसी प्रकार खैंच लिया गया है जैसे पूर्व आठ उदाहरणों में हमने दर्शाया है।

जो औषधियाँ हैं उनके समीप रहने और शरीर के साथ छूने से उतना तो लाभ अवश्य होता है जितना एक तीव्र रोग नाशक औषधि से होना सम्भव है। जिस प्रकार फिनाइल की गोलियों से दुष्ट रोगजन्तु समीप नहीं आते, इसी प्रकार ओषधि की बनी मणियें भी उपयोगी हो सकती हैं परन्तु वेद में जहाँ उन नामों पर भौतिक पदार्थों से अधिक गुण और कार्य-क्षमता का वर्णन है वहाँ उस गुणवाला पुरुष ही लेना चाहिये। केवल एकांश में गुण की समानता देख कर उन नाम का लौकिक प्रयोग बाद में हुआ समझना चाहिये। अन्यत्र भी जहाँ मणि आदि शब्दों का प्रयोग

हुआ है उनका स्पष्ट विवरण यथास्थान भाष्य में देखना चाहिये। इन सूक्तों का विनियोग इन मणियों के बाँधने के अर्थ के अतिरिक्त और भी बहुत से क्रिया काण्डों में है इसलिये इन मणियों का ही तात्पर्य वेद को अभिप्रेत हो यह बात सर्वथा-खण्डित हो जाती है। फलतः वेद का अभिप्राय ऐसा सर्वगामी होना चाहिये जो उन सब विनियोगों को प्रत्यक्ष परोक्ष सम्बन्धों से वश कर सके। अस्तु। अब हम कृत्या और अभिचार की विवेचना करते हैं।

(२) कृत्या

जब तक हम 'कृत्या' शब्द को केवल मन्त्रजपमात्र से होनेवाला टोना समझते रहते हैं तब तक उसका कोई भी स्वरूप निर्णय नहीं किया जा सकता। तन्त्र-ग्रन्थों के अनुसार 'कृत्या' क्या होती है इसका भी बतलाना कठिन वस्तु है। क्योंकि वह रहस्य शास्त्र है। प्रत्यक्ष क्रिया का उसमें सर्वथा उल्लेख नहीं है। वेद 'कृत्या' किसको कहता है इसका अनुशीलन किया जा सकता है।

(१) आचार्य सायण ने अथर्व का० २। सूक्त १२ के चतुर्थ मन्त्र के 'अमुम् ददे हरसा दव्येन' इस चतुर्थ चरण के व्याख्यान में लिखा है—'अमुम् अपकर्तारममुकनामानं शत्रुं दैव्येन देवसम्बन्धिना। मत्कृताभिचारजनित कृत्यारूपदेवताकृतेन हरसा। क्रोधनामैतत्। क्रोधेन आददे स्वीकरोमि निगृह्णामीत्यर्थः।'

अर्थात्—'अमुं ददे हरसा दैव्येन। उस अमुक नाम के शत्रु को दैव्य क्रोध से अपने वश करता हूँ। दैव्य क्रोध अर्थात् मेरे से किये अभिचार से उत्पन्न जो 'कृत्या' रूप देवता है उस द्वारा किये क्रोध से मैं शत्रु को वश करूँ। यहाँ सायण कृत्या को एक देवता मानता है। जो अभिचार से पैदा होती है।

(२) अथर्व० काण्ड ४। सू० २८। म० ६। 'कृत्याकृन्मूलकृद्यातुधाना०' इस मन्त्र में 'कृत्याकृत्' पद के भाष्य में सायण लिखते हैं—

क्रियानिर्वृत्तया पिशाच्या छिनत्तीति कृत्याकृत् ।” जो पुरुष ‘कृत्या’ अर्थात् क्रिया से उत्पन्न हुई पिशाची से छेदे वह ‘कृत्याकृत्’ है । यहाँ सायण ‘कृत्या’ शब्द से ऐसी पिशाची लेते हैं जो क्रिया से उत्पन्न हो ।

(३) अथर्व० ४ । १८ । २ ॥ ‘यो देवाः कृत्यां कृत्वा हराद् अविदुषो गृहम् ।’ इसके भाष्य में सायण ‘कृत्यां’ शब्द की व्याख्या करते हैं ‘मन्त्रौषधादिभिः शत्रोः पीड़ाकरीं कृत्याम्’ । अर्थात् मन्त्र और ओषधि से शत्रु को पीड़ा देनेवाली कृत्या होती है और आगे लिखते हैं ‘कृत्या निखननार्थं गच्छेत्’ अर्थात् कोई पुरुष कृत्या को गाड़ने के लिये जाता है । अर्थात् कृत्या गाड़ी जाती है ।

(४) अथर्व काण्ड १९। सू० ९। ‘०शंनोऽभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः । शं नो निखाताः वल्गाः शमुल्काः ।” इसके भाष्य में सायण लिखते हैं— “अभिचाराः मारणार्थं शत्रुभिः क्रियमाणानि कर्माणि । कृत्याः अभिचार कर्मभिरुत्पादिताः पिशाच्यः । अभिचारकर्माणि जड़त्वात् स्वयमेव शत्रुसमीपमागत्य न निघ्नन्ति किंतु हिंसिकाः पिशाचीरुत्पादयन्ति ।” अर्थात् मारने या प्राणघात करने के लिए शत्रु जिन कर्मों को करते हैं वे अभिचार हैं और अभिचार कर्मों से पैदा की गयी पिशाचियें ‘कृत्या’ हैं । वे कर्म तो जड़ होने से स्वयं शत्रु के पास जाकर नहीं मारते किन्तु मारनेवाली पिशाचियों को वे कर्म ही उत्पन्न करते हैं ।

इसी प्रसङ्ग में ‘वलगा’ शब्द के व्याख्यान में सायण लिखते हैं— ‘निखाताः, भूमावप्रकाशनिगूहिता वलगाः । वलगाः पीडार्थं भूमेरधो बाहु प्रदेशे निखन्यमाना अस्थिकेशादिवेष्टिता विषवृक्षादिनिर्मिताः पुत्तल्यो वलगा इत्युच्यन्ते ।’ अर्थात् भूमि में एक हाथ भर नीचे खोदकर उनमें हड्डियों और केशों से लिपटी, जहरीले विष वृक्ष आदि की बनी पुतलियां ‘वलगा’ कहाती हैं ।

सायण के इन विवरणों से कुछ २ आभास अवश्य होता है। पर यथार्थ रूप से कृत्याओं का कोई स्वरूप प्रकट नहीं होता । देवता, पिशाची,

कृत्या, वलग आदि शब्द कोई विशेष परिभाषाओं को बतलाते हैं। ये सब पदार्थ शत्रुओं को मारने के लिये किये जाते थे। परन्तु अब हम स्वयं वेद के सूक्तों पर दृष्टि डालते हैं वे 'कृत्या' किसको बतलाते हैं।

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेन अन्य जिघांसति।
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति ॥ अथर्व० ५।१८।३॥

'जो पुरुष दूसरे के लिये 'पाप्मा' को कच्चे बर्तन में करके उससे दूसरे को मारना चाहता है तो उसके जल जाने पर बहुत से पत्थर फट्फट आवाज़ से फूट निकलते हैं।' इससे प्रतीत होता है कि 'पाप्मा' बारूद के समान विस्फोटक पदार्थ का नाम है जिसको कच्चे बर्तन में बन्द करके अग्नि लगा देने से जलते ही भीतर भरे नोकीले पत्थर फूट पड़ते हैं।

ऐसी भयानक 'कृत्या' अर्थात् घातक क्रियाओं को जो करना न जानता हुआ भी करता हो तो उसके लिये बड़ा भय है। स्वयं वेद कहता है—

बभ्रकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् । ४ । १८ । ६ ॥

जो कृत्या का प्रयोग तो कर दे, और उसके ठीक प्रयोग न कर सके तो वह अपने ही हाथ पांव तोड़ लेता है। इससे वह—

चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः।

हमारे लिये तो ठीक ही करता है और स्वयं कष्ट पाता है।

इसी प्रकार काण्ड ५। सूक्त ३१ में शत्रु जिन कृत्याओं का प्रयोग करता है उनका वर्णन है। जैसे (१) कच्चे बर्तन में घातक क्रिया का प्रयोग करना, जैसे पहले हमने दिखलाया। (२) मिश्र धान्य अर्थात् जिसमें कई तरह के धान्य मिले हों उनमें विषैले दाने मिलाकर शत्रु देश में बेच आये, इससे उनको खाने वाले मर जायें। (३) कच्चे मांस से विष की पिचकारी या रोगजनक कीटों का प्रवेश करा दिया, उसको खाकर मर जांय या रोग उत्पन्न हों। (५।३१।१)

(४) तीतर और चील आदि पक्षियों के साथ उनमें विस्फोटक दार्थ या ज्वलनशील पदार्थ लगाकर शत्रु की सेना में छोड़ दे। जहां बैठें

वहां मकानों में आग लग जाय (५।३१।२)। कपोतों से ऐसे प्रयोग करने का उपाय अर्थशास्त्रकार कौटिल्य ने भी लिखा है।

(५) गधे, घोड़े, खच्चर आदि पर विषमय प्रयोग करना जिससे वे मरने लग जांय या बीमार हो जांय। (५।३१।३)

(६) अमूला और नराची नाम ओषधियों या लताओं के आधारपर या उनमें छिपाकर कोई 'वलग' अर्थात् गढ़ा खोदकर 'घातक' प्रयोग किया जाय या खेत में गढ़े खोदकर उनपर मूल रहित ऐसी जंगली बेलें बिछा दें जिनपर लोग मुग्ध होकर आवें और आते ही वे गढ़े में गिर जांय। इत्यादि (५।३१।४)। इनका प्रयोग भी अर्थ-शास्त्र कौटिल्य में कण्टक शोधन प्रकरण में लिखा है।

(७) गृह में जहां अग्नि के स्थान हों वहां भड़कने वाले पदार्थ रखकर हानि पहुंचाते हैं। (५।३१।५)

(८) सभा में, जूए खेलने के स्थान में, या जूआ खेलने के मोहरों में विस्फोटक पदार्थ या विषैले पदार्थ का प्रयोग कर दें। (५।३१।६)

(९) सेना में, या धनुषों पर, या नक्कारों पर घातक प्रयोग करें। विषैली गैसें, विषैले लेप लगा दें जिनके स्पर्श और प्रयोग से लोग मर जायें (५।३१।७)।

इत्यादि प्रयोगों को करने वालों को उन २ घातक प्रयोगों द्वारा ही दण्ड देने की आज्ञा वेद ने दी है।

शतपथ में 'वल-गहन' (यजु० ५।२३) मन्त्र के भाष्य में एक कथा दी है कि असुरों ने देवों के लिये कृत्या का प्रयोग किया और वलगों को गाड़ दिया। देवों ने हाथ भर खोद २ कर उन वलगों को खोद डाला। फलतः कदाचित् ये भूमिमें रखे मगन गोले या बाम्ब ही हों जिनके फूटने पर घोर संहार होना सम्भव हो। गत योरोपीयन महाभारत में, समुद्रों में मगन गोले (mines) बिछाए गये थे जो जहाज़ में टकराते ही फूटते थे। ये सब प्राचीनकाल के 'वलग' थे। आज कल की विषैली गैसें, भोजन आदि में बेक्टीरियां या रोगकारी परमाणुओं का प्रचार, विषैली ओषधियों का

अचार, बाम्ब आदि सब घातक प्रयोग वेदकाल में 'कृत्या' कहाती थीं। जिनका एक रूप अथर्व० काण्ड १० सूक्त १ म में भी कुछ वर्णन किया है। जैसे—

(१) सुरूप सुन्दर मूर्त्ति में कृत्या का प्रयोग (१।२) खेतों और गोओं और पुरुषों पर कृत्या का प्रयोग [४] यन्त्र रूप में कृत्या का प्रयोग [८], केवल घोर शब्द मात्र करने वाली कृत्या [१४], प्रबल वायु चलाने वाली कृत्या [१७], गड़े हुए मगन गोले और [१८।१९] अन्धकार में कृत्या का प्रयोग इत्यादि वेद में ऐसे समस्त कृत्याओं के प्रयोग करने वालों को बड़े कठोर दण्ड देने का विधान किया है क्योंकि 'अनागो हत्या वै भीमा कृत्ये० (१० । १ । २७) यह गुप्त हिंसा का प्रयोग निरपराधों की हत्या किया करता है।

इस कृत्या के विवेचन में ही अभिचार का भी प्रत्यक्ष रूप आजाता है। तो भी इतना और समझ लेना चाहिये कि 'अभिचरण' शब्द से शत्रु के नाश के लिये उस पर जा चढ़ना यह भाव वेद में स्थान २ पर पाया जाता है। जैसे अभीवर्त्त मणि के प्रकरण में हम दर्शा आये हैं।

इन कृत्याओं के वेद में चार विभाग किये हैं—

याः कृत्या आंगिरसीर्याः कृत्याः आसुरीर्याः कृत्याः स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः।
उभयीस्ताः परायन्तु परावतो नवतिं नाव्या अति। अथर्व० ८। ५। ९॥

इस मन्त्र में कृत्याओं के ४ प्रकार दर्शाये हैं (१) आंगिरसी (२) आसुरी, (३) स्वयंकृता (४) अन्यों द्वारा आभृता। इन चारों को स्पष्ट करते हुए सायण ने लिखा है कि—

(१) आंगिरसीः अंगिरसा प्रयुक्ताः या प्रसिद्धाः कृत्याः सन्ति। अंगिरसो महर्षेः कृत्याप्रयोगविधातृत्वमांगिरसकल्पाख्यसूत्रनिर्माणादेव प्रसिद्धम्। (२) तथा आसुरीः आसुर्यः। असुरैर्निर्मिता याः कृत्याः सन्ति। (३) एवं स्वयंकृता परार्थप्रयोगे सति केनचिद् वैकल्येन स्वस्मिन्नेव पर्यवसिताः स्वयंकृता इत्युच्यन्ते। (४) या उ च अन्यैर्मत्सरिभिः आभृताः आहृताः प्रयुक्ताः कृत्याः सन्ति।'

अर्थात्—(१) आंगिरसी, वे कृत्यायें हैं जिनका अंगिरा ऋषि ने प्रयोग किया। महर्षि अंगिरा के आंगिरस कल्प सूत्र बनाने से ही उनका कृत्या प्रयोग करने का ज्ञान होता है। (२) असुरों द्वारा की गयीं कृत्या आसुरी है (३) स्वयं प्रयोग करने पर उलट कर जो किसी भूल चूक से जब अपने पर आटूटें वे कृत्या 'स्वयंकृता' और दूसरों की प्रयुक्त कृत्या अन्याहृत हैं।

परन्तु मन्त्र में 'उभयी' का प्रयोग है फलतः मुख्य दो ही प्रकार की कृत्या हैं एक 'आसुरी' दूसरी 'आंगिरसी'।

इन दोनों प्रकारों की कृत्या किस प्रकार की होती हैं हम कल्पना नहीं कर सकते। क्यों कि इनके विधायक ग्रन्थ प्राप्त नहीं होते। तो भी थोड़ासा इन कृत्याओं का स्वरूप नीचे लिखे मन्त्रों से अनुमान हो सकेगा।

विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन् नाम ते पिता।
प्रत्यग् विभिन्धि त्वं त योऽस्माँ अभिदासति। अथर्व० ४।१९।६॥

'तू सौ शाखाओं में फूटती है, तेरा जनक भी 'विभिन्दन्' अर्थात् नाना शाखाओं में फूटने वाला है। तू हम पर आक्रमण करने वाले शत्रु को तोड़ फोड़ डाल।' यह मन्त्र सायण ने सहदेवी औषधि पर लगाया है। परन्तु इस वर्णन से 'सहदेवी' ओषधि 'अति बलवती अग्नि, दाह धारण करने वाली' विशेष कृत्या या घातक शक्ति प्रतीत होती है। जिनका प्रयोग 'बारूद' के समान विस्फोटक पदार्थ से किया जाता है। और वह सेना में पड़ते ही उनको तोड़ फोड़ देती है। इसी का वर्णन अगले मन्त्र में है।

असद् भूम्याः समभवत् तद् धाम् एति महद् व्यचः।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्त्तारमृच्छतु॥

भूमि से कोई पदार्थ छोटा सा नाचीज या तुच्छ से रूपमें रहता है। वह अकाश में जाते ही फैल जाता है, वहां से नाना प्रकार से प्रज्वलित होता है, तब वह अपने विरोधी तक पहुँचता है।

यह ऐसा गोला प्रतीत होता है जो आकाश में फूटे और वहां से ही शत्रु पर मार करे। आज कल के महायुद्धों में श्रेपनल, बाम्ब आदि के स्वरूप देखने से प्रचीन सहदेवी आदि महा शक्तिओं का अनुमान हो सकता है। इन गोलों में से निकलने वाले चाकू, कील, गोली आदि घातक पदार्थों को सायण ने 'पिशाची' नाम से कहा है। वे शरीर में लगकर खून कर देती हैं। इसी से वे पिशाची हैं। इस प्रकार कृत्या का कुछ विवेचन हमने कर दिया है।

(३) अभिचार

शत्रुओं के आक्रमण को अभिचार कहा जाता है। इसका स्पष्टार्थ मन्त्र में आये प्रयोग से स्पष्ट होता है—प्रति तम् अभिचर योस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। (अथर्व० २।११।३॥) जो हम से द्वेष करता है जिससे हम द्वेष करते हैं उस पर तू चढ़ जा। वेद में अभिचार शब्द का प्रयोग भी कई स्थानों पर हुआ है जैसे—

(१) परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सबन्धुभ्यः। अथर्व० ८।२।२६॥

(२) यस्त्वा अभिचेरुः पुरुषः स्वो यद् अरणो जनः।

उक्त दोनों प्रयोगों से प्रतीत होता है कि 'अभिचार' शब्द द्वेष कृत आक्रमण का नाम है। केवल दूसरों को हानि पहुँचाने के लिये मन्त्र पाठ करके कोई टोना चला देना 'अभिचार' शब्द से अभिप्रेत नहीं है। लौकिक साहित्य में भी 'अभिचार' शब्द का प्रयोग शत्रु पर आक्रमण करनेके लिये प्रयुक्त होता रहा है जैसा कि कामन्दक ने लिखा है—

यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसा। पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः॥

अर्थात् चाणक्य के अभिचार रूप वज्र से नन्द राजारूप पर्वत मूल से उखड़ कर गिर पड़ा। चाणक्य ने नन्द पर कोई टोना नहीं किया था प्रत्युत राजनीति द्वारा विग्रह किया, उसकी सेनाओं पर आक्रमण कराया और उसका विजय किया था। शत्रु के प्रति समस्त विजयोपयोगी क्रिया कलाप 'अभिचार' शब्द में आ जाता है। वेद में भी अभिचार शब्द से

यही अभिप्रेत है। इसके अतिरिक्त विनियोगकारों ने जिन सूक्तों का अभिचार कर्म में प्रयोग लिखा है उन पर थोड़ा विचार करते हैं।

(१) अथर्व का० २। सू० १२॥ यह सूक्त 'भरद्वाजप्रव्रस्क' नामक सूक्त कहा जाता है उसमें तप की साधना का वर्णन है। उसको अभिचार कर्म के लिये दण्ड काटने के लिये प्रयुक्त किया है।

(२) अथर्व० का० ४। सू० १६॥ वरुण सूक्त है। इसमें सर्वव्यापक परमेश्वर के शासन का वर्णन किया गया गया है। इस सूक्त का विनियोग भी अभिचार कर्म में शत्रु को ललकारने के लिये है।

(३) अथर्व० का ५। सू० ८॥ इसको अभिचार कर्म के होम करने में लगाया गया है। परन्तु इसमें सैनिकों और सेनापतियों के कर्तव्यों का वर्णन है। यह वास्तव में युद्धविद्या की शिक्षा देता है।

'अति धावत अतिसरा इन्द्रस्य वचसा हत।'

'हे शत्रु को अति क्रमण करके वेग से जानेवाले वीर योद्धाओ! वेग से दौड़ो और इन्द्र अर्थात् सेनापति की आज्ञा पाकर अस्त्र प्रहार करो।' और (अविं वृक इव मथ्नीत) भेड़िया जैसे भेड़ को झंझोटता है ऐसे शत्रु को झंझोट डालो। (स वो जीवन् मा मोचि) वह तुम से वच कर न निकल जाय। (प्राणमस्यापि नह्यत) इसके प्राणों के उपायों को बाँध लो इत्यादि युद्ध के समय शत्रुविजयोपयोगी कार्यों का वर्णन किया है।

(४) अथर्व० का० ५। सू० १७ और १८॥ इसमें ब्रह्म शक्ति का वर्णन है। इन सूक्तों से 'ब्रह्मशक्ति के प्राप्त करने के उपाय प्राप्त होते हैं। परन्तु अभिचार करनेवाले ब्रह्मचारी के लिये इनको जाप करने का लिख दिया है। सरल वात तो शक्ति प्राप्त करने और ब्रह्मचर्य करने की है।

(५) अथर्व का० ७। सू० ७० में दुष्ट पुरुषों के नाश करने की आज्ञा है। उसका प्रयोग अभिचार के लिये तुषों के होमने में किया है।

(६) अथर्व० का० ६। सूक्त ३७॥ यह सूक्त अभिचार से बचने के लिये विनियुक्त है। इस सूक्त में वेद कठोर भाषण करने वाले के प्रति

सहिष्णुता के व्यवहार का उपदेश करता है। फलतः विनियोगकारों के मत में कठोर वचन कहना भी अभिचार में सम्मिलित है।

(७) अथर्व० का० ६। सू० ५४॥ इस सूक्त को अभिचार कर्म में तुष आदि होम में लगाया है वस्तुतः वह सूक्त राजा की नियुक्ति और उसके दुष्टदमन के कर्त्तव्यों का उपदेश करता है।

(८) अथर्व० का० ६। सू० १३३॥ इससे अभिचार कर्म में मेखला बन्धन करने को लिखा है परन्तु वही उपनयन कर्म में मेखला बन्धन के लिये भी है। इस में मेखला बन्धन का सामान्य नियम है। एवं उस से बल प्राप्त करने के सिद्धान्त का निरूपण किया है।

(९) अथर्व० का० ६। सू० १३॥ इससे अभिचार कर्म के निमित्त दण्ड के अभिमन्त्रण का विनियोग है। इस सूक्त में वज्र या खड्ग द्वारा शत्रुओं के नाश करने की आज्ञा है।

(१०) अथर्व० का० ७। सू० ३५,३६,७७ और १०८ (११३)। इन सूक्तों से बिजुली से नष्ट वृक्ष की समिधाओं के आधान का उपदेश है। परन्तु इन तीनों सूक्तों में शत्रुओं के पराजय और दुष्ट पुरुष के नाश करने के लिये प्रार्थना की गई है। और राजा को उसके कर्त्तव्य बतलाये गये हैं कि वह हत्याकारी प्रजापीड़क पुरुषों को दण्ड करे और उनका दमन करे।

इस विवेचन से हम स्वयं वेद के मन्त्रों का वास्तविक अर्थ जान कर विनियोगकारों की प्रवृत्ति मात्र देख सकते हैं। परन्तु उनमें टोटके वाले अभिचार का वर्णन नहीं है। इसी स्थान पर यह लिखना भी असंगत नहीं है कि वेद में एक 'कृत्याप्रतिहरण' गण है। इस गण में निम्नलिखित सूक्त हैं—अथर्व० (२। ११), (४। १७), (४। १८), (४। ४०), (४। १९), (५। १४), (५। ३१), (८।५) इन सूक्तों में प्रायः राजा और सेनापति को नाना प्रकार से शत्रु पर जा चढ़ने और भयंकर अस्त्र शस्त्रों के प्रयोग करने का उपदेश किया है। इसी प्रकार उनमें वीर

शिरोमणि पुरुषों को रखने, सेनासंञ्चालन करने का भी उपदेश है। जो पाठक यथास्थान भाष्य में देखेंगे।

(४) टोटके

विनियोगकारों ने कुछ सूक्तों को ऐसे २ कामों में विनियोग किया है जिनसे प्रयोक्ता की दुरिच्छा पूरी हो। परन्तु दृढ़ विश्वास है कि वेद उन दुष्ट कार्यों का उपदेश नहीं करता। उन सूक्तों को हम संक्षेप से यहाँ विवेचना करते हैं—

(१) स्त्रीदौर्भाग्यकरण—अथर्व का० १ सू० १४ ॥ इस सूक्त को कौशिक ने स्त्री और पुरुष के दौर्भाग्य करने के लिये लिखा है। सायण ने केवल स्त्री को घर से निकाल कर उसके गहने कपड़े छीन कर मां बाप के घर आजीवन छोड़ रखने परक सूक्त का अर्थ लिया है। वह बहुत असंगत एवं विरुद्ध है। इसका विवेचन हमने प्रथम खण्ड की भूमिका में कर दिया है। पाठक वहाँ ही देखें। वस्तुतः वह सूक्त १ म कन्या स्वीकार, २ य कन्या दान और, ३ य विवाह द्वारा सौभाग्योत्पादन का प्रतिपादन करता है।

(२) स्त्रीवशीकरण—अथर्व का० २। सू० ३० ॥ यह सूक्त स्त्री को वश करने के लिये वृक्ष की छाल, तगर, अंजन, कूठ आदि घिस कर घी में मिला कर स्त्री के शरीर पर लगाने में लगाया हुआ है। वस्तुतः इस सूक्त में एक दूसरे के मन को आकर्षित करके परस्पर वरण करने का उपदेश किया है।

(३) सपत्नीजय—अथर्व का० ३। सू० १८ ॥ द्वारा सपत्नी या सौत को वश करने के लिये वाणपर्णी ओषधि के पत्तों को लाल बकरी के दूध में पीस, मिला कर उसको सेज पर डालने के लिये लिखा है। परन्तु उस सूक्त में किसी ओषधि का नाम नहीं है।

केवल उत्तानपर्णा, देवजूता, सहस्वती, सासहि, सहमाना, सहीयसी आदि शब्दों का प्रयोग किया है। अनुक्रमणिकाकारने इसका 'उपनिषत्सपत्नी बाधन देवता' लिखा है। इसकी ऋषिका इन्द्राणी है। अब पाठक स्वयं

देख सकते हैं कि उपनिषद् अर्थात् ब्रह्म विद्या की सपत्नी क्या है। अवश्य तामस अविद्या ही उसकी सपत्नी है। इस सूक्त में उसी के बाधन का उपदेश है। ऋग्वेद १०। १४५॥ में भी ये मन्त्र आते हैं बहुतों को वहाँ भी वही भ्रम होता है। 'ऋग्वेदालोचन' पुस्तक के कर्त्ता श्री पं० नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ १६८ में सपत्नी बाधन सूक्त को देकर उससे वेद में बहुपत्नी विधान और एक पुरुष की बहुतसी पत्नियों में परस्पर कलह के कारण एक दूसरे के नाश करने की आज्ञा वेद में है ऐसा स्वीकार सा कर लिया है। हमारी तुच्छ बुद्धि में वेद में यदि बहुपत्नी का विधान हो भी, तो भी कम से कम परस्पर प्रेम से रहने का उपदेश होना सम्भव था, नकि कलह के मार्ग भी वेद दिखाता। घरू बरबादी का कार्य वेद में देखनेवालों को और अधिक सावधान होना चाहिये। यदि देवता पर भी दृष्टि कर ली जाती तो वह कलंक वेद पर न आता। इसका विवरण भाष्य में देखें।

(४) स्त्रीवशीकरण के लिये (अथर्व० ३। २५) सूक्त का भी प्रयोग किया है। साथ ही सायण ने जैसे लिखा है—'उत्तुदस्त्वा इति सूक्तं जपन् स्त्रीवशीकरणकामः अंगुल्याः स्त्रियं तुदेत्।' अर्थात् इस सूक्त से स्त्री को वश करने के लिये अङ्गुली से स्त्री को छेड़े। या बेरी के २१ कांटे घी से भिगोकर रास्ते में डाल दे। इत्यादि पाँच, चार प्रकार बतलाये हैं। क्या वेद में ऐसी छेड़खानी की बातें भी सम्भव हैं। नहीं। प्रत्युत, वेद ने कामशास्त्र और परस्पर अभिलाषा और प्रेम की वृद्धि का बड़ा मार्मिक उपदेश किया है। जो इस रहस्य को नहीं जानते वे गृहस्थ में कभी सफल नहीं हो सकते। कल्पोक्त क्रियाओं का अभिप्राय और रहस्य अपना अलग है, परन्तु वह नहीं है जो सायण आदि ने लगाना चाहा है।

(५) अथर्व० का० ४। सू० ३३ को पुरुष और स्त्री के परस्पर अभिरति को दूर करने के लिये बहुत सी कंकरें फेंकने के लिये लगाया है। वस्तुतः यह सूक्त पापनाश करने की प्रार्थना मात्र है। इसके विचार से

हृदय पवित्र होता है। यदि इससे स्त्री पुरुषों के परस्पर कामजनित दुर्विचार भी शान्त हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु यह कोई टोटका नहीं है। 'अग्नि स्वरूप परमेश्वर से पापों को जला देने की प्रार्थना द्वारा मन से पाप अवश्य दूर हो जाता है।

इसी प्रकार अन्य भी मोहनादि के विनियोग लिखे हैं उनको हम अनावश्यक जान कर छोड़ते हैं।

(५) घृणित विनियोग

विनियोगकारों ने कुछ एक बहुत ही घृणित विनियोग भी लिखकर अथर्ववेद को बहुत दूषित रूप देने का यत्न किया है। हम कुछ नमूने उनके भी लिखते हैं—

(१) अथर्व० का० ४। सू० ५ में निद्राविषयक विज्ञान का प्रदर्शन किया है। उसे परदारागमन के निमित्त स्त्री के सम्बधियों को सुलाने में विनियोग किया है।

(२) का० ५ सू० १,२ ॥ दोनों का विनियोग पुष्टि के लिये ऋतुमती स्त्री के रजोरुधिर को तर्जनी और मध्यमा अंगुलि से खाने में भी किया है। ये दोनों सूक्त जगत्स्रष्टा की सर्जन शक्ति का वर्णन करते हैं।

(३) अथर्व० का० ५। सू० ५ में 'गर्भाधान' के रहस्यविद्या का उपदेश किया है। उसका विनियोग पालाश को लकड़ी को चन्दन के समान रगड़ कर उसको गुह्याङ्ग पर लगाने में किया है।

(४) का० ७। सू० १९ ॥ में प्रजापति परमेश्वर से प्रजा, और ऐश्वर्य की याचना की है। उस सूक्त को लाल बकरे का मांस खाने भी किया है।

(५) का० ७। सू० ५२, (५४) में परस्पर मिल कर रहने का उपदेश किया है। परन्तु इस सूक्त से तीन वर्ष की बछड़ी का मांस खाने में विनियोग भी कर डाला गया है।

(६) का० ७। सू० ८३ (८८) इसमें परमेश्वर से बन्धनों की

मुक्ति की प्रार्थना की है। परन्तु कौशिक-सूत्र में इस सूक्त से धूमकेतु के दर्शन के प्रायश्चित्त के लिये वरुण के निमित्त पशु काटना लिखा है।

(७) का० ९। सू० ४ में ऋषभ के दृष्टान्त से परमेश्वर की महान् विश्वधारणी शक्ति का प्रतिपादन किया है और इसी प्रकार सू० ५ में अज के नाम से अजन्मा पञ्चौदन आत्मा का वर्णन किया है। परन्तु कौशिक सूत्रानुसारी श्री पं० शंकर पाण्डुरंग ने दोनों का विनियोग क्रम से इन्द्र के निमित्त बैल मारने और पञ्चौदन सव में बकरा मारने में कर दिया है।

इसी प्रकार और भी बहुत से मूर्खता युक्त विनियोग हैं जिन को कौशिक सूत्र, वैतान सूत्र और नक्षत्र कल्प आदि ने दर्शाया है परन्तु गम्भीर दृष्टि से उन तुच्छ बातों का वेद मन्त्रों के सूक्तों में कहीं लेशमात्र भी नहीं दीखता। जिसका स्पष्ट निरूपण भाष्य में देख सकते हैं।

(६) पशुबलि और पशुहोम

कुछ सूक्तों में हम पूर्व दर्शा आये हैं कि पशुओं के मारने का विनियोग दिखाई देता है। इस स्थल पर संक्षेप में हम पशुबलि की मीमांसा करते हैं।

(१) का० २। सू० ३४। 'य ईशे पशुपति०' इत्यादि सूक्त का श्री सायणाचार्य ने पशुमारणपरक अर्थ किया है। इस में उसको बलि कर्म की दिशा दिखाने वाला कौशिक प्रोक्त विनियोग ही है। परन्तु खेद है कि सायण के से विद्वान् ने पशुबलि के अतिरिक्त इसी सूक्त पर लिखे सर्वाधिपत्य की कामना करने वाले के लिये इन्द्र अग्नि के यज्ञपरक विनियोग और ब्राह्मणों को अन्नदान करनेपरक विनियोग को देकर भी उन परक अर्थ नहीं दर्शाया। नहीं तो पशुबलिपरक अर्थों का आप से आप समाधान हो जाता। अब ज़रा सायणकृत अर्थों पर विचार करलें।

प्रथम मन्त्र में सायण को अभिमत है कि पशुपति पशुओंका पालक रुद्र दोपाये, चौपाये सबका नियन्ता है। उससे (निष्क्रीतः) स्वतन्त्र किया हुआ। [वशारूप पशु] यज्ञार्ह भाग को प्राप्त हो। और पशु

सुवर्ण आदि समृद्धियां यजमान को प्राप्त हों। पाठक थोड़ा विचारें कि जो पशुहत्या करेगा पशुपति परमात्मा क्या उसको पशु समृद्धि देगा ? कैसी उलटी बात है। यहाँ सायण ने 'वशारूप पशु' यह पद अपनी ओर से गढ़ कर लगाये हैं। 'वशा' तो परमेश्वर की सर्ववशकारिणी ज्ञानमयी शक्ति है। यहाँ तो प्रत्येक जीव को स्वतन्त्र, बन्धन मुक्त होकर ईश्वर के उपास्य रूप को प्राप्त होने की प्रेरणा है। दूसरा मन्त्र लीजिये।

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतः गातुं धत्त यजमानाय देवाः।

सायण अर्थ करते हैं, हे (देवाः) मारे जानेवाले पशु के चक्षु आदि प्राणो! तुम लोग (भुवनस्य रेतः) समस्त प्राणियों द्वारा या उत्पत्ति के कारण रूप पुण्य लोकों को जाने का मार्ग (धत्त) बनाओ।

उपाकृतं शशमान यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु पाथः ॥

उपाकरण संस्कार से युक्त (शशमानम्) मारे जाते हुए और यत् (देवानां प्रियं पाथः) जो देवों के प्रिय अन्न अर्थात् मांस (अस्थात्) है उसको यह पशु (अप्येतु) प्राप्त हो। इस अर्थ में सायण ने मरते तड़पते पशु के प्राणों से यजमान के लिये स्वर्ग के मार्ग बनाने की आशा की है और पशु मांस को देवों का प्रिय बतलाया है। जहाँ तक हम गल्ती नहीं करते, माँस आदि पिशाचों और राक्षसों का भोजन है। देवों का नहीं है। सायण ने यह वाममार्गपरक अर्थ बड़े खेंचतान कर किया है। 'देवाः' से मरते प्राणि के प्राण का ग्रहण करना और 'पाथः' शब्द से मरते 'पशु का माँस' ग्रहण करना खेंचातानी है। वास्तविक अर्थ भाष्य में देखिये। पाँचवें मन्त्र में सायण ने अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। मन्त्र है—

'प्रजानन्तः प्रतिगृह्णन्तु पूर्वे प्राणम् अङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम्।
दिवं गच्छ प्रतितिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥

हे मारे जानेवाले पशु! देव लोग (प्रजानन्तः) तेरा माहात्म्य जानते हुए तेरे अंगों से निकलते प्राण को ले लें और उन से तू अन्तरिक्ष को जा और देवयान मार्गों से स्वर्ग को जा।

बलिदान करनेवालों का ढकोसला सायण ने वेद मन्त्र से निकाल ही दिया कि यज्ञ में मारा जाने वाला पशु देवों के अनुग्रह से देवयान मार्गों से सीधा स्वर्ग को जाता है। यदि इसी प्रकार पशुओं को देवयान मार्गों से स्वर्ग और मोक्ष मिलने लगा तो संसार भर के सब पशुओं का संहार करके क्यों न स्वर्ग का द्वारा खोल दिया जाय। फिर तिर्यग् योनियों के लिये द्वार खुलते ही मनुष्य योनि क्यों तपस्या में समय यापन करे। चार्वाक बृहस्पति ने तो ठीक ही कहा था—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥

यदि ज्योतिष्टोमादि यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग जा सकता है तो यजमान अपने बाप को मार कर क्यों नहीं स्वर्ग पहुँचाता। सायण की बुद्धि को इन ढकोसलों के आगे इतना भी कहने का साहस नहीं रहा कि वह उपनिषद् में बतलाये देवयान मार्गों को वेद में देख कर मोक्ष मार्ग का वर्णन वेद में देखता।

सायण के पीछे कदम रखनेवाले योरोपीयन पण्डितों ने भी कौशिकोक्त वशाशमन को विनियोग देख कर अपने अर्थों का झुकाव पशुबलिपरक ही किया है।

यहाँ तक हमने संक्षेप से एक सूक्त के पशुबलिपरक किये वेद मन्त्रार्थों की विवेचना की है। इनका वास्तविक अर्थ भाष्य में देखने का पाठक गण कष्ट करेंगे।

(२) अथर्व० का० ५। सू० १२ की उत्थानिका में पं० शंकरपाण्डुरंग ने इस सूक्त से वशाशमन कर्म में उसकी वपा अर्थात् चर्बी के चार भाग करके एक भाग को इस सूक्त से होमने को लिखा है। इसी प्रकार (५।२७) सूक्त से द्वितीय भाग को और दोनों से तीसरे भाग को और 'अनुमतये स्वाहा' से चोथे भाग को होमने को लिखा है। इन सूक्तों पर सायण का भाष्य उपलब्ध नहीं होता। और न इनमें कहीं वशाशमन

अर्थात् वन्ध्या गौ के मारने का वर्णन ही उपलब्ध होता है। वशा का प्रकरण १० वें काण्ड के १० वें सूक्त में विस्तार से आवेगा जिस की विवेचना हम तृतीय खण्ड की भूमिका में करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि दोनों सूक्तों में ईश्वर के गुणों का वर्णन और उसकी यथार्थ उपासना करने का भली प्रकार उपदेश किया है। जिसे प्रस्तुत भाष्य में ही देखना उचित है।

(७) अज पञ्चौदन

अथर्व० का० ४। सू० १४ में' अज प्रजापके स्वरूप का वर्णन है। परन्तु इस सूक्त में भी सायण भाष्य में वही लीला की है। इस सूक्त के ६ ठे मन्त्र में यजमान को स्वर्ग में ढोकर लेजाने के लिये बलि के मरे बकरे को बड़ा भारी (सुपर्ण) गरुड़ पक्षी बना दिया है जिस पर चढ़कर यजमान सीधा स्वर्ग चला जाय। चार्वाक की युक्ति से तो यदि इस नये आविष्कार से यजमान को ही मार कर गरुड़ बनाया जाता तो बड़ा उत्तम होता। ६ ठे मन्त्र में अजौदन अर्थात् पके बकरे और भात को विचित्र रूप में रखनेपरक अर्थ किया है—

प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम्।

अर्थात् हे पाचक ! तू पूर्व में बकरे का शिर रख और दक्षिण में दांया पासा रख।

और—प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेहि उत्तरस्यां दिशि उत्तरं धेहि पार्श्वम्।
ऊर्ध्वायां दिशि अजस्यानूकं धेहि ध्रुवायां धेहि पाजस्यमन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य॥

अर्थात् पश्चिम में बकरे का कटि भाग भात सहित रख, और उत्तर में उत्तर का भाग, ऊपर में पीठ का भाग, और नीचे भूमि पर पेट का भाग गाड़ दे। और बीच में मध्य का भाग और आकाश में शरीर के बीच के आकाश को जोड़ दे।

मन्त्र ७—शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम्।
स उत्तिष्ठ इतो अभिनाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रतितिष्ठ दिक्षु॥

हे काटने वाले ! तू पके बकरे को पकी चमड़ी से ढक दे। उस के सब अंगों से उसका (विश्वरूपम्) सर्वाकार बना रहे। हे बकरे! इस प्रकार तू सब से ऊंचे (नाकम्) सुखमय लोक को पहुँच और चारों पैरों से चारों दिशाओं से प्रतिष्ठित हो।' इस मन्त्र के सायण, ग्रीफ़िथ और ह्विटने तीनों ने ऐसे ही अर्थ किये हैं। वाह वेद के कैसे सुन्दर! अर्थ किये गये हैं। सायण जैसे विद्वान् और ह्विटनी जैसे गवेषक विद्वानों ने भी इस सूक्त के अर्थ करने में भारी कृपणता से काम लिया है विकृत पाठों के यथार्थ रूप खोज लेनेके लिये तो ये विद्वान् समस्त सस्कृतसाहित्यके अपार सागर की गहरी तह में से भी उस २ प्रकार की सब रचनाओं के नमूने निकाल कर विवेचना करते हैं, परन्तु इन स्थानों पर उनकी सब शक्ति कुण्ठित हो जाती है। 'विश्वरूप','अज' शब्द देखकर भी विराट्रूप परमेश्वर के वर्णन की संगति इन भाष्यकारों के दृष्टि गोचर नहीं होती। यदि ये बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रारम्भ में कहे 'विराट् अश्व' के अलंकार को पढ़ जाते तो कदाचित् 'अज प्रजापति' के विराट् रूप की कल्पना भी संगत कर लेते। यदि दूर नहीं जाते तो अथर्ववेद में ही काण्ड ९। सू० ५ में वर्णित अज का स्वरूप तो देख लेते।

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्य उर इयमभवद् द्यौः पृष्ठम्।
अन्तरिक्ष मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥ म० २० ॥

अर्थात् सृष्टि के भी पूर्व वह अजन्मा परमेश्वर इस संसार में व्याप्त है जिसकी छाती यह भूमी थी, पीठ द्यौः या आकाश था, अन्तरिक्ष नीचे का भाग था, दिशाएं पार्श्व थे और समुद्र कुक्षि थे। इत्यादि वर्णन की ही योजना उक्त विराट् अज के अंगों की स्थिति समझने के लिये लगानी चाहिये थी। यह सब न करके पूर्व लिखित भ्रष्टार्थ और भ्रष्ट कर्म पद्धति बतला कर भाष्यकारों ने अपनी बुद्धि की मन्दता ही दिखाई है। वेद के वर्णनों को मन्दबुद्धियों के बनाये कर्म काण्डों से लगाने की अपेक्षा वेद के सिद्धान्तप्रदर्शक उपनिषद् जो वेदान्त (वेद-सिद्धान्त) कहाते हैं

उनके अनुसार ही लगाना चाहिये था। जिसका प्रदर्शन पाठकगण भाष्य में स्पष्ट रीति से पावेंगे। भूमिका में तो हमने केवल भाष्य की दिशा का ही बोध कराया है और अन्य भाष्यों के नमूने और उनकी दिशा का प्रदर्शन कराकर तुलना करके वेद के वास्तविक विशुद्ध अर्थों पर चढ़े अनर्थकारी लेपों का पाठकों को परिज्ञान कराने का ही यत्न किया है।

(८) विष्टारी ओदन

अथर्व० का० ४। सू० ३४। में विष्टारी ओदन का वर्णन हैं। जिस में परम प्रजापति की उपासना और उसका उत्तम मोक्ष फल दर्शाया गया है। परन्तु हमारे बहुश्रुत सायणाचार्य ने एक मन्त्र में ओदन का विराट् प्रजापति रूप स्वीकार कर लिया है परन्तु दूसरे मन्त्र में स्त्रियों से भरे हुए स्वर्ग को ढूंढ लिया है। मन्त्र है—

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम्।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम्॥

'(अनस्थाः) हड्डि आदि षट् कोषों के बने शरीर से रहित, अमृत मय, पवित्र, शुद्ध तेजस्वी लोग पवित्र लोक को जाते हैं। (जातवेदाः) समस्त पदार्थों का ज्ञाता अग्नि उनके (शिश्नं न प्रदहति) भोग साधन इन्द्रिय को नहीं नष्ट करता। क्योंकि वहां उनके लिये (बहु स्त्रैणम्) बहुतसी स्त्रियों का जमघट है।' सायण के इस अर्थ के अनुसार तो 'नाक' अर्थात् वेदोक्त स्वर्ग भी हूरों से भरे हुए बहिश्त और विष्णु के गोलोक से क्या कम रहा।

५ वें ६ ठे मन्त्र में तो स्वर्ग में उत्तम नहरें, कमल आदि का वर्णन भी प्राप्त होगया है। फलतः हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि वेद के इस प्रकार के अर्थ सर्वथा बुद्धिविरुद्ध एवं आर्ष आस्तिक दर्शनों के सिद्धान्तों से संगति नहीं खाते। इस लिये ये अर्थ सर्वथा असंगत हैं। इस समस्या का स्पष्टीकरण हमने भाष्य में उसी स्थान पर कर दिया है पाठक वहां ही देखें।

(६) द्यूत क्रीड़ा

अथर्व वेद के कुछ सूक्तों को कौशिक ने द्यूत क्रीड़ा आदि में भी लगाया है। सायण ने उसके पीछे चलकर कई मन्त्रों में जूए द्वारा धन प्राप्त करने तक के उपदेश वेद के माथे लगा दिये, उसमें देवों को भी सहायक माना है। इस प्रकार सायण ने जुआड़ी लोगों के बुरे पेशों को वेदानुमोदित कह कर बड़ा अनर्थ किया है। जैसे—

(१) अथर्व० का० ७। सू० ५० (५२) ॥ इस सूक्त से जूए के पासों को अभिमन्त्रित करके फेंकने के लिये लिखा है। परन्तु इस सूक्त में आत्मसंयम का उपदेश किया है। इस सूक्त में 'कितवान् अक्षै र्वध्यासम्' [१] कितवों को अक्षों से मारूँ, 'अन्तर्हस्तं कृतं मम' [२] कृत को मैंने अपने हाथ में कर लिया। 'मथ्नामिते कृतम्। [४] इत्यादि पदों में सायण 'कृत' शब्द से जूए का एक मोहरा समझते हैं और कितव का अर्थ जुआखोर समझते हैं। इन आधारों से आपने समस्त सूक्त को जूए पर लगा दिया है। परन्तु उनका यह भ्रम मात्र है। क्योंकि मन्त्र ६ में 'कृतम् इव श्वघ्नी' उपमा दी है। अर्थात् श्वघ्नी द्यूतकार तो उपमान है। उपमेय अवश्य इससे भिन्न है। इसका यथार्थ अर्थ भाष्य में देखें।

(२) अथर्व० का० ७। सू० १०९ (१० ४) ॥ इस सूक्त के ४–७ तक चारों मन्त्र द्यूतजयकर्म में विनियुक्त हैं। वस्तुतः इस सूक्त में ब्रह्मचारी को इन्द्रियजय और राजा को अपने चरों पर वशीकरण करने का उपदेश किया है। 'अक्ष' आदि शब्द श्लेष से प्रयोग किये हैं। इसलिये सायण आदि को भ्रम होता है। क्या राजा, रानी और इक्का आदि नाम आने से सभी जगह ताशों की खेल ले लेना उचित है? नहीं। इसी प्रकार कृत, जय, कितव आदि नामों से भी सर्वत्र द्यूत प्रकरण समझना असंगत है। कितव आदि शब्दों के विरुद्ध प्रतिपादित अर्थों को ले लेने से रूढ़ि द्वारा हुए अनर्थ आप से आप दूर हो जाते हैं।

(१०) उपसंहार

इस खण्ड के अन्तर्गत काण्डों में आयी विशेष समस्याओं को यथा साध्य, यथामति सुलझाने का जो यत्न हमारी अल्पमति से हो सका है वह संक्षेप से इस संक्षिप्त एवं अल्प भाष्य में कर दिया गया है। परन्तु विस्तार से प्रतिपक्षियों के पद पद पर किये अनर्थों और आक्षेपों का विस्तार से उत्तर देने और समाधान करने के लिये बहुत विशाल ग्रन्थ की आवश्यकता है। उसके लिये तो पृथक् ही अथर्ववेद के सम्बन्ध के अलोचना-ग्रन्थ लिखे जाने आवश्यक हैं। उन के लिये आयास, तथा आर्थिक व्यय और लेखनार्थ विस्तृत काल भी अपेक्षित है। उस सब को हम भविष्य के लिये रख छोड़ते हैं। और विद्वान् महानुभावों से सप्रेम अनुनय करते हैं कि मेरे श्रम में जहां लक्षों त्रुटियां और न्यूनताएं एवं विचार का अपक्वताएं भी विद्यमान हैं उन पर अवश्य सन्मति का प्रयोग करके मुझे उन से विदित करावेंगे, जिस से मेरे जीवन काल में यदि ग्रन्थ के अन्य संस्करण हों तो उनको यथाप्रमाण सुधार कर वेद के तत्वजिज्ञासुओं के समक्ष आप महानुभावों के प्रति पूर्ण कृतज्ञतापूर्ण सेवा समुपस्थित कर सकूं। और इस वेदाध्ययन रूप तप और वेदचिन्तन रूप ज्ञानयज्ञ में सफल हो सकूं। अन्त में भट्टकुमारिल के शब्दों में निवेदन है कि—

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते॥

अजमेर, केसरगंज
माघ शुक्ला दशमी,
१९८५ विक्रमाब्द।

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा
विद्यालंकार मीमांसा तीर्थ।

विषय सूची

षष्ठं काण्डम् (१-१६८)

सप्तमं काण्डम् (१-२०७)

सूक्त संख्या | पृष्ठाङ्क

अष्टमं काण्ड (१-१४३)

॥ इति ॥

नोट—प्रेस सम्बन्धी कुछ असुविधा हो जाने से इस खण्ड में क्रम से पृष्ठ संख्या न देकर प्रत्येक काण्ड की पृष्ठ संख्या हमने पृथक् २ प्रारम्भ की है।

❀ ओ३म् ❀

अथर्ववेदसंहिता

अथ षष्ठं काण्डम्

[१] ईश्वरस्तुति ।

अथर्वा ऋषिः । सविता देवता । १ त्रिपदा पिपीलिकामध्या साम्नी जगती ।
२-३ पिपीलिका मध्या परोष्णिक् । तृचं सूक्तम् ॥

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि । आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ॥ १ ॥

भा०—हे (आथर्वण) अथर्ववेद के विद्वान् ! ब्रह्म के उपासक ! (दोषा उ) दिन और रात्रि या प्रातः सायं दोनों कालों में (बृहत्) परमात्मा के सम्बन्ध में बृहत् नामक साम का (गाय) गायन कर । और (द्युमत्) प्रकाशस्वरूप आत्मा का ध्यान कर । और (सवितारम्) सब के उत्पादक, सब के प्रकाशक (देवम्) प्रकाशस्वरूप परम देव के (स्तुहि) गुणों का वर्णन किया कर । प्रजापतिर्वा अथर्वा । अग्निरेव दध्यङ्थर्वणः । तै० सं० ५ । ६ । ६ । ३ ॥ परमात्मा अथर्वा कहाता है । और अग्नि, ज्ञानी पुरुष दध्यङ् अर्थात् योग समाधि द्वारा उस प्रजा-

[१] १-आथर्वणान्ता पादसमाप्तिरिति केचित् । ततो गायत्र्याश्छन्दः । (द्वि०) 'द्युमद्गाय' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'दोष आगाद्' (द्वि०) 'द्युमद गामन्' इति साम० ॥

पति का ध्यान चिन्तन करता है 'दध्यङ् आथर्वण' कहाता है। 'त्वाम् इद्धि हवामहे' इत्यादि [ऋ० ६ । ४६ । १] ऋक् का साम बृहत्साम कहाता है।

तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः ।
सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम् ॥ २ ॥

भा०—(तम् उ स्तुहि) हे विद्वान् ! ब्रह्मवेत्तः ! तू उसीकी स्तुति कर (यः) जो (अन्तः-सिन्धौ) महा प्रवाह, सागर या मूल प्रकृतिरूप कारण में (सत्यस्य) इस सत्यमय, सार=व्यक्त जगत् का (सूनुः) प्रेरक और उसका उत्पादक और (युवानम्) बनाने और प्रलय करनेवाला है जो (अद्रोघ-वाचम्) सदा द्रोहरहित प्रेम की वाणी से स्मरण करने योग्य, एवं प्रेममय वाणी का उपदेष्टा और (सुशेवम्) सुख से सेवन करने योग्य है।

स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि ।
उभे सुष्टुती सुगातवे ॥ ३ ॥ ऋ० ७ । ४५ । ३ प्र० द्वि० ॥

भा०—(स घ) वह परमात्मा ही (देवः) एक ऐसा है जो (सविता) सब का उत्पादक है। वही (भूरि) नाना, बहुत से (अमृतानि) अमृतमय मोक्ष के साधनों, दीर्घ जीवन और अन्न (नः साविष्मत) हमें देता है (उभे) दोनों प्रकार की (सु-स्तुती) उत्तम स्तुतियां (सुगातवे) उसी के गुणगान के लिये हैं।

२–'तमु स्तुहि अन्तः सिन्धुम् सूनुम् सत्यस्य युवानम् । अद्रोघ–' इति पैप्प० सं० ।

३–(द्वि०) 'साविषद् वसुपतिर्वसूनि' (च०) 'सुगातुम्' इति पैप्प सं० । (तृ०) 'उभे सुचिती सुधातुः' इति आ० श्रौ० सू० । (तृ०) 'उभे श्रुती सुगाता वै' इति पेट० लाद० । 'सुस्तुती' इति ग्रीफिथादिसम्मतः ।

दोनों 'सुस्तुति' अर्थात् सामगायन 'स्तुत' और मन्त्रपाठ 'शस्त्र' हैं। प्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः स्तोत्रम्। अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः शस्त्रम्।



[२] समाधि द्वारा ब्रह्मरस पान।

अथर्वा ऋषिः। सोमो वनस्पतिर्देवता। १-३ परोष्णिहः तृचं सूक्तम्॥

इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत।
स्तोतुर्यो वचः शृणवद्धवं च मे॥ १॥

भा०—हे (ऋत्विजः) हे ऋतु २ में यज्ञ करने हारे अथवा ऋतु=प्राणों का परस्पर यज्ञ=संगति करने वाले समाधि-कुशल योगी पुरुषो! उस (इन्द्राय) इन्द्र अपने आत्मा के लिये (सोमम्) ब्रह्मानन्द रस को (सुनोत) उत्पन्न करो और उसको (आ धावत च) भली प्रकार और भी परिमार्जित और स्वच्छ करो (यः) जो इन्द्र=आत्मा (स्तोतुः वचः) स्तुति करने हारे विद्वान् की वाणी (मे हवं च) और मेरी पुकार को (शृणवत्) सुनता है।

आ यं विशन्तीन्दवो वयो न वृक्षमन्धसः।
विरप्शिन् वि मृधो जहि रक्षस्विनीः॥ २॥

भा०—हे (वि-रप्शिन्) नाना प्रकार से वर्णन किये जाने योग्य महान् आत्मन्! (वृक्षं) वृक्ष पर (वयः न) जिस प्रकार नाना पक्षिगण आश्रय लेते हैं उसी प्रकार (अन्धसः) प्राण, जीवन शक्ति को धारण करने वाले (इन्दवः) परम विभूति-ऐश्वर्य से सम्पन्न ज्योतिर्मय ब्रह्म के

[२] १-(द्वि० तृ०) शृणोतना तु धानत। स्तोत्रियं हवं शृणवद् धवं तुनोः।'
२-(प्र०) 'आत्वा' इति पैप्प० सं०

रस या मुमुक्षुजन (यं) जिसके भीतर (विशन्ति) प्रवेश करते हैं वह तू (रक्षस्विनीः) विघ्नों से पूर्ण (मृधः) मन से लड़नेवाली मानस दुर्वृत्तिओं को (वि जहि) विनाश कर ।

सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे ।
युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः ॥ ३ ॥ ऋ० ७ । ३२ । ८ प्र० द्वि० ॥

भा०—(सोम-पाव्ने) सोम=ब्रह्मानन्द-याया योगाभ्यास रस का पान करने वाले (वज्रिणे) वज्र=अपवर्ग अर्थात् नानाभव-बन्धन के काटने के साधनरूप ज्ञानखड्ग को धारण करनेवाले (इन्द्राय) इन्द्र परम-आत्मा के लिये (सोमं) सुनोत) सोम का सवन करो, अभ्यास रस को प्राप्त करो । (सः) वही (युवा) सदा शक्तिमान्, अनुपम सुन्दर, अथवा सब विरोधी वर्गों का नाशक (जेता) सब को विजय करनेवाला (पुरु-स्तुतः) नाना प्रजाओं द्वारा स्तुति किया हुआ (ईशानः) सर्वशक्तिमान् प्रभु है । केवल आत्मपक्ष में वज्र=वैराग्य, पुरु=इन्द्रियें ।



[३] रक्षा की प्रार्थना ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । नाना देवताः । १ पथ्याबृहती । २–३ जगत्यौ । तृचं सूक्तम् ॥

पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः ।
अपां नपात् सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः ॥ १ ॥

भा०—रक्षा की प्रार्थना करते हैं । (नः) हमारी (इन्द्रापूषणा)

३–'सोमपाशे' इति पैप्प० सं० ।

[३] १–(प्र०) 'अश्विना सुदेससा' (तृ० च०) 'बिहती कयस्याचिद्देवो सूवन्दाधिते शर्म यच्छ नः' इति पैप्प० सं० ।

इन्द्र और पूषा=विद्युत् और वायु (अदितिः) अदिति=पृथिवी या आदित्य और (मरुतः) नाना प्रकार की भिन्न भिन्न वायुएं या रश्मियां या प्रजागण, (अपां नपात्) अपः—समस्त लोकों का धारक, उनको स्थान से विचलित न होने देने वाला, महान् अन्तरिक्ष अथवा अग्नि और (सप्त सिन्धवः) सात गतिशील, प्रवहण आदि लोक संचालक वेग (पान्तु, पातन) रक्षा करें। और (विष्णुः) सर्वव्यापक आकाश और (द्यौः) प्रकाशस्वरूप, तेज ये तत्व भी (नः पातु) हमारी रक्षा करें।

अध्यात्म पक्ष में—सप्त सिन्धवः=सात ऊर्ध्व-प्राण। इन्द्र=आत्मा, मन, दक्षिण अक्षिगत प्राण, वाक्, और वीर्य। पूषा=पुष्टि, पोषक शक्ति, प्रजनन शक्ति। अदितिः=वायु, मुख्यप्राण, और अन्नग्राहक शक्ति। मरुतः=प्राण-गण। *विष्णुः=यज्ञ आत्मा, वीर्य और श्रोत्र। द्यौः=प्राण। अनुमतिः=वाग्।*

पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः। पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः॥ २॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी (अभिष्टये) अभीष्ट फल प्राप्त करने के निमित्त (नः) हमें (अंहसः) पाप से (पाताम्) सुरक्षित रखें। (ग्रावा) विद्वान् पुरुष जो उत्तम ज्ञान का उपदेश करे (अंहसः) पाप से वह हमें (पातु) सुरक्षित रखे। और (सोमः) सोम, सब का प्रेरक, उत्पादक प्रभु (नः) हमें (अंहसः पातु) पाप से बचावे। (सुभगा) सुख सौभाग्यमय (सरस्वती) ज्ञानमयी वेदवाणी (देवी) आनन्द को देनेहारी होकर (नः पातु) हमें पाप से बचावे। और (अग्निः) अग्नि, ज्ञानमय, स्वप्रकाश परमात्मा और (अस्य) इस प्रभु के बनाये (ये) जो और भी (पायवः) पवित्र करनेहारे (शिवाः) कल्याणकारी पदार्थ और विद्वान् हैं वे भी हमें सब पापों से बचावें।

२–(तृ०) 'सुहवा' इति पैप्प० सं०।

पातां नो देवाश्विना शुभस्पती उषासानक्तोत न उरुष्यताम् ।
अपां नपादभिहुती गयस्य चिद् देव त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये ॥३॥

भा०—(अश्विनौ देवौ) दोनों अश्विदेव, माता पिता, गुरु आचार्य (शुभस्पती) शुभ, उत्तम पुरुषों, प्रकाश युक्त लोकों के पालक (नः पातां) हमें पापों से बचावे । (उत) और (उषासानक्ता) उषा और रात्रि, दिन और रात, दोनों काल (नः) हमें (उरुष्यताम् [1]) पाप से बचावें । हे (अपां न पात्) समस्त प्रजा और लोकों एवं कर्मों और प्रजाओं तथा जगत् के आदि कारणभूत प्रकृति का रक्षक अधिपति प्रभु ! हे देव ! सर्वप्रकाशक, सर्वव्यापक, सर्व जगत् में रत ! हे (त्वष्टः) समस्त लोकों के गढ़नेवाले प्रभो ! (गयस्य चिद्) आत्मा के ही सब प्रकार के उत्तम फल प्राप्त करने के लिये (अभि-हुती) सब प्रकार की विषम दशा में (वर्धय) हमें बढ़ा, शक्ति प्रदान कर ।



[४] रक्षा की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । नाना देवताः । १ पथ्याबृहती । २ संस्तार पंक्तिः ।
३ त्रिपदा विराड् गायत्री । तृचं सूक्तम् ॥

त्वष्टा मे दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रायमाणं सहः ॥ १ ॥

साम० पू० २९९ ॥

भा०—(त्वष्टा) त्वष्टा=सब का उत्पादक, (पर्जन्यः) पर्जन्य=मेघ के समान सब पर सुखों का वर्षक, (ब्रह्मणस्पतिः) वेद, सत्यज्ञान

३–(तृ०) 'अभि हुती' इति सायणसम्मतः ।

१. उरुष्यतिः रक्षाकर्मा । निरु० ५ । ३.३ ॥

[४] १–(च०) 'त्रायणं शवः' इति पैप्प० सं० ।

और ब्रह्माण्ड एवं प्रकृति का पालक और (अदितिः) अदिति, अखण्ड, एक रस, (दुःन्तरं) जो दुस्तर=अपार अद्वितीय (त्रायमाणम्) रक्षा करने वाला (सहः) परम बल है वह (पुत्रैः भ्रातृभिः) हमारे पुत्रों और भाइयों सहित (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे ।

अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः ।
अप तस्य द्वेषो गमेदभिहुतो यावयच्छत्रुमन्तितम् ॥ २ ॥

भा०—(अंशः) अंश, सब कर्मों और वृत्तियों का प्रजा में विभाजक (भगः) सर्वैश्वर्यवान्, (वरुणः) सब से श्रेष्ठ, (मित्रः) मृत्यु से बचाने वाला, (अर्यमा) शत्रुओं का दमन करनेवाला, (अदितिः) अखण्ड शक्ति और (मरुतः) विद्वान् गण और प्राणगण (पान्तु) ये सब हमारी रक्षा करें । (तस्य) उस शत्रु का हमारे प्रति (अभिहुतः) कुटिल द्वेष भाव, अप्रीतिभाव (अपगमेत्) दूर हो । और (अन्तितम्) समीप आये हुए (शत्रून्) शत्रु को भी (यावयत्) दूर कर दे । अर्थात् द्वेष भाव नष्ट हो जाने पर शत्रु स्वयं समीप आकर भी हमसे दूर हो जाय ।

धिये समश्विना प्रावतं न उरुष्या ण उरुज्मन्नप्रयुच्छन् ।
द्यौ३ष्पितर्यावय दुच्छुना या ॥ ३ ॥ ऋ० ऋ० १।११७।२३ द्वि० ॥

भा०—हे (अश्विना) अश्वियो ! माता पिताओ ! (धिये) उत्तम आचरण और शुभमति के प्राप्त करने के लिये (नः) हमें (सं प्र अवतम्) भली प्रकार उत्तम रीति से आगे बढ़ाओ, उत्साहित करो । और हे (उरु-ज्मन्) उरु, समस्त लोकों में व्यापक परमात्मन् ! आप (न प्रयुच्छन्) कभी प्रमाद न करते हुए (नः उरुष्य) हमारी रक्षा करें । हे (द्यौः पितः)

२–(द्वि०) 'अदितिः पात्वंहसः' इति पैप्प० सं० । 'अभिहृतः' इति सायणाभिमतः । 'यावयन्' इति ह्विटनिकामितः । 'अन्तितम्' इतिच्छेदोह्विटनिकामितः सायणाभिमतश्च । 'अन्तिथम्' इति पैप्प० सं० ।

समस्त प्राणियों के पालक ! द्यौः प्रकाशस्वरूप भगवन् ! (या दुच्छुना [1]) जो दुःखदायी फलों को लानेवाली तृष्णा है उसे (यवय) हम से दूर कर।



[५] तेज, बल और ऐश्वर्य की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः। इन्द्राग्नी देवते। १-३ अनुष्टुभौ। २ भुरिग् अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

उदे॑नमुत्त॒रं न॑याग्ने घृ॒तेना॑हुत।
समे॑नं॒ वर्च॑सा सृज प्र॒जया॑ च ब॒हुं कृ॑धि ॥ १ ॥ यजु० ३७। ५० ॥

भा०—हे (घृतेन आ-हुत अग्ने) घी की आहुति से प्रज्वलित आग के समान घृत=प्रकाशमान लोकों से आहुत=अपने अधिष्ठाता रूप में स्वीकृत अग्ने! प्रकाशमान् सबके प्रकाशक परमेश्वर ! (एनम्) इस आत्मा को (उत् नय) ऊपर उठा। और (उत्तरं नय) उससे भी अधिक ऊंचा कर। और (एनम्) इसको (वर्चसा) ब्रह्मतेज से (सं-सृज़) युक्तकर और (प्रजया च) प्रजा से इस मनुष्य को (बहुम् कृधि) बहुत संख्या में उत्पन्न कर।

इन्द्रे॒मं प्र॑त॒रं कृ॑धि सजा॒ताना॑मसद् व॒शी।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ सं सृ॑ज जी॒वात॑वे ज॒रसे॑ नय ॥ २ ॥ यजु० १७। ५१ ॥

भा०—हे इन्द्र ! ईश्वर ! (इमम्) इस पुरुषको (सजातानाम्)

३-[1]. दुष्टं शुनं सुखमस्याम् इति वाश्वेव दुष्टेति वा सायणः।

[५] १-(द्वि०) 'घृतेभिराहुतः' (च०) 'देवानां भागधा' इति पैप्प० सं०। (च०) 'प्रजया च धनेन च' इति तै० सं०।

२-(प्र०) 'प्रतराम् नय' इति यजु०। (च०) 'देवेभ्यो भागधा असत्' इति मै० सं०।

अपने समान अन्य जन्तुओं के (प्रतरम्) पार उतारने वाला, उनसे उत्कृष्ट (कृधि) बना। वह उन पर वश करने वाला हो। इस पुरुष को (रायस्पोषेण सं सृज) धन ऐश्वर्य की पुष्टि से युक्त कर। और (जीवातवे) चिर जीवन के लिये इसे (जरसे नय) बुढ़ापे के काल तक पास करा। उसे बुढ़ापे के पूर्व मृत्यु के वश न होने दे।

यस्यं कृण्मो हविर्गृहे तमंग्ने वर्धया त्वम्।
तस्मै सोमो अधिं ब्रवदयं च ब्रह्मंणस्पतिः ॥ ३ ॥

यजु० १७ । ५२ ॥ उत्तरार्धः अथर्व० ६ । ८७ । ३ ॥

भा०—(यस्य गृहे) जिसके घर में हम (हविः) यज्ञके योग्य चरु और अन्नकी योग्य रूपसे आहुति (कृण्मः) करते हैं हे अग्ने! (तम्) उसको (त्वं) तू (वर्धय) बढ़ा, (तस्मै) उसके प्रति (सोमः) ज्ञानी पुरुष और (अयंच) यह (ब्रह्मणः पतिः) वेद का पालक विद्वान् भी (अधि ब्रवत्) नित्य उपदेश करे।



[६] दुष्टों के दमन की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः। ब्रह्मणस्पतिर्देवता सोमश्च। १–३ अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

यो॒३॒स्मान् ब्रह्मणस्पते देवो अभिमन्यते।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ १ ॥

भा०—हे (ब्रह्मणः पते) ब्रह्म वेद के स्वामिन्! (यः) जो (अदेवः) स्वतः देव=विद्वान् न होकर (अस्मान्) हमें (अभि मन्यते)

३–(प्र०) 'कृर्मो गृहे हविः' (तृ०) 'देवा अतिब्रवन्' इति यजु० तै० सं०, मै० सं०।

[६] १–(द्वि०) 'अभिदासति' इति पैप्प० सं०।

अपमानित करता है। (तं सर्वम्) उन सबको (सुन्वते) सोम सवन करने वाले (मे) मुझ (यजमानाय) यजमान .देवोपासक के (रन्धयासि) वश कर।

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति।
वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति ॥ २ ॥

भा०—हे सोम ! सौम्य स्वभाव ! राजन् (सुशंसिनः) उत्तम वाणी बोलने वाले, सभ्यः (नः) हम पर (यः) जो पुरुष (दुःशंसः) कुवाक्यवक्ता होकर (आ दिदेशति) हुक्म चलाता है। हे इन्द्र राजन् ! (अस्य) उसके (मुखे) मुख पर (वज्रेण) वज्र से (जहि) प्रहार कर। (सः) वह (सं-पिष्टः) अच्छी प्रकार ताड़ित होकर (अप अयति) दूर हट जाय।

यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः।
अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्वधत्मना ॥३॥

भा०—हे (सोम) राजन् ! (यः) जो (स-नाभिः) हमारा ही सम्बन्धी होकर (नः) हमारा (अभिदासति) सब प्रकार से नाश करता है और (यः च निष्ट्यः) जो निकृष्ट पुरुष (नः अभि दासति) हमें विनाश करता है। (मही द्यौः वधत्मना इव) जिस प्रकार संहारकारी विद्युत् द्वारा विशाल आकाश वज्रपात करता है उस प्रकार (तस्य बलम्) उसके बल, सेना को (वध-त्मना) संहारकारी अस्त्र से इस प्रकार (अप तिरः)विनाश कर।



२–(प्र०) 'सुसंशिनो' इति प्रायः। 'सुशंसिनः' पैप्प० सं०। (द्वि०) 'दुःशसे अभिदासति' इति पैप्प० सं०।

३–'येन सोमाभिदासतः' इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'यो नः इन्द्र' (तृ०) 'अवतस्य' (च०) 'द्यौरधत्मना' इति ऋ०।

[७] उत्तम शासन की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । सोमो देवता, विश्वेदेवा देवताः । १–३ गायत्र्यः । ३ निचृत् । तृचं सूक्तम् ॥

येन सोमादितिः पथा मित्रा वा यन्त्यद्रुहः । तेना नोवसा गहि ॥१॥

भा०— हे (सोम) राजन् ! (येन पथा) जिस मार्ग से या उपाय से (अदितिः) अखण्डित शासक राजा और (मित्राः वा) उसके प्रजाधिकारी जो प्रजा को परस्पर के मरने मारने से रक्षा करने हारे हैं वे (अद्रुहः) विना परस्पर द्रोह किये (यन्ति) गमन करते हैं (तेन) उस (अवसा) प्रजारक्षणकारी वल से (नः) हमें (आ गहि) प्राप्त हो और हमें अपना ।

येन सोम साहन्त्यासुरान् रन्धयासि नः । तेना नो अधि वोचत ॥२॥

भा०—हे (सोम) राजन् ! हे (साहन्त्य) सब को अपने वश में करने वाले ! नियामक (येन) जिस बल से (असुरान्) बलवान् पुरुषों को भी (नः) हमारे कल्याण के लिये (रन्धयासि) अपने वश करता है (तेन) उसी उपाय से (नः) हम पर भी (अधि वोचत) शासन कर और हम पर हुकूमत चला ।

येन देवा असुराणामोजांस्यवृणीध्वम् । तेना नः शर्म यच्छत ॥३॥

भा०—(देवाः) विद्वान् पुरुष (येन) जिस उपाय से (असुराणाम्) बलवान् शारीरिक बल से बली पुरुषों के (ओजांसि) तेजों को बलों को

---

[७] १–(प्र०) 'येभिः सोम सहन्त्या' (तृ०) ते मन्येऽवेता भुवः' इति पैप्प० सं० ।

३–'यानि देवा' (तृ०) 'तेभिः' इति पैप्प० सं० ।

(अवृणीध्वम्) अपने नीचे दबा लेते हैं हे विद्वानो! (तेन) उसी उपाय से (नः) हमें आप लोग (शर्म) सुख शान्ति (यच्छत) प्रदान करो।

इस सूक्त में अध्यात्म पक्ष में सोम=आत्मा; आदितिः=अखण्ड, चिति शक्ति या बुद्धि, मित्राः=१२ प्राण, असुराः=प्राण, कर्मेन्द्रिय; देव=ज्ञानेन्द्रिय।



[८] पति-पत्नी की परस्पर प्रेम प्रतिज्ञा।

जमदग्निर्ऋषिः। कामात्मा देवता। १—३ पथ्या पंक्तिः। तृचं सूक्तम् ॥

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे।
एवा परि ष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः १
अथर्व० १।३४।५ ॥ २।३०।१ ॥

भा०—गृहस्थ धर्म का उपदेश करते हैं। (यथा) जिस प्रकार (लिबुजा) लता (वृक्षम्) वृक्ष को (समन्तम्) सब ओर से (परि सस्वजे) चिपट जाती है, उसी का आश्रय लेती है (एवा) इसी प्रकार हे स्त्रि! (मां) मुझ पति को तू मेरी धर्मपत्नी (परिष्वजस्व) प्रेम से सब प्रकार से आलिङ्गन कर और मेरा आश्रय ले। और ऐसा व्यवहार कर कि तू (यथा) जिस प्रकार भी हो (मां कामिनी असः) मुझे ही अनन्य चित्त से चाहने वाली बनी रह, (यथा) जिससे तू (मत्) मुझे छोड़कर (अपगा) दूर जाने वाली (न असः) न हो। इस प्रकार पति अपनी पत्नी को उपदेश करे और उसे अपने आश्रय पर पालन करे।

यथा सुपर्णः प्रपतन् पक्षौ निहन्ति भूम्याम्।
एवा नि हन्मि ते मनो यथा मां० ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सुपर्णः) पक्षी (भूम्याम्) भूमि पर (प्रपतन्) वेग से आता हुआ (पक्षौ निहन्ति) पंखों को शिथिल कर देता है । (एवा) इसी प्रकार (ते मनः) तेरे विचलित हृदय को मैं (निहन्मि) अपने प्रति निश्चल करता हूं । (यथा) जिससे (मां कामिनी असः) तू मुझे सदा चाहती रहे और (मत् अपगा न असः) मुझे छोड़कर जाने का संकल्प न करे ।

यथेमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः ।
एवा पर्येमि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥३॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (सद्यः) शीघ्र ही उदय होते ही (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, ज़मीन और आस्मान दोनों में सर्वत्र (परि-एति) व्याप जाता है (एवा) इसी प्रकार मैं (ते मनः) तेरे मन, हृदय में (पर्येमि) एक ही बार, तुरन्त व्याप जाऊं । (यथा) जिससे तू (मां कामिनी असः) मुझे चाहने वाली, मेरी प्रियतमा हो जाय और (यथा) जिससे तू (मत्) मुझे छोड़कर (न अपगा असः) दूर चले जाने का संकल्प न करे ।



[९] स्त्री पुरुषों का परस्पर प्रेम करने का कर्त्तव्य ।

जमदग्निर्ऋषिः । कामात्मादेवता । १–३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

वाञ्छ मे तन्वं१ पादौ वाञ्छाक्ष्यौ३ वाञ्छ सक्थ्यौ/ ।
अक्ष्यौ/वृषण्यन्त्याः केशा मां ते कामेन शुष्यन्तु ॥ १ ॥

३–(द्वि०) 'प्रयाति' इति क्वचित् ।

[९] १–(प्र०) 'पादौ तन्वा' (द्वि०) 'वाञ्छ' (तृ०) 'अक्षौ केशा आष्टौ कामे नाश्यताम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—स्त्री पुरुषों को परस्पर के प्रति प्रेम और अभिलाषा करने का उपदेश करते हैं। हे प्रियतमे ! तू (मे) मेरे (तन्वं) शरीर को (वांछ) मन से चाह। (पादौ वांछ) मेरे पैरों को चाह, (अक्ष्यौ) मेरी आंखों की (वान्छ) चाह कर, (सक्थ्यौ वान्छ) मेरे टांगों की चाह कर। अर्थात् मेरे प्रत्येक अंग पर प्रेम की भरी दृष्टि से देख। (वृषण्यन्त्याः) मेरे प्रति कामना करने हारी तेरी (अक्ष्यौ) आंखें और (केशाः) केश भी (मां) मुझको (कामेन) तेरी प्रबल कामना से (शुष्यन्तु) सुखाया करें अर्थात् पति भी पत्नी के चक्षुओं और केश आदि अंगों को देखकर प्रवलता से कामना करे तब वह भी उसके अंगों पर सप्रेम दृष्टिपात करें और दोनों वर वधू परस्पर को देखने के लिये सदा उत्सुक रहें।

मम॑ त्वा दोषणिश्रिषं॑ कृणोमि॑ हृदयश्रिष॑म् ।
यथा॒ मम॒ क्रता॒वसो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि ॥ २ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० ३ । २५ । ५ तृ० च० ॥ १ । ३४ । २ तृ० च० ॥

भा०—हे प्रियतमे ! मैं (हृदयश्रिषम्) हृदय में लगी, हृदय में वसी (त्वा) तुझको (मम दोषणि श्रिषं कृणोमि) अपनी भुजा पर चिपटाऊँ, तुझे वाहु से आलिंगन करूं (यथा) जिससे तू (मम क्रतौ) मेरे हृदय की इच्छा के भीतर (असः) रहे और (मम चित्तम्) मेरे चित्त में (उपायसि) आकर वसे।

यासां॒ नाभि॑रा॒रेह॑णं हृ॒दि सं॒वन॑नं कृ॒तम् ।
गावो॑ घृ॒तस्य॑ मा॒तरो॒ऽमूं सं वा॑नयन्तु मे ॥ ३ ॥

२–'मंत्वा दूषणि मृगम् कृणोमि हृदयस्पृगम्'। (तृ०) 'नमेदपक्रता' इति पैप्प० सं०।

३–(प्र०) 'मातरोऽभूः' इति सायणाभिमतः।

भा०—(यासां) जिनका (आ-रेहणं) चुम्बन भी (नाभिः) उनको बांधने वाला है और वही मानो (हृदि) हृदय में एक (संवननम्) परस्पर एक दूसरे को स्वीकार करने का उपाय (कृतम्) किया गया है । (घृतस्य) घृत के समान स्नेहमय प्रेम की (मातरः) उत्पन्न करने वाली (मातरः) माताएं ही (गावः) गौवों के समान स्नेहमय चक्षुओं से देखने वाली (अमूं) इस प्रियतमा को (मे) मेरी तरफ़ (सं वानयन्तु) प्रेमपूर्वक प्रेरित करें ।



[१०] अग्निहोत्र का उपदेश ।

शंतातिर्ऋषिः । १ अग्नि । २ वायुः । ३ सूर्यः । १ साम्नी त्रिष्टुप् । २ प्रजापत्या बृहती । ३ साम्नी बृहती । तृचं सूक्तम् ॥

पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योग्नयेधिपतये स्वाहा ॥ १ ॥

भा०—सम्पत्ति चाहने वाले के लिये अग्निहोत्र का उत्तम उपदेश करते हैं । (पृथिव्यै स्वाहा) इस विशाल पृथिवी के लिये उत्तम हवि की आहुति दें । (श्रोत्राय स्वाहा) पृथिवी के श्रोत्र रूप दिशाओं के लिये भी उत्तम आहुतिएँ का प्रदान करो (वनस्पतिभ्यः स्वाहा) वनस्पतियों के लिये भी पुष्टिकारक घृत की आहुति प्रदान करो। (अधिपतये अग्नये स्वाहा) पृथिवी में स्वामी अग्नि देव उसको भी उत्तम हवि घृत की आहुति प्रदान करो ।

प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेधिपतये स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—(प्राणाय) प्राण रूप वायु (अन्तरिक्षाय) उसके संचार स्थान अन्तरिक्ष, (वयोभ्यः) उसमें विचरनेवाले पक्षियों और (अधिपतये वायवे) उनके सर्वतो मुख्य स्वामी वायु के लिये भी (स्वाहा) उत्तम घृत आदि की आहुति देना चाहिये ।

दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा ॥ ३ ॥

भा०—(दिवे) द्यौः या प्रकाश या तेज के लिये (चक्षुषे) उसके ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय चक्षु (नक्षत्रेभ्यः) उस तेज से चमकनेवाले नक्षत्रों और (अधिपतये सूर्याय) उनके स्वामी सूर्य के लिये (स्वाहा) उत्तम आहुति का प्रदान करो।

अध्यात्म में—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः तीन लोक हैं, श्रोत्र, प्राण=प्राण और चक्षु तीन इन्द्रिय हैं, वनस्पति, पक्षि और नक्षत्र तीनों लोकों की तीन प्रकार की प्रजाएं हैं। अग्नि, वायु और सूर्य ये तीन उनके अधिपति हैं। इन लोक-इन्द्रिय और अधिपति इन त्रिकों का परस्पर घनिष्ठ, लेनदेन है। वही उनकी उत्तम आहुति है। पृथिवी से वनस्पति उत्पन्न होती है और अग्नि उनको खा जाती है श्रोत्र रूप दिशाओं में फैलती है। अन्तरिक्ष पक्षिगण विहार करते हैं उनका रक्षक वायु है। उसका एकांश सबका प्राण वायु नासिका में विचरता है—द्यौः लोक तेजो लोक की प्रजाएं ये नक्षत्र हैं उनका अधिपति सूर्य है जिनका प्रत्यक्ष नमूना यह सूर्य है। और तेजका ग्राहक चक्षु है। यह ईश्वर की सृष्टि में एक दूसरे का धारक और सामर्थ्यदायक है। यही उनकी उत्तम आहुति है।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र दश सूक्तानि ऋचश्च त्रिंशत् ।]



[११] गर्भाधान और प्रजनन विद्या।

प्रजापतिर्ऋषिः । रेतो देवता । १—३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ।

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम् ।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥ १ ॥

---

[११] १—'पुंसवनं' इति सायणाभिमतः। (प्र०) 'अश्वत्थारूप', (तृ० च०) तदेव तस्य भेषजम् यत् स्त्रीष्वधरान्ति तम् ।'

भा०—(शमीम्) शान्त, उद्वेगरहित, धीर स्त्री—मादा, पर (अश्वत्थः) अश्व के समान शीघ्रगामी, दृढ़ांग रूप से स्थिर पुरुष=नर (आरूढः) गर्भाधान करे (तत्र) वहां (पुंसवनम्) पुमान पुत्र के उत्पन्न होने का विधान (कृतम्) किया जाता है। (तद्) यही विधान (पुत्रस्य) पुमान पुत्र के (वेदनं) प्राप्त करानेवाला है। (तत्) उसी दृढ़ वीर्य को (स्त्रीषु) स्त्रियों में हम पुरुष (आ भरामसि) धारण करावें।

पुमान् पुत्रों को प्राप्त करने के लिये स्त्री उद्वेग रहित और पुरुष दृढांग होना चाहिये। कइयों के मत से—शमी नामक वृक्ष पर उगा हुआ पीपल पुमान पुत्र उत्पन्न करने की ओषधि है। उसीसे पुत्र लाभ होता है और उस ओषधि से प्राप्त वीर्य को आधान करना चाहिये।

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत्॥ २॥

भा०—अश्वत्थ और शमी की समस्या को स्पष्ट करते हैं। (पुंसि वै) पुरुष में ही (रेतः) वीर्य (भवति) उत्पन्न होता है। (तत्) वही वीर्य (स्त्रियाम्) स्त्री के गर्भ में (अनु=सिच्यते) गर्भाधान द्वारा सेचन किया जाता है। (तद्) वह (वै) ही निश्चय से (पुत्रस्य) पुत्र के (वेदनम्) प्राप्त करने का उपाय है (तत्) यह (प्रजापतिः) प्रजापालक परमेश्वर (अब्रवीत्) उपदेश करता है।

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्य/चीक्लृपत्।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह॥ ३॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजापति=पुरुष (अनुमतिः) और अनुमति=पति के अभिमत पुत्र का ही चिन्तन करनेवाली (सिनीवाली) सिनीवाली, स्त्री (अचीक्लृपत्) गर्भ धारण और पालन में समर्थ होते हैं। (अन्यत्र)

२—पुंसि वै पुरुषे रेतस्तत् स्त्रियामनुषिच्यतु। तथातदब्रवीद्धाता तत्प्रजापतिरब्रवीत्। इति शां० गृ० सू०।

अन्य दशा में (स्त्रैसूयम् दधत्) बहुत सम्भव है कन्या को गर्भ में धारण करे। परन्तु (इह) इस उक्त प्रकार के अनुमनन करने से (पुमांसम् उ दधत्) स्त्री पुमान् पुत्र को ही धारण करती है।

अनुमतिः—अनुमननात् इति यास्कः। जो स्त्री पति की अभिलाषा के अनुकूल पुत्र का ही निरन्तर चिन्तन करती है वह स्त्री 'अनुमति' कहाती है। योषा वै सिनी वाली। शं० ६। ५। १। १० ॥

[१२] सर्पविष-चिकित्सा।

गरुत्मान् ऋषिः। तक्षको देवता। १—३ अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्।

परि द्यामिव सूर्योऽहीनां जनिमागमम्।
रात्री जगदिवान्यद्धंसात् तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥

भा०—(रात्रि) प्रलय-कालमय रात्रि जिस प्रकार (जगत्-इव) जगत् को व्याप्त कर लेती है परन्तु (अन्यत् हंसात्) उससे भी परे विद्यमान हंस=परब्रह्म को वह व्याप्त नहीं करती, उसी प्रकार विष से उत्पन्न होने वाली रात्रि तमोमय निद्रा या मूर्छा भी (हंसात् अन्यत्) हंस=आत्मा से अतिरिक्त शरीर को व्याप्त कर लेती है। इसी प्रकार तेरे विष से उत्पन्न (रात्रिः) प्रलयकारिणी कालकला (जगत्) सब जंगम प्राणियों को हर लेती है परन्तु (अन्यत्र हंसात्) हंस या सुपर्ण या गरुड़ पक्षी पर वह नहीं छाती। (तेन) उसी विष निवारक बल से मैं (ते विषम्) तेरे विष को (वारये) दूर करता हूँ। और (द्याम् सूर्य इव) द्यौलोक आकाश को जिस प्रकार सूर्य व्यापता है और (अहीनाम्) मेघों का (जनिम्) उत्पत्ति करता है उसी प्रकार मैं भी (अहीनां जनिम्) सर्पों की उत्पत्ति और उनके सब स्वरूपों को (आ गमम्) खूब अच्छी प्रकार जानता हूँ।

---

[१२] १—'रात्रो जगदिवां नि ध्वंसादवादीरिमं [?] विषम्' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'जनिमागमम्' इति सायणाभिमतः।

यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद् देवैर्विदितं पुरा ।
यद् भूतं भव्यमासन्वत् तेना ते वारये विषम् ॥ २ ॥

भा०—(यद्) जो (ब्रह्मभिः) वेद के विद्वानों और (यद् ऋषिभिः) जो दूरदर्शी ऋषियों और (यद् देवैः) जो देव=विद्वान् पुरुषों ने (विदितं) जाना है । हे (आसन्वत्) मुख से काटनेवाले सर्प ! (यद्) जो तेरा विष (भूत) अभी तक शरीर में चढ़ चुका है और जो (भव्यम्) और भी उसमें चढ़ेगा उस सब (ते विषम्) तेरे विष को मैं (तेन वारये) उस विद्वानों ऋषियों द्वारा जाने गये उपाय से दूर करूं ।

मध्वा पृञ्चे नद्यः पर्वता गिरयो मधु ।
मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे ॥ ३ ॥

भा०—(मध्वा) मधु से मैं (आपृञ्चे) रोगी को जोड़ता हूं । (नद्यः) नदियां, (पर्वताः) पर्वत और (गिरयः) छोटे २ टीले ये सब (मधु) मधु हैं । इनमें सर्प-विषों को दूर करने की ओषधियां प्राप्त होती हैं और (शीपाला) शैवालवाली, शान्त, गम्भीर और (परुष्णी) पर्व पर्व पर बहती हुई जलधारा भी (मधु) उत्तम मधु=अमृत है । इन उपायों से (आस्ने) मुख के लिये (शम्) शान्ति हो और (हृदे शम्) हृदय में भी कल्याण और शान्ति उत्पन्न (अस्तु) हो ।



२—(द्वि०) 'उदितम्' (तृ०) 'असुन्वन्' इति पैप्प० सं० ।

३—'मध्व आपृञ्चे' इति सायणाभिमतः । 'अभिना पृञ्च नद्यः पर्वतैव गिरयो मधु । मधु पृष्ठी शीपाला समास्ते स्तु शं हृदय ।' इति पैप्प० सं० ।

[१३] मृत्यु और उसके उपाय ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । मृत्युर्देवता । १–३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

नमो देववधेभ्यो नमो राजवधेभ्यः ।
अथो ये विश्यानां वधास्तेभ्यो मृत्यो नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

भा०—(देववधेभ्यः) देव, विद्वान् ब्राह्मणों के, ज्ञात शस्त्रों-वैज्ञानिक शक्तियों का (नमः) हम आदर करते हैं । (राजवधेभ्यः नमः) राजा लोगों के युद्ध के शस्त्रों को भी हम मान की दृष्टि से देखते हैं, (अथो) और (ये) जो (विश्यानां) निवासी प्रजाओं के (वधाः) शस्त्र अस्त्र साधन हैं, हे (मृत्यो) मौत ! (तेभ्यः) उनको भी (नमः अस्तु) नमः, आदर भाव हो, क्योंकि वे सब (ते) तेरे ही उपाय हैं ।

नमस्ते अधिवाकाय परावाकाय ते नमः ।
सुमत्यै मृत्यो ते नमो दुर्मत्यै त इदं नमः ॥ २ ॥

भा०—हे (मृत्यो) मृत्यो ! (ते अधि-वाकाय नमः) तेरे विषय में अनुकूल कहे गये ज्ञान को भी हम स्वीकार करते हैं (ते परा-वाकाय नमः) और तेरे प्रतिकूल तुझे दूर करने के विषय में जो उपदेश हैं उनका भी हम (नमः) ज्ञान करें । हे मृत्यो ! (ते सु-मत्यै नमः) तेरी दी सद्-बुद्धि को भी आदर से स्वीकार करते हैं और (ते) तेरे कारण उत्पन्न (दुर्मत्यै) दुष्ट मति को भी (इदम् नमः) यह वश करने का साधन है।

नमस्ते यातुधानेभ्यो नमस्ते भेषजेभ्यः ।
नमस्ते मृत्यो मूलेभ्यो ब्राह्मणेभ्य इदं नमः ॥ ३ ॥

भा०—हे मृत्यो ! (यातुधानेभ्यः नमः) तुझ मौत या देहावसान रूप

[१३] १–(तृ०) 'विश्वानां' इति पैप्प० सं० ।

कष्ट के लानेवाले यातुधान=पीड़ादायक रोगों को (नमः) हम वश करने का उद्योग करते हैं, इसलिये (ते) तेरी (भेषजेभ्यः) पीड़ा हरनेवाली ओषधियों का (नमः) हम संग्रह करते और उपयोग करते हैं। हे मृत्यो ! (ते मूलेभ्यः नमः) तेरे जो मूल कारण हैं उनका अनुसंधान करते हैं। और उनका अनुसंधान करनेवाले (ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्म=वेद को जाननेवाले विद्वान् पुरुषों का (इदम् नमः) हम इस प्रकार आदर करते हैं।

नमः=आदरभाव, वज्र और सदुपयोग।



[१४] कफ-रोग निदान और चिकित्सा।

बभ्रुपिङ्गल ऋषिः। बलासो देवता। अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

अस्थिस्रंसं परुस्रंसमास्थितं हृदयामयम्।
बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु ॥ १ ॥

भा०—(अस्थि-स्रंसं) हड्डियों को तोड़ डालनेवाले, (परु-स्रंसं) पोरुओं को भी तोड़नेवाले, उनमें प्रबल पीड़ा उत्पन्न करनेवाले और (आ-स्थितं) जमे हुए (हृदय-आमयं) हृदय के रोग रूप उस (बलासं) शरीर के बलनाशक श्लेश्म रोग को (यः) जो (अंगे-ष्ठाः) शरीर के अंग २ में व्यापक हो और (यः च पर्वसु) जो पोरु पोरु, जोड़ जोड़ में बैठ गया हो उस सब कफविकार को (नाशय) विनाश कर।

निर्बलासं बलासिनः क्षिणोमि मुष्करं यथा।
छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वा इव ॥ २ ॥

[१४] १–(तृ०) 'सर्वं निष्कृधि' इति पैप्प० सं०।
२–(द्वि०) 'कृणोमि पुष्करं यथा'। (च०) 'मूलमुल्वाल्वा यथा' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'पुष्करं यथा' इति सायणाभिमतः।

भा०—(बलासिनः) बल का विनाश करनेवाले कफ के रोगी के (वलासं) बल विनाशक कफरोग को (यथामुष्करं) कमलनाल के समान ऐसे (निः क्षिणोमि) निर्मूल करता हूं । और (अस्य) इस कफ या श्लेष्मा के (वन्धनं) बन्धन को (उर्वार्वाः मूलम् इव) ककड़ी या खर-बूज़े के मूल के समान (छिनद्मि) तोड़ डालूँ ।

निर्बलासेतः प्र पताशुङ्गः शिशुको यथा ।
अथो इट इव हायनोप द्राह्यवीरहा ॥ २ ॥

भा०—(बलास) समस्त शरीर के बल को हरण करनेवाले हे कफ-जनित तपेदिक रोग तू! (यथा आशुंगः शिशुकः) शीघ्रगामी हिरनौटे के समान (प्र पत) परे भाग जा । (अथो) और (हायनः इट इव) प्रति-वर्ष उगनेवाले घास के समान तू (अवीरहा) हमारे पुत्रों का नाश न करता हुआ ही (अप द्राहि) परे भाग जा, नष्ट हो जा, उड़ जा । सायण के मत में—(इत इव हायनः) गुजरे हुए वर्ष के समान तू भी चला जा ।



[१५] सर्वोत्तम होने की साधना ।

उद्दालक ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः ।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥ १ ॥
यजु० १२ । १०१ ॥ ऋ० १० । ९७ । २३ ॥

२–(द्वि०) 'शुशुको', 'इत इव सायनः' इति सायणाभिमतः । 'सुपर्णो वसतेरिव' । (तृ० च०) अथेत इवाहनो पद्राह्यवेरह । इति पैप्प० सं० ।

[१५] १–(प्र०) 'त्वमुत्तमास्योपधे' इति ऋ० । 'उपस्तिरस्माकंभूयाद्योऽस्मान्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—ओषधि रूप से ब्रह्म का वर्णन करते हैं । हे प्रजापते ! परमात्मन् ! आप (ओषधीनां) सब ओषधियों में (उत्तमः) सब से उत्तम भव, रोग के विनाशक ओषधि हैं । (वृक्षाः) देहधारी जीव (तव) तेरे (उपस्तयः) उपासक हैं । (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें विनाश करना चाहता है, हम से द्वेष करता है भगवन्! हमें ऐसा बल दें कि (सः) वह भी (अस्माकं) हमारे (उपस्तिः) समीप बैठने वाला, मित्र के समान (अस्तु) हो जाय ।

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।
तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

भा०—(स-बन्धुः च) हमारे गोत्र का बन्धु और (अबन्धुः च) वह जो हमारा सम्बन्धी नहीं है, (यः) जो कोई भी (अस्मान्) हमें (अभि-दासति) विनाश करना चाहते हैं, हमसे द्वेष बुद्धि करता है, (वृक्षाणां सा इव) वृक्षों में से जिस प्रकार ओषधि उत्तम है, और देह-धारियों में जैसे वह ब्रह्मोषधि उत्तम है, उसी प्रकार (तेषां) उन सम्बन्धी और असम्बन्धी लोगों में (अहम्) मैं उत्तम (भूयासम्) हो जाऊं ।

यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः ।
तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सोमः) सोमलता (हविषां) इन्द्रियों के पुष्टिकारक चरु द्रव्यों के निमित्त (ओषधीनां) ओषधियों में सब से (उत्तमः कृतः) उत्तम बतलाया गया है और (वृक्षाणाम्) वृक्षों

२–(प्र०) 'सम्बन्धुश्चा सम्बन्धुश्च' (तृ०) 'सम्बधूत् सर्वास्तान् त्वा' इति पैप्प० सं० ।

३–(द्वि० तृ०) उत्तमं हविरुच्यते । यवा त्वमेव वृक्षाणाम्' (तृ०) 'पलाशः' इति सायणाभिमतः ।

में से (तलाशा) १ 'तलाशा' नामक वृक्ष सब से श्रेष्ठ है उसी प्रकार (अहम्) मैं सब देहधारी जीवों में (उत्तमः) उत्कृष्ट (भूयासम्) हो जाऊं ।



[१६] प्रजापति की शक्ति का वर्णन ।

शौनक ऋषिः । मन्त्रोक्ता उत चन्द्रमा देवता, २ हिनो देवता । १ निचृत् त्रिपदा गायत्री, ३ बृहतीगर्भा ककुम्मती अनुष्टुप्, ४ त्रिपदा प्रतिष्ठा, अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

आवयो अनावयो रसस्त उग्र आवयो । आ ते करम्भमंद्मसि॥१॥

भा०—प्रजापतिर्देवता आवयु—अन्न ओषधि के नाम से प्रजापति के गुणों का वर्णन करते हैं । हे (आवयो) १ सर्वव्यापक ! या खाये जाने योग्य अन्न ! हे (अनावयो) कहीं भी इन्द्रियों से उपलब्ध न होने वाले, या कभी न खाये जाने योग्य अथवा हे सर्वप्रकाशक सर्वोत्पादक और हे किसी से भी प्रकाशित और उत्पादित न होनेवाले ! (ते रसः) तेरा रस, आनन्दरस (उग्रः) बड़ा तीव्र है । हे (आवयो) १ सर्वव्यापक, सर्व प्रकाशक या हे अन्न ! (ते) तेरा ही (करम्भम्) दिया हुआ अन्न या क=सुखमय रम्भ=लम्भ=ज्ञान संवेदना का हम (आ अद्मसि) सर्वत्र उपभोग करते हैं ।

विहल्हो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता ।
स हिन त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥ २ ॥

---

[१६] १-(प्र० द्वि०) 'आवयो अनावयो रसस्त उग्र आवयो' इति पैप्प० सं० सायणसम्मतश्च । 'या ते कर्म मशीमहि' इति पैप्प० सं० ।

१. 'सर्षप' इति सायणः ।

२-(तृ०) 'सेवस्त्वमसि' इति पैप्प० सं० । बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च नीला-

भा०—(ते) तेरा (पिता) पालकस्वरूप (वि-हल्हः नाम) नाना प्रकार से सर्वत्र व्यापक है । और (ते माता) तेरा उत्पादक (मदावती) हर्ष से सम्पन्न, वह प्रकृति शक्ति है । हे (हिन) सर्व-प्रेरक आत्मन् ! (सः त्वम् असि) तू वही है (यः त्वम्) जो तू (आत्मानम् आवयः) अपने आत्मा को सर्वत्र तन्तुओं के समान ओत प्रोत किये हुए हैं । 'आवयः' यह पद ही 'आवयु' इस पद का प्रवृत्ति-निमित्त है ।

तौविलिकेऽवेलयावायमैलव ऐलयीत् ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल ॥ ३ ॥

भा०—हे तौविलिके ! तुविल=सर्वव्यापक परमेश्वर की शक्ति से असत् से सत् रूप में प्रकट होनेवाली प्रकृते ! (अयम्) यह (ऐलवः) समस्त प्रकृति संचालक शक्ति का स्वामी (अव ऐलयीत्) समस्त संसार को प्रेरित कर रहा है । उसी की शक्ति से हे प्रकृते ! तू भी (अव ईलय) इस संसार को चला रही है । हे (निराल) निर्बन्ध, मुक्त जीव ! तू (बभ्रुः) स्वयं सब को धारण पोषण करनेवाला, प्राण रूप और (बभ्रुकर्णः च) प्राणमय साधनों से सम्पन्न होकर (अप-इहि) इस बन्धन से भाग निकल ।

अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा । नीलागलसाला ॥४॥

कलशालाशवः पश्चा।' इति पैप्प०सं०'सः । हि । नः' इति पदच्छेद सायणाभिमतश्चिन्त्यः। अनेन हिन देवमस्तौदिति सर्वानुक्रमणी । 'विहल्ह' इति सायणः ।

३–'तौलिकेवेलयावा इमैलवैलै । इह त्वमाहुति जुषाणो मनसा स्वाहा ।'' इति पैप्प० सं० ।

४–'सलाञ्जाला' इति सा[illegible]भिमतः ।

(भूतानाम्) समस्त उत्पन्न होनेवाले प्राणियों के (गर्भम्) गर्भ, मूल-भूत बीजों के (आ दधे) धारण करती है। (एवा) इसी प्रकार (ते) हे प्रियतम स्त्रि ! तेरे भीतर (गर्भः) गर्भ=मूलबीज (सूतुं) सन्तान के रूप से (अनु सवितवे) यथाकाल प्रसव करने के लिये (ध्रियताम्) धारण कराया जाय।

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन्। एवा० ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (इयम् मही पृथिवी) यह बड़ी विशाल पृथिवी (इमान् वनस्पतीन्) इन वनस्पतियों को (दाधार) अपने में धारण करती और अपने रस से उनको पुष्ट करती है (एवा ते गर्भः ध्रियताम्) हे स्त्रि ! इसी प्रकार तेरा यह गर्भ भी धारण किया जाकर पुष्ट हो जिससे (अनु सूतुं सवितवे) बाद में पुत्र की उत्पत्ति हो।

यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन्। एवा० ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (इयम् मही पृथिवी) यह विशाल पृथिवी (गिरीन् पर्वतान् दाधार) अपने ऊपर इन छोटे छोटे और बड़े २ पर्वतों को धारण करती है, उनको डिगने नहीं देती (एवा ते ध्रियताम् गर्भः) उसी प्रकार हे स्त्रि ! यह तेरा गर्भ दृढ़ता से जमा रहे (अनु सूतुं सवितवे) जिससे बाद को यथाकाल सन्तान उत्पन्न हो।

यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ ४ ॥

भा०—(यथा इयम् मही पृथिवी) जिस प्रकार यह विशाल पृथिवी (विष्ठितम् जगत् दाधार) नाना प्रकार से विभक्त, व्यवस्थित चर अचर जीवित संसार को (दाधार) पालन पोषण करती है, सब को अन्न देती

२–'यथेयमुर्वी पृथिवी' (तृ० च०) 'गर्भं अनुसवितवे' इति पैप्प० सं०।

(मन्नुपो मनः) मरे हुए मनुष्य का मन मर चुकता है (एवा) उसी प्रकार (ईर्ष्योः मनः मृतम्) ईर्षालु पुरुष का भी मन, मनन शक्ति मर जाती है । इसलिये ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये ।

अदो यत् ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम् ।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव ॥ ३ ॥

भा०—(यत्) क्योंकि (अदः) अमुक ईर्ष्यायुक्त जो (मनस्कं) तुच्छ मन (ते हृदि) तेरे हृदय में (श्रितम्) समाया है वह (पतयिष्णुकम्) तुझे सदा नीचे गिरानेवाला है । (ततः) इस कारण से (ते) तेरी (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (मुञ्चामि) तुझ से ऐसे छुड़ाता हूँ, जैसे (दृतेः) चाम की बनी धौंकनी से (ऊष्माणम् निर) गर्म वायु की फूंक निकाल दी जाती है ।



[१९] पवित्र होने की प्रार्थना ।

शंतातिर्ऋषिः। नाना देवता उत चन्द्रमा देवता । १,२ गायत्र्यौ, ३ अनुष्टुप्
तृचं सूक्तम् ॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ १ ॥
यजु० १९ । ३९ ॥ ऋ० ९ । ६७ । २७ ॥

३–(च०) 'नृतेरिव' इति क्वचित् (प्र०) 'यद् यन्मे हृदिसुकं' (द्वि०) 'प्रथयिष्णुकम्' (तृ०) 'तं त्' ऋष्यामि मुं– इति पैप्प० सं० ।

[१९] १–(द्वि०) 'पुनन्तु मनसा धियः' (च०) 'जातवेदः पुनीहि मां' इति यजु० । "पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु वसयो धिया विश्वेदेवाः पुनीत मा जातवेदः पुनी हिमाम्" इति ऋ० (तृ०) 'विश्वाभूता मा' इति मै० सं० ।

भा०—पवित्र और शुद्ध होने का उपदेश करते हैं। (मा) मुझ अशुद्ध पुरुष को (देवजनाः) विद्वान् लोग (पुनन्तु) पवित्र कर लें। और (मनवः) मननशील विचारवान् पुरुष मुझे (धिया) ज्ञान और कर्म के बल से (पुनन्तु) मुझे पवित्र कर लें। (विश्वाभूतानि) समस्त प्राणिगण भी मुझे सद्भावना से पवित्र करें और (पवमानः) सब को पवित्र करनेहारा पतितपावन प्रभु मुझे (पुनातु) पवित्र करे।

पव॑मानः पुनातु मा क्रत्वे॒ दक्षा॑य जी॒वसे॑। अथो॑ अरि॒ष्टता॑तये ॥२॥

भा०—(पवमानः) सब के पावन प्रभु (मा) मुझे (क्रत्वे) ज्ञान, (दक्षाय) बल, (जीवसे) सम्पूर्ण जीवन, (अथो) और (अरिष्टतातये) क्लेश रहित, सुख कल्याण के लिये (पुनातु) पवित्र करें।

उ॒भाभ्यां॑ देव सवितः प॒वित्रे॑ण स॒वेन॑ च। अ॒स्मान् पु॑नीहि॒ चक्ष॑से ॥३॥

भा०— हे (सवितः देव) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक परमेश्वरदेव ! (पवित्रेण) अपने पवित्र करनेहारे ज्ञान और (सवेन च) कर्म (उभाभ्यां) दोनों से (चक्षसे) अपने साक्षात् दर्शन के लिये (अस्मान्) हमें (पुनीहि) पवित्र कर।

[२०] ज्वर का निदान और चिकित्सा।

भृग्वंगिरा ऋषिः। यक्ष्मनाशनं देवता। १ अति जगती। २ ककुम्मती प्रस्तार पंक्तिः ३ सतः पंक्तिः। तृचं सूक्तम्।

अ॒ग्नेरि॑वास्य॒ दह॑त एति शु॒ष्मिण॑ उ॒तेव॑ म॒त्तो वि॒लप॒न्नपा॑यति।
अ॒न्यम॒स्मदि॑च्छतु कं चि॑दव्र॒तस्तपु॑र्वधाय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॑ ॥ १ ॥

२—'मांपुनीहिविश्वतः' इति पाठभेदः ऋ०। यजु०। पुनातु मानः (तृ०) 'ज्योक्च सूर्यं दृशे' इति पैप्प० सं०।

[२०] १—(प्र०) 'एति शुष्मः' इति ह्विटनिकामितः।

भा०—(शुष्मिणः) प्रबल (अग्नेः इव) आग के समान (दहतः) शरीर को भस्म करते हुए, तपाते हुए इस ज्वर का वेग (एति) आता है और रोगी तब (मत्तः) मत्त, विचारहीन नशेबाज के समान (उत) और (विलपन्) बड़बड़ाता हुआ (अप अयति) उठ कर भागा करता है । ऐसा ज्वर तो (कथंचिद्) किसी प्रकार (अस्मद् अन्यं) हमसे अतिरिक्त किसी दूसरे (अव्रतः) कर्महीन, अनाचारी पुरुष को (इच्छतु) हुआ करे । पर हमें नहीं । (तपुःवधाय) ताप रूप शस्त्र को धारण करनेवाले (तक्मने) कष्टदायी ज्वर का तो (नमः) शान्ति का उपाय ही हम करें । पापाचारी को रोग सताते हैं पुण्यात्मा, सदाचारी युक्ताहार-विहारवान् व्रतनिष्ठ योगी को नहीं सताते ।

नमो॑ रु॒द्राय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॒ नमो॒ राज्ञे॒ वरु॑णाय॒ त्विषी॑मते ।
नमो॑ दि॒वे नमः॑ पृथि॒व्यै नम॒ ओष॑धीभ्यः ॥ २ ॥

भा०—(रुद्राय नमः) उस रुलानेवाले ज्वर का उपाय करो कि वह शान्त हो जाय । (तक्मने) कष्टमय जीवन के कारण भूत ज्वर का (नमः) उपाय करो । और (वरुणाय) सर्वश्रेष्ठ उस (त्विषीमते) कान्तिमान (राज्ञे) राजाधिराज परमात्मा का नमस्कार करो । उसको सदा याद रक्खो और उससे उतर कर सुखी जीवन के बनाने के साधन (नमः दिवे) तेजो रूप सूर्य को नमस्कार=सदुपयोग करो और उसमें (ओषधीभ्यः नमः) उत्पन्न रोगहारी ओषधियों का सदुपयोग करो । इससे तुम्हारे जीवन हृष्टपुष्ट; स्वस्थ, नीरोग रहेंगे । रोगों से रहित होने के लिये सूर्य का प्रभा स्नान करो, पृथिवी पर परिभ्रमण करो और ओषधियों का सेवन करो ।

अ॒यं यो अ॑भिशोचयि॒ष्णुर्विश्वा॑ रू॒पाणि॒ हरि॑ता कृ॒णोषि॑ ।
तस्मै॑ तेरु॒णाय॑ ब॒भ्रवे॒ नमः॑ कृणोमि॒ वन्या॑य त॒क्मने॑ ॥ ३ ॥

भा०—(अयम्) यह (यः) जो (अभिशोचयिष्णुः) सब को सब प्रकार से शोकित और पीड़ित करनेवाला ज्वर है जो (विश्वारूपाणि) सब शरीरों को (हरिता) पीला (कृणोषि) कर देता है। (तस्मै) उस (ते) तुझ (अरुणाय) लाल और (बभ्रवे) भूरे रंग के (वन्याय) जंगल में पैदा हुए (तक्मने) कष्टदायी बुख़ार की (नमः कृणोमि) मैं चिकित्सा करता हूँ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि दश, ऋचश्च द्वात्रिंशत्]



[२१] वीर्यवती ओषधियों के संग्रह करने का उपदेश।

शंतातिर्ऋषिः । चन्द्रमा देवता । १-३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा ।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥ १ ॥

भा०—(इमाः) ये (याः) जो (तिस्रः) तीन (पृथिवीः) विशाल लोक हैं (तासाम्) उनमें से (ह) निश्चय से (भूमिः) यह भूमि ही (उत्-तमा) सर्वश्रेष्ठ है। (तासाम्) उन तीनों लोकों के (अधि त्वचः) आवरण भाग, ऊपरी पीठ पर उत्पन्न होनेवाले (भेषजम्) रोगापहारी औषध पदार्थों को (अहम्) मैं (सम् जग्रभम् उ) भली प्रकार संग्रह कर लिया करूं।

३–'अयं रुद्रो' (तृ० च०) 'अरुणाय बभ्रवे तपुर्मघवाय नमोऽस्तु तक्मने । इति पैप्प० सं० ।

[२१] १–(तृ०) 'त्वचोऽहम्' (च०) 'समुजग्रभं भेषजम्' इति पैप्प० सं० ।

श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम् ।
सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ॥ २ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू ही (भेषजानाम् श्रेष्ठम् असि) सब रोगहारी ओषधों में श्रेष्ठ है और (वीरुधानाम्) नाना प्रकार की उगनेहारी बेल बूटियों में सब से अधिक (वसिष्ठम् असि) उत्तम रस और गुणों और वीर्य से युक्त है । जिस प्रकार (यामेषु सोमः भग इव) दिन और रात के कालों में चन्द्र शान्तिदायक और सूर्य तेजस्वी है उसी प्रकार तू भी सब भेषजों में उत्तम शान्तिदायक और वीर्यवान् है ।और (देवेषु) सब प्रकाशमान पदार्थों में या राजाओं में सब का प्रकाशक (यथा वरुणः) जैसे सर्वश्रेष्ठ वरुण=चुना हुआ राजा या परमात्मा है उसी प्रकार तू भी सर्वश्रेष्ठ है ।

रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ ।
उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः ॥ ३ ॥

भा०—हे (रेवतीः) वीर्यवाली ओषधियो ! आप (अनाधृषः) कभी निर्बल नहीं हो सकतीं । आप सदा (सिषासवः) सब को आरोग्यता देना चाहती हुईं (सिषासथ) आरोग्य प्रदान करना ही चाहा करती हो । और आप (केश-दृंहणीः स्थ) केशों को दृढ़ करने या क्लेशों को नाश करनेवाली हो, साथ ही निश्चय से (अथो केशवर्धनीः ह) और केशों की वृद्धि करनेवाली भी हुआ करती है । केशों का दृढ़ होना और बढ़ाना यह आरोग्यतादायक वीर्यवान् ओषधियों का स्वभाव है । निर्बलता में केशों का झड़ना, टूटना आदि घटनाएं होती हैं ।



२—(तृ०) 'यज्ञो भग' इति पैप्प० सं० ।

३—'(तृ० च०) 'उतस्थ केशवर्धनीरथो हं केशदृंहणीः ।' इति पैप्प सं० ।

[२२] सूर्य-रश्मियों द्वारा जल-वर्षा के रहस्य का वर्णन।

शंतातिर्ऋषिः । आदित्यरश्मयो मरुतश्च देवताः । १,३ त्रिष्टुभौ ।
२ चतुष्पदा भुरिग् जगती । तृचं सूक्तम् ।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः ॥ १ ॥

ऋ० १ । १६४ । ४७ ॥ अथर्व० ६ । १० । २२ । १३ । ३ । ६ ॥

भा०—(कृष्णम्) कर्षणशील, खेंचने में समर्थ (नियानम्) नियमन करने में समर्थ या आकाशमण्डल में गति करते हुए सूर्य को आश्रय लिये (सुपर्णाः) उत्तम रूप से गति करनेवाले (हरयः) जल हरण करनेवाले रश्मियां या उत्तम वायुएं (अपः वसानाः) जलों को अपने भीतर छुपाकर (दिवम्) पुनः अन्तरिक्ष में (उत्पतन्ति) उठती हैं। (ते) वही (ऋतस्य सदनात्) उदक या जल के आश्रयस्थान से (आववृत्रन्) लौटती हैं और (आदित्) अनन्तर पुनः (घृतेन) जल से (पृथिवीं) पृथिवी को (व्यूदुः) बरसाकर गीला कर देती हैं।

अर्थात् सूर्य की तापमय रश्मियां पृथिवी के जल के भागों पर पड़ती हैं और हलका जल ऊपर उठता है। पुनः वह उष्ण भाफ़ शीत के कारण जम कर पुनः नीचे आता है और जल बरसाता है। हरयः=वायुएं या आदित्य रश्मियां।

पयस्वतीः कृणुथाप ओषधीः शिवा यदेजथा मरुतो रुक्मवक्षसः ॥
ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वत यत्रा नरो मरुतः सिञ्चथा मधु॥२॥

[२२] १-(च०) 'पृथिवी व्यूदते' इति ऋ० । (प्र०) असितवर्णाः हरयः' (द्वि०) 'सिहो वसानाः', (तृ०) सदनानि कृत्वा, (च०) 'आदित् पृथिवीं घृतैर्व्यूयते' इति तै० स० ।
२-(प्र०) 'कृणुत', 'ओपधीर्यदेज'- (तृ०) 'पिन्वथ' इति तै० सं० ।

भा०—हे (रुक्म-वक्षसः मरुतः) सुवर्ण के समान कान्तिमान तेजस्वी सूर्य को अपने वक्षस्थल पर करनेवाले, सुवर्ण के आभूषणों को छाती पर पहनने वाले, (मरुतः) मारकाट के व्यसनी भटों के समान तीव्र गति-वाले मरुत् वायुओ ! (यद्) जब तुम लोग (शिवाः) कल्याणकारी शुभ रूप में (एजथ) चला करते हो तब (अपः) पृथिवी पर विराज-मान सब जल के स्थानों और (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को (पयस्वतीः कृणुथ) पुष्टिकारक रस से पूर्ण कर देते हो । और हे (नरः) मेघों के ले जानेवाले (मरुतः) वायुगण ! (यत्र) जिस देश में आप लोग (मधु सिञ्चथ) जल का सेचन करते हो, जल देते हो, (तत्र) उस उस देश में (ऊर्जम्) पुष्टिकारक अन्न और (सुमतिं च पिन्वत) प्रजा के भीतर उत्तम मति, शुभ संकल्पों को भी पुष्ट करते हो।

उ॒द॒प्रुतो॑ म॒रुत॒स्ताँ इ॑यर्त वृ॒ष्टिर्या विश्वा॑ नि॒वत॑स्पृ॒णाति॑ ।
एजा॑ति॒ ग्लहा॑ क॒न्ये॑व तु॒न्नैरुं॒ तुन्दा॑ना॒ पत्ये॑व जा॒या ॥ ३ ॥

भा०—हे (मरुतः) वायुगणो ! आप लोग (तान्) उन (उद-प्रुतः) जल से पूर्ण मेघों को (इयर्त्त) प्रेरित कर धकेल कर लाओ (या) जिनसे होनेवाली (वृष्टिः) वर्षा (विश्वा निवतः) सब निम्न भागों और नीचे बहनेवाली नदियों को (पृणाति) पूर्ण कर दे । अथवा

(द्वि०) 'यमा यदेजति' (च०) 'सिंचता' इति पैप्प० सं० ।

३–(प्र०) 'उदप्लुतः', 'तुदाना' इतिच क्वचित्' 'एजाति गल्हा' 'तुन्नैरुं तुञ्जाना' इति सायण सम्मतौ पाठभेदौ । (द्वि०) 'वृष्टिं मे विश्वे मरुतो जिनन्ति (तृ०) 'क्रोशाति' 'गर्दा कन्येव तुन्ना पेरुं तुञ्जाना इति तै० सं० । (तृ०) 'गल्हा', (च०) 'तुञ्जाना' इति सायणा-भिमतः । ये जहाति क्नन्हा कन्यव द्रुन्नानं दुन्नामा पत्येव जायाम्' इति भ्रष्टपाठः पैप्प० सं० ।

हे (उद-प्रुतः मरुतः) जल से पूर्ण मानसून वायुओ ! आप लोग (तां= ताम्) उस वृष्टि को (इयर्त) ला बरसाओ (या वृष्टिः) जो वृष्टि (विश्वा निवतः पृणाति) सब नद नालों को भर डालती है । (तुन्ना कन्या इव) जिस प्रकार पीड़ित, दुःखित कन्या अपने पिता को व्यथित, कम्पित करती है और (तुन्दाना जाया पत्या इव) जिस प्रकार भय से व्यथित स्त्री अपने प्राणपति को व्यथित, कम्पित करती है उसी प्रकार (ग्लहा) मध्यमिका वाग् विद्युत् मानो व्यथित-सी होकर (एरुम्) प्रेरक मेघ को भी (एजाति) कंपाती है ।

ग्रीफिथ–(तुन्ना कन्या इव ग्लहा एजति, पत्या तुन्दाना जाया इव स्वयं तुन्ना, एरुं तुन्दाना ग्लहा एजति) जिस प्रकार कन्या मनुष्य के आलिङ्गनों से व्यथित होकर छटपटाती है और जिस प्रकार पति से व्यथित स्त्री कांपती है उसी प्रकार स्वयं व्यथित और (एरुम्) गतिशील मेघ को कम्पित करती हुई छटपटाती है । इस अर्थ में उपमा ठीक नहीं बैठती ।



[२३] जलधाराओं द्वारा यन्त्र-संचालन ।

शंतातिर्ऋषिः । आपो देवताः । १ अनुष्टुप्, २ त्रिपदा गायत्री, ३ परोष्णिक् ॥ तृचं सूक्तम् ॥

सस्रुषीस्तदपसो दिवा नक्तं च सस्रुषीः ।
वरेण्यक्रतुरहमपो देवीरुपह्वये ॥ १ ॥ ऋ० १० । ९ ॥

भा०—(तत्) उस अनादि अनन्त जीवन रस को (सस्रुषीः) निरन्तर बहानेवाली (अपसः) ब्रह्माण्ड निर्मापक शक्तिधाराएं या

[२३] १–(च०) 'आ देवीरवसे हुवे' इति ऋ० खि० । 'अह्वयो देवीरुपब्रुवे' इति पैप्प० सं० ।

जलधाराएं (दिवा नक्तं च) रात और दिन (सस्रुषीः) बहनेवाली जल धाराओं के समान बराबर चलती ही रहती हैं। (वरेण्य-क्रतुः) सब से वरण करने योग्य क्रतु=ज्ञान और कर्म से युक्त (अपः) व्यापक प्रकृति शक्तियों को (उप-ह्वये) अपने समीप ही अपनी हुकूमत में रखता हूँ। अथवा—मैं (वरेण्य-क्रतुः) उत्तम ज्ञान और कर्मवाला पुरुष उन दिव्य शक्ति सम्पन्न (अपः) जलों को (उप-ह्वये) अपने कलायन्त्रादि द्वारा अधीन रखता हूं।

ओता आपः कर्मण्या/मुञ्चन्त्वितः प्रणीतये। सद्यः कृण्वन्त्वेतवे॥२॥

भा०—(ओताः) निरन्तर बन्धी धारा से बहनेवाली (आपः) जल धाराएं ही (कर्मण्याः) कर्म, क्रिया शक्ति उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं। हे पुरुषो (प्रणीतये) अपने यन्त्रों को उत्तम रीति से चलाने के लिये उन जलधाराओं को (इतः) इस रीति, या इस निर्दिष्ट मार्ग से (मुञ्चन्तु) छोड़ दो कि (एतवे) गति देने के लिये ये (अपः) जलधाराएं भी (सद्यः) शीघ्र ही (कृण्वन्तु) क्रिया करें।

जलधाराओं की शक्ति से यन्त्र चलाने का इसमें उपदेश है। कि निरन्तर बहती धारा से शक्ति उत्पन्न करो और शीघ्र चलने वाला यन्त्र चलाओ।

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः।
शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ ३ ॥

भा०—(सवितुः) सबके प्रेरक, उत्पादक (देवस्य) प्रकाशमान देव के (सवे) प्रेरणा करते हुए, (मानुषाः) सब मनुष्य (कर्म)

२—'अपः' इति ह्विटनिकामितः। 'ऊताः' इति सायणाभिमतः (तृ०) 'भवन्तु एतव' इति पैप्प० सं०।

३—(द्वि०) 'कृण्वन्ति' इति पैप्प० सं०।

अपना अपना नियत काम (कृण्वन्तु) करें । (ओषधीः) ताप को धारण करनेवाले (अपः) जल (नः) हमें (शिवाः) सुखकारी और शान्तिदायक हों ।



[२४] हृदय-रोग पर जल-चिकित्सा ।

शंतातिर्ऋषिः । आपो देवताः । १–३ अनुष्टुभ् । तृचं सूक्तम् ॥

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः ।
आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्योतभेषजम् ॥ १ ॥

भा०—(हिमवतः) हिमवाले पर्वतों से जो जलधाराएं (प्रस्रवन्ति) वह कर आती हैं उनका (सिन्धौ) वहनेवाले बड़े प्रवाहों में (समह) एक ही साथ (संगमः) मेल हो जाता है । (तद्) तब (देवीः) दिव्य गुणों से युक्त (आपः) वे जल (मह्यं) मुझे (हृद्योत भेषजं ददन्) हृदय की पीड़ा के रोग को अच्छा करने का लाभ देती हैं । अर्थात् हिमाचल की वहती जलधाराएं नाना प्रकार के गुणों से एकत्र मिल जाने पर उनमें हृदय के रोग को नाश करने का विशेष गुण होता है ।

यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पार्ष्ण्योः प्रपदोश्च यत् ।
आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः ॥ २ ॥

भा०—(यत्) जो रोग (मे) मेरे (अक्ष्योः) आंखों और (पार्ष्ण्योः) एड़ियों और (प्रपदोः च) पैरों के अगले हिस्सों में (आदि

[२४] १–हिमवतः प्रसवतस्ताः सिन्धुमुपगच्छतः ।

२–(प्र०) यदक्षिभ्यामाद (द्वि०) 'पार्ष्णिभ्यां हृदयेन च । (च०) 'त्वष्टारिष्टमिवानसः' इति पैप्प० सं० ।

द्योत्) जलन पैदा करता है (तत् सर्वं) उस सब रोग को (आपः जलधाराएं (निष्किरन्) दूर कर देती हैं, क्योंकि वेही (भिषजां) सब ओषधियों में (सुभिषक्-तमाः) उत्तम रोग की चिकित्सा करनेहारी हैं ।

सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्यः स्थन ।
दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै ॥ ३ ॥

भा०—(सिन्धु-पत्नीः) अपने निरन्तर प्रवाह को पालने वाली, सदा-बहार और (सिन्धु-राज्ञीः) नित्य बहते प्रवाह से शोभा देनेवाली (याः) जितनी विशाल (नद्यः) बड़ी नदियाँ (स्थन) हैं । हे नदियो ! आप सब (नः) हम मनुष्यों को (तस्य) उस पीड़ाकर रोग के (भेषजम्) निवारक ओषधि का (दत्त) प्रदान करो । (तेन) उसके बल पर ही हम (वः) आप सब नदियों का (भुनजामहै) उपभोग करें । नदियों के कारण ही हम स्वस्थ रहकर नदियों का आनन्द लाभ उठाते हैं।



[२५] कण्ठमाला रोग का निदान और चिकित्सा ।

शुनःशेप ऋषिः । मन्याविनाशनं देवता । १–३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम्

पञ्च च याः पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ १ ॥

भा०—गले की धमनी के चारों ओर (याः) जो (पञ्च च पञ्चाशत् च) पचपन प्रकार की (मन्याः) गले में व्याप्त धमनी नाड़ियां, गण्ड-मालाएं (अभि संयन्ति) गले पर आ जाती हैं । (ताः) वे सब (अप-चिताम्) अप=बुरे माद्दे के संञ्चयों से उत्पन्न (वाकाः इव) पाक=पकी फुन्सियों के समान होती हैं (ताः सर्वाः) वे सब (इतः) यहाँ से (नश्यन्तु) दूर हो जायं ।

३–'सिन्धुराज्ञीः सिन्धुपत्नीः' इति पैप्प० सं० ।

सायण—(अपचितां वाकाः इव) 'पूजनीया स्त्री को प्राप्त होकर जिस प्रकार दोष नष्ट हो जाते हैं उस प्रकार वे गण्डमाला नष्ट हो जांय।' यह क्लिष्ट कल्पना है।

सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि। इतस्ताः० ॥ २ ॥

भा०—और (याः) जो (ग्रैव्याः) ली (सप्त च सप्ततिः च) ७७ सतहत्तर नाड़ियां (अभि संयन्ति) ग पर आ जकड़ती हैं (ताः) वे भी (अप चिताम् वाकाः इव) बुरे माद्दे के सञ्चय से उत्पन्न फोड़ों के समान होती हैं। (ताः सर्वाः इतः नश्यन्तु) वे सब इस गर्दन भाग से नष्ट हो जायं।

नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ ३ ॥

भा०—(नव च नवतिः च याः) जो निन्यानवे (स्कन्ध्याः) कन्धे की नाड़ियां (अभि संयन्ति) कन्धों को जकड़ती हैं। वे भी (अपचितां वाका इव) बुरे माद्दे की फोड़ियों के समान हो जाती हैं (ताः सर्वा इतः नश्यन्तु) वे सब भी इस स्कन्ध भाग से नष्ट हो जांय।

डा० वाईज़ 'हिन्दू सिस्टम आफ़ मैडिसन' में लिखते हैं—'जब छोटी २ गोटियां (Tunours) बेर के फल के समान गला, गर्दन, कन्धे और पीठ पर उठती हैं तो वे कफ़ दोष से बढ़ जाती हैं और शनैः २ बढ़ती जाती है। उनको 'अपचि' कहते हैं।'



[२६] पाप के भावों पर वश करना।

ब्रह्मा ऋषिः। पाप्मा देवता। १,३ अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

अवं मा पाप्मन्त्सृज वशी सन् मृडयासि नः।
आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविहुतम् ॥ १ ॥

[२६] १—'आ मा भद्रेषु धामस्वत्वे धेह्य' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (पाप्मन्) पाप के भाव ! (मा अवसृज) मुझसे परे रह । तू (वशी सन्) वश में आकर (नः) हमारे (मृडयासि) सुख का कारण हो । हे पाप्मन् ! पाप के भाव (मां) मुझको (अविह्रुतम्) सरल, निष्कपट रूपमें (भद्रस्य लोके) सुख, कल्याणमय लोक में (आ धेहि) रहने दे । मनुष्य सदा यही भावना करे कि पाप मुझसे परे रहे और मैं सदा उस पर वश करके रहूं । सरल, निष्कपट रूपसे कल्याणमय लोक में निवास करूं ।

यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ।
पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम् ॥ २ ॥

भा०—हे पाप्मन् ! पाप के भाव ! (नः) हमें (यः) जो तू (न जहासि) नहीं छोड़ता तो (तम्) उस (त्वा उ) तुझको ही (वयम्) हम स्वयं (जहिमः) परित्याग करते हैं । (पथाम्) गतिशील इन्द्रियों के (वि-आवर्तने) विषयों से लौटा लेने में (पाप्मा) वह पापका प्रलोभन रूप विषय हमारे पास न आकर (अन्यं अनुपद्यताम्) किसी अन्य के पास चला जाय ।

अन्यत्रास्मन्न्युच्यतु सहस्राक्षो अमर्त्यः ।
यं द्वेषाम तमृच्छतु यमु द्विष्मस्तमिज्जहि ॥ ३ ॥

भा०—(अमर्त्यः) मनुष्यों के अयोग्य, अमानुष पाप (सहस्राक्षः)[1] इन्द्रियों पर बलवान् हो जानेवाला, व्यसन (अस्मत्) हमसे

२—(द्वि०) 'पथोक व्यावर्तने निष्पाप्मा त्वं सुत्रामसि' (प्र०) 'अवनः' इति पैप्प० सं० ।

३—१. सहस्रं सहस्वद् इति (निरु० ३ । २ । ४) सहस्राक्षः, सहस्वद् येन इन्द्रियाणि बलवन्ति भूत्वा प्रवर्त्तन्ते स पाप्मा सहस्राक्षः ।

(अन्यत्र) पृथक् (नि–उच्यतु) ही रहे। (यं द्वेषाम) जिसके प्रति हम प्रेम नहीं करते (तम् ऋच्छतु) उसको ही वह प्राप्त हो (यम् उ द्विष्मः) जिसको अप्रीति से वर्त्तते हैं (तम् इत्) उसका ही (जहि) नाश करे।

जिन दुष्टों का विनाश करना अभीष्ट वे अपने पाप में लिप्त रहें और उनसे ही वे नष्ट हो जायँ। हम तो अपनी इन्द्रियों में व्यसनों को स्थान न दें। हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः साधुः समत्वेन भयाद्विमुच्यते ॥ भाग० ॥



[२७] राज और राजदूतों का आदर।

भृगुर्ऋषिः। यमो निर्ऋतिर्वा देवता। १,२ जगत्यौ, २ त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन् दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१॥

ऋ० १० । १६५ । १ ॥

भा०—विद्वान् राजदूतों के साथ करने योग्य व्यवहार का उपदेश करते हैं। हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (निर्ऋत्याः) कष्टदायी विपत्तियों या सेनाओं का (दूतः) ज्ञान कराने या दूर करने वाला (कपोतः)[1] कपोत

इन्द्रः आत्मा अपि सहस्राक्षः एतस्मादेव, अनेन चेतनानि बलवन्ति भवन्ति।

[२७] १–(प्र०) 'देवः कपोत' इति पैप्प० सं०।

१. कवते रोतच् उणादि वस्यचः पः। उणा० १। ६२ ॥ वर्णयति दर्शयति इति कपोतः। अस्य सूक्तस्य ऋग्वेदे कपोतो नैर्ऋत ऋषिः कपोतोपहतौ प्रायश्चित्ते वैश्वदेवं देवता। विश्वदेवा देवता इति क्षेमकरणः।

के समान संदेश हर, विद्वान् पुरुष (यद्) जब (इषितः) किसी से प्रेरित या प्रेषित होकर या (इच्छन्) स्वयं अपनी अभिलाषा से (इदम्) हमारे घर में, हमारे पास (आजगाम) आ जाय (तस्मा अर्चाम) तब उसको हम बड़े आदर से पूजें। उसकी उपेक्षा न करें और उसके (निः स्कृतिम् कृणवाम) श्रम का प्रतिकार करें। जिससे वह (नः) हमारे (द्विपदे) मनुष्यों और (चतुष्पदे) चौपायों को (शं) सुख, कल्याणकारी (अस्तु) हो। इसीसे कपोत पक्षी द्वारा दूत का कार्य लेना भी सूचित होता है।

शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः ।
अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु ॥२॥

भा०—(इषितः) किसी से प्रेषित (कपोतः) विशेष लक्षणों से युक्त संदेशहर विद्वान् (नः) हमें (शिवः) शुभ ही (अस्तु) हो। हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (शकुनः) क्योंकि वह शक्तिशाली होकर भी (नः) हमारे (गृहं) घर के प्रति (अनागाः) कोई अपराध या हानि न पहुंचावें। वह (अग्निः) अग्नि—आहवनीय अग्नि (हि) के समान (विप्रः) मेधावी पुरुष (नः) हमारे (हविः) चरु के समान, पवित्र अन्नको (जुषताम्) प्रेम से स्वीकार करे। जिससे (पक्षिणी) पंखों से युक्त (हेतिः) आयुध वाण या सेना (नः) हमसे (परि वृणक्तु) चारों ओर से बचे अर्थात् दूर रहे, हमें न लगे। अर्थात्—पराये राष्ट्र के भेजे राजदूत के साथ आदर से वर्त्ताव करे, उसको अन्न—भोजन का प्रबन्ध कर दें नहीं तो उसके साथ दुर्व्यवहार करके भावी में भयंकर राष्ट्रकलह उत्पन्न होते हैं और भयानक अस्त्रों का प्रहार होता है।

२—(द्वि०) 'शकुनो गृहेषु' इति पैप्प० सं० ।

हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्री पदं कृणुते अग्निधाने ।
शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु मा नो देवा इह हिंसीत् कपोतः ॥ ३ ॥ ऋ० १० । १६५ । १३ ॥

भा०—(पक्षिणी) पंखों से युक्त (हेतिः) आयुध बाण या सेना (अस्मान्) हमें (न दभाति) नहीं विनाश करे । (आष्ट्री) शक्तिमान् राजा (अग्निधाने) अग्निशाला में (पदं कृणुते) पैर रक्खे, चला जाय और वहाँ विद्वान् दूत से अग्नि की साक्षी में बात करे (नः) हमारे (गोभ्यः) गौओं और (पुरुषेभ्यः) मनुष्यों के लिये भी (शिवः) कल्याण (अस्तु) हो । हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (कपोतः) पूर्वोक्त लक्षणवान् विद्वान् दूत सूचक (इह) यहाँ (नः मा हिंसीत्) हमें विनाश न करे । इस मन्त्र के अनुसार प्राचीन काल में राजा लोग प्रायः अग्निशाला में दूतों की बातें सुना करते थे । देवाः=विद्वान् लोक जो राजसभाओं के सभासद् हैं । निर्ऋतिः=शत्रु का आक्रमण रूप विपत्ति । पक्षिणी हेतिः= सेना जिसके दोनों पक्ष कहाते हैं ।



[२८] राजा और राजदूत के व्यवहार ।

भृगुर्ऋषिः । यमो निर्ऋतिश्च देवते । १ त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३ जगती । तृच सूक्तम् ॥

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयामः ।
सं लोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जं प्र पदात् पथिष्ठः॥१॥
ऋ० १० । १६५ । ५ ॥

३–'आष्ट्र्यां पद कृणुते','शं नो गोभ्यः पुरुषेभ्यश्चास्तु, यो नः हिंसीदिह-देवा कपोताः' इति ऋ० ।

[२८] १–(द्वि०) 'नयध्वम्' । (तृ० च०) 'संयोपयन्तो दुरितानि विश्वा हि

भा०—(ऋचा) उत्तम अर्चना, आदर सत्कार से (प्रणोदम्) शिक्षा प्राप्त, स्तुति योग्य (कपोतं) विशेष लक्षण, या वर्णयुक्त विद्वान् राजदूत को आप लोग भी (नुदत) अपना संदेशहर बना बना कर भेजो । हम भी (इषम्) अपनी अभिलाषा को (मदन्तः) हर्षपूर्वक (गां परिनयामः) इस पृथ्वी में सब ओर पहुँचावें । और (दुरितानि पदानि) दुःखदायी स्थानों का (सं लोभयन्तः) विनाश करते हुए वह हमारा (ऊर्जं) बल को (हित्वा) ग्रहण करके स्वयं (पथिष्ठः) मार्ग तय करता हुआ (प्र पदात्) बराबर आगे बढ़ता चला जाय ।

राजा अपने दूतों को समस्त पृथिवी में भेजे, अपनी आज्ञाओं को उसके द्वारा सर्वत्र प्रचारित करे । दुर्गम स्थानों को सुगम करके वहाँ से राष्ट्र के हितार्थ ऊर्ज=बल प्राप्त करके और अगले देशों में प्रवेश करे ।

परी॒मे॒ऽग्निम॑र्षत॒ परी॒मे गाम॑नेषत ।
दे॒वेष्व॑क्रत॒ श्रव॒: क इ॒माँ आ द॑धर्षति ॥ २ ॥
ऋ० १० । १५५ । ५ ॥

भा०—(इमे) ये विद्वान् लोग (अग्निम् अर्षत) अग्नि के समान प्रकाशमान ज्ञानी, विद्वान को प्राप्त करते हैं (गाम् परि अनेषत) और समस्त पृथिवी का परिभ्रमण या वेदवाणी का अभ्यास करते हैं । (देवेषु) विद्वानों में और राजाओं में भी (श्रवः अक्रत) अपना बल या ज्ञान प्राप्त करते हैं । (इमान्) अब इनको (कः) कौन (आ दधर्षति) परास्त कर सकता है ।

त्वा न ऊर्जं प्रपतात् पतिष्ठः ।' इति ऋ० । 'प्रपतात् पतिष्ठः' इति सायणसम्मतः पाठः । अस्य सूक्तस्य ऋग्वेदे कपोतो नैर्ऋत ऋषिः कपोतोपहते वैश्वदेवं प्रायश्चित्तं देवता इति ।

२–(प्र० द्वि०) 'परिमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत' इति ऋ० । 'पर्यग्नि महर्षत' इति पैप्प० सं० । 'अरिषत' इति क्वचित् ।

जो विद्वान् दूतों को रखते समस्त पृथ्वी में पहुँच कर राजाओं में बल प्राप्त कर लें उनको विजय नहीं किया जा सकता ।

यः प्रथमः प्रवतमासुसाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः ।
योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥३॥

प्र० द्वि० ऋ० १० । १४ । १ प्र० द्वि० ॥ तृ० च० ऋ० १० । १६५ । ४ तृ० च० ॥ १० । १२१ । ३ तृ० च० ॥

भा०—(यः) जो (प्रथमः) सबसे श्रेष्ठ, सबसे प्रथम (बहुभ्यः) और बहुत से लोगों के लिये (पन्थाम्) मार्ग को (अनुपस्पशानः) अपने पीछे दिखता हुआ (प्रवतम्) उच्च पद को प्राप्त किये हैं और जो (अस्य द्विपदः) इस मानव संसार (चतुष्पदः) और इस पशुसंसार का (ईशे) स्वामी है (यमाय) सर्व नियन्ता (मृत्यवे) सब को बन्धनों से मुक्त करने वाले (तस्मै) उस प्रभु को (नमः अस्तु) नमस्कार है । उक्त दोनों सूक्त अध्यात्म पर कभी हैं। अध्यात्म में (१) निर्ऋति=संसार (दूतः) क्लेश पाकर, कपोत=आत्मा किसी गुरु से प्रेरित होकर या स्वयं अपनी अभिलाषा से (इदम्) प्रत्यक्ष परमात्मा को प्राप्त हो जाय तो उस आत्मा का आदर करो वह सबका कल्याणकारी है। (२) वही आत्मा शिव, निष्पाप, शक्तिमान् है और यह हमारा शरीर उसका गृह है । वही विप्र अग्नि है जो इस हवि स्तुति को स्वीकार करता है । (३) पक्षिणी-हेति=पक्षपातवाली तृष्णा हमें न सतावे । वह सर्व भक्षिणी अग्नि=आत्मा के स्थान पर भी आक्रमण कर देती है । हमारे पशु-इन्द्रियों और पुरुषों, प्राणों को कल्याण हो, वह आत्मा हमें आघात न करे ।

३-(तृ०) 'योऽस्य दूतः प्रहित एष तत्तस्मै' इति ऋ० । (प्र० द्वि०) 'परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनु पस्पशानम्' इति ऋ०। (प्र०) 'प्रवतः ससाद' इति पैप्प० सं० ।

(१) स्तुति या वेद ज्ञान के अनुसार आत्मा को प्रेरित करे, हर्ष से अनुभव करते हुए वाणियों का उच्चारण करे । दुष्ट विषयों का विनाश करते हुए और उन का त्याग करे, देवयान मार्ग में गतिशील हमारा आत्मा उस (ऊर्जं) रसरूप ब्रह्म को प्राप्त हो । (२) योगी लोग उस अग्नि देव परमेश्वर को प्राप्त करते, वाणी का उच्चारण करते या अपनी स्तुतियाँ उस तक पहुँचाते हैं और अपने प्राणों में बल धारण करते हैं अब उनका विजय कौन कर सकता है । (३) वह परमात्मा सबसे पूर्व बहुत से अन्य जीवों को मार्ग दिखाता हुआ सबसे उच्च स्थान मोक्ष में विराजता है वह सब पशु मनुष्यों का स्वामी, सर्वनियन्ता और बन्धन-मोचन है, उसको नमस्कार है ।



[२९] राजदूतों के व्यवहार

भृगुर्ऋषिः । यमो निर्ऋतिश्च देवते । १-२ विराड्नामगायत्री, ३ त्र्यवसाना सप्तपदा विराडष्टिः । तृचं सूक्तम् ॥

अमून् हेतिः पंतत्रिणी न्येतु यदुलूको वदंति मोघमेतत् ।
यद् वा कपोतंः पदमग्नौ कृणोति ॥ १ ॥

ऋ० १० । १६५ । ४ प्र० द्वि० ॥

भा०—[1](यत्) जब (उलूकः) उल्लू के समान कुटिल गुप्त दूत (मोघम्) व्यर्थ बात (वदति) बोलता है (यद्वा) या जब (कपोतः)

[२९] १–'यदुलूको वदति मोघमेतद् यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति । यस्य दूतः प्रहित एष एतत्तस्मै यमाय नमोऽस्तु मृत्यवे' इति ऋ० । कपोतो नैर्ऋतऋषिः । कपोतोपहतो वैश्वदेवं देवता इति ऋग्वेदे प्रजापतिरिति क्षेमकरणः ।

विद्वान् दूत भी (अग्नौ) अग्नि में, अग्नि के समान तेजस्वी राजा पर (पदम् कृणोति) अपना अधिकार जमाना चाहता है तब (पतत्रिणी) पक्षों वाली (हेतिः) घातक सेना (अमून) उन शत्रुओं पर (नि-एतु) जा चढ़े ।

यौ ते॑ दू॒तौ नि॑र्ऋत इ॒दमे॒तोऽप्र॑हितौ॒ प्रहि॑तौ वा गृ॒हं नः॑ ।
क॒पो॒तो॒लू॒काभ्या॒मप॑दं॒ तद॑स्तु ॥ २ ॥

भा०—हे (निर्ऋते) विपत्ते ! (ते) तेरे (यौ दूतौ) जो दो प्रकार के दूत (इदम् नः गृहं) इस हमारे घर पर (अप्रहितौ) विना भेजे या (प्र-हितौ) भेजे हुए (एतः) आते हैं (तत्) तव, उस समय जव कि पूर्वोक्त प्रकार से सेना का आक्रमण हो जाय तव हमारा गृह (कपोत-उलूकाभ्याम्) मूर्ख और बुद्धिमान् दोनों प्रकार के दूत पुरुषों के लिये (अपदम् अस्तु) आश्रय के लिये न हो । अर्थात् उस समय हम शत्रु के भले बुरे किसी भी प्रकार के राजदूत को आश्रय नहीं दें ।

अ॒वै॒र॒ह॒त्याये॒दमा प॑पत्यात् सु॒वी॒रता॑या इ॒दमा स॑सद्यात् ।
परा॑ङे॒व परा॑ वद॒ परा॑ची॒मनु॑ सं॒वत॑म् ।
यथा॑ य॒मस्य॑ त्वा गृ॒हे॒ऽर॒सं प्र॑ति॒चाक॑शाना॒भूकं॒ प्र॑ति॒चाक॑शान् ॥३॥

भा०—युद्ध के समय राजदूतों के साथ किस सावधानी से वर्ताव करे । इसका उपदेश करते हैं । (इदम्) चाहे यह राजदूत (अवैर-हत्याय आपपत्यात्) वैर से हमारे पुरुषों का घात करने का उद्देश्य न लेकर भी आया हो और चाहे (इदम्) वह (सुवीरतायाः आससद्यात्) अपनी अच्छी वीरता का ज़ोर दिखलाने ही आया हो, दोनों दशाओं

३–(प्र०) 'अर्वारहत्यायै', 'पपद्यात्', 'परामेव परावतम्' इति सायणाभिमतः ।

में (पराङ् एव) दूर रह कर ही (पराचीम् संवतम्) दूर की वेदी या आसन पर खड़ा रह कर (परा वद) दूर से ही अपना संदेश कहे। (यथा) जिससे हे दूत (त्वा) तुझे राजसभा के लोग (यमस्य गृहे) नियन्ता राजा के घर में (अरसम्) निर्बल रूप में (प्रति चाकशान्) देखें और (अभूकं प्रति चाकशान्) सामर्थ्यहीन, नाचीज़ जानें।



[३०] राजा के कर्त्तव्य।

उपरिबभ्रव ऋषिः । शमी देवता । १ जगती । २ त्रिष्टुप् । ३ चतुष्पदा ककुम्मती अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः । इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ १ ॥ ऋ० ६१ । २ ॥

भा०—जौ की खेती के दृष्टान्त से राष्ट्र के शासन का वर्णन करते हैं। (देवाः) देव विद्वान् लोग (इमं) इस (यवं) जौ धान्य को जिस प्रकार (सरस्वत्याम्) नदी के तट पर (मणौ) उत्तम भूमि में (अचर्कृषुः) हल जोत कर बोते हैं और उत्तम फसल प्राप्त करते हैं उसी प्रकार (देवाः) विद्वान् शासक लोग भी (मधुना) उत्तम धन धान्य समृद्धि से (सं-युतम्) सम्पन्न (यवम्) इस समूहित राष्ट्र को (सरस्वत्यां मणौ) सरस्वती-सत्यवाणी धर्मपुस्तक [कोड्बुक] के आधार पर उत्तम पुरुषों के आश्रय पर (अवचर्कृषुः) चलाते हैं । इस राष्ट्ररूप खेती में (सीरपतिः) हलका स्वामी (इन्द्रः, आसीत्) राजा होता है।

---

[३०] १–(प्र०) 'संजितं' (द्वि०) –'मन्नाव' इति सायणसम्मतः । (प्र०) 'एतमुत्यंमधु'– (द्वि०) 'सरस्वत्याः अधिमनाव'– इति तै० ब्रा० । 'वनावचर्कृधि' मै० ब्रा० ।

जो (शत-क्रतुः) सैकड़ों बल और ज्ञान सामर्थ्यों से युक्त होता है। और (सु-दानवः) उत्तम दानशील, उदार (मरुतः) प्रजागण लोग (कीनाशाः) कीनाश किसानों के समान (आसन्) होते हैं।

यस्ते मदोवकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि ।
आरात् त्वदुन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्शा वि रोह ॥२॥

भा०—शमी वृक्ष के दृष्टान्त से राजा के कर्त्तव्यों का उपदेश करते हैं। हे शमि ! शत्रुओं को शमन करने हारी शक्ति ! शमी के मद या रसके समान (ते) तेरा (यः) जो (मदः) हर्ष या उन्माद (अव-केशः) वालों को तू चवाने या (वि-केशः) वालों को विकृत कर देने वाला है। जिससे तू (पुरुषं अभिहस्यं कृणोषि) पुरुष को उपहास का पात्र बना देती है हे शमि ! उस मद से (शत-वल्शा) सैकड़ों शाखा वाली होकर (त्वं) तू शमी वृक्ष के समान ही (विरोह) बढ़। (त्वत् आरात्) तेरे पास से (अन्या वनानि) और वृक्षों के समान उच्छेद करने योग्य विरोधी राजाओं को (वृक्षि) काट डालता हूं।

राजा का मद अपने अधीन आये शत्रु की चाहे तो इतनी दुर्दशा करे उसके वाल नोंचदे या मूंड दे और उसको सबको उपहासका पात्र बनादे मन्त्री आस पास के और राजाओं का नाश कर उसको मुख्य बनाता है और सब राज्य प्रबन्ध राजा को मूल में रखकर उसके शाखारूप में रख देता है। इससे राज्य की शक्ति बढ़ती है।

बृहत् पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि ।
मातेव पुत्रेभ्यो मृडकेशेभ्यः शमि ॥ ३ ॥

२–(प्र०) मदो विकेशो यो विकेश्या (तृ० च०) भ्रूणघ्नो वरिवाणा जनित्वं तस्य ते प्रजयः सुवामि केशम्' इति पैप्प० सं० ।
३–(द्वि०) 'सुभगे ऊर्ध्वस्वप्ने' (च०) 'मृड नः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे शमि ! हे शान्तिकारिणी राजशक्ते ! राजसभे ! हे (बृहत्पलाशे) बड़े ज्ञान सम्पन्न पुरुषों से सम्पन्न हे सुभगे ! ऐश्वर्य सम्पन्न ! हे वर्ष वृद्धे ! सुखादि वर्षण करने में सबसे अधिक बलशालिनि ! हे ऋतावरी ! सब सत्य ज्ञान=विज्ञान एवं कानून की रक्षा करने वाली तू (केशेभ्यः) केशों को, राष्ट्र के सुन्दर मूर्धन्य पुरुषों को (पुत्रेभ्यः माता इव) पुत्रों को माता के समान (मृड) सुखी कर । उनको शमी के वृक्ष के समान विकृत मत कर ।



[३१] सूर्यादि लोक-परिभ्रमण ।

उपरिबभ्रवऋषिः । गौर्देवता । गायत्रं छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः॥१॥

यजुः ३ । ६ ॥ ऋ० १० । १८६ । १ ॥ साम० पू० ६ । १४ । ४ ॥

भा०—(अयं गौः) यह गतिशील आदित्य आदि लोक (पृश्नीः) समस्त रसों का और ज्योतियों का ग्रहण करने हारा होकर (आ-अक्रमीत्) चारों तरफ घूम रहे हैं । और (मातरं पुरः) और अपने बनाने वाले मूलकारण के सहित २ (स्वः) तेजःस्वरूप (पितरं च) अपने परिपालक विशाल लोक की भी (प्रयन् च) प्रदक्षिणा करते हैं ।

अर्थात् जिस प्रकार बालक माता के सहित पिता के साथ रहता और उसका वशवर्त्ती रहता है । इसी प्रकार चन्द्र पृथिवी के सहित सूर्य की परिक्रमा करता है पृथिवी अपने मूल सूर्य सहित किसी और नियामक लोक की प्रदक्षिणा पथ पर गति करता है। इसका अध्यात्मिक अर्थ—देखो सामवेद भाषाभाष्य पृ० ३३२ ।

---

[३१] १–(द्वि०) 'असनन् मातरं पुनः' इति तै० सं० । (तृ०) 'प्रयत् स्वः' इति पैप्प०सं० । 'ऋग्वेदे सार्पराज्ञी ऋषिः । सूर्यः सार्पराज्ञी देवता ।

अथवा—(अयं गौः) यह पृथ्वी (पृश्निः पृश्निम्) सूर्य के गिर्द (आ अक्रमीत्) चक्र लगाती है। इत्यादि योजना भी जानना।

सायण—(गौः) गमनशील (पृश्निः) सूर्य (आ अक्रमीत्) गति करता है। और (मातरं पुरः असदत्) पूर्व दिशा में आकर पृथ्वी पर अपने तेज को फैलाता है और (पितरं) वृष्टिरूप वीर्य के आधाता (स्वः) अन्तरिक्ष में (प्रयत्) गति करता है।

अध्यात्म में—गौः=यह आत्मा, पृश्निः=ब्रह्म ध्यान के रसों को प्राप्त करके और आगे बढ़ता है (पुरः) अपने (मातरं) मातृरूप प्रभु की गोद में बैठता और (स्वः) सुखमय (पितरं) पालक प्रभु को ही प्राप्त हो जाता है।

अ॒न्तश्च॑रति रोच॒ना अ॒स्य प्रा॒णाद॑पान॒तः। व्य॑ख्यन्महि॒षः स्वः॑॥२॥

ऋ० १० । १८६ । २ ॥ साम० पू० । ६ । १४ । ५ ॥ यजु० ३ । ७ ॥

भा०—(अस्य) इसके (प्राणात्) प्राण और (अपानतः) अपान से निकली हुई (रोचना) अतिप्रकाशमय, ज्योति (अन्तः) समस्त ब्रह्माण्ड के भीतर (चरति) व्यापक है। उसीसे वह (स्वः) समस्त तेजोमय लोकों को (महिषः) महान् प्रभु (वि-अख्यत्) प्रकाशित करता है।

त्रिं॒शद् धामा॒ वि रा॑जति॒ वाक् प॑त॒ङ्गो अ॑शिश्रियत्।
प्रति॒ वस्तो॒रह॒र्द्युभिः॑ ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १८९ । ३ ॥ यजु० ३ । ८ ॥ साम० पू० । ६ । १४ । ६ ॥

२–(द्वि०) 'अस्य प्राणादपानती' (तृ०) 'महिषो दिवम्' इति यजुः, साम०, ऋ० । (प्र०) 'चरत्यर्णवे । (तृ०) 'प्रति वां सूरो अहभिः' इति मै० सं० । (प्र०) 'यस्य प्राणादपानत्यन्तश्चरति रोचनः' (तृ०) 'दिवम्' इति पैप्प० सं० ।

३–(प्र०) 'त्रिंशद् धाम' । (तृ०) 'प्रति वस्तोरहद्युभिः' इति सायण-

भा०—(वाक्) ज्ञानमयी प्रभुवाणी (त्रिंशद्-धामा) तीसों लोकों में (विराजंति) विशेष रूप से प्रकाशित होती है । (पतङ्गः) पतङ्ग= ज्ञान मार्ग से जाने वाला आत्मा (अहर्द्युभिः) सूर्य की प्रभाओं के साथ (प्रति-वस्तोः) प्रतिदिन, निरन्तर उसका (अशिश्रियत्) आश्रय लेता है । अथवा (वाक्) वाणी (पतङ्गः=पतङ्गं) पतंग=सूर्य रूप उस ईश्वर में आश्रय लेती है जो (त्रिंशद्-धामा) तीसों लोकों में (प्रति वस्तोः अहः) प्रतिदिन, निरन्तर (द्युभिः) अपने तेजों से (वि राजति) विराजमान है ।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तान्येकादश, ऋचश्च त्रयस्त्रिंशत्]



[३२] दुष्टों के दमन का उपदेश ।

१-२ चातन ऋषिः । ३ अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । १-२ त्रिष्टुभौ, ३ प्रस्तार पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

अन्तर्दावे जुहुतास्वे३तद् यातुधानक्षयणं घृतेन ।
आराद् रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गृहाणामुप तीतपासि॥१॥

भा०—विघ्नकारी, पीड़ाकारी दुष्टों के नाश करने का उपदेश करते

सम्मतः पाठः । (द्वि०) 'पतङ्गाय शिश्रिये' इति तै० सं० । 'पतङ्गाय हूयते' मै० सं० । 'पतङ्गाय सुश्रियत्' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'प्रत्यस्य वह द्युभिः' इति तै० सं० । (तृ०) 'अहर्दिवि' इति पैप्प० सं० ।

[३२] १-(च०) उपतीतपाति' इति ह्विटनिकामितः । (द्वि०) 'घृतं नः' (च०) 'मास्माकं वसू पातीतपन्था' [?] इति पैप्प० सं० ।

हैं । हे विद्वान् लोगो ! (घृतेन) जिस प्रकार घृत के साथ अग्नि में चरु आदि पदार्थ भस्म कर दिये जाते हैं, उसी प्रकार (घृतेन) घृत=बल के साथ (यातुधान-क्षयणं) पीड़ा देने वाले रोगों को नाश करने वाले पदार्थों को (दावे अन्तः) विशाल अग्नियों में (सु-जुहत) उत्तम रीति से आहुति करदो । और हे अग्ने ! और अग्नि के समान जलाने वाले या शत्रुओं को परिताप देने हारे राजन् (आरात्) तू दूर से ही (रक्षांसि) राष्ट्र की व्यवस्था और जन-समाज के जीवनसुख में विघ्न करने वाले (रक्षांसि) दुष्ट, राक्षस, विघ्नकारी पुरुषों और रोग । पीड़ाकारी जन्तुओं को (प्रति दह) भस्म कर डाल । हे अग्ने ! (त्वं) तू (नः) हमारे (गृहाणाम्) गृहों को और घर के पुरुषों को (न उप तीतपासि) कभी पीड़ित न करना ।

रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः ।
वीरुद् वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत् ॥ २ ॥

भा०—हे (पिशाचाः) मांस खाने वाले दुष्ट पुरुषों ! एवं मांस खा २ कर जीने वाले परभोजी (Paresites) रोगजन्तुओ ! (वः) तुम्हारी (ग्रीवाः) गर्दनें (रुद्रः) रुद्र तुमको रुलाने वाला राजा और वैद्य (अशरैत्) काट ले । और हे (यातुधानाः) पीड़ादायक जन्तुओं वही रुद्र (वः पृष्टीः) तुम लोगों की पीठों को (अपि) भी (शृणातु) तोड़ डाले । और (विश्वतो वीर्या) समस्त प्रकार के बलों वाली या सब ओर अपना बल दिखाने वाली (वीरुत्) नाना प्रकार से फैलने वाली ओषधि लता जिस प्रकार रोग जन्तुओं का नाश करती है उसी प्रकार वह (विश्वतो वीर्या) सर्व बलवती प्रभु शक्ति (वीरुत्) विशेष प्रकार से

२–(प्र०) 'अशरीत्' इति क्वचित् । शर्वो वो ग्रीवाय शरोः पिशाचा वोपशृणात्यग्निः । (च०) 'मृत्युना सम'– इति पैप्प० सं० ॥

रोकने में समर्थ (दः) तुम दुष्ट पुरुषों को (यमेन) व्यवस्थापक के हाथ में (सम्मजीगमत्) पहुंचा दे, जिससे राष्ट्र में पीड़ा न दें ।

अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोर्चिषात्रिणो नुदतं प्रतीचः ।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥३॥

भा०—दुष्टों का विनाश करने के लिये भेद नीति का उपदेश करते हैं । हे (मित्रावरुणौ) हे मित्र ! हे वरुण ! हे राजन् ! और हे सेनापते ! (इह) इस राष्ट्र में (अभयम् अस्तु) हमें सदा अभय रहे । (नः अत्रिणः) हमें खाजाने वाले दुष्ट पुरुषों को (अर्चिषा) अपने चम चमाते तेजस्वी अस्त्र से (प्रतीचः) पीछे उलटे पैर (नुदतम्) फेर दो । वे लोग (मा ज्ञातारं विदन्त) किसी भी ज्ञानी को अपने नेता होने के लिये प्राप्त न करें प्रत्युत सदा मूर्खता में पड़े रहें । (मा प्रतिष्ठां विदन्त) वे कभी मान, आदर और प्रतिष्ठा; दृढ़स्थिति या कीर्त्ति को प्राप्त न करें । बल्कि (मिथः) परस्पर (वि-घ्नानाः) एक दूसरे को विरोध से मारते हुए स्वयं (मृत्युम् उप यन्तु) मौत को प्राप्त होजायं । वे आपस में लड़कर अपना नाश करलें ।



[३३] इन्द्र, परमेश्वर की महिमा ।

यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः । इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥१॥

साम० १ । १ । ३ ॥

भा०—राजा और ईश्वर का वर्णन करते हैं । हे जनाः (यस्य)

३–'वरुणा मह्यमस्त्वर्चिषा शत्रून् दहतम्प्रतीत्य' (तृ०) 'विन्दन्तु' । (च०) 'मिथो भिन्दानाः' इति पैप्प० सं० ।

[३३] १–'आ रजो युजस्तुजे जने वनं स्वः' इति साम । 'आरजस्तुजोयुजा बलं सहः' इति ऐ० आ० । अज आसजस्तुजोयुजो बलं सहः' इति

जिसका (इदम्) यह (रजः) समस्त अनुरञ्जन करने वाला वैभव (युजः) योगसमाधि में उसके साथ मिलने वाले योगी के (आ तुजे[1]) सब ओर से पालन, रक्षा या वल सम्पादन करने के लिये है और जिसका (वनं स्वः) भंजन करना ही परम सुखकारक है उस (इन्द्रस्य) परमेश्वर का ही (रन्त्यम्) यह रमण करने योग्य धन ऐश्वर्य (बृहत्) बड़ा भारी है।

नाधृ॒ष आ द॑धृषते धृषा॒णो धृ॑षि॒तः शवः॑ ।
पु॒रा यथा॑ व्य॒थिः श्रव॒ इन्द्र॑स्य॒ नाधृ॑षे॒ शवः॑ ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पुरा) पहले भी कभी (व्यथिः) कोई पीड़ा देने वाला, अत्याचारी पुरुष (इन्द्रस्य श्रवः) इन्द्र के यश को और (शवः) वल को (न आ-धृषे) कभी दवा नहीं सका उसी प्रकार उसके (शवः) बल को अभीतक भी कोई (धृषितः[1]) बड़ा विजेता भी (न आ-धृषे) दवाने में समर्थ नहीं हुआ है। बल्कि वह स्वयं (धृषाणः) का सब दवानेवाला, सर्व विजयी (धृषितः शवः) सब अभिमानी विजेताओं के वल को (आ दधृषते) दवा लेता है।

शां० श्रौ० सू० । 'तु तेजन स्व' 'इन्द्रस्य नाग्नि केशवः वृषाण धृषदश्शवः यथाधिस्तिनः इन्द्रश्चारन्त्यं महत्' इति पैप्प० सं० ।

१. तुजाहिंसायाम् पालनेच । भ्वादिः । तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु चुरादिः । पट पुटि लुट तुजि मिञ्यादयो भाषार्थाः । चुरादिः ॥ इत्येतेभ्यः सम्पदादिभलक्षणो भावे क्विप् ।

२ (प्र० च०) 'आधृषे' । (द्वि०) 'धृषाणं धृषितम्' । (तृ०) 'व्यथि' इति ह्विटनिकामितः । 'नाधृष आदधर्ष दाधृषाणं धृषितं शवः । पुरायदीमतिव्यथिरिन्द्रस्य धृषितं सहः । इति ऐ० ब्रा० । अनाधृष्टं विपन्यया नाधृष आदधर्षया धृषाणं धृषित शवः' शां० श्रौ० सू० ।

१. सुपां सुपो भवन्ति इति षष्ठयाः स्थाने प्रथमा । धृषितः-कर्तरि क्तः ।

स नो॑ ददातु तां र॒यिमु॒रुं पि॒शङ्ग॑संदृशम् ।
इन्द्रः॒ पति॑स्तुवि॒ष्टमो॒ जने॒ष्वा ॥ ३ ॥

भा०—(सः) वह इन्द्र, परमेश्वर (नः) हमें (तां) उस (उरुं) महान्, विशाल, सर्वलोकव्यापी (पिशंग-संदृशं) तेजःस्वरूप, प्रभापटल के रूप में प्रकट होनेवाली (रयिम्) शक्ति और धर्म का (ददातु) प्रदान करे। वह (इन्द्रः) परमेश्वर (तुविस्तमः) सर्व शक्तिमान होने के कारण सबका (पतिः) पालक है और (जनेषु आ) समस्त प्राणियों और जनों में व्यापक है ।



[३४] परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना ।

चातन ऋषिः। अग्निर्देवता । १—५ गायत्र्यः । पञ्चर्चं सूक्तम् ।

प्राग्नये॒ वाच॑मीरय वृष॒भाय॑ क्षिती॒नाम् । स नः॑ पर्ष॒दति॒ द्विषः॑ ॥१॥

भा०—हे विद्वान् पुरुष (क्षितीनां) समस्त भूमियों पर जलों की वर्षा करनेहारे मेघ के समान (क्षितीनाम्) समस्त प्रजाओं पर (वृषभाय) सुखों की वर्षा करनेहारे (अग्नये) उस ज्ञानवान्, सबके पथदर्शक, गुरु अग्रणी परमेश्वर की स्तुति के लिये (वाचं प्र ईरय) अपनी वाणी को प्रेरित कर (सः) वही ईश्वर (नः) हमें (द्विषः) भीतरी शत्रु काम आदि प्रबल दुर्भावों के (अति पर्षत्) पार पहुंचा दे ।

३—(प्र०) 'दधातु' इति क्वचित् । 'ददा तुनो' इति पैप्प० सं० । 'तम्' इति क्वचित् । 'रयि पुरुं' । (च०) 'तविस्तमः' इति ऐ० ब्रा० । तुवित्तमः । (द्वि०) 'सदृशम्' इति सायणाभिमतः ।

[३४] १—ऋग्वेदे अस्य सूक्तस्य वत्स आग्नेय ऋषिः ।

यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा । स० ॥ २ ॥
ऋ० १०१ । १८७ । ३ ॥

भा०—(यः) जो (अग्निः) ईश्वर, अग्नि, अग्रणी, नेता होकर अपने (तिग्मेन) तीक्ष्ण (शोचिषा) प्रताप, तेज से (रक्षांसि) विघ्नकारियों को (निजूर्वति) भून डालता और लुंजा कर देता है । (सः न द्विपः अतिपर्षत्) वह हमें हमारे शत्रुओं से पार कर दे ।

यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते । स० ॥ ३ ॥
ऋ० १० । १८७ । २ ॥

भा०—(यः) जो (परस्याः परावतः) दूर से भी दूर देश से (धन्वं तिरः) द्यौलोक अन्तरिक्ष को पार कर (अतिरोचते) सब से अधिक प्रकाशमान है । (सः नः द्विपः अतिपर्षत्) वह हमें हमारे शत्रुओं से पार करे ।

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति । स० ॥ ४ ॥

भा०—(यः) जो (विश्वा भुवना) समस्त लोकों को (अभि विपश्यति) साक्षात् देख रहा है और (सं पश्यति च) खूब अच्छी तरह से देखता है । (सः) वह (नः) हमें (द्विपः अतिपर्षत्) शत्रुओं से पार करे ।

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत । स नः पर्षदति द्विषः ॥५॥

भा०—(यः) जो (शुक्रः) ज्योतिःस्वरूप (अस्य) इस समस्त

२–(द्वि०) 'वृषा शुक्रेण' इति ऋ० ।

३–(तृ०) तिरो विश्वाधिरोचित इति पैप्प० सं० ।

४–(प्र०) 'निपश्यति' इति पैप्प० सं० ।

५–(द्वि०) 'शुक्र ज्योतिः' इति तै० ब्रा० । 'महाच्चित्रं ज्योतिः' इति मै० सं० ।

(रजसः पारे) रजः लोकसमूह के पार या रजोनिर्मित प्राकृत संसार से परे (अग्निः)[1] ज्ञानमय उसमें लीन होनेवाला (अजायत) विद्यमान है (सः नः) वह हमें (द्विषः) द्वेष=अप्रीति के पदार्थ-कर्मबन्धनों से (अति पर्षत्) पार करे, मुक्त करे ।



[३५] ईश्वर स्तुति, प्रार्थना ।

कौशिक ऋषिः । वैश्वानरो देवता । गायत्रं छन्दः । तृचं सूक्तम् ।

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः । अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥१॥

यजु १८ । ७२ । १७ । ८ ॥

भा०—(वैश्वानरः) समस्त मनुष्यों का कल्याणकारी, समस्त आत्माओं में व्यापक या सब पदार्थों का नेता प्रभु (नः ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (परावतः) दूर देश से भी (आ प्र यातु) आवे । अर्थात् चाहे जितनी भी दूर हों तब भी वह हमारी रक्षा करे । वही (अग्निः) ज्ञानप्रकाश स्वरूप होकर (नः) हमारी (सु स्तुतीः) उत्तम स्तुतियों को (उप) स्वीकार करे ।

वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप । अग्निरुक्थेष्वंहसु ॥ २॥

भा०—(वैश्वानरः) समस्त आत्माओं का हितकारी प्रभु (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ में, समाज में या उत्तम श्रेष्ठ कर्म में

1. अग्निः अक्नोपनो भवति (निरु०) ।

[३५] १-(तृ०) अग्निरुक्थेन वाहसा इति यजु० १७।८ ॥ (प्र०) 'ऊ त्वा प्रा' (तृ०) 'उपेमं सुष्टुतिर्मम' इति मै० सं० ।

२-'अग्निरुक्थेन वाहसा' आ० श्रौ० सू० । (तृ०) 'अंहःसु' इति ह्विटनिकामितः ।

(सजूः) हमारे ही समान प्रतिप्रेमी होकर (उप आगमत्) आवे । वही (अग्निः) प्रकाशस्वरूप या हमारा अग्रणी होकर (अंहसु) प्राप्त करने योग्य (उक्थेषु) प्रशंसनीय कार्यों में भी (उप) हमारा साथ दे ।

वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोममुक्थं च चाक्लृपत् ।
ऐषु द्युम्नं स्व/र्यमत् ॥ ३ ॥

भा०—(वैश्वानरः) समस्त जीवों का कल्याणकारी प्रभु (अंगिरसां) ज्ञानवान्, पुरुषों के (स्तोमम्) स्तुतियों और (उक्थं च) कहे वचन या उच्चारण किये वेदमन्त्र को (च) भी (चाक्लृपत्) समर्थ, सफल या फल-उत्पादन में समर्थ करता है । वही (स्वयम्) स्वयं प्रकाशस्वरूप और सुखमय प्रभु (एषु) इन ज्ञानियों को (द्युम्नं) प्रकाश धन, और ज्ञान (आ यमत्) प्रदान करता है ।



[३६] ईश्वर की प्रार्थना ।

स्वस्त्ययनकाम अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्रं छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् । अजस्रं घर्ममीमहे ॥१॥
यजु० २६ । ६ ॥

भा०—(ऋतावानम्) स्वयं ऋत=सत्य ज्ञानवान् (ऋतस्य ज्योतिषः पतिम्) ऋत=जीवनमय ज्योति, चेतना के परिपालक (अजस्रम्) निरन्तर विद्यमान, नित्य (घर्मं) प्रकाशस्वरूप (वैश्वानरम्) परमेश्वर की (ईमहे) हम नित्य प्रार्थना करते हैं ।

३–'चकृवन्' इति सायणसम्मतः पाठः । (प्र०) 'आंगिरोभ्यः' (द्वि०) 'चाकनत्' इति आ० श्रौ० सू० । (प्र०) 'वैश्वानरो वोऽङ्गिरोभिः', 'प्रद्युम्नं' इति पैप्प० सं० । 'स्तोमं जलं' शा० श्रौ० सू० ।

[३६] १–(तृ०) 'भानुम्' इति शा० श्रौ० सू० ।

स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूंरुत्सृजते वशी ।
यज्ञस्य वयं उत्तिरन् ॥ २ ॥ साम० २ । १०५८ ॥

भा०—(सः) वह परमेश्वर (विश्वा) समस्त प्राणियों को, समस्त पदार्थों को (प्रति चाक्लृपे) बनाता, उनको प्रेरित करता और शक्ति देता है। वह (वशी) सब पर वश करनेहारा (यज्ञस्य) संवत्सर रूप यज्ञ-पुरुष के (वयः) काल को (उत्तिरन्) विभक्त करता हुआ या (यज्ञस्य वयः उत्तिरन्) यज्ञ=यज्ञाहुति के (वयः) अन्नों को अग्नि के समान सर्वत्र फैलाता हुआ या इस महान् सृष्टिचक्र में होने वाले भूत संघों के परस्पर संगम रूप यज्ञ के (वयः) जीवन को (उत्तिरन्) सर्वत्र प्रकट करता हुआ (ऋतून् उत् सृजते) छहों ऋतुओं का निर्माण करता है।

अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ।
सम्राडेको वि राजति ॥ ३ ॥ साम० २।१०५६ ॥ यजु० १२।११७ ॥

भा०—वही परमात्मा (परेषु धामसु) उत्कृष्ट, सुदूरवर्ती प्रकाशवान् लोकों में भी (अग्निः) प्रकाशक अग्नि है। वह (भूतस्य) उत्पन्न पदार्थ और (भव्यस्य) आगे उत्पन्न होनेवाले भविष्य के गर्भ में छिपे पदार्थों का भी (कामः) उत्पादक आरम्भक संकल्प है । वही (एकः सम्राट्) समस्त लोकों का एकमात्र प्रकाशक, स्वयं सब में अकेला प्रकाशमय, सबका एक महेश्वर (विराजति) विशेष रूप से विराजमान है।



२–'य इदं प्रतिपप्रथे' (तृ०) 'यज्ञस्य स्वः' इति साम० । (प्र०) 'विश्वा' इति शं० पा० । (प्र०) 'विश्वं', 'प्रतिचाक्लृपत्' इति आ० श्रौ० सू० । 'स इदं प्रतिपप्रथे' इति तै० ब्रा० ।

३–(प्र०) 'अग्निः प्रियेषु' इति यजु० । 'प्रत्नेषु' आ० श्रौ० सू० ।

[३७] कठोर भाषण से बचना।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः। चन्द्रमा देवता। अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

उप प्रागात् सहस्राक्षो युक्त्वा शपथो रथम्।
शप्तारमन्विच्छन् मम वृक इवाविमतो गृहम् ॥ १ ॥

भा०—(सहस्र-अक्षः) हज़ारों आँखों वाला या इन्द्रियों में उत्तेजना पैदा करनेवाला (शपथः) शपथ=कठोर वचन रूप राजा तू (रथम् युक्त्वा) रथ जोड़ कर (उप प्र अगात्) सब तक भली प्रकार पहुँच जाता है। (वृक इव) जिस प्रकार भेड़िया गन्ध के पीछे (अवि-मतः) भेड़ पालनेवाले के घर तक पहुँच जाता है उसी प्रकार वह शपथ रूप राजा भी (मम शप्तारम्) मेरे ऊपर व्यर्थ दोषारोपण करनेवाले को (अनु-इच्छन्) पता लगाता हुआ उस अपराधी को जा पकड़ और दण्ड दे।

परि णो वृङ्धि शपथ ह्रदमग्निरिवा दहन्।
शप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः ॥ २ ॥

भा०—हे (शपथ) शपथ! कठोर वचन रूप राजन्! (अग्निः इव) जंगल की अग्नि जिस प्रकार (ह्रदम्) तालब को (अदहन्) विना जलाये छोड़ कर चला जाता है उसी प्रकार तू (नः अदहन्) हमें विना जलाये, विना पीड़ा दिये (परि वृङ्धि) दूर से ही छोड़ दे। (अत्र) और इस दशा में भी (दिवः, अशनिः) आकाश से गिरनेवाली विजली जिस प्रकार (वृक्षम् इव) वृक्ष को मार जाती है और भीतर से जला देती है उसी प्रकार (नः) हमारे प्रति (शप्तारम्) व्यर्थ बुरा भला कहने वाले को (जहि) विनाश कर, उसको भीतर २ जला।

---

[३७] १–(प्र०) 'अभिप्र' (तृ०) 'मातिवृकेव' इति पैप्प० सं०। 'युक्त्वाय' इति ह्विटनिकामितः।

२–(प्र०) 'परित्वं' (च०) 'दिव्या' इति पैप्प० सं०।

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।
शुने पेष्ट्रमिवा वक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (अशपतः) गाली या कठोर वचन न कहते हुए भी (नः) हमें (शपात्) कठोर वचन कहता है और (यः च) जो (शपतः नः) कठोर वचन कहते हुए हमें (शपात्) कठोर वचन कहता है (तं) उस पुरुष को (शुनः) कुत्ते के सामने (अवक्षामम्) सूखे (पेष्ट्रम् इव) आटे के बने रोटी के टुकड़े के समान (मृत्यवे) मौत के आगे (प्रत्यस्यामि) डाल दूं ।

कठोर वचन या गाली देते हुए पुरुष के प्रति मनुष्य अपनी प्रबल इच्छा शक्ति का इसी प्रकार प्रयोग करे और विचारे कि कठोर वक्ता के कठोर वचन स्वयं उसी को दण्ड देते हैं, उसके दिल को कष्ट पहुँचाते हैं हम पर उसका ऐसे प्रभाव न पड़े जैसे आग का पानी के तालाब पर । वह अपने कठोर वचनों से बिजली से मरे वृक्ष के समान भीतर भीतर जले । और जो व्यर्थ हम पर जले और बके या हमारे कुछ कठोर कहने पर पागल होकर हम पर बके झके तो उसको तुच्छ सा जान कर अपनी मौत मरने दे । स्वयं उस पर हाथ न चलावे, बल्कि छोड़ दे ।



[३८] तेज की प्रार्थना ।

वर्चस्कामोऽथर्वा ऋषिः । बृहस्पति रुतत्विषिर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ।
चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥१॥

३–(तृ०)' पेष्ट्रम्' इति सायणाभिमतः ।

[३८] १–(तृ०) 'ववर्धसा' इति पैप्प० सं० । 'न आगन्' इति तै० ब्रा० ।

भा०—(या त्विषिः) जो तेज या कान्ति, ज्योति, शक्ति (सिंहे) सिंह में (व्याघ्रे) व्याघ्र में, (उत) और (या) जो तेज (पृदाकौ) महा अजगर में है और (या) जो तेज (अग्नौ) अग्नि में (ब्राह्मणे) ब्राह्मण, ब्रह्मज्ञानी में और (सूर्ये) सूर्य में है। और (या सु-भगा देवी) सौभाग्यमयी दिव्य कान्ति (इन्द्रम्) पुरुष को इन्द्र=ऐश्वर्यवान् राजा (जजान) बनाती है (सा) वह (नः) हमें (वर्चसा) तेज, ब्रह्मवर्चस् से (सं-विदाना) सम्पन्न करती हुई (एतु) प्राप्त हो।

या ह॒स्तिनि॑ द्वी॒पिनि॒ या हिर॑ण्ये॒ त्विषि॑र॒प्सु या गोषु॒ पुरु॑षेषु।
इन्द्र॒ं० ॥ २ ॥

भा०—(या) जो कान्ति (हस्तिनि) हाथी में और (द्वीपिनि) गैंडे में है। और (या) जो कान्ति (हिरण्ये) सुवर्ण में और (अप्सु) जलों में है और (या) जो कान्ति (गोषु) गौओं में और (पुरुषेषु) युवा बलवान् पुरुषों में है और (या देवी सुभगा) जो सौभाग्यमयी लक्ष्मी (इन्द्रम् जजान) राजा को उत्पन्न करती है (सा नः वर्चसा संविदाना एतु) वही लक्ष्मी कान्ति हममें तेज को धारण कराती हुई हमें प्राप्त हो।

रथे॑ अ॒क्षेष्वृ॑ष॒भस्य॒ वाजे॒ वाते॑ प॒र्जन्ये॒ वरु॑णस्य॒ शुष्मे॑। इन्द्र॒ं० ॥३

भा०—(या सुभगा देवी) जो सौभाग्यकारिणी दिव्य लक्ष्मी, कान्ति (रथे) रथ में (अक्षेषु) अक्षों में, (ऋषभस्य वाजे) बैल के वेग में (वाते पर्जन्ये) प्रचण्ड वात और मेघ में और (वरुणस्य शुष्मे) वरुण=सूर्य के प्रखर ताप में है और वह जो (इन्द्रम् जजान) इन्द्र, राजा को उत्पन्न करती है (सा नः वर्चसा सं-विदाना एतु) वह हम में तेज को धारण कराती हुई हमें प्राप्त हो।

२–(द्वि०) 'अश्वेषु पुरुषेषु गोषु' इति पैप्प० सं०।
३–'अक्षेषु वृषभस्य' इति तै० ब्रा०।

राजन्ये/दुन्दुभावायंतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥४॥

भा०—(राजन्ये) राजा में (आयतायाम् दुन्दुभौ) कसे कसाये, नियमपूर्वक बजनेवाले मारू बाजे में, (अश्वस्य वाजे) घोड़े के वेग में और (पुरुषस्य मायौ) वीर पुरुष के उच्च स्वर के नाद में जो शक्ति है और जो (देवी) दिव्य (सुभगा) सौभाग्यकारिणी शक्ति (इन्द्रं जजान) राजा को बनाती है (सः) वह (नः) हमें (वर्चसा सं-विदाना) ब्रह्मतेज से युक्त करती हुई (नः आ-एतु) हमें प्राप्त हो ।



[३९] यश और बल की प्रार्थना ।

वर्चस्कामोऽथर्वा ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । १ जगती, २ त्रिष्टुप्, ३ अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

यशो हविर्वर्धतामिन्द्रंजूतं सहस्रंवीर्यं सुभृतं सहस्कृतम् ।
प्रसस्रांणमनु दीर्घाय चक्षसे हविष्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठतातये ॥१॥

भा०—हमारा (सहः-कृतम्) बल और सहनशक्ति का बढ़ाने वाला (सुभृतम्) उत्तम रीति से हमें धारण पोषण करनेवाला (सहस्र-वीर्यम्) अनन्त सामर्थ्यों से युक्त (इन्द्र-जूतम्) ईश्वर से प्रदत्त या ईश्वर के

४–'या राजन्ये' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'क्रन्दय पुरुषस्य' इति तै० ब्रा० । (द्वि०) 'त्विषिरश्वयेमायां स्तनयित्नौ गोपुथा' इति पैप्प० सं० ।

[३९] १–(द्वि०) 'सहसतृष्टिः सुकृतं सहस्तत्' (तृ०) 'जीवसे' (च०) –'ष्मन्तं वर्धय' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'सुव्रतं' इति सायणाभिमतः ।

निमित्त प्रेरित या राजा के अभिमत, हमारा (यशः) यश और (हविः) अन्न, और बल (प्रसस्त्रांणम्) खूब विस्तृत होकर (वर्धताम्) बढ़े । हे इन्द्र ! परमात्मान् ! (अनु) और (फिर (हविष्मन्तं) अन्न समृद्धि से युक्त (मा) मुझ को (दीर्घाय चक्षसे) दीर्घदर्शी होने और (ज्येष्ट-तातये) और सब से बड़ा हो जाने के लिये (वर्धय) उन्नत कर ।

अच्छा न इन्द्रं यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसाना विधेम ।
स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम ॥ २ ॥

भा०—हम लोग (अच्छा) साक्षात् (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् उस महान् (यशसम्)[1] यशो रूप, सर्वव्यापक (यशोभिः) अपनी व्यापक शक्तियों से (यशस्विनं) यशस्वी, प्रभु को (नमसानाः) नमस्कार पूर्वक पूजा करते हुए (विधेम) उसके गुणों को अपने भीतर धारण करें । (सः) वह (नः) हमें (इन्द्र-जूतं) एक बड़े राजा से संचालित (राष्ट्रं रास्व) राष्ट्र का प्रदान कर । हे परमात्मन् (तस्य) उस (ते) महेश्वर जगदीश्वर के (रातौ) दिये राष्ट्र में हम (यशसः)यशस्वी होकर (स्याम) रहें।

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः यशाः) इन्द्र ऐश्वर्यवान् सूर्य यशस्वी है, (अग्निः यशाः) अग्नि सबका नेता ज्ञानी यशस्वी है । (सोमः यशाः अजायत) सोम, प्रेरक आल्हादक चन्द्र भी यशस्वी है । इसी प्रकार (यशाः) यश का अभिलाषी (विश्वस्य भूतस्य) समस्त प्राणियों में (अहम्) मैं (यशस्तमः) सबसे अधिक यशस्वी (अस्मि) होऊं ।

२-(प्र०) 'अच्छानयं' (द्वि०) 'यशस्विनी हविषेन विधेम' (च०) तस्य रात्र आधिवाके स्याम' इति पैप्प० सं० ।

३-(प्र०) 'यशाग्नि' इति पैप्प० सं० ।

[४०] अभय और कल्याण की प्रार्थना ।

१, २ अभयकामः, ३ स्वस्त्ययनकामश्चाथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवताः ।
१, २ जगत्यौ, ३ ऐन्द्री अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोभयं सोमः सविता नः कृणोतु ।
अभयं नोस्तूर्व१न्तरिक्षं सप्तऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु ॥१॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौः और पृथिवी, आस्मान, और ज़मीन इस संसार में (नः अभयं अस्तु) हमारे लिये भय रहित हों (सोमः) चन्द्र और (सविता) सबका प्रेरक सूर्य, (नः) हमारे लिये रात और दिन दोनों को (अभयं कृणोतु) हमारे लिये भय रहित कर दें । (उरु अन्तरिक्षम् वः अभयम्) यह विशाल अन्तरिक्ष=वातावरण भी हमारे लिये भय रहित रहे । (सप्त-ऋषीणां च हविषा) सप्त ऋषियों सातों प्राणों के बल, और ज्ञान से (अभयं नः अस्तु) हमें सर्वत्र ही अभय रहे ।

अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्त्र ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति सविता नः कृणोतु ।
अशत्र्विन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्यत्र राज्ञामभियातु मन्युः ॥ २ ॥

भा०—(नः) हमारे (अस्मै ग्रामाय) इस ग्राम के (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओं में (सविता) सविता, धन-धान्य का उत्पादक, एवं नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न और नाना कारखानों के चलाने की प्रेरणा करने वाला अधिकारी शासक अथवा परमात्मा (सु-भूतम्) उत्तम रीति से उत्पन्न होने वाला (ऊर्जम् कृणोतु) अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न कराए और इस प्रकार (नः स्वस्तिः कृणोतु) हमारा कल्याण करे । (इन्द्रः)

---

[४०] १–(च०) 'सप्तर्षीणां' इति क्वचित् ।
२–(द्वि०) 'सुभूतं सविता दधातु' (तृ०) 'अशत्रुं' (च०) मध्ये च 'विश्वं सुकृतं स्याम' इति पैप्प० सं० ।

राजा (नः) हमारे लिये (अशत्रु अभयं) शत्रुओं से रहित, अभय (कृणोतु) करे और (राज्ञां) राजाओं का (मन्युः) क्रोध और उससे प्रेरित सेनाबल भी (अन्यत्र) और स्थान में, अर्थात् हमारे निवास के नगर से दूसरी जगह चढ़ाई करे।

राजा ग्रामों का ऐसा प्रबन्ध करे कि उनके बाहर की भूमियों में अन्न आदि को उत्पन्न कराने का प्रबन्ध करे और उनकी ऐसी रक्षा करे कि योद्धा राजा की सेनाएं उनके खेतों को खराब न करें और ग्रामों को न उजाड़ें।

अ॒न॒मि॒त्रं नो॑ अध॒राद॑नमि॒त्रं न॑ उत्त॒रात् ।
इन्द्रा॑नमि॒त्रं नः॑ प॒श्चाद॑नमि॒त्रं पु॒रस्कृ॑धि ॥ ३ ॥

भा०—हे इन्द्र ! परमात्मन् अथवा राजन् ! (नः) हमारे (अधरात्) नीचे की ओर (अनमित्रं) कोई शत्रु न रहे, (उत्तरात् नः अनमित्रं) उपर की ओर भी कोई शत्रु न रहे। (पश्चात् नः अनमित्रं) पीछे की भी ओर शत्रु न रहे और (पुरः नः अनमित्रं कृधि) ऐसा कीजिये जिससे आगे की ओर भी हमारा कोई शत्रु न रहे।



[४१] अध्यात्म शक्तियों की साधना।

ब्रह्मा ऋषिः । बहवः उत चन्द्रमा देवता । १ भुरिगनुष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

मन॑से॒ चेत॑से धि॒य आकू॑तय उ॒त चित्त॑ये ।
म॒त्यै श्रु॒ताय॒ चक्ष॑से वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥ १ ॥

भा०—(मनसे) मनः शक्ति (चेतसे) सम्यग् ज्ञान, (धिये) धारणा शक्ति, (आकूतये) प्रतिभा (उत) और (चित्तये) और

३-(प्र०) 'मे अधराग्' (द्वि०) 'उदक् कृधि' इति का० यजु० ।

चेतना शक्ति (मत्यै) तत्व विचार करने वाली मनन शक्ति, (श्रताय) गुरु उपदेश द्वारा प्राप्य वेद ज्ञान या श्रवण शक्ति और (चक्षसे) भीतरी चक्षु, आत्मा की दर्शनशक्ति, इन सब शक्तियों के प्राप्त करने के लिये (वयम्) हम (हविषा) अन्न आदि, पौष्टिक सात्विक पदार्थों द्वारा या आत्मशक्ति या मस्तिष्क शक्ति या मन और वाणि की शक्ति से प्राप्त करने की (विधेम) हम सदा साधना किया करें। हविः=जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानाम् श० १ । २ । १ । २० । तस्य पुरुषस्य शिर एव हविर्धाने । कौ० १७ । ७ ॥ वाक् च वै मनश्च हविर्धाने । कौ० ९ । ३ ॥ अर्थात्, हवि=आत्मा, जीव, शिर की ज्ञानशक्ति, वाणी और मन इनकी साधना से मनुष्य उपरोक्त सब शक्तियां प्राप्त करे।

अ॒पा॒नाय॑ व्या॒नाय॑ प्रा॒णाय॒ भूरि॑धायसे ।
सर॑स्वत्या उरु॒व्यचे॑ वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥ २ ॥

भा०—(अपानाय) अपान, (वि-आनाय) व्यान और (भूरि-धायसे) बहुत बलों को धारण करने वाले (प्राणाय) प्राण और (उरु-व्यचे) विशाल आत्मा में व्यापक या नाना लोकों में व्यापक (सरस्वत्यै) ज्ञान धारा की प्राप्ति के लिये (वयम्) हम (हविषा) हवि जीव, मस्तिष्क शक्ति या मन से (विधेम) उद्योग करें।

अपान=मुख नासिका से बाहर के वायु को पुनः भीतर लेना। प्राण= भीतर की वायु को नासिका से बाहर फेंकना। व्यान=ऊपर नीचे दोनों ओर की गति न करके प्राण का स्थिर रहना। अथवा कण्ठ से उर्ध्वगत शक्ति प्राण, कण्ठ से नाभि तक की शक्ति व्यान, नाभि से गुदा तक की शक्ति अपान है।

मा नो॑ हासिषु॒र्ऋष॑यो॒ दैव्या॒ ये त॑नू॒पा ये नः॑ स्त॒न्व॑स्तनू॒जाः ।
अम॑र्त्या॒ मर्त्याँ॑ अ॒भि नः॑ सचध्व॒मायु॑र्धत्त प्रत॒रं जी॒वसे॑ नः ॥३॥

३—'ऋषयो दैव्यासस्तनूपावानस्तन्वः तपोजाः' इति ऐ० ब्रा० ।

भा०—(दैव्याः ऋषयः) दिव्य गुण सम्पन्न अथवा देव आत्मा से सम्बद्ध अथवा देव, इन्द्रियमय ऋषिगण, ज्ञानसाधन आंख नाक, कान, मुख, त्वचा रसना आदि ज्ञानेन्द्रियें (नः) हमें (मा हासिपुः) जीवन भर त्याग न करें। और (ये) जो (नः) हमारे (तनू-पाः) शरीर के रक्षक प्राण और (तन्वः) शरीर के ही अंग और (तनू-जाः) शरीर से उत्पन्न होने वाले हाथ पांव आदि अंग हैं वे भी हमरा त्याग न करें। ये सब हमारे स्वस्थ बने रहें। हे आत्मा के (अमर्त्याः) न मरने वाले प्राणो! तुम लोग (नः) हम (मर्त्यान्) मर्त्य पुरुषों को (अभि सचध्वम्) प्राप्त होओ। और (नः) हमारे (जीवसे) जीवन के लिये (प्रतरं आयुः) बहुत दीर्घ जीवनकाल (धत्त) बनाये रखो।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र दश सूक्तानि, ऋचश्च त्रयस्त्रिंशत्।]



[४२] क्रोध को दूर करके परस्पर मिलकर रहने का उपदेश।

परस्परचित्तैककरणे भृग्वङ्गिरा ऋषिः। मन्युर्देवता १, २ अनुष्टुभः (१,२ भुरिजौ)। तृचं सूक्तम् ॥

अव॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नो म॒न्युं त॑नोमि ते हृ॒दः।
यथा॒ संम॑नसौ भू॒त्वा सखा॑यावि॒व सचा॑वहै ॥ १ ॥

भा०—क्रोध को दूर करके मित्रभाव से रहने का उपदेश करते हैं।

---

[४२] १–'अवज्यामिव धन्विनश्शुष्मं तनोमि ते हृदः। अधा सम्मनसौ भूत्वा सखिकेव सचावहे'। इति पैप्प० सं०।

मित्र अपने क्रोधी पुरुष के क्रोध उतारने के लिये इस प्रकार कहता है— हे मित्र ! (धन्वनः ज्याम् इव) जिस प्रकार धनुर्धर पुरुष शान्त होकर अपने धनुष से डोरी को उतार लेता है और किसी की हिंसा नहीं करता उसी प्रकार मैं शान्त पुरुष (ते हृदय) तेरे हृदय से (मन्युम्) क्रोध को भी (अव तनोमि) उतारने का यत्न करता हूं। (यथा) जिससे हम दोनों (सं-मनसौ) एक समान चित्त वाले (भूत्वा) होकर (सखायौ-इव) दो मित्रों के समान एक ही होकर (सचावहे) सदा मिले रहें ।

सखा॑याविव सचावहा॒ अव॑ म॒न्युं त॑नो॑मि ते ।
अ॒धस्ते॒ अश्म॑नो॒ म॒न्युमु॒पास्यामसि॒ यो गु॒रुः ॥ २ ॥

भा०—क्रोध के विरोध का उपदेश करते हैं। हम दोनों (सखायौ इव) दो मित्रों के समान (सचावहे) मिलकर रहें और यदि इस मित्रता पूर्वक रहते हुए कभी क्रोध भी आ जाय तो प्रत्येक हममें से अपना यही कर्त्तव्य समझे कि (ते मन्युं अव तनोमि) मैं तेरे क्रोध को शान्त करूँ। यदि फिर भी क्रोध उभड़ना चाहे तो यह विचार हो कि (यः गुरु) जो हमारा गुरु, उपदेशक पर्वत के समान गौरवपूर्ण है (अश्मनः अध इव) भारी शिला के समान भारी पदार्थ के नीचे जिस प्रकार उड़ता हुआ पदार्थ दब जाता है फिर नहीं उड़ता उसी प्रकार (ते मन्युम्) तेरे क्रोध को भी (तम् उपास्यामसि) उस उपदेष्टा गुरु के अधीन कर दें जिसके गौरव से दब कर पुनः क्रोध न उठे। क्रोध आजाने पर गुरु के समीप जाकर कलह के कारण को मिटा लेना चाहिये जिससे फिर क्रोध न सतावे ।

२-(च०) 'अश्मना मन्युं गुरुणापि निदध्मसि' (प्र० द्वि०) 'त्रि ते-मन्युं नयामसि सखिकेव सचाहवै' इति पैप्प० सं० ।

अभि तिष्ठामि ते मन्युं पाष्ण्या प्रपदेन च ।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

भा०—क्रोध शान्त करने का तीसरा उपाय बतलाते हैं । हे क्रोधी पुरुष (ते मन्युम्) तेरे क्रोध को (पाष्ण्यां) अपनी एड़ी से और (प्र-पदेन) अपने पैरों के अगले भाग से (अभि तिष्ठामि) दबा कर उस पर वश करता हूँ; जिस प्रकार आते हुए वेग को अपनी एड़ी और पंजों पर मज़बूती से खड़ा होकर सहा जाता है उसी प्रकार दूसरे के क्रोध के वेग को धीरता और मज़बूती से खड़े रह कर सहना चाहिए । (यथा अवशः) जिससे वशीभूत, लाचार होकर (न वादिषः) फिर तू क्रोध के वचन न बोले और (मम चित्तम्) मेरे चित्त के (उप आयसि) समीप में आकर मेरा मित्र बन जाय । जिसको मित्र बनाना है उसके क्रोध के उद्वेगों को धीरता से सहन करना चाहिये ।



[४३] क्रोधशान्ति के उपाय ।

परस्परैकचित्तकरणे भृग्वङ्गिरा ऋषिः । मन्युशमनं देवता । अनुष्टुप् छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च ।
मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते ॥ १ ॥

३–(द्वि०) 'पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्' (तृ० च०) 'परा ते दस्त्वां वधं परा मन्युं सुवामि ते' इति पैप्प० सं० ।

[४३] १–(तृ०) 'विमन्युकश्च' इति ह्विटनिकामितः । (तृ०) 'विमन्युको विमन्युशमनोऽस्तु मे' इति पैप्प० सं० ।

भा०—क्रोध शान्त करने का चौथा उपाय बतलाते हैं। (अयं) यह (दर्भः) दाभ, दमन या कुश घास है वह (स्वाय च) अपने सम्बन्धियों और (अरणाय च) अपने शत्रु के लिये भी (वि-मन्युकः) सर्वथा क्रोध रहित है। इसमें काटा नहीं, सरल सीधा है, हवा के झोंके से भी मुड़ जाता है। पर तो भी बहुतों को रस्सी बँन कर (दर्भः) बाँध लेता है। इसी प्रकार जो पुरुष (स्वाय च अरणाय च) अपने सम्बन्धी और शत्रु दोनों के लिए (वि-मन्युकः) क्रोध रहित शान्त पुरुष है वह (दर्भः) समाज को रस्सी के समान गाँठने वाला होता है। वह (वि-मन्युकस्य) स्वभावतः मन्यु रहित पुरुषों के उठे हुए (मन्योः) क्रोधों का भी अथवा (मन्योः विमन्युकस्य) क्रोधी और क्रोध रहित पुरुषों के बीच में आकर उनके (मन्यु-शमनः) क्रोध या कलह को शान्त करा देनेवाला (उच्यते) कहा जाता है। वह पुरुष उनके कलहों को मिटा सकता है।

अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति ।
दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते ॥ २ ॥

भा०—(दर्भः) दर्भ-दाभ जिस प्रकार (भूरि-मूलः) लम्बी गहरी और अधिक मूल वाला (पृथिव्याः उत्थितः) पृथिवी के ऊपर उठा हुआ होकर भी (समुद्रम् अव-तिष्ठति) समुद्र, आकाश के नीचे धीरता से खड़ा रहता है इसी प्रकार (अयम्) यह पुरुष जो (दर्भः) समाज का संगठन करने में समर्थ है वह भी (पृथिव्याः उत्थितः) अपनी विशाल मातृ-समाज से उत्पन्न होकर (भूरि-मूलः) बहुत से मूल रूप आश्रयों पर प्रतिष्ठित होकर (समुद्रम् अव-तिष्ठति) [समुद्र=महान् प्रभु की छत्र छाया में रहता है। वही लोक में सब के (मन्यु-शमनः) क्रोधों

२-(द्वि०) 'पृथिव्यामव' (तृ० च०) 'निष्ठित स्सचेस्तु विमन्युकः' इति पैप० सं०।

का शान्त करने हारा, सब कलहों का मिटाने वाला (उच्यते) कहा जाता है । अथवा दर्भ-या दाभ रस्सी का प्रतिनिधि है । यदि क्रोधी क्रोध करे तो उसको प्रबल पुरुष बंधन में डाले कि उसका सब क्रोध उतर जाय।

वि ते हनव्यां/शरणिं वि ते मुख्यां नयामसि ।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

तृ० च० अथर्व० ६ । ४२ । ३ तृ० च० ॥

भा०—हे पुरुष (ते) तेरी (हनव्यां) ठोड़ी में विद्यमान और (ते मुख्यां) तेरे मुख में विद्यमान (शरणिम्) हिंसा और क्रोध के भाव को उत्पन्न करनेवाली वाणीको (वि नयामसि) विनीत शिक्षित कर लें । (यथा) जिससे (अवशः) लाचार होकर (न वादिषः) तू अधिक क्रोध के वचन न बोल सके और (मम चित्तम् उप आयसि) मेरे चित्त के अति समीप, मित्र होकर रहे । अर्थात् परस्पर का क्रोध शान्त करने के लिये वाणी पर वश करना चाहिये । इससे भी दोनों के चित्त परस्पर मिल जायेंगे ।

यदीच्छसि वशीकर्त्तुं जगदेकेन कर्मणा ।
परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय ॥

अथवा वाणी को सभ्य शिक्षा देनी चाहिये जिससे गाली आदि मुँह पर न आवे ।



[४४] रोग की चिकित्सा में विषाणका नाम ओषधि ।

विश्वामित्र ऋषिः । मन्त्रोक्ता उत वनस्पतिर्देवता । १,२ अनुष्टुभौ । ३ त्रिपदा महाबृहती । तृचं सूक्तम् ॥

३–'मुख्यं' इति क्वचित् ।

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत् ।
अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद् रोगो अयं तव ॥ १ ॥

भा०—यह (द्यौः) विशाल द्युलोक (अस्थात्) स्थिर है, (पृथिवी) पृथिवी भी (अस्थात्) स्थिर है। (इदं विश्वं जगत्) यह समस्त जगत् भी स्थिर है। (ऊर्ध्व-स्वप्नाः वृक्षाः) उतान खड़े २ सोनें वाले वृक्ष भी स्थिर हैं। इसी प्रकार (अयं तव रोगः) यह तेरा रोग भी (तिष्ठात्) स्थिर हो जाय, आगे अधिक न बढ़े।

शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च ।
श्रेष्ठमास्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ॥ २ ॥

भा०—(यानि ते शतम्) जो तेरी सैकड़ों और (सहस्रम्) हज़ारों (भेषजानि) ओषधियाँ (संगतानि च) प्राप्त भी हो गयी हैं और निदान के अनुकूल भी हैं तो भी उनमें से जो (श्रेष्ठम्) सबसे अधिक गुणकारी और (वसिष्ठम्) मुख्य रूप से देह में वास करनेवाली उसके भीतर प्रवेश करके असर कर जाने वाली (आस्राव-भेषजम्) रक्तस्राव को अच्छा करनेवाली औषध है वह (रोग-नाशनम्) रोग को अवश्य नाश करती है।

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः ।
विषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू (रुद्रस्य) रुद्र=रोगकारी तीव्र द्रव्य का (मूत्रम्) सार भाग [टिंक्चर] (असि) है। (अमृतस्य) परन्तु रोग विनाश करनेवाले अमृत रूप शक्ति का (नाभिः) मूलस्थान है। या (विषाणका नाम वा असि) तेरा नाम 'विषाणका' है।

[४४] १-(प्र०) 'या' (द्वि०) 'संभृतानि' (तृ०) तेषामसि त्वमुत्तमं अनास्रावसरोगणं (च०) 'वसिष्ठ' इति पैप्प० सं०।

(पितृणां) पालक ओषधियों के मूल में से (उत्थिता) उत्पन्न होती है। और (वातीकृत-नाशनी) वात के द्वारा उत्पन्न रोगों का नाश करती है। विपाणका या विपाणिका नाम से अजश्रृङ्गी, आवर्त्तकी श्रृङ्गी, वृश्चिकाली, सातला और रोहिणी ओषधियों का ग्रहण है। अजश्रृंगी और आवर्त्तकी हृद्रोग, वातरोग और रक्तार्श पर गुणकारी है। उनका टिंचर निकाल कर प्रयोग करने से शीघ्र ही असर करती हैं।



[४५] मानस पाप के दूर करने के दृढ़ संकल्प की साधना।

प्रचेताः अंगिरा यमश्च ऋषिः। दुःस्वप्ननाशनं देवता। १ पथ्यापंक्तिः। २ भुरिक् त्रिष्टुप्। ३ अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम्॥

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥१॥

ऋ० १० । १६४ । १ ॥

भा०—मानसिक पापों के दूर करने के मूल मन्त्र का उपदेश करते हैं। (मनः-पाप) हे मानसिक पाप, दुर्विचार ! (परः अपेहि) परे हट, तू (अशस्तानि) बुरी २ निन्दा योग्य कुचालियां करने की (किम्) क्यों (शंससि) कहता है। (परा इहि) चल परे हो। (न त्वा कामये) मैं तुझे नहीं चाहता। हे (मनः) मेरे मन ! तू पाप से हट कर (वृक्षान् वनानि सं चर) हरे २ वृक्षों और वनों उपवनों में विहार कर

[४५] १–'अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर। परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः' इति ऋ० ॥ (प्र०) 'अपेहि मनसस्पते' इति पैप्प० सं० । ऋग्वेदे प्रचेताः ऋषिः। दुःस्वप्नघ्नं देवता। (प्र०) 'शंससि' (च०) 'वृक्षवनानि' इति सायणाभिमतः।

और (गृहेषु गोषु सं चर) अपने गृहों और गौओं में विहार कर। पाप में जब मन जाय तब पाप के संकल्पों को दूर करके हरे वृक्षों, वनों, उत्तम गृहों और सम्बन्धियों और गौ आदि पशुओं के साथ मन को बहलाना चाहिए।

अवशसा निःशसा यत् पराशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु ॥ २ ॥
ऋ० १० । १६४ । ३ ॥

भा०—पापों के दूर करने के निमित्त प्रार्थना। (अव-शसा) नीचे गिराने वाले, (निः-शसा) निर्बल करके गिराने वाले और (परा-शसा) सत्कर्मों से दूर ले जाकर आत्मा का नाश करने वाले जिस २ दुष्ट विचार युक्त पाप से हम (जाग्रतः) जागते हुए या (स्वपन्तः) सोते हुए (यत्) जब २ भी (उप-आरिम) हम पीड़ित होते हों (अग्निः) वह सर्व प्रकाशक, पापों को भस्मसात् करने वाला अग्नि, परमेश्वर (विश्वानि) सब (अजुष्टानि) असेवनीय और अवांछनीय, मन के अप्रीतिकर, बुरे (दुः-कृतानि) पाप कर्मों को (अस्मद्) हमसे (आरे) दूर (अप दधातु) कर दे।

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेपि मृषा चरामसि ।
प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात् पात्वंहसः ॥ ३ ॥
ऋ० १० । १६४ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! ऐश्वर्यवान् ! हे (ब्रह्मणस्पते) समस्त ब्रह्मज्ञान के परिपालक ! (यद् अपि) जब २ भी हम (मृषा चरामसि) असत्य

२–'यदा शसा निःशसाभिशसोपारिम' इति ऋ० ।

३–यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽभिद्रोहं चरामसि । प्रचेता न आङ्गिरसो द्विषतां पात्वंहसः' इति ऋ० । (च०) द्विषतः पातु तेभ्यः' इति पैप्प०सं० ।

और छल कपट का आचरण करते हैं तू उनको (प्रचेताः) खूब भली प्रकार जानता है। तू (आंगिरसः) प्रकाशस्वरूप, तेजोमय ज्ञानी होकर (नः) हमें (दुरितात्) बुरे निन्दनीय (अंहसः) पाप से (पातु) पालन कर।



[४६] स्वप्न का रहस्य।

अंगिरा ऋषिः। स्वप्नो दुःस्वप्ननाशनं वा देवता। १ ककुम्मती विस्तार पंक्तिः, २ त्र्यवसाना शर्करीगर्भा पञ्चपदा जगती, ३ अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न।
वरुणानी ते माता यमः पितारुर्नामासि ॥ १ ॥

भा०—स्वप्न का रहस्य बतलाते हैं। हे स्वप्न (यः) जो (न जीवः असि) तू न जीवित, जागृत दशा है और (न मृतः) न मृत=सुषुप्त दशा है तो-भी (देवानाम्) इन्द्रिय गण तुझ स्वप्नकाल में (अमृतगर्भः असि) भी अमृत=आत्मा के गर्भ=भीतर में छुपे रहते हैं। उस समय इन्द्रियगण बाह्य विषयों का ज्ञान नहीं करते। हे स्वप्न! (ते माता) तुझ स्वप्न की जननी, माता, उत्पादक भी स्वतः (वरुणानी) वरुण की स्त्री आत्मा की शक्ति, चितिशक्ति, चेतना ही है और स्वयं (यमः) सब इन्द्रिय और शरीर का नियामक आत्मा ही स्वप्न का (पिता) पालक या बीजप्रद है। तू (अररुः नाम असि) 'अररु' नाम वाला है। निरन्तर गतिशील, अति तीव्र गति वाला, क्षणावस्थायी है। अथवा शीघ्र ही विस्मृत हो जाता है। लम्बे से लम्बा स्वप्न ५ सेकण्ड में उत्पन्न होकर समाप्त भी हो जाता है। स्वप्नकाल में इन्द्रियां प्राण में, प्राण मनमें, मन आत्मा में लीन होजाता है और सुषुप्ति दशा हो जाती है।

परन्तु स्वप्नकाल में इन्द्रियगण मन सहित आत्मा में रहकर भी केवल मनकी गति से सब पूर्वानुभूत संस्कारों की जागृति होती है। उस समय इन्द्रियें प्राणमय आत्मा में गर्भित रहती हैं।

विद्म ते॑ स्वप्न ज॒नित्रं॑ देवजामी॒नां पु॒त्रो॑ऽसि य॒मस्य॒ कर॑णः ।
अ॒न्त॑कोऽसि मृ॒त्युर॑सि । तं त्वा॑ स्वप्न॒ तथा॒ सं वि॑द्म॒ स नः॑
स्वप्न दु॒ष्वप्न्या॑त् पाहि ॥ २ ॥ अथर्व० १६ । ५ । ६ ॥

भा०—हे स्वप्न ! (ते जनित्रं विद्म) हम तेरे स्वरूप और उत्पत्ति के रहस्य को जानते हैं कि तू (देव-जामीनां) देव-इन्द्रियगण की ज्ञान को उत्पन्न करने वाली सूक्ष्म शक्तियां या ज्ञान तन्तु जो मनमस्तिष्क में आश्रित हैं उनका (पुत्रः) पुत्र है, उससे उत्पन्न होता है। पर तो भी (यमस्य करणः) नियामक प्राणात्मा का तू करण अर्थात् कार्य है। हे स्वप्नमय देव आत्मन् ! तू ही (अन्तकः असि) अन्त करने वाला प्राण-वियोजक और (मृत्युः असि) शरीर को देह-बन्धन से पृथक होने की दशा का स्वरूप है। हे स्वप्न ! (तं) उस तुझको (तथा) जैसा तू है उसी प्रकार (सं विद्मः) हम भली प्रकार जानते हैं (सः) वह तू (नः) हमें (दुःस्वप्न्यात्) दुष्ट स्वप्न से जो मन और शरीर को गिराने वाले भय, काम और वीर्यनाश के प्रयोजक हैं उनसे (पाहि) बचा।

य॒था॑ क॒लां य॒था॑ श॒फं य॒थ॒र्णं॑ सं॒ नय॑न्ति ।
ए॒वा दु॒ष्वप्न्यं॒ सर्वं॑ द्वि॒प॒ते सं न॑यामसि ॥ ३ ॥
अथर्व० १६ । ५७ । १ ॥ ऋ० ८ । ४७ । १७ प्र०—च० ॥

२—१. जामिः स्त्री इति सायणः । भगिनी इति ह्विटनिः ।

३—(च०) 'आप्तये सं नया'— इति ऋ० । 'अनेहसोऽवदूतयः सुऊतयो व ऊतयः' इति ऋग्वेदेऽधिकः पाठः । तत्र त्रित आप्त्य ऋषिः । आदित्या उषाश्च देवते ।

भा०—(यथा) जैसे (कलां) कला, $\frac{1}{16}$ वां भाग कर के या (यथा शफं) $\frac{1}{8}$ वां भाग करके (यथा ऋणं) जिस प्रकार ऋण को (सं नयन्ति) चुका देते हैं। उसी प्रकार (सर्वं दुःष्वप्न्यम्) समस्त प्रकार के दुःस्वप्नों को (द्विपते) अपने अप्रीतिभाजन पुरुष का ऋण सा जानकर (सं नयामसि) सर्वथा त्याग दें। अर्थात् दुःखप्न आदि के दुर्विचार नीच घृणित पुरुषों के लिये रहने दें। उनमें सदाचारी आर्य पुरुष अपने को न गिरावें। अर्थात् जिस प्रकार कला=१६ वां सोलहवां हिस्सा करके या पूरा एक आठवां एक आठवां हिस्सा करते २ पूरा ऋण चुका देते हैं उस प्रकार हम बुरे विचारों को भी (द्विपते) शत्रु का ऋण सा ही मानकर, शनैः २ क्रमशः उनको ऐसे छोड़ते जायं मानो हम में बुरे भावरूप अपने शत्रु का कर्जा धारते हैं। उसे शीघ्र चुकाकर मुक्त हो जायं।



[४७] दीर्घायु, सुखी जीवन और परम सुख की प्रार्थना।

अंगिरा ऋषिः। १ अग्निर्देवता २। विश्वेदेवाः। ३ सुधन्वा देवता।
१–३ त्रिष्टुभः। तृचं सूक्तम्॥

अग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान् वैश्वानरो विश्वकृद् विश्वशंभूः।
स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम॥ १॥

भा०—(प्रातः स-वने) प्रातकालके सवन=ब्रह्मचर्य के अवसर में

[४७] १–(द्वि०) 'पथिकृा विश्वकृष्टिः' इति पैप्प० सं०। 'महिना विश्वकृष्टिः' इति तै० सं०। 'महीनां' इति कौ० श्रौ० सू०। 'विश्वश्रीः' इति मै० सं०। (तृ०) 'द्रविणं' इति प्रायः। (प्र०) 'प्रातःसवनात्' इति मै० सं०।

(वैश्वानरः) समस्त पुरुषों का हितकारी समस्त पुरुषों में व्यापक विराट् (विश्व-शम्भूः) सबके लिये सुख शान्ति का उत्पत्तिस्थान (विश्व-कृत्) संसार का रचयिता (अग्निः) अग्नि=ज्ञानमय परमात्मा, सबका अग्रणी (पातु) हमारी रक्षा करे । (सः पावकः) वह पावक सबका पवित्र करने वाला (नः) हमें (द्रविणे दधातु) बल और धन समृद्धि में स्थापित करे । और हम सब (आयुष्मन्तः) दीर्घ आयु वाले होकर (सह-भक्षाः) एक साथ भोजन करनेहारे (स्याम) हों ।

विश्वे देवा मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन् द्वितीये सवने न जह्युः ।
आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ २ ॥

भा०—(अस्मिन् द्वितीये सवने) इस द्वितीय सवन, सोम-सवन के अवसर पर (इन्द्रः) हमारा राजा, आत्मा और (विश्वेदेवाः) समस्त देव, इन्द्रियगण और विद्वान् पुरुष और (मरुतः) समस्त प्रजाएं और प्राणगण (अस्मान्) हमें (न जह्युः) परित्याग न करें । (आयुष्मन्तः) दीर्घ आयु से सम्पन्न होकर (एषां प्रियं वदन्तः) इन सब के प्रति प्रिय भाषण करते हुए (वयं) हम (देवानां) विद्वान् पुरुषों की (सु-मतौ) शुभ मति में, उत्तम उपदेशों के अनुसार (स्याम) रहें ।

इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त ।
ते सौधन्वनाः स्वरानशानाः स्विष्टिं नो अभि वस्यो नयन्तु ॥३॥

भा०—(इदं तृतीयं सवनम्) यह तीसरा सवन (कवीनाम्) क्रान्त-दर्शी, मेधावी, विद्वान् उन पुरुषों का ही है (ये) जो (ऋतेन) सत्य और ब्रह्मज्ञान के बल से (चमसम्) चमस=सोमभक्षण के पात्र को प्रेरित करते हैं । अर्थात् सत्य ज्ञान और तपके बल से अपने मुख्य प्राण

३-(तृ०) 'सौधन्वनामृतानशानाः' (च०) 'नयाथ' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'सुवरा'- (च०) 'वसीयो' इति तै० सं० ।

या समस्त जीवन को साधना के बल से प्रेरित करते हैं (ते) वे (सौधन्वनाः) धनुर्धरों के समान उत्तम रूप से ओंकार रूप औपनिषद धनुष को धारण करते हुए (स्वः आनशानाः) मोक्ष सुख या प्रकाशमय ब्रह्म का आनन्द लाभ करते हुए (नः) हमारे (स्विष्टिं) उत्तम ब्रह्मयज्ञ के प्रति (वस्यः) उत्तम श्रेष्ठ फल (अभि नयन्तु) प्राप्त करावें।

अध्यात्म में चमसपात्रों का निर्णय इस प्रकार है। प्राणापानाभ्यामेवोपांश्वन्तर्यामौ निरमिमीत। व्यानादुपांशुसवनं। वाच ऐन्द्रवायवं। पक्षक्रतुभ्यां मैत्रावरुणं, श्रोत्रादाश्विनं, चक्षुषः शुक्रामन्थिनौ, आत्मन अग्रायणं, अङ्गेभ्यः उक्थ्यं, आयुषो ध्रुवम्। प्रतिष्ठाया ऋतुपात्रे। तै० १।५।०।१।२। यहां चमस=समस्त आयु है। यज्ञ में चमसस्थित पात्र के सोम को चार भागों में विभाग किया जाता है। जिसका अभिप्राय जीवन को चार भागों में बांटना है। इस प्रकार यज्ञपरक अर्थ संगत होता है, तीन सवनों की व्याख्या अध्यात्म साधना में—जीवन के तीन भाग हैं। प्रथम सवन २४ वर्ष का ब्रह्मचर्य, द्वितीय सवन ४४ वर्ष का ब्रह्मचर्य, और तृतीयसवन ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य। (देखो छान्दो० उप० ३।१६)



[४८] तीन सवन, त्रिविध ब्रह्मचर्य।

मन्त्रोक्ता ऋषिर्देवता च। उष्णिक्। तृचं सूक्तम्॥

श्येनो॑ऽसि गाय॒त्रच्छ॑न्दा॒ अनु॑ त्वा॒ र॑भे।
स्व॒स्ति मा॒ सं व॑हा॒स्य य॒ज्ञस्यो॒दृचि॒ स्वाहा॑॥ १॥

भा०—पूर्वोक्त तीनों सवनों और तीन प्रकार के ब्रह्मचर्य कालों का विशेष वर्णन करते हैं। हे प्रातःसवनरूप प्रथम ब्रह्मचर्य! तू (श्येनः

१-(तृ०) 'स्वस्ति मा सम्पारय', (प्र०) 'श्येनोऽसि पत्त्वा' इति शां० श्रौ० सू०।

असि) श्येन, ज्ञान ब्रह्मतेज का संपादन करनेहारे और (गायत्र छन्दाः) गायत्रच्छन्दा=प्राणसाधना, आत्मसाधना, ब्रह्मवृत्ति, ब्रह्मवर्च प्राप्त करना, तेज प्राप्त करना, वीर्य प्राप्त करना और जीवन का प्रारम्भ रूप २४ अक्षरोंवाले गायत्रीछन्द के समान २४ वर्ष तक पालन करने योग्य है । (त्वा) तेरा मैं (अनु रभे) अनुष्ठान करता हूँ, तेरा पालन गुरु के अधीन रह कर करता हूँ । (अस्य) इस (यज्ञस्य) जीवनमय यज्ञ के (उद्-ऋचि) अन्तिम ऋचापाठ की समाप्ति तक (मा) मुझे (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक (सं वह) प्राप्त करा । (स्वाहा) यही हमारी अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा है ।

ऋभुरसि जगच्छन्दा अनु त्वा रभे । ० ॥ २ ॥

भा०—हे तृतीयसवन ! तृतीय ४८ वर्षतक के ब्रह्मचर्यकाल ! तुम (ऋभुः) ऋभु=अति तेजस्वी, सत्य, ब्रह्मज्ञान सम्पन्न हो, और (जगत्-च्छन्दाः) तुम जगतीच्छन्द के समान ४८ अक्षरों के प्रतिनिधि ४८ वर्षों तक पालन किये जाने योग्य हो । एवं तुम आदित्यस्वरूप हो। (त्वा अनु रभे) तेरा मैं पालन करता हूँ । (अस्य यज्ञस्य उदृचि) इस यज्ञ की समाप्ति तक (मा) मुझको (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक (सं वह) प्राप्त करा (स्वाहा) यह मैं अपने आत्मा से दृढ़ भावना करता हूं ।

वृषासि त्रिष्टुप्छन्दा अनु त्वा रभे ।
स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ ३ ॥

भा०—हे माध्यन्दिन सवन ! ४४ वर्ष तक के ब्रह्मचर्य ! तू (वृषा असि) वृषा=वीर्य सेचन से समर्थ इन्द्र रूप और (त्रिष्टुप्-छन्दाः) ४४

२–'स्वरसि गयोऽसि' इति गो० ब्रा० ।

३–(प्र०) 'सुपर्णोऽसि' इति शां० श्रौ० सू० । 'सम्राड् असि' इति गो० ब्रा० । 'वर्षकोऽसि' इति तां० ब्रा० ।

अक्षर वाले त्रिष्टुप्छन्द के समान हो। (त्वा अनुरभे) तेरा पालन करूं। (मा) मुझे (यज्ञस्य उदृचि) इस यज्ञ की समाप्ति तक (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक निर्विघ्न (सं-वह) प्राप्त करा (स्वाहा) यह मैं स्वयं अपने प्रति दृढ़ संकल्प एवं प्रार्थना करता हूं।

(१) श्येनः—श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः। निरु०। यदाहश्येनोऽसि इति सोमं वा एतद् आह। एष ह वा अग्निर्भूत्वा अस्मिंल्लोके संश्यायति। तद् यत् संश्यायति तस्मात् श्येनः। गो० पू० ५।१२॥ उरस एवास्य हृदयात्त्विषिरं स्रवत् स श्येनः अपाष्ठिहाभवत् वयसां राजा। श० १२।७।१।६॥ श्येनो वयसां क्षेपिष्ठः। प० ३।८॥ एतद्वै वयसां मोजिष्ठं वलिष्ठं यत् श्येनः। श० ३।३।४।१५॥ ज्ञान करनेवाला आत्मा श्येन है। श्येन=सोम है वही अग्नि होकर इस लोक में विचरता है। इन्द्र के हृदय से जो कान्ति प्रवाहित हुई वह श्येन है वही सब इन्द्रियों का पक्षियों के राजा बाज़ के समान है। वही सब में बलवान् है। वही सब इन्द्रियों में ओजस्वी और बलवान् है। फलतः आत्मा और प्राण श्येन है।

(२) गायत्रश्छन्दः—सा हैषा गायत्री गयांस्तत्रे। प्राणा वै गयाः। तत् प्राणस्तत्रे, तस्माद् गायत्री नाम। श० १४।८।१५।७॥ प्राणो गायत्री प्रजननम्। तां० १६।१४।५।१६॥ अग्निर्वै गायत्री। श० १।८।२।१३॥ ब्रह्म हि गायत्री। तां० ११।११।१९॥ गायत्री ब्रह्मवर्चसम्। तै० २।७।३।३॥ तेजो वै ब्रह्मवर्चसम् गायत्री। ऐ० १।५।२२॥ गायत्र्यो वै भर्गः। गो० पू० ५।१५॥ वीर्यं गायत्री। श० १।३।५।४॥ शिरः गायत्री। प० २।३॥ मुखमेव गायत्री। यौ० ११।२॥ चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। ऐ० ३।३९॥ वसवो गायत्रीं समयरन्। जै०उ० १।६८।१४॥ यद् गायत्री श्येनोभूत्या दिवः सोममाहरत् तेन साश्येवः। श० ३।४।१२॥

गय=प्राण=उनकी रक्षा करनेवाली गायत्री है प्राण और प्रजनन

अर्थात् युवावस्था तक का ब्रह्मचर्यकाल गायत्री है । वही अग्नि है । ब्रह्म है, ब्रह्मवर्चस, तेज, वीर्य, भर्ग शिर, मुख है । इसके २४ अक्षर हैं । २४ वर्ष तक अक्षत वीर्य का पालन करनेवाले वसुगण उस गायत्री का धारण करते हैं। वह गायत्री ही श्येन=ज्ञानवान् होकर द्यौः आचार्य से सोम=ज्ञान-मय ब्रह्म को प्राप्त करता है ।

ऋभुः—ऋभवः उरुभान्तीति वा ऋतेन भान्तीति वा ऋतेन भवन्तीति वा ऋभवः आदित्यरश्मयः उच्यते । निरु० दैवत० अ० ५ । २ । ५ ॥ प्रजापतिर्वै पिता ऋभून्मर्त्यान् सतोऽमर्त्यान् कृत्वा तृतीयसवन आभजत् । ऐ० ६।१२ ॥ ऋभवो वा इन्द्रस्य प्रियं धाम । तां० १४।२५ ॥ अति तेजस्वी, ऋत–ज्ञान से प्रकाशवान्, या ऋत से सामर्थ्यवान् ऋभु कहाते हैं। प्रजापति ने मरणशील ऋभुओं—प्राणों को साधना से अमरकर लिया । तृतीय सवन में विभाग किया । ऋभु इन्द्र के प्रिय तेज हैं ।

जगत् छन्दः—अष्टाचत्वारिंशदक्षरा वै गायत्री । श० ६ । २ । २ । २३ ॥ आदित्याः जगतीं समभरन् । जै० उ० १ । १ । ८ । ६ ॥ जगती आदित्यानां पत्नी । गो० उ० २ । ९ ।

४८ अक्षर का जगती छन्द होता है । ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले विद्वान् आदित्य ब्रह्मचारी जगती का पालन करते हैं । वह ही उनकी शक्ति है ।

त्रिष्टुप्छन्दः—ऐन्द्रं त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम् । गो० उ० ४।४ वीर्यं वै त्रिष्टुप् । ऐ० १ । २१ ॥ आत्मा त्रिष्टुप् । ऐ० ६ । २ । १ ।-२४ ॥ त्रिष्टुप् रुद्राणां पत्नी । गो० उ० २ । ९ ॥ रुद्राः त्रिष्टुभं सम-भरन् । जै० उ० १।१८ । ५ ॥ चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् । कौ० १६।७॥ त्रिष्टुप् छन्द ४४ अक्षरों का है । ४४ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले विद्वान् रुद्र त्रिष्टुप् का पालन करते हैं । वही रुद्रों की शक्ति है । उनका आत्मा इन्द्र उसका देवता है ।



[४९] कालाग्नि का वर्णन ।

अभयकामोऽथर्वा ऋषिः । अश्विनौ देवते । विराड् जगती । २–३ पथ्या पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

नहि ते अग्ने तन्वः क्रूरमानंश मर्त्यः ।
कपिर्बभस्ति तेजनं स्वं जरायु गौरिव ॥ १ ॥

भा०—हे अग्ने ! (ते तन्वः) तेरे अग्निमय शरीर के (क्रूरम्[1]) छेदन भेदन सामर्थ्य को परमाणु, परमाणु अलग करडालनेवाले विशेष सामर्थ्य को (मर्त्यः) यह मरणधर्मा पुरुष (न आनंश) नहीं प्राप्त कर सकता । तू (कपिः)[2] कपि=अति कम्पनवान् होकर (तेजनं) अग्नि या ताप को अपने भीतर (बभस्ति) ऐसे धारण कर लेता है जैसे (गौः) गौ (स्वं जरायुः) अपनी जेर को खा जाती है ।

ग्रीफिथ—"मनुष्य तेरे शरीर में कभी कोई व्रण नहीं पाता । जैसे गाय जेर खा जाती है उसी प्रकार वन्दर सरकण्डा खा जाता है ।" यह अर्थ बड़ा हास्यास्पद, असंगत और अनर्थक है ।

सायण—हे अग्ने तेरे शरीर की तीक्ष्णता को मनुष्य नहीं पा सकता । तू शरीर शोषक होकर या वानर के समान चपल ज्वालावान् होकर (तेजनं) निःसार शव को जेर को–गायके समान जला देता है । अथवा—(कपिः बभस्ति तेजनं) आदित्य तेजन-अग्नि को अपने

---

[४९] १–'विभस्ति' इति सायणसम्मतः । (द्वि०) 'मर्त्ये' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'तनुवे क्रूरंचकार' । (च०) 'पुनर्जन्म' इति तै० आ० ।

१. कृतेश्छः क्रू च । उणादि० पा० २ । २१ ॥ कर्त्तनसामर्थ्यं छेदनसामर्थ्यम् ।

२. कम्पतेः सार्वधातुक इन् उणादिः ४।१४।४ यद्वा कम् उदकं शरीरं गतं रसं पिबति इति कपिः । सायणः ॥

भीतर कर लेता है । अथवा—हे अग्ने ! परमात्मन् ! तेरे क्रूर=छेदन भेदन सामर्थ्य को मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता । तू (कविः) सब को कंपाने वाला होकर (तेजनम्)[3] पाप को ऐसे खा जाता है। जला देता है, विनाश कर देता है जैसे गौ जरायु को ।

अथवा—(स्वं जरायु गौरिव) अपनी जीर्ण त्वचा या आवरण को जिस प्रकार सूर्य वार २ लील जाता है उसी प्रकार (कपिः) क=प्रजापति-हिरण्यगर्भ का पालक वह परमात्मा समस्त (तेजनं) ब्रह्माण्ड को (बभस्ति)[1] अपने प्रलयकाल में लील जाता है। इसलिये (मर्त्यः अग्नेः तन्वः क्रूरम् न आनंश) यह मनुष्य उस कालाग्नि परमेश्वर के छेदनभेदन सामर्थ्य तक नहीं पहुँच सकता ।

जरायुः शणाः । श० ६।६।२।१५ ॥ यत्र वा प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वा एतस्मात् यज्ञात् तस्य यन्नेदिष्ठमुल्बमासीत् ते शणाः ॥ जिसमें प्रजापति हिरण्यगर्भ रूप में उस यज्ञरूप परमात्मा से उत्पन्न हुआ वह ऊपर का गर्भावरण=उल्व शणा या जरायु नाम से कहा जाता है ।

मेष इव वै सं च वि चोर्व॑च्यसे यदुत्तरद्रावुपरश्च खादतः ।
शीर्ष्णा शिरोप्ससाप्सो अर्दयन्नंशून् बभस्ति हारितोभिरासभिः ॥२॥

भा०—प्रलयकाल की वह अग्नि किस प्रकार ब्रह्माण्ड को खा जाती

---

३. पाप्मा वै तेजनी । तै० ३ । ८ । १६ । २ ॥

१. बभस्तिरत्तिकर्मा इति यास्कः । निरु० ५ । १२ ॥

२—(प्र०)'त्वेषी वर्सि च इतरोर्वर्णयते' इति पैप्प०सं०। 'यदप्सरद्रूपरस्य खादति' इति का० । 'अप्सर रूपस्य' इति आप० । (तृ०) वत्सावत्त एजयन् इति आप० 'गिरौप्स' (च०) 'अशुम्' इति का० । 'गभस्ति' इति आप० । 'चोर्वच्यस यदुत्तरद्रावपरश्च' इति सायणसम्मतः पाठः ।

उसको स्पष्ट करते हैं । हे अग्ने ! प्रलयकालाग्ने ! परमात्मन् ! तू (मेष इव) मेष=सूर्य के समान (उरु) इस विशाल ब्रह्माण्ड में (सं अच्यसे च वि अच्यसे च) संकुचित होता और विशेष या विविध रूप से फैल जाता है । जिस प्रकार (खादतः) खाते हुए पुरुष के (उत्तरद्रौ) ऊपर के जवाड़े में (उपरः=उपलः) नीचला जवाड़ा लग कर दोनों भोजन को चबाते हैं उसी प्रकार तुम भी इस द्यौ और पृथिवी दोनों पाटों के बीच में समस्त संसार को पीस कर खा जाते हो । और इस ब्रह्माण्ड के (शिरः) ऊपर के भाग को अपने (शीर्ष्णा) ऊपर के भाग से और (अप्ससा अप्सु) अपने समस्त व्यक्ति रूप सामर्थ्य से इस रूपवान् जगत् को (अर्दयन्) पीड़ित करता हुआ—पीसता हुआ (हरितेभिः आसभिः) अपने हरणशील संहारकारी तीव्र प्रलयकारी मुखों=विक्षेपकारी शक्तियों से (अंशून्) इन समस्त लोकों को (बभस्ति) खा जाता है लील जाता है ।

सायण ने यह मन्त्र शव को भस्म करनेवाले अग्नि के वर्णन में लगाया है । वास्तव में अग्नि का शव को भस्म करना, कालाग्नि के ब्रह्माण्ड को भस्म करने में दृष्टान्त रूप हो सकता है ।

सौर मण्डल के खण्डप्रलय के समान ही महाप्रलय की कल्पना विद्वान् वैज्ञानिकों ने मानी है । अर्थात् उस समय सूर्य की ज्वालाएं बुझते दीपक के समान कभी बड़ी दूर तक फैलेंगी कभी बुझेंगी और फिर फैलेंगी । वे ज्वालाएं दूर पास के सब ग्रहों को भस्म करेंगी । वेद में उन ज्वालाओं को 'हरित आस' नाम से पुकारा है । यही प्रलय या अप्यय की रीति अध्यात्मक्षेत्र में आत्मा और उसके मन प्राण इन्द्रियों में होती हैं । वहां भी मेष=आत्मा । उतरद्रा, उपर=प्राण, अपान । अंशु= इन्द्रियगण, हरित-आस=सूक्ष्मप्राण हैं ।

सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः ।
नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्रितः ॥३॥

ऋ० १० । ९४ । ५ ॥

भा०— हे[1] अग्ने ! कालाग्ने ! (सुपर्णाः) सूर्य की ऊपर उठनेवाली वे ज्वालाएं ही (वाचम् अक्रत) यह वाणी उपदेश करती हैं, इस बात की सूचना देती हैं कि (आखरे) उनके आवासस्थान सूर्य में (कृष्णाः) कृष्ण=समस्त अपने ग्रह उपग्रहों को खैंचने में समर्थ और (इषिराः) गतिमान चिह्न धब्बे (अनर्त्तिषुः) तभी नाचते हैं । (यत्) जब (उपरस्य) ऊपर आये हुए मेघावरण की (निष्कृतिं) रचना को वे सुपर्ण शीघ्रगामी पतनशील वेग (नि नियन्ति) सर्वथा तोड़ डालती हैं, तब ही वे ज्वालाएं ही (सूर्य-श्रितः) सूर्य में आश्रय लेती हुई ही (पुरु रेतः दधिरे) बड़ा भारी तेज वीर्य प्रचण्ड ताप उत्पन्न करती हैं । इस मन्त्र के ढाशय को समझने के लिये सूर्यमण्डल में उठनेवाले ज्वालोद्रेक—(Perterbations या Prominences) ज्वाला पटलों की, और सूर्य में दिखाई पड़नेवाले काले धब्बों की वैज्ञानिक तत्वमीमांसा का स्वाध्याय करना चाहिए । देखो एन्साईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Art. Sun)



[५०] अन्नरक्षा के लिये हानिकारक जन्तुओं का नाश ।

अभयकामोऽथर्वा ऋषिः । अश्विनौ देवते । १ विराड् जगती । २-३ पथ्या पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

३-(तृ०) 'न्यान्नियन्ति', 'निष्कृतम्', 'सूर्यश्वितः' इति ऋ० ।

१-ऋग्वेदे अर्बुदः काद्रवेयः सर्प ऋषिः । प्राणो देवता ।

हतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम् ।
यवान्नेददानपि नह्यतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्याय ॥ १ ॥

भा०—हे (अश्विना) अश्विगणो ! धान्य के उत्पादक और रक्षक स्त्री पुरुषो ! (तर्दं) हिंसक जन्तु (समङ्कम्) बिल में छिपने वाले मूसाजाति (आखुम्) और भूमि को खन कर रहनेवाले अन्न नाशक जन्तु को (हतं) मारो, (शिरः) उनके शिर को (छिन्तं) मार कर टुकड़े २ कर डालो जिससे उनका प्राण नष्ट हो जाय और वह जीता न रह जाय बल्कि उनकी (पृष्टीः) पीठ की पसुलियां (अपि) भी (शृणीतम्) तोड़ डालो। और हो सके तो (मुखम् अपि नह्यतम्) उसके मुख भी बांधो दो जिससे (यवान्) वे यवों को (न इत्) नहीं (अदान्) खा सकें। इस प्रकार (धान्याय) धान्य के लिये (अभयं कृणुत) अभय कर दो।

तर्द है पतङ्ग है जभ्य हा उपक्वस ।
ब्रह्मेवासंस्थितं हविरनदन्त इमान् यवानहिंसन्तो अपोदित ॥२॥

भा०—(है तर्द) हे हिंसक जन्तो ! (है पतंग) हे टिड्डीदल ! हे (है जभ्य) हिंसा योग्य या विनाश करने योग्य और (है उपक्वस) हे टिड्डे आदि कीटो (ब्रह्मा इव) जिस प्रकार ब्रह्मा (असंस्थितम् हविः) असमाप्त या असंस्कृत हवि को नहीं लेता उसी प्रकार तुम लोग भी (असंस्थितं हविः) असंस्थित, अपरिपक्व, अधकची, अरक्षित अन्न को (अनदन्तः) न खाते हुए और (इमान् यवान्) इन जौ धान्यों को (अहिंसन्तः) हानि न पहुँचाते हुए (अप उदित) परे चले जाओ। धान्यरक्षक लोग उक्त कृपि-

[५०] १–'युवान्नेद ददादपि' इति सायणसम्मतः पाठः।

२–अपक्वसः (च०) 'अनुदन्तः' इति सायणसम्मतः। तर्दहेम पतङ्गहेम् अभ्या उपक्वसः अनदन्त इद धान्य हिंसन्तोपदित [?]

नाशक जन्तुओं से खेती को बचावें और ऐसा प्रबन्ध करें कि वे उनको हानि न पहुँचा सकें ।

तर्दापते वघापते तृष्टजम्भा आ शृणोत मे ।
य आरण्या व्यद्धरा ये के च स्थ व्यद्धरा-
स्तान्त्सर्वान् जम्भयामसि ॥ ३ ॥

भा०—हे (तर्दापते) हिंसकों के स्वामी ! हे (वघापते) कृषि नाशक जन्तुओं के मुख्य पति ! हे (तृष्टजम्भाः) तीक्ष्ण दाँतों वाले जन्तुओ ! (मे आ शृणोत) मेरा वचन सुनो । (ये आरण्याः) जो जंगली (व्यद्धराः) खास तौर पर खेती को खा जानेवाले, बड़े जानवर और (ये के च) जो कोई भी (व्यद्धराः स्थ) मेरी खेती को खानेवाले जन्तु, जैसे और जहां भी हों (तान् सर्वान्) उन सबों को (जम्भयामसि) हम विनाश कर डालें ।



[५१] पवित्र होकर उन्नत होने की प्रार्थना ।

शतातिर्ऋषिः । आपो देवताः । ३ वरुणः । १ गायत्री । २ त्रिष्टुप् जगती । तृचं सूक्तम् ॥

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १ ॥ यजु० १९ । ३ प्र० द्वि० ॥

भा०—(प्रत्यङ्) भीतरी शुद्ध आत्मा (सोमः) सोम, जीव

३–(च०) व्यद्धराः, व्यध्वरा, व्यद्धराः इति नाना पाठाः ।

[५१] १–(द्वि०) 'अतिद्रुतः' इति क्वचित् । 'अधिश्रुतः' इति पैप्प० सं० । 'अतिसुतः' इति यजु० । (प्र०) 'प्राङ्', 'प्रत्यङ्' इति च तै० ब्रा० ।

(वायोः) सर्वव्यापक, सर्वप्रेरक प्रभु के (पवित्रेण) परम पावन स्वरूप के ध्यान से (पूतः) पवित्र होकर (अति-द्रुतः) संसार के दुःखों को अतिक्रमण करके शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। वही तव (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील प्रभु का (युज्यः) योग समाधि में मिलनेवाला (सखा) उसका परम मित्र बन जाता है। कश्चिद् धीरः प्रत्यग् आत्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्। इति। क० उप० ४। १॥

आपो॑ अ॒स्मान् मा॒तरः॑ सूदयन्तु घृ॒तेन॑ नो घृत॒प्व॑ः पुनन्तु।
विश्वं॒ हि रि॒प्रं प्र॒वह॑न्ति दे॒वीरुदि॑दा॑भ्यः॒ शुचि॒रा पू॒त ए॑मि ॥२॥

.(प्र० द्वि०) यजु० ४। २॥ इत्यस्याः पूर्वार्धः। ऋ० १०। १७। १०॥

भा०—(अस्मान्) हम को (मातरः) समस्त विश्वका निर्माण करनेवाली (आपः) आप्त शक्तियां (सूदयन्तु) प्रेरित करें, सदा समर्थ बनावें। और (घृतप्वः) तेज से पवित्र करनेवाले तेजोमय सूर्य आदि पदार्थ (घृतेन) अपने घृत=प्रकाश से (नः) हमें सदा (पुनन्तु) पवित्र करें, हमारे शरीर मन और वाणी के मलों को शोधन करें। क्योंकि (देवीः) दिव्य शक्तियां ही (विश्वं) समस्त (रिप्रं) मल और पाप भाव को (प्रवहन्ति) नदियों के समान दूर बहा ले जाती हैं और धो डालती हैं। (आभ्यः इत्) इनमें स्नान करते ही मैं (शुचिः) शुद्ध पवित्र होकर (उत्) ऊर्ध्व गति को प्राप्त होकर सात्विक भाव में (आ-पूतः) सर्वथा पवित्र होकर (एमि) उस प्रभु को प्राप्त होऊँ।

यत् किं चे॒दं व॑रुण॒ दैव्ये॒ जने॑ऽभिद्रो॒हं म॑नु॒ष्या॒३॑श्चर॑न्ति।
अचि॑त्त्या॒ चेत् तव॒ धर्मा॑ युयोपि॒म मा न॒स्तस्मा॒देन॑सो देव
रीरिषः ॥ ३ ॥ ऋ० ७। ८९। ५॥

२—'मातरः शुचयन्त' इति पाठभेदः यजु०; ऋ०। (च०) 'पूतयेमि' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (वरुण) राजन् ! हे प्रभो ! (दैव्ये) दिव्य गुणों से युक्त विद्वान् (जने) पुरुष के प्रति (मनुष्याः) मनुष्य लोग (इदं यत् किं च) यह जो कुछ भी (अभिद्रोहं) अभिद्रोह, अनुचित विरोध (चरन्ति) कर बैठते हैं और यदि (अचित्या) विना जाने (तव धर्मा) तेरे बनाये नियमों को हम लोग (युयोपिम चेत्) न पालन करें तो भी हे देव ! (नः) हमें (तस्माद् एनसः) उस अपराध के कारण (मा रीरिषः) कष्ट न दे । इसी मन्त्र के आधार पर अज्ञान में किये गये बड़े बड़े अपराध भी कानूनन दण्ड न देकर क्षमा योग्य होते हैं । ईश्वर भी अज्ञान में किये कार्यों को अपराध नहीं गिनता । इसीसे भोगयोनि में किये हिंसादि कर्म भावी में नया प्रारब्ध नहीं पैदा करते ।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि दश, ऋचश्च त्रिंशत्]



[५२] तमोविजय और ऊर्ध्वगति ।

भागलिर्ऋषिः । मन्त्रोक्ता बहवो देवताः । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन् ।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ १ ॥
ऋ० १ । १९१ । ९ ॥

३–'मनुष्याश्चरामसि' 'अचित्यात् तव' इति ऋ० ॥

[५२]–१,२ एतयोर्ऋग्वेदे अगस्त्य ऋषिः । अबोषधिसूर्या देवता ।

१–'उदपप्तदसौ सूर्यः पुरुविश्वा निजूर्वन् । 'आदित्यः पर्वतेभ्यो' इति ऋ० । (द्वि०) 'निजूर्वन्' इति बहुत्र । 'विश्वानि जूर्वन्', (तृ०) 'आदित्यः पर्वतानधि' इति पैप्प० सं० ।

भा०—जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (दिवः) द्यौलोक, विशाल आकाश में (पुरः रक्षांसि निजूर्वन्) अपने आगे आये सब विघ्नकारी अन्धकारों और मेघों का नाश करता हुआ (उद् एति) उदित होता है उसी प्रकार यह जीव (सूर्यः) सब इन्द्रियों और शरीर का प्रेरक, विज्ञानवान् होकर (पुरः रक्षांसि निजूर्वन्) अपने आगे आये समस्त विघ्नकर तामस भावों, राक्षसी विचार, काम क्रोध आदि उन आचरणों को जो उसे आगे नहीं बढ़ने देते उसको जीर्ण शीर्ण, छिन्न-भिन्न करता हुआ (दिवः उत् एति) उस तेजोमय ब्रह्म के प्रति उत्तम पद को चला जाता है। और वही (आदित्यः) सब प्राण शक्तियों को अपने भीतर लेने वाला, वशी, जितेन्द्रिय, ज्ञानी, सूर्य के समान (अदृष्ट-हा) उस अ-प्रत्यक्ष परलोक में भी गति करनेवाला होकर (विश्व-दृष्टः) विश्व=सर्वव्यापक प्रभु के दया दृष्टि से देखा जाकर (पर्वतेभ्यः) आवरणकारी मेघों के समान आवरणों से भी (उत् एति) ऊपर चला जाता है।

सूर्यपक्ष में—(विश्व-दृष्टः अदृष्टहा सूर्यः पर्वतेभ्यः उद् एति) समस्त प्राणियों के प्रत्यक्ष सूर्य अदृष्ट कष्टों का विनाशक होकर मेघों या पर्वतों के पीछे से उदय होता है।

नि गावो॑ गो॒ष्ठे अ॑सद॒न् नि मृ॒गासो॑ अविक्षत ।
न्यू॑३॒र्मयो॑ न॒दीनां॒ न्य१॒दृष्टा॑ अलिप्सत ॥ २ ॥

भा०—जब योगी का आत्मा आदित्य के समान समस्त तामस आवरणों से ऊपर उठ जाता है तब (गावः) जिस प्रकार शान्त मध्यान्ह में गौएँ विश्राम के लिये (गोष्ठे) गोशाला में (नि-असदन्) आ जाती हैं और विश्राम लेती हैं उसी प्रकार ये प्राण भी उस अपने आश्रयभूत गोष्ठ—आत्मा में ही विश्राम करते हैं। वे बाहर विषयतृष्णा में

२–(तृ०) 'निकेतयोजनानां' इति ऋ० ।

नहीं भागती। और (मृगासः) विषयों को खोजनेवाली इन्द्रियें (नि-अविक्षत) सर्वथा भीतर ही निलीन हो जाती हैं। किस तरह से? जैसे (नदीनां) वायुओं के शान्त हो जाने पर या वेग के शान्त हो जाने पर नदियों की (ऊर्मयः) विशाल तरंगें भी (निः) उसी में लीन हो जाती हैं उसी प्रकार ये प्राणेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियें भी (नि-अदृष्टाः) सर्वथा प्रत्यक्ष न होकर तन्मय, तल्लीन होकर (नि अलिप्सत) उसी आत्मा को प्राप्त करने या खोजने में लग जाती हैं।

आयुर्ददं विपश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम्।
आभारिषं विश्वभेषजीमस्या दृष्टान् नि शमयत् ॥ ३ ॥

भा०—मैं (विश्वभेषजीम्) समस्त कष्टों का निवारण करनेवाली, (आयुर्ददं) दीर्घ जीवन को देनेवाली, (विपश्चितम्) ज्ञानमयी (श्रुतां) प्रसिद्ध या गुरुमुख से उपदेश द्वारा श्रुतिवचनों से श्रवण की गई (कण्वस्य) मेधावी पुरुष की उस (वीरुधम्) आत्मज्ञान रूप वल्ली को (आ-भारिषं) प्राप्त करूं। वह (अस्य) इस जीव के (अदृष्टान्) अदृष्ट धर्म और अधर्म से उत्पन्न भव-बन्धनों को (नि शमयत्) सर्वथा शान्त करे।



[५३] रक्षा की प्रार्थना।

बृहच्छुक्र ऋषिः। नाना देवताः। २—३ त्रिष्टुभौ। १ जगती। तृचं सूक्तम् ॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन् दक्षिणया पिपर्तु।
अनु स्वधा चिकितां सोमो अग्निर्वायुर्नः पातु सविता भगश्च ॥ १ ॥

३—(प्र०) 'आयुर्विदं' (तृ०) 'अहार्ष' इति पैप्प० सं०।

[५३] १—(प्र०) 'मा इदं' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'त्वां पिपर्तु' (प्र०) 'त्वां इदं' इति तै० प्रा०।

भा०—(द्यौः) द्यौ और (पृथिवी च) (प्र-चेतसौ) उत्कृष्ट ज्ञानवान् होकर (मे) मेरे लिये (इदम्) इस उत्तम फल को प्राप्त करावें या इस देह की रक्षा करें। (बृहन् शुक्रः) वह महान् प्रकाशमान प्रभु (दक्षिणया) अपनी ज्ञान और कर्म शक्ति से हमें (पिपर्तु) पालित पोषित करे। (स्वधा) यह स्वयं अपने को धारण करनेवाली चितिशक्ति (अनुचिकिताम्) उस प्रभु के दिये ज्ञान के अनुसार ही सत्य ज्ञान को प्राप्त करे। और (नः) हमें (सोमः) सोम (अग्निः) अग्नि और (सविता) सविता प्रेरक, (भगः च) और ऐश्वर्यवान् परमात्मा (पातु) सदा पालन करता रहे।

द्यौः-पृथिवी=उत्तरारणि और अधरारणि या सूर्य पृथिवी के समान ऊपर नीचे की दोनों शक्तियाँ प्राण, अपान।

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥२॥

भा०—(नः) हमारा (प्राणः) प्राण (पुनः) फिर भी (एतु) प्राप्त हो जाता है (आत्मा पुनः एतु) हमारा (आत्मा) जीव हमें (पुनः एतु) पुनः भी प्राप्त हो जाता है। (चक्षुः पुनः) यह आँख और उसके सहयोगी अन्य इन्द्रिय भी फिर २ प्राप्त हो जाती हैं। (नः पुनः एतु) यह प्राण भी हमें पुनः प्राप्त हो जाता है। क्यों ? क्योंकि (नः) हमारा (वैश्वानरः) समस्त नेता प्राणों का स्वामी वैश्वानर, आत्मा (अदब्धः) कभी भी नहीं मरता। प्रत्युत वही (तनूपाः) समस्त शरीर की रक्षा करता है और (विश्वा दुरितानि) समस्त पाप कर्मों को जानता हुआ भी निराश न होकर (अन्तः तिष्ठाति) भीतर धैर्यवान् हो कर विराजता है।

२—'पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्' इति पैप्प० सं०।

जीवस्य चेन्धनाग्नेश्च सदा नाशो न विद्यते ।
समिधामुपयोगान्ते सन्नेवाग्निर्न दृश्यते ॥
प्राणान् धारयते योग्निः स जीव उपधार्यताम् ।
न जीवनाशोऽस्ति हि देहमध्ये मिथ्यैतदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः ॥
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ॥२७॥

(महाभारते, शान्ति० अ० १८५)

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन ।
त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वो३ यद् विरिष्टम् ॥३॥

यजु० २ । २४ ॥

भा०—हम लोग (वर्चसा) तेज और ब्रह्मवर्चस से, (पयसा) उत्तम पुष्टिकारक बल से, (तनूभिः) उत्तम शरीरों से और (शिवेन) शुभ (मनसा) मन से (सं, सं, सं अगन्महि) भली प्रकार युक्त रहें। (त्वष्टा) सर्वोत्पादक प्रभु (अत्र) इस लोक में (नः) हमें (वरीयः) सब से उत्तम, वरण करने योग्य धन, ज्ञान, यश (कृणोतु) प्राप्त करावे और (यत्) जो (न तन्वः) हमारे शरीर का (विरिष्टम्) विशेष प्रकार से पीड़ित भाग हो उसको (अनु मार्ष्टु) स्वयं अनुमार्जन करे, अनुकूलता से रोग रहित करे। अर्थात् प्रथम हम अपने अंगों को साफ़ रखें और तब ईश्वर भी हमारे शरीरों को रोग से मुक्त रखे।



३–(न० च०) 'त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्' इति यजुः० । 'त्वष्टा सुदत्रा वरिवः कृ'—इति पैप्प० सं० ।

[५४] राजा की नियुक्ति और कर्त्तव्य ।

ब्रह्मा ऋषिः । अग्नीषोमौ देवते । अनुष्टुभः । तृच सूक्तम् ॥

इदं तद् युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये ।
अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम् ॥ १ ॥

भा०—(वृष्टिः तृणम् इव) जिस प्रकार वर्षा तृण=घास को बढ़ाती है उसी प्रकार हे इन्द्र ! राजन् ! (अस्य) इस राष्ट्र के (क्षत्रम्) क्षात्र-बल को और (महीम्) बड़ी भारी (श्रियं) श्री, लक्ष्मी को बढ़ा। (इदम्) इसी प्रयोजन से (तत्) उस उत्तम पद पर (उत्तरम्) अन्य मनुष्यसमाज से उत्कृष्ट (इन्द्रम्) इन्द्र, राजा को (युजे) राज्यकार्य में नियुक्त करता हूँ और (अष्टये) उत्तम फलों को प्राप्त करने और उत्तम रूप से राष्ट्र पर वश करने के लिये (इन्द्रम्) राजा को (शुम्भामि) अलंकृत करता हूँ।

अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम् ।
इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुत युज उत्तरम् ॥ २ ॥

भा०—हे (अग्नि-सोमौ) अग्नि-सेनापति, और सोम=पुरोहित ब्राह्मण गण (अस्मै) इसी राजा के उपयोग के लिये (रयिम्) अपने ज्ञान और बल को (धारयतम्) धारण करो और (इमम्) इस राजा को (राष्ट्रस्य अभीवर्गे) राष्ट्र की रक्षा के कार्य में (कृणुतम्) समर्थ करो और इसी प्रयोजन के लिए मैं राष्ट्र का पुरोहित उसको (उत्तरम्) अन्यों से उत्कृष्ट जान कर (युजे) इस पद पर नियुक्त करता हूँ।

---

[५४] १–(प्र०) 'इद तम्' इति ह्विटनिकामितः । 'युज' इति पैप्प० सं० ।
२–(प्र०) 'यस्य क्षत्र'–(द्वि०) 'वर्धयन्' (तृ०) 'अहो राष्ट्र' इति पैप्प० सं० ।

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

प्र० द्वि० अथर्व० १५ । २ ॥ प्र० द्वि०, ६ तृ० च० ॥

भा०—हे पुरोहित ! (सबन्धुः च असबन्धुः च) चाहे सगोत्री या कोई असगोत्री (यः अस्मान् अभि-दासति) जो हमको विनाश करना चाहता है तू (मे सुन्वते) मेरे राष्ट्र का संचालन करते हुए (यजमानाय) सबको सुव्यवस्थित करनेवाले राजा के लिये (तं सर्वम्) उस सब को (रन्धयासि) वश कर । इसी प्रकार पुरोहित राजा के प्रति भी ऐसा ही कहे ।



[५५] उत्तम मार्गों से जाने और सुखसे जीवन व्यतीत करने का उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । १ विश्वेदेवा देवताः, २, ३ रुद्रः । २ त्रिष्टुप् । १, ३ जगत्यौ ।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे ॥१॥

प्र० द्वि० अथर्व० ३ । १५ । २ प्र० द्वि० ॥

भा०—(ये) जो (देवयानाः) विद्वानों के जाने योग्य (बहवः) बहुत से (पन्थानः) ज्ञानमार्ग (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, ज्ञान और कर्म, परलोक और इहलोक, ब्रह्म और प्रकृति और राजा प्रजा के

[५५] १–(प्र०) 'ये चत्वारः पथयो' (द्वि०) 'वियन्ति' (तृ०) 'तेषां-प्रज्यानिमाजितिमावहात्' (च०) 'नो देवाः परिदत्तेह' इति तै० सं० । 'दत्तेह' इति सायणः ।

(अन्तरा) बीच में (सं-चरन्ति) चल रहे हैं (तेषां) उनमें से (यतमः) जो भी (अज्यानिं) हानिरहित समृद्धि, आत्म रक्षाको (वहाति) प्राप्त कराता है (तस्मै) उस मार्ग के लिये (सर्वे देवाः) सब विद्वान् लोग (मा) मुझे (इह) संसार में (परि धत्त) पुष्ट करें, बल दें, उस उत्तम मार्ग में चलने को कटिबद्ध करें।

ब्रह्मज्ञान का मार्ग सबसे उत्तम है। "इहचेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदवेदीन्महती विनष्टिः।" इसी शरीर में रह कर आत्मज्ञान कर लिया तो ठीक, नहीं तो बड़ा भारी विनाश हो जाता है। क० प०।

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद् वः शरणे स्याम ॥ २ ॥

भा०—काल पर विचार करके उससे उपस्थित वि-पत्तियों से बच कर सुखपूर्वक जीवन निर्वाह करने का उपदेश करते हैं। (ग्रीष्मः हेमन्तः शिशिरः वसन्तः शरद् वर्षाः) ग्रीष्म, हेमन्त, शिशिर, वसन्त और वर्षाकाल ये छः ऋतु हैं। हे छहों ऋतुओ ! आप (नः) हमें (स्विते) सुख से गुजरनेवाले जीवन में ही (दधातु) रखो। कभी कष्ट में न डालो। (नः) और हमारे (गोषु) गवादि पशुओं और (प्रजायां) प्रजा-पुत्र आदि में भी (आ भजत) सुख का वितरण करो। हम सदा (वः निवाते) प्रबल वायु के झंकोरों या उपद्रवों से रहित (शरणे) छहों ऋतुओं के अनुकूल घर में (स्याम) रहें, निवास करें।

२—'हेमन्त उत नो वसन्तः'। (द्वि०) 'सुवितं नो अस्तु'। (तृ० च०) 'तेषां ऋतूनां शतशारदानां निवात एषामभये स्याम'। इति तै० स०। (द्वि०) 'शिवा वर्षा अभया चरन् नः'। (च०) 'शरणे वसेम' इति पा० गृ० सू०।

इ॒दा॒व॒त्स॒राय॑ परिवत्स॒राय॑ संवत्स॒राय॑ कृणुता बृ॒हन्नमः॑ ।
तेषां॑ व॒यं सु॑म॒तौ य॒ज्ञियां॑ना॒मपि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म ॥ ३ ॥

(तृ० च०) ऋ० ३ । १ । १२ तृ० च० ॥

भा०—(इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय) इदावत्सर, परिवत्सर और संवत्सर के लिये (बृहत् नमः कृणुत) बहुत, प्रचुर अन्न उत्पन्न करो । (तेषां) उन (यज्ञियानां) यज्ञ करने वाले पुरुषों की (सु-मतौ) शुभ कल्याणकारिणी बुद्धि में और (सौमनसे) उत्तम मनः संकल्प से उत्पन्न होनेवाले (भद्रे अपि) कल्याण सुख में (स्याम) सदा रहें ।

प्रभव से आदि लेकर प्रत्येक पंचयुगों के, वर्षों में क्रम से संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर ये पांच संज्ञाएं होती हैं । अथवा—अग्निर्वा संवत्सरः । आदित्यः परिवत्सरः । चन्द्रमा इद्वत्सरः । वायुरनुवत्सरः । तै० ब्रा० १ । ४ । १० । १ ॥ अग्नि, आदित्य और चन्द्रमा इनके लिये हम नमः करते हैं अर्थात् सदा ध्यान रखते हैं । जिससे ठीक ठीक काल का ज्ञान हो और ठीक ठीक समय पर उचित यज्ञों का विधान कर सकें । और विद्वानों की शुभ मति और उत्तम कल्याणकारी सुख में हम सदा रहें ।



[५६] सर्प का दमन और सर्पविष-चिकित्सा ।

शंतातिर्ऋषिः । १ विश्वेदेवाः २, ३ रुद्रो देवता । १३ उष्णिग्-गर्भा २ अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

मा नो॑ देवा अहि॑र्वधीत् सतो॑कान्त्स॒हपू॑रुषान् ।
संय॑तं॒ न वि ष्प॑रद् व्यात्तं॒ न सं य॑म॒न्नमो॑ देवज॒नेभ्यः॑ ॥ १ ॥

३–(प्र०) 'इद्वत्सराय' । (च०) ज्योगजीता अहताः स्याम' इति तै० सं० ।

१–(द्वि०) 'सहपारुषान्' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'विस्फुरन्' इति सायणाभिमतः ।

भा०—हे (देवाः) विष को दूर करनेवाले विद्वान् लोगों ! (अहिः) सांप (स-तोकान्) हमारी सन्तानों और (सह-पूरुषान्) अपने पुरुषों सहित (नः) हमें (मा वधीत्) न मारे, हमें न काटे या हमारी मृत्यु का कारण न हों । (देव-जनेभ्यः नमः) देवजन—विषवैद्य या सर्प विष के निकालनेवाले चतुर पुरुषों के इस शिल्प का बड़ा आदर करते हैं कि जब वे सांप का मुख (संयतं) बन्द करते हैं तब (न विष्परत्) वह उसे खोल नहीं सकता और यदि (व्यात्तं) सांपने मुंह खोल लिया तो फिर वह (न सं-यमत्) बन्द नहीं कर सकता ।

नमोस्त्वसिताय नमस्तिरश्चिराजये ।
स्वजाय बभ्रवे नमो नमो देवजनेभ्यः ॥ २ ॥

भा०—(असिताय नमः) असित—कालेनाग का भी वश करने का उपाय है। (तिरश्चि-राजये नमः) पीठ पर तिरछी धारियोंवाले सर्प का भी वश करने का उपाय है । (स्वजाय बभ्रवे नमः) स्वज=शरीर से लिपट जानेवाले या स्वयं ही माता के पेट से जीवित शिशु के रूप में निकलने वाले सर्प का भी वश करने का उपाय है । इन विशेष हुनरों के लिये (देवजनेभ्यः नमः) ऐसे उन सर्पों के वशोपाय जानने हारे विद्वानों का हम स्वयं आदर करें ।

सं ते हन्मि दता दतः समु ते हन्वा हनू ।
सं ते जिह्वया जिह्वां सम्वास्नाह आस्यम् ॥ ३ ॥

भा०—सांप को पकड़ने का उपाय बतलाते हैं । हे सर्प ! (ते दता दतः सं हन्मि) तेरे ऊपर के दांतों को नीचे के दांतों से सटा दूं । और

२–'नमोऽहये' इति पैप्प० सं० ।
३–'सं ते ददामि दद्भिर्दतः', (द्वि०) 'सं ते' इति पैप्प० सं० ।

(ते हन्वा हनू सम्) तेरे ढोड़ी को ढोड़ी से सटा दूं। (जिह्वया ते जिह्वाम् सम्) तेरी जीभ से जीभ को सटा दूं, इस प्रकार की रीति से मैं (आस्ना) मुख से (आस्यम्) सांप के मुख को (सम् हन्मि) अच्छी प्रकार भींचूं और इस प्रकार सर्प को वश कर लेता हूं।



[५७] व्रणचिकित्सा।

शंशति ऋषिः। १-२ रुद्रो देवता। १,२ अनुष्टुभौ। ३ पथ्या बृहती। तृचं सूक्तम्॥

इदमिद् वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम्।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत्॥ १॥

भा०—(इदम् इत्) यह ही (वा उ) निश्चय से वह (भेषजम्) ओषधि है, (इदम्) यह (रुद्रस्य भेषजम्) रुद्र=वैद्य की उपदेश की हुई औषध है (येन) जिससे (एक-तेजनम् इषुम्) एक काण्डवाले और (शत-शल्याम्) सैकड़ों फलेवाले (इषुम्) बाण को भी (अप ब्रवत्) बाहर खैंच लिया जाता है।

अध्यात्म में रुद्र=परमात्मा का उपदिष्ट ब्रह्मज्ञान ही इस भव रोग की एकमात्र औषध है जिससे एकतेजना—एक काण्डवाले और शतशल्य तीर को दूर किया जा सकता है। यह देह या जीवन ही एक काण्डवाला बाण है। जिसमें सैकड़ों व्याधियां ही शतशल्य हैं अथवा जीवन के सौ वर्ष ही शतशल्य हैं। उस जन्म या भवरोग की ओषधि भगवान् का उपदिष्ट ब्रह्मज्ञान ही ओषधि है।

---

[५७] १-(च०) 'उपब्रवत्' इति सायणाभिमतः।

जालापेणाभि षिञ्चत जालापेणोप सिञ्चत ।
जालापमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥ २ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (जालापेण) जल से (अभि सिञ्चत) स्नान कराओ (जालापेण उपसिञ्चत) जल से ही व्रण आदि को धोओ । (जलाषम्) जल ही (उग्र-भेषजम्) तीव्र रोगनाशक पदार्थ है । हे परमात्मन् ! (तेन) उस जल के द्वारा ही (जीवसे) सुखमय जीवन के लिये (नः) हमें (मृड) सुखी कर । अध्यात्म में—'ज-लाष' प्राणियों का एकमात्र अभिलाषा का विषय=परम ब्रह्मसुख ।

शं च नो मयश्च नो मा च नः किं चनाममत् ।
क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम् ॥३॥

ऋ० १० । ५९ । ८ । प० च० (एपं० पं०) १० पं० पं० ॥

भा०—(नः शं च) हमें शान्ति प्राप्त हो और (मयः च) सुख प्राप्त हो । (नः) हमारा (किं चन) कोई भी अंग (मा आममत्) रोग पीड़ित न हो । (रपः) पाप और पाप का फल दुःख, सब को हम (क्षमा) सहन करने और उसको वश करने में समर्थ हों । (नः) हमारे (विश्वम्) समस्त पदार्थ (भेषजम् अस्तु) दुःखनिवारक हों । (सर्वं नः भेषजम् अस्तु) हमारे सब पदार्थ रोगनाशक हों । अथवा विश्वं=विश्वमय और (सर्वं) सर्वमय (शर्वं) परमात्मा सब भव रोगों को शान्त करे ।



२–(तृ० च०) 'जालाशे भद्रं भेषजं तस्यो नो धेहि जीवसे' इति पैप्प० सं० ।

३–(द्वि०) 'मो षु ते' । द्यौः पृथिवी क्षमा रपा' इति ऋ० ।

[५८] यश की प्रार्थना ।

यशस्कामोऽथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवता बृहस्पतिश्च । १ जगती । २ प्रस्तार-पंक्तिः । ३ अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम् ॥१॥

भा०—(इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान्, परमेश्वर (मघवान्) सब विभूतियों का स्वामी है, वह (मा) मुझे (यशसं कृणोतु) यशस्वी बनावे । (उभे द्यावापृथिवी) दोनों सूर्य और पृथिवी, ज़मीन और आस्मान (मा यशसं कृणोतु) मुझे यशस्वी बनावें । (देवः सविता) सब का प्रेरक सूर्य देव भी (मा यशसं कृणोतु) मुझे यक्षस्वी बनावे । और (अहम्) मैं (दक्षिणायाः) दक्षिणा के (दातुः) देनेवाले पुरुष का (प्रियः स्याम) प्रिय होकर रहूँ ।

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् यथाप ओषधीषु यशस्वतीः ।
एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (इन्द्रः) परमेश्वर (द्यावापृथिव्योः) आकाश और पृथिवी के बीच (यशस्वान्) सर्व शक्तिमान है और (यथा) जिस प्रकार (आपः ओषधीषु) जल सब ओषधियों में (यशस्वतीः) बल-शालिनी

(प्र०) 'मे इन्द्रो मघवा' । (द्वि०) यशसं समा वरुणो वायुरग्निः । 'दक्षिणाया स्यामहम्' । (च०) 'धातु' इति सायणाभिमतः । इति पैप्प० सं० ।

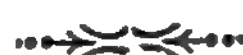
२–(तृ० च०) 'यथा विश्वेषु देवेषु एवं देवेषु यशसः स्याम' इति पैप्प० सं० ।

हैं। (एवा) इसी प्रकार (विश्वेषु देवेषु) समस्त विद्वानों में और (सर्वेषु) सब जीवों में (वयं) हम (यशसः) यशस्वी और बलवान् (स्याम) हों।

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

अथर्व० ६ । ३९ । ३ ॥

भा०—देखो [का० ६ । सू० ३९ । मं० ३ ।]



[५९] गृह-पत्नी के कर्त्तव्य और पशुरक्षा और गोपालन।

अथर्वा ऋषिः । रुद्र उत मन्त्रोक्ता देवता । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ।

अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति।
अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे ॥ १ ॥

भा०—हे (अरुन्धति) अरुन्धति ! अरोधनशीले ! सब को मुक्त करनेहारी, सुखकारिणी गृहपत्नि ! (प्रथमम्) पहले (त्वं) तू (अनडुद्भ्यः) बैलों (धेनुभ्यः) गायों और (अधेनवे वयसे) गाय के अतिरिक्त पांच बरसतक के बड़े बछड़ों और (चतुष्पदे) और चौपायों के लिये (शर्म यच्छ) सुख या सुखदायी रहने का घर या शाला बना दे। और उनको पृथक् २ शालाओं में रख। बैलों, गौओं, बड़े बछड़ों और अन्य पशुओं की अलग २ शालाएं बनायें। छोटे बछड़े तो माता के साथ रह सकते हैं।

---

[५८] १-(प्र०) '-भ्यो नः', इति पैप्प० सं०।

शर्म यच्छत्वोषधिः सह देवीररुन्धती ।
करत् पर्यस्वन्तं गोष्ठमयक्ष्माँ उत पूरुषान् ॥ २ ॥

भा०—(अरुन्धती) घर की स्वामिनी (देवीः सह) और घर की सहेली स्त्रियों के साथ मिल कर (ओषधिः) ओषधि=अन्न आदि जड़ी बूटियों के प्रयोग से (शर्म यच्छतु) सब को सुख प्रदान करे । और पशुओं को भी हरा चारा दे । और (गोष्ठम्) गोशाला को (पयस्वन्तं करत्) पुष्टिकारक दूध और जल से सम्पन्न करे । (उत) और सब पदार्थ स्वच्छ रखे जिससे (पूरुषान्) घर के और पुरुषों को भी (अयक्ष्मान् करत्) राजयक्ष्मा से रहित नीरोग करे । अर्थात् घर की स्त्री ही घर के पशुओं और मनुष्यों, बालकों के लिये भोजन आच्छादन और ओषधि आदि का उपचार करे ।

विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम् ।
सा नो रुद्रस्यास्तां हेतिं दूरं नयतु गोभ्यः ॥ ३ ॥

भा०—हम (विश्व-रूपाम्) नाना प्रकार से समस्त पदार्थों को उत्तम रूप से बनानेवाली वा उनको निरीक्षण करनेवाली (जीवलाम्) सब को जीवन प्रदान करनेवाली (सुभगाम्) सौभाग्यशील, ऐश्वर्यवाली स्त्री को हम लोग (अच्छा वदामसि) बड़ा उत्तम कहते हैं । (सा) वह आनेवाले (रुद्रस्य हेतिम्) रुलानेवाले, रोग आदि कष्टदायक और हिंसक पदार्थों के (हेतिं) शस्त्र, आघातकारी आयुध को (नः (गोभ्यः) हमारी गौओं से (दूरं नयतु) दूर करे ।



२–'सहदेवी' इति ह्विटनिकामितः ।

[६०] कन्यादान और स्वयंवर ।

अथर्वा ऋषिः । अर्यमा देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

अ॒यमा या॑त्यर्य॒मा पु॒रस्ता॒द् विषि॑तस्तुपः ।
अ॒स्या इ॒च्छन्न॒ग्रुवै॒ पति॑मु॒त जा॒याम॒जान॑ये ॥ १ ॥

भा०—(अयम्) यह (अर्यमा) कन्या का दान करनेवाला पुरुष (पुरस्तात्) अपने समक्ष (विषित-स्तुपः) नाना स्तुति योग्य गुणों को प्रकट करता हुआ (अस्यै) इस अपनी (अग्रुवै) कन्या के लिये (पतिम् इच्छन्) पति के प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ (उत) और (अजानये) विना पत्नी के पुरुष के लिये योग्य (जायाम्) पुत्रोत्पादक भार्या को प्राप्त कराने की इच्छा करता हुआ (आयाति) आता है।

इस सूक्त में—'अर्यमा इति तम् आहुर्यो ददाति। तै० १ । १। २ । ४ ॥ दाता या कन्या का प्रदाता पुरुष अर्यमा कहाता है ।

अश्र॑मदि॒यम॑र्यम॒न्नन्या॑सां॒ सम॑नं य॒ती ।
अ॒ङ्गो न्व॑र्यमन्न॒स्या अ॒न्याः सम॑न॒माय॑ति ॥ २ ॥

भा०—हे (अर्यमन्) हे कन्या के दान करने हारे ! उसके पिता भ्राता आदि पुरुष ! (इयम्) यह कन्या (अन्यासां) अन्य अपनी सखी, बहनों आदि के (समनं) सम्मान को (यती) प्राप्त करती हुई (अश्रमत्) विद्या आदि के अभ्यास और ब्रह्मचर्य व्रतपालन में श्रम करती रही है। (अङ्ग उ) हे (अर्यमन्) अर्यमन् ! कन्यादातः ! (अन्याः) और

[६०] –१(द्वि०) 'विपितस्तुगः (=विपतस्तुकः) इति पैप्प० सं० । 'तस्तुपः' इति क्वचित् । (तृ०) 'सवेच्छायद (=सवेच्छेद) इति पैप्प० सं० ।
२–'शमन'-इति सायणाभिमतः पाठः । (तृ०)–'न्वस्यार्यमन्' इति पैप्प० सं० ।

अन्य सखियां भी (अस्याः) इसके (समनम्) संमान को (आयति) प्राप्त होती हैं ।

अथवा—(इयम् अन्यासं । समनं यती अश्रमत्) यह अन्यों के समन=पति संगमन, पति मिलाप के अवसर पर जाती रहीं और अब (अन्याः अस्याः समनम् आयति) और सखियां इसके पति-लाभ के अवसर पर आवें ।

समनं, संमननात् सम्माननाद्वा । (निरु० अ० ७ । ४ । ३ ॥)

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम् ।
धातास्या अग्रुवै पतिं दधातु प्रतिकाम्य/म् ॥ ३ ॥

भा०—(धाता) धारण, पालन करने वाला या उत्पादक परमेश्वर जिस प्रकार (पृथिवीम्) पृथिवी को धारण करता है और (उत धाता) और धाता ही (द्याम् सूर्यम्) प्रकाशमान सूर्य को भी धारण करता है । इसी प्रकार (धाता) परिपालक, संरक्षक पिता (अस्यै अग्रुवै) इस स्वयंवरा कन्या के लिये (प्रति-काम्यम्) इसके प्रति अभिलाषा करनेवाले, इसके प्रिय (पतिम्) पति को (दधातु) प्राप्त करे ।



[६१] ईश्वर का स्वतः विभूति-परिदर्शन ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्रोदेवता । त्रिष्टुभः, २-३ भुरिजौ । तृचं सूक्तम् ॥

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरुज्ज्योतिषे कम् ।
मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात् ॥१॥

३–(तृ०) 'धातास्याग्रुवै पतिं ददातु' इति पैप्प० सं० ।

[६१] १–'मह्यं सूर्योऽभरत् ज्योतिषा गाम्' (तृ०) 'मां देवा अनु विश्वे समोता' (च०) 'व्यचो धात्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(आपः) सब लोक या समस्त प्रजाएं या जल (मह्यम्) मेरे निमित्त (मधुमत्) मधुरता—अमृत युक्त रस को (आ-ईरयन्तां) प्राप्त करावें अथवा (आपः) आप्त पुरुष मेरे निमित्त (मधुमत्) ब्रह्ममय ज्ञान का उपदेश करें। और (सूरः) सबका उत्पादक, प्रेरक सूर्य या परमात्मा और विद्वान् (मह्यम्) मेरे निमित्त (ज्योतिषे) सर्व पदार्थों के प्रकाशित करने के लिये अपनी ज्योति को (अभरत् कम्) निश्चय से धारण करें। (उत) और (विश्वे) समस्त (तपोजाः) तप से उत्पन्न होने वाले तपस्वी, (देवाः) विद्वान् पुरुष और (सविता) सूर्य के समान (देवः) विद्वान् आचार्य (मह्यं) मुझे (व्यचः) सर्वव्यापक, ब्रह्मज्ञान का या विशेष ज्ञातव्य ज्ञान का (धात्) प्रदान करें या धारण करावें।

अहं वि॑वेच पृथि॒वीमु॒त द्याम॒हमृ॒तूँर॑जनयं स॒प्त सा॒कम्।
अहं स॒त्यमनृ॑तं॒ यद् वदा॑म्य॒हं दैवीं॒ परि॒ वाचं॒ विश॑श्च ॥ २ ॥

भा०—(अहम्) मैं ही (पृथिवीम्) इस विशाल पृथिवी को (उत द्याम्) और द्यौलोक को (विवेच) पृथक् २ थामें रखता हूं। और (अहम्) मैं (साकम्) एक साथ ही (सप्त) सात (ऋतून्) गतिशील प्राणों को (अजनयम्) अपने सामर्थ्य से इस शरीर में उत्पन्न करता हूं। (सत्यम् अनृतं यत्) सत्य क्या है और असत्य क्या है, यह जो कुछ भी है उसको (अहं वदामि) मैं ही ठीक २ बतलाता हूँ। और (दैवीम्) ज्ञानमयी, विद्वानों की (वाचं) वाणी को (परि विशः) प्रजा के भीतर भी (अहं) मैं ही बतलाता हूं, उपदेश करता हूं। अर्थात् यह सब परमात्मा ही करता है। वही इन सब सामर्थ्यों का धारक है।

२–(प्र०) 'अहं दाधार' इति पप्प० सं०। 'अहमस्तम्भाम्' इति का० सं०। (द्वि०)'अहं सिन्धून् ससृजे' इति पप्प० सं०। (तृ० च०) 'अहं वाचं परि सर्वा बभूव य इन्द्राग्नी असनं सखायौ' इति काठ०।

अहं जंजान पृथिवीमुत द्यामुहमृतूँरंजनयं सप्त सिन्धून् ।
अहं सुत्यमनृतं यद् वदामि यो अंग्नीपोमावजुंपे सखाया ॥ ३ ॥

भा०—(अहं) मैं ईश्वर ही (पृथिवीम्) पृथिवी को (जजान) प्रकट करता हूं, उत्पन्न करता हू। (उत) और (द्याम्) द्यौःलोक को भी (जजान) प्रकट करता हूं। (अहं) मैं ही (ऋतून्) गतिशील (सप्त सिन्धून्) सात प्राण, प्रवाहों को भी (अजनयम्) प्रकट करता हूँ, उत्पन्न करता हूं। और (सत्यम् यद्) सत्य, परमार्थ सत् क्या है? और (अनृतम्) व्यवहार में असत् एवं विनश्वर, अध्रुव ध्वंसयोग्य असत्य क्या है यह सब भी ठीक २ (अहं वदामि) मैं ही उपदेश करता हूं। और (सखायौ) समानख्यान, समान रूप से ख=इन्द्रियों में अय=गति करने वाले (अग्निषोमौ) अग्नि और सोम, सूर्य और चन्द्र, प्राण और अपान इन दोनों को मैं आत्मा ही (अजुषे) सेवन करता हूं। इस सूक्त की गीता के 'विभूति-योग' नाम अध्याय से तुलना करनी चाहिये।

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि दश, ऋचश्च त्रिंशत्]



[६२] आभ्यन्तर शुद्धि का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्र उत मन्त्रोक्ता देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनेषिरो नभोभिः ।
द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञिये नः पुनीताम् ॥१॥

३—(द्वि०) 'अहं वाचस्पतिः सर्वाभि पिश्व अह विनाज्म पृथिवीमुत द्यां अह ऋतून् सृज सप्त साग्म्। अह वाच परि सर्वा बभूव योऽग्निषोमा विदुषे सखायुः। इति पैप्प० सं० ।

[६२] १—'रश्मिभिर्मा' इति तै० ब्रा० ।

भा०—(वैश्वानरः) वैश्वानर, सूर्य और अग्नि (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (नः) हमें (पुनातु) पवित्र करे । और (वातः प्राणेन) वात, वायु या प्राण क्रिया द्वारा हमारे शरीर को पवित्र करे। और (इषिरः) सबका प्रेरक वायु अपने (नभोभिः) अन्तरिक्ष प्रदेशस्थ वायुगत मेघों द्वारा हमें पवित्र करे । और (ऋतावरीः) जल से पूर्ण (पयस्वतीः) पुष्टिकारक रससे पूर्ण (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आस्मान और ज़मीन दोनों (यज्ञिये) यज्ञ=दान क्रिया में या परस्पर संगत होकर उपकार करने में समर्थ होकर (नः) हमें (पुनीताम्) पवित्र करें ।

वैश्वानरीं सूनृतामा रभध्वं यस्या आशास्तन्वो वीतपृष्ठाः ।
तया गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ २ ॥

यजु० १६ । ४४ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (वैश्वानरीम्) उस ईश्वर विषयक (सूनृताम्) शुभ सत्यमयी वाणी देवी को (आरभध्वम्) प्रारम्भ करो उसका नित्य अभ्यास करो (यस्याः) जिसकी (वीतपृष्ठाः) प्रकाशमय पृष्ठवाली (आशाः) दिशाएं, (तन्वः) उसके शरीर हैं अर्थात् जिनका ज्ञान सर्वत्र व्यापक है । (तया) उस वेदवाणी से ही (सधमादेषु) एकत्र आनन्द प्राप्त करने के अवसरों में (गृणन्तः) उपदेश करते हुए ही (वयं) हम लोग (रयीणाम्) सर्व सम्पत्तियों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों ।

२–(प्र०, द्वि०) 'वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद् यस्यामिमा बह्व्यः स्तन्वो वीतपृष्ठाः तया मदन्तः सधमादेषु' इति यजु० । (द्वि०) 'यस्य', 'इमाबह्व्यस्तन्वो वीत–' इति-तै० ब्रा० । (तृ०) 'मदन्तः' इति तै० सं० । (प्र०) 'वैश्वदेव्यम्' (द्वि०) 'शुन्धा भवन्त शुचयः पावकाः',–'न्त ससद आदयेम' [?] इति पैप्प० सं० ।

वैश्वानरीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ ३ ॥

अथर्व० १२ । २ । २८ प्र० द्वि ॥

भा०—(वैश्वानरीं) उस परमात्मा सम्बन्धी वेदवाणी को हे विद्वान् पुरुषो! (शुचयः) मन और शरीर से शुचि=पवित्र होकर (पावकाः) और भी को पवित्र करने में समर्थ होकर (शुद्धा भवन्तः) और शुद्ध होकर (वर्चसे आ रभध्वम्) बल वीर्य प्राप्त करने के लिये अभ्यास किया करो। और (इह) इस संसार में (इडया) अन्न से (सध-मादं मदन्तः) एक ही साथ हर्ष उत्सव का आनन्द लेते हुए हम सब (ज्योक्) चिरकाल तक (उत्-चरन्तम्) ऊपर उठते हुए (सूर्यम्) सूर्य को (पश्येम) देखते रहें। शुद्ध पवित्र होकर वेद का अभ्यास करें परस्पर मिलकर अन्न का भोग करें। और दीर्घजीवन बितावें।



[६३] अविद्या-पाश का छेदन ।

द्रुहण ऋषिः । निर्ऋतिर्देवता । अग्निः । १ अतिजगतीगर्भा, ४ अनुष्टुप्, २-३ जगत्यौ । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यत् ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध दाम ग्रीवास्वविमोक्यं यत् ।
तत् ते वि ष्याम्यायुषे वर्चसे बलायादोमदमन्नमद्धि प्रसूतः ॥१॥

यजु० १२ । ६५ ॥

३–'वैश्वदेवीं सूनृतामारभध्वम्' इति यास्क दुर्गा०। (प्र०) 'वैश्वानर्य'–'वर्चसारभध्वं' (तृ०) 'हेडसध' इति पैप्प० सं०।

[६३] १–(द्वि०) 'अविचृत्यम्' (च०) 'अनमीवं पितुमद्धि प्रसूतः' इति पैप्प० सं०। (प्र० द्वि०) 'य......पाशं' (द्वि०) 'अविचर्त्यं' (तृ०) 'तं ते', 'आयुषो न मध्यात्–' (च०) 'अथैतं पितुमद्धि प्रसूतः' इति यजु०। '–षो नोमध्ये' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे पापी पुरुष ! (ते निर्ऋतिः) निरुद्ध-ऋति अर्थात् सत्यगति या ज्ञानमय आचरण से शून्य, अविद्याने (देवी) तुझे लुभानेवाली होकर (यत् दाम) जिस बन्धन को (ते) तेरी (ग्रीवासु) गर्दनों में (आ बबन्ध) बांध रखा है और (यत्) जो (अ-विमोक्यं) सहज में नहीं छूटता। उसको भी मैं (ते) तेरी (आयुषे) आयु (वर्चसे) तेज और (बलाय) बल वृद्धि के लिये (वि स्यामि) काटकर दूर करता हूं। तू इस प्रकार (प्रसूतः) उत्कृष्ट मार्ग में प्रेरित होकर अथवा उत्कृष्ट विद्यायोनि से उत्पन्न होकर (अदो-मदम्) अमुक—परलोक में हर्ष सुखदायक (अन्नम्) इस ज्ञानमय अन्न, परम सुख का (अद्धि) उपभोग कर।

सायण ने—'अदः । मदम् ।' इस प्रकार छेद किया सो असंगत है। अविद्या के पाशों को काटने के लिये गुरु के पास व्रती होकर विद्याभ्यास करे और ब्रह्म का ज्ञान करे।

नमो॑ऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽय॒स्मया॒न् वि चृ॑ता बन्धपा॒शान् ।
य॒मो मह्यं॒ पुन॒रित् त्वां द॑दाति॒ तस्मै॑ य॒माय॒ नमो॑ अस्तु मृ॒त्यवे॑ ॥२॥

(प्र० द्वि०) यजु० १२ । ६३ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (निर्ऋते) सत्य विद्या से विपरीत अविद्ये ! (ते नमः अस्तु) तुझे दूर से नमस्कार है। अथवा तेरा नमः—वशीकार किया जायगा। हम तुझे वश करेंगे। किस प्रकार ? हे (तिग्मतेजः) तीक्ष्ण तेज वाले सूर्य समान परमात्मन् ! (अयस्मयान्) लोहे के बने या आवागमन से बने इन (बन्ध-पाशान्) बन्ध के पाशों को (वि चृत) काट डाल। हे निर्ऋते ! अविद्ये ! (यमः) वह सर्वनियन्ता परमात्मा (त्वां) तुझको

२—(प्र०) 'नमःसु' इति यजु० । 'निर्ऋते विश्वरूपे' इति तै० सं० । 'विश्ववारे' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'अयस्मयं विचृता बन्धमेतम्' इति यजु० । 'यान् प्र मुमुग्धि पाशान्' इति पैप्प० सं० ।

पुनः इत्) फिर भी (मह्यं) मेरे लिये (ददाति) प्रदान करता है अर्थात् तुझे ईश्वर ने मेरे अधीन कर रक्खा है। अर्थात् जब चाहूं तुझमें फसूं, और जब चाहूं न फसूं। तो भी (तस्मै) उस (मृत्यवे) देहबन्धन से मुक्त करने वाले (यमाय) सर्व नियामक परमेश्वर के लिये (नमः) हम नमस्कार करते हैं।

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ३ ॥

यजु० १२ । ६३ तृ० च० ॥

भा०—हे अविद्ये ! बन्धकारिणि ! जब तू (अयस्मये) आवागमनस्वरूप लोहमय (द्रु-पदे) विनाशशील शरीर द्वारा प्राप्य इस वृक्ष के खूंटे के समान कठोर देह के साथ जीवको (बेधिषे) बांध लेती है तब (इह) इस लोक में वह जीव (मृत्युभिः) नाना प्रकार के शरीरनाशक ज्वर आदि कारणों से (ये सहस्रम्) जो सैकड़ों संख्या में हैं (अभि-हितः) बँध जाता है। हे पुरुष ! (त्वं) तू (पितृभिः) अपने परिपालक आचार्य आदि गुरुओं और (यमेन) उस अन्तर्यामी परमात्मा से (सं-विदानः) उत्तम रीति से ज्ञान लाभ करता हुआ (उत्तमम्) उत्कृष्ट (इमम्) उस (नाकम्) सुखमय परम ब्रह्मलोक को (अधि रोहय) प्राप्त हो। सायण ने (संविदाना) पाठ मानकर उत्तरार्ध को भी 'निर्ऋति' के पक्ष में लगाया है। पापमय देवता कभी उत्तम लोक को नहीं पहुंचा सकती, इसलिये सायणकृत योजना असंगत है।

३—'पितृभिः संविदाना' इति सायणाभिमतः । 'यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे', 'नाके अधिरोहयैनम्' इति यजु० । 'उत्तमे नाके......येमम्' इति तै० सं० । 'त्तमे नाके' इति पैप० सं० ।

सं समिद् युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।

इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १९१ । १ ॥ यजु० १५ । ३० ॥

भा०—हे (वृषन्) सब सुखों के वर्षक ! हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप ! आप (अर्यः) सबके प्रेरक हैं । आप (आ) सब तरफ (विश्वानि) सब पदार्थों को (सं सं युवसे इत्) चला रहे हैं और (इडस्पदे) इला=अन्न के आश्रयभूत भूतल पर, अथवा इडा=श्रद्धा के पद, आश्रयस्थान हृदय में अथवा इडा=चेतना मनन शक्ति के पद, आश्रय, आत्मा में (समिध्यसे) प्रकाशित होते हो (सः) वह आप (नः) हमें (वसूनि) नाना जीवनोपयोगी धनों को (आ भर) प्राप्त कराओ ।

'इडस्पदं'—इडा श० ११ । २ । ७ । २० ॥ इडावै मानवी यज्ञानुकाशिनी आसीत् । तै० १ । १ । ४।४॥ सा वै इडा पञ्चावत्ता भवति श० १ । ८ । १ । १२ ॥ (१) श्रद्धा इडा है । (२) मनु=मननशील के यज्ञ आत्मा या देह में अनुप्रकाश करने वाली चितिशक्ति इडा है । वह इडा पांच विभाग में बांटी जाती है । यही पांच भाग पांच चैतन्य ज्ञानेन्द्रिय हैं । उस इडा का पद आश्रय, आवास आत्मा है । राजा के पक्ष में इडा पृथिवी और अग्नि राजा है ।



[६४] एकचित्त होने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । सांमनस्यं देवता । १, २ अनुष्टुभौ । २ त्रिष्टुप् ।

तृचं सूक्तम् ॥

४–ऋग्वेदेऽस्याः संवनन ऋषिः । अग्निर्देवता ।

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ १ ॥

ऋ० १० । १९१ । २ ॥

भा०—हे पुरुषो ! (यथा) जिस प्रकार (पूर्वे) पूर्व के विद्यमान (देवाः) विद्वान् लोग (संजानानाः) समान रूपसे एकत्र होकर ज्ञान प्राप्त करते हुए (भागं) अपने भजन करने योग्य, फल को (उपासते) प्राप्त करते हैं । उसी प्रकार (सं जानीध्वम्) आप लोग एकत्र होकर समान रूप से सब ज्ञान प्राप्त करो । (सं पृच्यध्वम्) आप सब एकत्र होकर, एक दूसरे से सम्पर्क रक्खो । (वः) आप लोगों के (मनांसि) मन, चित्त (सं जानताम्) प्रत्येक पदार्थ को समान रूप से ही जानें ।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम् ।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभि सं विशध्वम् ॥२॥

ऋ० १० । १९१ । ३ ॥

भा०—(एषाम्) इन समस्त लोगों का (मन्त्रः समानः) मन्त्र-मनन भी समान हो, (समितिः समानी) एकत्र होकर बैठने की सभा भी समान, एक ही हो, (समानं व्रतम्) व्रत आचार कर्त्तव्य भी समान=एक ही हो और (चित्तं सह) सबका चित्त भी एक साथ ही हो । हे

---

[६४] १-(प्र०) 'संगच्छध्वं संवदध्वं' इति ऋ० । ऋग्वेदे संवनन ऋषिः । संज्ञानं देवता । (च०) 'उपासते' इति तै० ब्रा० ।

२-(द्वि०) 'समानं मनः' (च०) 'समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः । इति ऋ० । समानः क्रतुमभिमन्त्रयध्वम्' इति मै० सं० । (द्वि०) 'समानं चित्तं सह वो मनांसि' इति पैप्प० सं० । (तृ०) संज्ञानेन वो हविषा यजामः' (च०) 'केतोऽभि संरभध्वं' इति तै० ब्रा० ।

लोगो ! (वः) तुम सबको (समानेन हविषा) मैं समान प्रकार के एक ही हवि=मार्ग से (जुहोमि) प्रेरित करता हूं। आप लोग (समानं चेतः) एक चित्त होकर (अभि संविशध्वम्) नगर में निवास करो।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ३ ॥
ऋ० १० । १९१ । ४ ॥

भा०—हे पुरुषो ! (वः) आप लोगों की (आकूतिम्) संकल्प, कामना भी (समानी) एक समान हो। और (वः) आप लोगों के (हृदयानि) हृदय भी (समा) समान हों। (वः मनः) आप लोगों के मन (समानम्) समान (अस्तु) हों। (यथा) जिससे (वः) आप लोगों के सब कार्य (सह) एक साथ मिलकर (सु असति) उत्तम रूपसे हुआ करें।



[६५] विजयी, दमनकारी राजा का शत्रुओं को निःशस्त्रीकरण।

अथर्वा ऋषिः। चन्द्र उत इन्द्रः पराशरो देवता। १ पथ्यापङ्क्तिः, २-३ अनुष्टुभौ। तृचं सूक्तम् ॥

अव मन्युरवायतावं बाहू मनोयुजा ।
पराशर त्वं तेषां पराञ्चं शुष्ममर्दयाधा नो रयिमा कृधि ॥ १ ॥

भा०—हे राजन् ! (मन्युः) तेरा क्रोध (अव) नीचे अर्थात् शान्त रहे (आयता) उठे हुए शस्त्र भी (अव) नीचे होजायं। (मनोयुजा बाहू) मनके संकल्प के साथ उठने वाली बाहुएं भी (अव) नीचे

३—'समाना वा आकूतानि' इति मै० सं०।
[६५] १—(पं०) 'अर्वाञ्चं रयिम्' इति पैप्प०सं०। 'अथा' इति सायणाभिमतः।

ही रहें। तिस पर भी हे (पराशर) दूर के शत्रुओं के नाशक इन्द्र ! (त्वं) तू (तेषां) शत्रुओं के (पराञ्चं) दूर से दूर वर्त्तमान (शुष्मम्) बल या सेना विभाग को (अर्दय) विनाश कर। (अध) और (नः) हमें (रयिम्) धन (आ कृधि) प्राप्त करा।

अथवा शत्रुओं को क्रोध, उद्यत शस्त्र और बाहुएं नीची हों और हे इन्द्र ! तू उनके दूरके सेनादल को भी पीड़ित कर, हमें धन प्राप्त करा।

निर्हस्तेभ्यो नैर्हस्तं यं देवाः शरुमस्यथ ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! शासक पुरुषो ! (निर्हस्तेभ्यः) हस्त=हनन साधन या सामर्थ्य से रहित पुरुषों के लिये (नैर्हस्तं) सदा निहत्थापन रूप (यं शरुम्) जिस शस्त्र को आप (अस्यथ) फैंकते हो-प्रयोग करते हो। (अनेन हविषा) उसी उपाय से (अहम्) मैं देश-विजयी राजा (शत्रूणां बाहून्) शत्रुओं के बाहुओं को=बाधाकारी उपायों को भी (वृश्चामि) काटता हूं निर्मूल करता हूं। अर्थात् निर्बल प्रजाओं को सदा निर्बल बनाये रखने के लिये विद्वान् लोग जिस निःशस्त्रीकरण उपाय का प्रयोग करते हैं राजा उसी उपाय का प्रयोग अपने शत्रु को निर्बल करने का भी करे अर्थात् उनको निःशस्त्र ही करदे।

इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः ।
जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र राजा (प्रथमं) सबसे पहले (असुरेभ्यः असुरों, निर्दय बलवान, शत्रुओं पर (नैर्हस्तम्) निहत्थापन के उपाय को (चकार) करो। तब (मम) मेरे (सत्वानः) वीर्यवान् भट (स्थिरेण) स्थायी (मेदिना) बलशाली (इन्द्रेण) सेनापति राजा के साथ (जयन्तु) विजय करें।

[६६] शत्रुओं का निःशस्त्रीकरण ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्र उत इन्द्रो देवता । १ त्रिष्टुप् । २-३ अनुष्टुप् ।

तृचं सूक्तम् ॥

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान् ।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः ॥ १ ॥

भा०—(अभिदासन्) हमें विनाश करने वाला (शत्रुः) शत्रु (निर्हस्तः अस्तु) निहत्था होकर रहे । और (ये) जो (अस्मान्) हम पर (सेनाभिः) सेनाओं सहित (युधम् आयन्ति) युद्ध करने के लिये चढ़ आते हैं उनको हे इन्द्र ! सेनापते ! तू (महता वधेन) बड़े भारी शक्तिशाली हथियार से (समर्पय) उन पर प्रहार कर । जिससे (एषां) उनमें से (अघ-हारः) सबसे प्रबल आघातकारी पुरुष (वि-विद्धः) नाना प्रकार से पीड़ित होकर (द्रातु) भाग जाय ।

आतन्वाना आयच्छन्तोस्यन्तो ये च धावथ ।
निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोद्य पराशरीत् ॥ २ ॥

भा०—निःशस्त्र किनको किया जाय । (ये) जो शत्रुगण (आ-तन्वानाः) धनुष पर चिल्ला चढ़ाते हैं, (आ-यच्छन्तः) उनको खैंचते हैं । और (अस्यन्तः) बाण फेंकते हैं और (ये च) जो (धावथ) वेग से आक्रमण करते हैं । ऐसे हे (शत्रवः) शत्रु लोगो ! तुम ही (निर्हस्ताः) निहत्थे (स्थन) होकर रहो । नहीं तो (इन्द्रः) हमारा सेनापति राजा (वः) तुमको (अद्य) आज (पराशरीत्) मार डालेगा । आक्रमणकारी, मारने की चेष्टा करने वालों को निहत्था कर दें । नहीं तो सेनापति उनका वध कर दे ।

---

[६६] २-'पराशरत्' इति क्वचित् ।

निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि ।
अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहै ॥ ३ ॥

भा०—(शत्रवः) शत्रु लोग (निर्हस्ताः सन्तु) निहत्थे होकर रहें और हम (एषां अङ्गा) उनके अङ्गों को (म्लापयामसि) लुंजा पुंजा करदें। और हे इन्द्र ! (एषां) इनके (वेदांसि) धनों को हम (शतशः) सैकड़ों प्रकार से (विभजामहै) आपस में बांट लिया करें।

[६७] शत्रु विजय ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्र उत इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

परि वर्त्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः ।
मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम् ॥ १ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र, मुख्य सेनापति और (पूषा च) पुष्टि-कारक अन्न आदि सामग्री का प्राप्त कराने वाला अथवा सहायक सेनापति (सर्वतः) सब प्रकार के (वर्त्मानि) मार्गों में (परि सस्रतुः) प्रयाण करें। जिससे (अमूः) वे (अमित्राणां) शत्रुओं की (सेनाः) सेनाएं (परःस्तराम्) सर्वथा (मुह्यन्तु) निराश होकर पछाड़ खावें और किसी भी रास्ते से आगे न बढ़ सकें।

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः ।
तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥ २ ॥

भा०—हे (अमित्राः) शत्रुओ ! तुम लोग (मूढाः) मूढ़ किं-

---

[६७] २–(प्र० द्वि०) 'अन्धा अमित्रा भवता शीर्षाणो हय इव' (तृ०) 'अग्निनुन्नानाम्' इति साम० । 'शीर्षाणा अह–' (तृ०) अग्निदग्धानामग्निमूढानां' इति ऋ० ।

कर्त्तव्यविमूढ़ होकर, विना मार्ग प्राप्त किये, भटकते हुए (अशीर्षाणः) बिना सिर के (अहयः इव) सर्पों के समान अन्धे होकर (चरत) विचरो, (अग्नि-मूढ़ानां) हमारे अग्रणी सेनापति के प्रयाण से मोहित मार्ग छोड़कर भटकते हुए (तेषां वः) उन तुम्हारे में से (इन्द्रः) वीर सेनापति राजा (वरं-वरं हन्तु) अच्छे २ चुने वीर पुरुष को मार डाले।

ऐषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि ।
पराङमित्र एषत्वर्वाची गौरुपेषतु ॥ ३ ॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! (एषु) इन वीर भटों में तू (वृषा) सब सुखों को वर्षक होकर (हरिणस्य) हरिण की (अजिनं) खाल को (आ नह्य) कवचरूप में बंधवा दें। इस प्रकार शत्रु के लिये (भियं कृधि) भय उत्पन्न कर। (अमित्रः) शत्रु लोग (पराङ्) परे (एषतु) भाग जाय। (गौः) पृथ्वी (अर्वाची) हमारे समीप (उप-एषतु) हमें प्राप्त हो।



[६८] केश-मुण्डन और नापित कर्म का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवता । १ पुरोविराडतिशक्करीगर्भा चतुष्पदा जगती, २ अनुष्टुप्, ३ अति जगतीगर्भा त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि ।
आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥ १ ॥

भा०—विद्वान् पुरुषों को नापित बनकर केश मूंडने का उपदेश करते हैं। यह (सविता) सूर्य जिस प्रकार तीक्ष्ण किरणों से काले अन्धकार

[६८] १–(प्र०) 'अगात्' (द्वि०) 'उदकेनैधि' गो० गृ० सू० । (तृ०) 'वसवः सचेतसः' इति पैप्प० सं० ।

को दूर कर देता है उसी प्रकार (अयम्) यह नापित (क्षुरेण) अपने छुरे से काले केशों को भी दूर देता है । वही (अयम् आअन्) यह आता है । और हे (वायो) जिस प्रकार वायु मेघ द्वारा जल लाकर जंगल पर बरसाता है उसी प्रकार हे वायो ! ज्ञानवन् ! तू भी (उष्णेन उदकेन आ-इहि) गरम जल के सहित यहां आ । और जिस प्रकार (आदित्याः) आदित्य, बारहमास, (रुद्राः) वायुगण, (वसवः) पृथिवी आदि पदार्थ सब जंगलों को हरा भरा कर देते हैं उसी प्रकार आप लोग (सचेतसः) एक चित्त और ज्ञानवान् होकर केशों को (उन्दन्तु) गीला करें और तब (प्रचेतसः) हे उत्कृष्ट ज्ञान वाले पुरुषो ! (राज्ञः सोमस्य) सोम्य गुण वाले राजा के (वपत) केशों को छुरे से मूंड दो। अथवा (राज्ञः सोमस्य) सुन्दर सोमशिष्य बालक के केशों को मूंड दो ।, उपनिषत् की परिभाषा में सोम राजा=जीव । उसके अज्ञान को दूर करने के लिये सविता आचार्य या परमात्मा तीक्ष्ण ज्ञानरूप क्षुर सहित उसको साक्षात् होता है । वायु प्राण उसको उष्ण जल से आर्द्र करता है मानों तपस्या और योग समाधि का उपदेश करता है, आदित्य, रुद्र, वसु ये विद्वान्गण साधारण जीव को उपदेश करते हैं और इस प्रकार सब विद्वान् उसके अज्ञान का नाश करते हैं ।

अदि॑तिः श्मश्रु॑ वपत्वाप॑ उन्दन्तु वर्च॑साः ।
चिकि॑त्सतु प्रजाप॑तिर्दीर्घायुत्वाय॒ चक्ष॑से ॥ २ ॥

भा०—(अदितिः) आदित्य=सूर्य जिस प्रकार अन्धकार को काट डालता है उसी प्रकार अदिति=अखण्ड, तीक्ष्ण छुरे की धार (श्मश्रु) शरीर के बालों को (वपतु) काट दे । और ज्ञानी (आपः) आप्त

२—(तृ० च०) 'धारयतु प्रजापतिः पुनः पुनः सुवपतवे' इति पैप्प० सं० ।
(प्र०) 'आदितिः केशान्' इति पा० गृ० सू० ।

पुरुष जिस प्रकार (वर्चसा) तेज से हृदय को आर्द्र कर देते हैं उसी प्रकार (आपः) ये जल केशों को गीला कर दें। (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी परमात्मा जिस प्रकार सबको चक्षु देता और दीर्घ-जीवन देता है उसी प्रकार (प्रजापतिः) नाई, राजा भी वैद्य के समान जर्राही द्वारा अथवा फोड़ा फुंसी के रोग से बचाये रखने के लिये (चक्षसे) चक्षु की दर्शनशक्ति की वृद्धि और (दीर्घायुत्वाय) दीर्घजीवन के लिये (चिकित्सतु) रोग से बचाये रक्खे।

येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥ ३ ॥

भा०—(सविता) सूर्य (येन) जिस प्रकार के (क्षुरेण) ज्योतिर्मय छुरे से (राज्ञः सोमस्य) राजा, प्रकाशमान सोम चन्द्र के अन्धकार को (अवयत्) छिन्न भिन्न करता है और (विद्वान्) विद्यावान् आचार्य (येन क्षुरेण)[१] जिस उपदेशमय क्षुर=उपदेश से और सञ्चय के उपाय

३–'अश्यामो दीयुरयमस्तु वीरः' इति पैप्प० सं०। (च०) 'आयुष्मान् जरदष्टिर्यथासत्' इति पा० गृ० सू०। 'ऊर्जमं रय्या वर्चसा संसृजाथ' इति तै० ब्रा०।येनावपत् सविताश्मश्रुवग्रे क्षुरेणराज्ञो वरुणस्य विद्वान्। येन धाता बृहस्पतिरिन्द्रस्य चावपत् शिरः तेन ब्रह्मणो वपतेदमथायुष्मान् दीर्घायुरयमस्तु वीरः' इति शा० गृ० सू०। येनपूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय वर्चसे इति मै० ब्रा०।

१. क्षुरः—क्षुशब्दे इत्यस्मात् औणादिको रक् निपात्यते (उणा० २। २८॥) अथवा क्षुर विलेखने (अदादिः) क्षुर संचये (भ्वादिः) इत्येताभ्यां पचाद्यच्। क्षुरः उपदेशः विलेखनोपकरणं, लोमशातनोपकरणं छूरा इति प्रसिद्धम्। संचयोपायो वा। इति दया०।

से (वरुणस्य) राजा के अज्ञान को (अवपत्) छिन्न भिन्न करता है (तेन) उसी ज्ञान और ज्योतिर्मय उपदेश और प्रकाश के छुरे से, हे (ब्रह्माणः) ब्राह्मण, विद्वान् पुरुषो ! (अस्य) इस अपने शिष्य के (इदम्) इस अज्ञान अन्धकार को भी (वपत) छिन्न भिन्न करो । उसी के साथ २ छूरे से आरोग्य और दीर्घ जीवन के लिये बालों को भी काटा करो, जिससे (अयम्) यह राजा और शिष्य (गोमान्) गो=ज्ञानेन्द्रियों से युक्त और (अश्ववान्) अश्व=प्राणेन्द्रियों से युक्त और (प्रजावान्) उत्तम सन्तान से भी युक्त हो ।

जिस प्रकार सूर्य चन्द्र का अन्धकार दूर करता है और उसमें ज्योतिर्मय धन का वितरण करता है या जिस प्रकार विद्वान् मन्त्री राजा के ऊपर के संकटों को दूर करता है और विशेष उपाय से सावधान होकर उसकी समृद्धि बढ़ाता है उसी प्रकार आचार्य शिष्य के अज्ञान को हटाये छुरे से बालों को दूर करे उसके ज्ञान आरोग्य और दीर्घ जीवन की वृद्धि करे ।



[६९] यश और तेज की प्रार्थना ।

वर्चस्कामो यशस्कामश्चाथर्वा ऋषिः । बृहस्पतिरुताश्विनौ देवता । अनुष्टुप् ।

तृचं सूक्तम् ॥

गिरावरगराटेषु हिरण्ये गोषु यद् यशः ।
सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि ॥ १ ॥

अथर्व ६ । १ । १८ ॥

भा०—(यद् यशः) जो यश कीर्त्ति और धन (गिरौ) पर्वत में (अरगराटेषु) अरगराट=रथों या यन्त्रों से विचरने वाले शिल्पी लोगों में (हिरण्ये) सुवर्ण में और (गोषु) गाय बैलों में विद्यमान है और जो (मधु)

मधुर रस (सिच्यमानायां) पात्रों में पड़नेवाली (सुरायां) सुरा=जलधारा में और (कीलाले) अन्न में है (तत्) वह यश इस (मयि) मेरे आत्मा में विद्यमान है ।

अरगराट=सायण के मत में (१) अराः रथचक्रावयवाः कीलकाः, तान् गिरति आत्मना संश्लेपयति इति अरगराः रथा। तेन अटन्ति संचरन्तीति अरगराटाः रथिनः । (२) यद्वा अरा अरयः तान् गच्छन्ति इति अरगाः वीराः। तेपांराटाःजयघोपाः। अर्थात् अरगराटाः=रथी या वीरों के जयघोप। क्षेमकरण के मत में–"अरस्य ज्ञानस्य गरेषु विज्ञापकेषु अटन्ति इति।" अर्थात् गुरुओं के पास जाने वाले शिष्य । इस मतभेद में सायण ने लिखा है 'व्युत्पत्यनवधारणाद् नावगृह्यते । साफ २ अर्थ नहीं खुलने से इसका अर्थ ठीक तरह से विदित नहीं होता। ग्रीफ़िथ के मत में अरगराट= घाटियां। अथवा—"अरम् अत्यर्थं गर् गर् शब्देन अटन्ति इति अरगराटाः= सहानदाः अथवा अरघट्टाः जलयन्त्राणि, धान्यपेपणार्थं जलधारया प्रवर्त्तितं पेपणीयन्त्रं घराट् इति प्रसिद्धं तादृशो वा अन्यो विद्युदादियन्त्रविशेषः ।

आश्विना सार॒घेण॑ मा॒ मधु॑नाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा॒ भर्ग॑स्वतीं॒ वाच॑मा॒वदा॑नि॒ जनाँ॒ अनु॑ ॥ २ ॥

अथर्व० ९ । १ । १९ ॥

भा०—(शुभस्पती) शुभ–उत्तम शोभा को पालन करने वाले (अश्विनौ) माता और पिता (सारघेण) मधुमक्षिका के तैयार किये हुए (मधुना) शहद से (मा) मुझे (अङ्क्तम्) आंजें, मुझे खिलावें (यथा) जिससे (जनान् अनु) समस्त लोगों के प्रति मैं बालक बड़ा होकर (भर्गस्वतीम्) दीप्ति, चमत्कार और ओजस्विनी, (वाचम्) वाणी को (आवदानि) बोलूं ।

२–(तृ०) 'वर्चस्वती' इति अथर्व० । (च०) 'आवदामि' इति सायणाभिमतः ।

मां बाप बालकों को शहद खिलाया करें जिससे उनकी वाक्-शक्ति बढ़े और कफ़ आदि का नाश हो ।

मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत् पयः ।
तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥ ३ ॥ साम० १ । ६ । ३ ॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजा का पालक परमेश्वर जिस प्रकार (दिवि-द्याम् इव) द्यौलोक में सूर्य को दृढ़ता से स्थापित करता है उसी प्रकार वह प्रजापति पिता (मयि) मेरे शरीर में (वर्चः) तेज (यशः) बल और (यत्) जो (यज्ञस्य) यज्ञ=आत्मा का (पयः) सारभूत बल ज्ञान है (तत्) उसको (मयि) मेरे में धारण करावे ।



[७०] गौओं को सुशील बनाने का उपदेश ।

कांकायन ऋषिः । अघ्न्या देवता । जगती । तृचं सूक्तम् ॥

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने ।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम् ॥ १ ॥

भा०—गायों को सुशील बनाने का उपदेश करते हैं । हे (अघ्न्ये) कभी भी न मारने योग्य गौ ! (यथा) जिस प्रकार (मांसम्) मांस=उत्तम अन्न रस मनुष्यों के मनको लुभा लेता है । और (यथा सुरा) जिस प्रकार सुरा=शराव मनुष्य के मनको खेंच लेती है और (यथा अधि-देवने) जिस प्रकार खेलने के समय (अक्षाः) पासे मनुष्य के मन को हरते हैं । और जिस प्रकार (वृषण्यतः) हृष्ट पुष्ट (पुंसः) पुरुष का (मनः) मन

३–(तृ०) 'परमेष्ठी प्रजा–' इति साम० ।

(स्त्रियाम्) स्त्री में (नि-हन्यते) रत हो जाता है इसी प्रकार हे (अघ्न्ये) गौ ! (ते) तेरा (मनः) मन (अधि वत्से) अपने बच्छड़े पर (नि-हन्यताम्) लगा रहे ।

अर्थात् गाय को सुशील बनाने के लिये उसका प्रेम उसके बच्चे पर बनाये रखना चाहिये । उसके बच्छे को प्रेम करने से वह भी सुशील हो जायगी । इसी प्रकार मांस-लोभी को मांस द्वारा, शराबी को शराब से, जुएखोर को जुए से, कामी को स्त्री के द्वारा वश करना चाहिए ।

यथा॑ ह॒स्ती ह॑स्ति॒न्याः प॒देन॑ प॒दमु॑द्यु॒जे । यथा॒ पुं॒सो ० । ० ॥२॥

भा०—उसी विषय को और भी स्पष्ट करते हैं । (यथा) जिस प्रकार (हस्ती) हाथी (हस्तिन्याः) हथिनी के (पदेन) पैर के साथ अपना (पदम्) पांव (उद्-युजे) जोड़कर ऊपर उठता है । और (यथा पुंसः वृषण्यतः मनः स्त्रियां निहन्यते) और जिस प्रकार कामी पुरुष का मन स्त्री पर चलता है । (एवा अघ्न्ये ते मनः वत्से अधि निहन्यताम्) उसी प्रकार हे गौ ! तेरा मन अपने बच्छे के साथ लगा रहे ।

उसी प्रकार के प्रेमबंधन से हम हथिनी के द्वारा हाथी तक को सधा सकते हैं ।

यथा॑ प्र॒धिर्यथो॑प॒धिर्यथा॒ नभ्यं॑ प्र॒धावधि॑ ।
यथा॒ पुं॒सो वृ॑षण्य॒त स्त्रि॒यां निह॒न्यते॒ मनः॑ ।
ए॒वा ते॑ अघ्न्ये॒ मनोऽधि॑ व॒त्से नि ह॑न्यताम् ॥ ३ ॥

भा०—और भी उसी विषय को स्पष्ट करते हैं । (यथा) जिस प्रकार (प्रधिः) लोहे का हाल भीतरी लकड़ी के बने चक्र पर रहता है और (यथा) जिस प्रकार (उपधिः) लकड़ी का चक्र अरों द्वारा बीचके धुरे पर रहता है और (यथा) जिस प्रकार (नभ्यं) बीचका धुरा (अधि प्रधौ) क्रम से अरों और लकड़ी के चक्र सहित हाल पर आ जाता

है और (यथा वृषण्यतः पुंसः मनः स्त्रियां निहन्यताम्) जिस प्रकार कामीपुरुष का मन स्त्री पर चलता है उसी प्रकार हे (अघ्न्ये ते मनः अधि वत्से निहन्यताम्) गौ ! तेरा मन अपने बच्चे पर जुड़ा रहे ।



[७१] दुष्ट अन्न का त्याग और उत्तम अन्न आदि पदार्थों को ग्रहण करने का उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । अग्निर्देवता । ३ विश्वेदेवाः । १-२ जगत्यौ । ३ त्रिष्टुप् ।
तृचं सूक्तम् ॥

यदन्नमद्मि बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजामविम् ।
यदेव किं च प्रतिजग्रहाहमग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ १ ॥

भा०—(बहुधा) प्रायः (यत्) जो (अन्नम्) अन्न मैं (विरूपम्) विरूप, गला सड़ा या बुरा (अद्मि) खालूं (हिरण्यम् अश्वम् उत गाम् अजाम् अविम्) और सोना, घोड़ा, गाय, बकरी और भेड़ और (यत् एव किं च) और जो कुछ भी (अहम्) मैं (प्रतिजग्राह) दूसरे से लें लूं (तत्) उसको (होता अग्निः) देने वाला, सर्वप्रद परमेश्वर (सुहुतं कृणोतु) उत्तम आहुति के समान दान देने और स्वीकार करने योग्य बना दे । अर्थात् जो खा लिया जाय उसको जाठर अग्नि पचाले और वह सुहुत हो जाय, जो द्रव्य मैं स्वीकार करूँ उसे अग्नि परमेश्वर उत्तम दान रूप बना दे वह भी हमें हानि न पहुँचावे ।

---

[७१] १-(तृ०) 'किंचित्' (च०) 'अग्निस्तद्विश्वादगदं कृ-' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'विरूपं वासो हिरण्यमुत' (तृ०) 'यद्देवानां चक्षुष्यागो अस्ति यदेव किंच प्रतिजग्राहम् अग्निर्मा तस्मादनृणं करोतु' इति तै० आ० ।

यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः ।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ २ ॥

भा०—(यत्) जो (हुतम्) श्रद्धापूर्वक न दिया गया और (पितृभिः) पालक पिता माता गुरु भाई आदि से (दत्तम्) दिया गया या (मनुष्यैः अनुमतम्) मनुष्यों से, मननशील विद्वानों द्वारा अनुमत, स्वीकृत पदार्थ (आ-जगाम) मेरे पास आ गया हो और (यस्मात्) जिससे (मे मनः) मेरा मन (उद् रारजीति इव) ऊपर उठता हुआ प्रसन्न सा होता हो (तत्) उसको (होता अग्निः) सर्व पदार्थों का दाता परमेश्वर (सुहुतं कृणोतु) उत्तम दान अर्थात् स्वीकार करने योग्य पदार्थ बना दे ।

यदन्नमद्म्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि ।
वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (यद् अन्नम् अद्मि) जो अन्न मैं खाऊँ (उत) और (दास्यन्) जो पदार्थ मैंने दूसरे का देना है पर उसे (अदास्यन्) दे नहीं रहा हूँ (उत) और जिसको मैं (सं गृणामि) स्वीकार करता हूं (महतः वैश्वानरस्य) बड़े भारी, समस्त आत्माओं के अन्तर्यामी महान् परमेश्वर की (महिम्ना) महिमा से, महान् शक्ति से (अन्नम्) वह अन्न (मह्यं) मेरे लिये (शिवं) कल्याणकारी और (मधुमत्) अमृतमय मधुर रस देने वाला (अस्तु) हो ।



२–(तृ०) 'रारजीत्वग्निः' इति सायणाभिमतः । (प्र०) 'हुतं यदहुतं' (द्वि०) 'यस्मादन्नमतसोद्रारजीमि' (तृ०) यद्देवानां चक्षुषा कर्षानाग्नि–' इति पैप्प० सं० ।

३–(द्वि०) 'उतव करिष्यन्' इति तै० आ० ।

[७२] प्रजनन अंगों की पूर्ण वृद्धि ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । शेपोऽर्को देवता । १ जगती । २ अनुष्टुप् । ३ भुरिक् ।
तृचं सूक्तम् ॥

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया ।
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु ॥ १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (असितः) बन्धन रहित आत्मा (असुरस्य) असुर, मन की (मायया) माया=निर्माण शक्ति या बुद्धि से (वपूंषि कृण्वन्) अपने देहों को रचता हुआ (वशान् अनु) अपने वश हुए अंगों को या प्राणों को देह में (प्रथयते) विस्तृत करता है, फैलाता है, प्रेरित करता है (एवा) उसी प्रकार (अंगेन अङ्गम्) जिस प्रकार एक अंग से दूसरे अंग को समता प्राप्त है (अयम्) यह (अर्कः) आत्मा पुरुष (ते) तेरे (शेपः) ज्ञान सामर्थ्य या प्रजननाङ्ग को (सहसा) बल से (सं-समकम्) ठीक ठीक अनुपात में (कृणोतु) करे ।

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम् ।
यावत् परस्वतः पसस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पसः) पुरुष का प्रजननाङ्ग (वातेन) प्राण के बल से (स्थूलभं कृतम्) स्थूलरूप किया जाकर (तायादरम्) सन्तान उत्पादक अंग योनि भाग में प्रवेश योग्य हो जाता है । और (यावत्) जितना (परस्वतः) पूर्णता प्राप्त पुरुष का (पसः) प्रजन-

[७२] १–(प्र०) 'सित' (च०) 'संसमगं' इति सायणाभिमतः ।
२–'तायोदरं' इति सायणाभिमतः ।

नाङ्ग होना चाहिये (तावत्) उतना हे पुरुष! (ते पसः) तेरा प्रजनाङ्ग भी (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो।

यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत्।
यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ ३ ॥

भा०—(यावत् अंङ्गीनं) जितने अंगों वाला शरीर (पारस्वतम्) पूर्ण पुरुष का होता है और (यत्) जितना (हास्तिनं गार्दभं च) हाथी का या गधे का अथवा (वाजिनः अश्वस्य यावत्) वेगवान्, वलवान् अश्व का अंग दृढ़, हृष्ट पुष्ट, अमोघवीर्य होता है (तावत् ते पसः वर्धताम्) हे पुरुष ! उतना ही तेरा भी प्रजननांग पुष्ट हो।

पं० ग्रीफ़िथ ने इस सूक्त को अश्लील समझ कर छोड़ दिया है। पं० क्षेमंकरणजी ने इस सूक्त में शेपः और पसः आदि शब्दों के अर्थ 'राष्ट्र' किया है। पर हमारी सम्मति में शरीर के जिस अंग से मानव-सृष्टि उत्पन्न होती है उसके परिपक्व और पुष्ट होने का उपदेश करना कोई असंगत अश्लील और अनुचित वात नहीं है। कुछ की सम्मति में 'तयादर' और 'परस्वान्' कोई विशेष पशु हैं। सम्भव है। उनके अंग की उपमा भी होना अनुचित नहीं।

राष्ट्र पक्ष में—(२) (यथा तायादरं पसः) जितना पालने योग्य राष्ट्र (वातेन स्थूलभं कृतम्) यज्ञ द्वारा परस्पर संगति, संगठन द्वारा विशाल वना लिया जाय और (यवत् परस्वतः पसः) और जितना राष्ट्र पालक शक्ति में युक्त राजा का होना चाहिये (तावत्) उतना (ते पसः वर्धताम्) तेरा राष्ट्र भी वढ़े।

(३) (यावत् अंगीनं) जितने अंगों से युक्त (पारस्वतं) वीर भटों का वना, (हास्तिनं) हाथियों का (गार्दभं) गधों खच्चरों का और (अश्वस्य वाजिनः) वेगवान् अश्वों का वना हुआ (पसः) राष्ट्र-वल होना सम्भव है (तावत् ते वर्धताम्) उतना ही तेरा भी वढ़े।

राजा के वीर्य का प्रतिनिधि राष्ट्र और सेनाबल है शरीर में यह हृष्ट पुष्ट शरीर और हृष्ट पुष्ट प्रजनेन्द्रिय है इसलिये वेद में दोनों को समान ही परिभाषा शब्दों से वर्णन किया जाता है।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकादश सूक्तानि, ऋचश्च चतुस्त्रिंशत्]

[७३] एकचित्त होने का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः । सांमनस्यमुत मन्त्रोक्ता नाना देवताः । १–३ भुरिजौ, त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु ।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाताः ॥१॥

भा०—(इह) इस प्रदेश में या राजसभा के स्थान में (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ वरुण, राजा (सोमः) सोम, शान्त स्वभाव (अग्निः) सबका अग्रणी और (बृहस्पतिः) वेदवाणी का पालक या बृहत् राष्ट्र का पालक राजा बनकर (आ यातु) आवे और (इह) यहां वह (वसुभिः) आठ वसु, प्रजा के प्रतिनिधि या विद्वान् अमात्यों सहित आवे। हे अमात्यो ! (सर्वे) तुम सब लोग (अस्य श्रियम्) इस राजा की श्री, लक्ष्मी, शोभा को (उप-संयात) तुम भी स्वीकार करो, प्राप्त होओ। क्योंकि (उग्रस्य) उग्र स्वभाव, बलशाली, सदा न्यायपूर्वक दण्ड देने वाले (चेत्तुः) सबको चेताने वाले और स्वयं सावधान रहने वाले विवेकी राजा के (सं-मनसः) मनके साथ एक मन होकर रहते हुए (स-जाताः) एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न भाइयों के समान बन्धु होकर रहो।

[७३] १–(तृ०) 'श्रियमभि' । (च०) 'सुजाताः' इति पैप्प० सं० ।

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा ।
तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥२॥

भा०—राजा अपने सचिवों और अधीन शासकों के प्रति कहे कि–हे सचिवो और मेरे अधीन शासको ! (यः) जो (वः) तुम्हारा (शुष्मः) बल है और (या) जो (वः मनसि) तुम्हारे मन में और (हृदयेषु) हृदयों में (आकूतिः) प्रबल इच्छा या कामना (अन्तः प्रविष्टा) भीतर घर किये बैठी है (तान्) उन सब बलों को और आप लोगों की उन २ इच्छाओं को (घृतेन) अपने स्नेह और तेज और (हविषा) अन्न और आजीविका प्रदान द्वारा (सीवयामि) अपने साथ बांधता हूँ । हे (स-जाताः) बन्धुओ ! (वः) तुम लोगों की (रमतिः) आनन्द विनोद और अनुकूल प्रवृत्ति या पक्षपात (मयि अस्तु) मेरे ऊपर रहे ।

इहैव स्तमाप याताध्यस्मत् पूषा परस्तादपथं वः कृणोतु ।
वास्तोष्पतिरनु वो जोहवीतु मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥३॥

भा०—हे अधीन मन्त्रियो ! और शासक लोगो ! (इह एव स्त) आप लोग मेरे इस राष्ट्र में ही रहो । (अस्मत् अधि मा अप यातम्) हम से परे, हमें छोड़कर तुम मत जाओ । (परस्तात्) नहीं तो अन्य स्थानों में (पूषा) राष्ट्र के पोषक मित्र राजा (वः) आपके लिये (अपथं कृणोतु) रास्ता न दे । (वास्तोष्पतिः) राजसभा के भवन का पालक (अनु) मेरे अनुकूल मेरी अनुपस्थिति में (वः) आप लोगों को (जोहवीतु) पुनः पुनः हमारे कार्य के लिये आह्वान करे और आप

२–(तृ०) 'तां सीव–' इति सायणाभिमतः । 'स्रीवयामि', 'श्रीवयामि' इति क्वचित् । 'श्रवयामि' इति पैप्प० सं० ।
३–(प्र०) 'एह यात माप' । (तृ०) 'अनुयमहवन्' इति पैप्प० सं० ।

लोगों की सम्मति लिया करे। हे (स-जाताः) बन्धुजनो! हे भाइयो! (वः) आप लोगों की (रमतिः) प्रवृत्ति (मयि अस्तु) मेरे प्रति ही झुकी रहे।

(१) राजा अपने अधीन लोगों को उनकी वृत्ति सदा देता रहे। इस प्रकार उनको सदा अपने साथ गांठे रहे। (२) उनको स्थिर रूप से रखकर अपने को छोड़कर न जाने दे। यदि द्वेषवश छोड़कर जावें तो मित्रवर्गों से उनको परराष्ट्र में जाने का मार्ग न देने दे। राजसभा में प्रथम अपने समक्ष उनसे कार्य ले, अपनी अनुपस्थिति में अपना प्रतिनिधि नियुक्त करे और वही मन्त्रियों से कार्य ले।



[७४] एकचित्त होकर रहने का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। सांमनस्यं देवता। १,२ अनुष्टुभौ, ३, त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम्॥

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता।
सं वोयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्॥ १॥

भा०—हे लोगो! (वः) तुम लोगों के (तन्वः) शरीर परस्पर (सं पृच्यन्ताम्) एक दूसरे के प्रेम से मिला करें, आप लोग एक दूसरे का प्रेम से आलिङ्गन किया करो और (मनांसि सं) आपस में मन भी मिला करें। (व्रता उ सम्) कृषि वाणिज्य आदि कर्म भी मिलकर हुआ करें। या एक दूसरे के कर्म व्यवसाय एक दूसरे के व्यवसायों के सहायक हों। (अयम्) यह (ब्रह्मणः पतिः) ब्रह्मवेदवाणी का पालक प्रधान विद्वान् ब्राह्मण वः (सम् अजीगमत्) सदा जोड़े रक्खे। और (भगः) ऐश्वर्यवान् धन सम्पत्ति का स्वामी राजा भी तुमको (सम् अजीगमत्) सदा मिलाये रक्खे।

[७४] १—(च०) 'सोमः संस्पर्शयातु माम्' इति पैप्प० सं०।

संज्ञपनं वो मनसोथो संज्ञपनं हृदः ।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥ २ ॥

भा०—(वः) आप लोगों के (मनसः) चित्त को (सं-ज्ञपनम्) उत्तम रीति से ज्ञान सम्पन्न करता हूं। (अथो) और (हृदः) हृदयों को (सं-ज्ञपनम्) उत्तम ज्ञानवान् करता हूं। (अथो) और (भगस्य) ऐश्वर्यशील राजाका (यत्) जो (श्रान्तम्) परिश्रम है (तेन) उससे भी (वः) आप लोगों को (सं-ज्ञपयामि) अच्छी तरह से परिचित कराता हूं। अर्थात् राजा के प्रतिनिधि गण प्रजा के चित्तों को शिक्षित करें उनको राष्ट्र के हितों को विचारने का अवसर दें, हृदयों में एक दूसरे के प्रति सच्चे भाव उत्पन्न करें और राजा के उत्तम भावों को जानें। इस प्रकार प्रजा शिक्षित, संगठित होकर राजा के अधीन रहे। मूर्ख और फुटैल प्रजा पर असत्य से राजा शासन न करे।

यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः ।
एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमान् जनान्त्संमनसस्कृधीह ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (आदित्याः) आदित्य, विद्वान् लोग (वसुभिः) राष्ट्र निवासी प्रजाओं और (मरुद्भिः) वैश्य लोगों के साथ मिलकर (उग्राः) बलवान् होकर (अहृणीयमानाः) किसी से नहीं दबते हैं उसी प्रकार हे (त्रिणामन्=त्रिणामन्) तीन प्रकार की शक्तियों से प्रजा को वश करने वाले राजन्! तू भी (अहृणीयमानः) किसी से

२–(च०) 'संज्ञपयाति माम्' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'यच्छान्तं' इति ह्विटनिकामितः।

३–(प्र०) 'वसुवः' (तृ०च०) '–यमानासिम जना संम्मनसं कृणुत्वं' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) मरुद्भीरुद्राः संजानताभि (तृ० च०) '–यमाना विश्वेदेवा संमनसो भवन्तु' इति तै० सं०।

भी न दबकर ही (इमान् जनान्) इन प्रजाजनों को (इह) इस राष्ट्र में (संमनसः कृधि) अपने अनुकूल एक चित्त वाले बनाये रख । कोई राजा अपनी प्रजाको अपने विपरीत रखकर उन पर शासन नहीं कर सकता ।

त्रिनामन्=तीनों शक्तियों से प्रजाको वश करने वाला । तीन शक्तियां, प्रज्ञा, उत्साह और वीर्य अथवा अमात्य, कोश और दण्ड ।

[७५] शत्रु को मार भगाने का उपदेश ।

सपत्नक्षयकामः कबन्ध ऋषिः । मन्त्रोक्ता इन्द्रश्च देवताः । १-२ अनुष्टुभौ, ३ षट्पदा जगती । तृचं सूक्तम् ॥

निरमुं नुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति ।
नैर्बाध्ये/न हविषेन्द्र एनं पराशरीत् ॥ १ ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! (यः) जो (सपत्नः) हमारे राष्ट्र पर हमारे बराबर अपना प्रभुत्व दिखाने वाला शत्रु (पृतन्यति) हमपर सेना द्वारा आक्रमण करता है । (अमुम्) उसको (ओकसः) हमारे घर से, देश से (निर्-नुद) निकाल डाल । हे इन्द्र, राजन् ! (एनम्) इस शत्रु को तो (नैर्बाध्येन हविषा) निर्बाध=बाधा से रहित हवि=आज्ञा और उपाय से (पराशरीत्) मार डाल । अर्थात् उक्त प्रकार के शत्रु को मार डालने की ऐसी आज्ञा और उपाय करे जिसमें कोई बाधा न डाल सके ।

परमां तं परावतमिन्द्रो नुदतु वृत्रहा ।
यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ २ ॥

[७५] १-(च०) 'पराशरैत्' इति क्वचित् । (तृ०) 'निर्बा'-इति पैप्प० सं० 'एणं' इति तै० ब्रा० ।

२-(प्र०) 'परमां त्वां' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'नयतु' इति तै०

भा०—(वृत्रहा इन्द्रः) वृत्र=नगर को घेरने वाले शत्रु को मारने वाला इन्द्र=राजा सेनापति (तम्) उस शत्रु को (परमां परावतम्) खूब दूर तक (नुदतु) खदेड़ आवे । इतना दूर तक खदेड़ दे कि (यतः) जहां से (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) अनन्त वर्षों तक (पुनः) फिर (न (आयति) लौटकर न आवे ।

एतु तिस्रः परावत एतु पञ्च जनाँ अति ।
एतु तिस्रोऽति रोचना यतो न पुनरायति ।
शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत् सूर्यो असद् दिवि ॥ ३ ॥

(प्र० द्वि०) ऋ० ८ । ३२ । २२ प्र० द्वि० ॥

भा०—हमारे से मार भगाया हुआ शत्रु (तिस्रः परावतः अति एतु) तीन दूरस्थ सीमाओं को पार कर जाय । और (पञ्च जनान् अति एतु) पांचों प्रकार की प्रजाओं को लांघ जाय । अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र निषाद् इन पांचों प्रकारकी प्रजा में भी स्थान न पा सके । (तिस्रः रोचना अति एतु) तीनों प्रकाशमान ज्योतियों से भी वञ्चित हो अर्थात् वह न सूर्य का प्रकाश पा सके, न दीपक का और न चन्द्र का,प्रत्युत अंधेरी कोठड़ी में मारे भयके छिपा रहे । ऐसी जगह और ऐसी दुरवस्था में रहे कि (यतः) जहां से (पुनः) फिर (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) अनन्त वर्षों तक (यावत् दिवि सूर्यः) जब तक आकाश में यह सूर्य (असत्) विद्यमान है तब तक (न आयति) वह लौटकर न आवे ।



ब्रा० । (द्वि०) 'इन्द्रो देवो अचीक्लृपत्' (तृ०) 'पुनरायासि' इति पैप्प० सं० ।

३–(प्र० द्वि० तृ०) 'इहि' इति तै० ब्रा० । (द्वि०) 'जनां अनु' । (तृ०) 'इह चत्वातु रोचना' इति पैप्प० सं० ।

[७६] ब्राह्मणरूप सांतपन अग्नि का वर्णन ।

कबन्धऋषिः । सांतपनोऽग्निर्देवता । १, २, ४ अनुष्टुभः । ३ ककुम्मती ।
चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे ।
संप्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि ॥ १ ॥

भा०—ब्राह्मणरूप अग्नि का वर्णन करते हैं । (ये) जो लोग (एवम्) इस ब्राह्मणरूप सांतपन अग्नि के (परिषीदन्ति) चारों ओर बैठते हैं और उससे उपदेश लेते हैं और (चक्षसे) सम्यग् दर्शन के लिये (सम्-आदधति) उस ब्राह्मण को उत्तम रीति से आधान करते हैं उसकी प्रतिष्ठा करते हैं । साक्षात् (अग्निः) अग्नि=आग जिस प्रकार अपनी ज्वालाओं से प्रकाशित होता है ऊसी प्रकार वह भी (सं-प्र-इद्धः) उत्तम रीति से उत्कृष्ट ज्ञान से प्रकाशित होकर (हृदयाद् अधि) अपने शुद्ध अन्तःकरण से निकलने वाली (जिह्वाभिः) ज्ञानमय वाणियों से (उत् एतु) उदित हो, प्रकट हो । सबको ज्ञान का उपदेश करे ।

अग्नेः सांतपनस्याहमायुषे पदमा रभे ।
अद्धातिर्यस्य पश्यति धूममुद्यन्तमास्यतः ॥ २ ॥

भा०—(सांतपनस्य) उत्तम तपस्याशील (अग्नेः) ज्ञानी ब्राह्मण के (पदम्) ज्ञानस्वरूप को (अहम्) मैं अपनी (आयुषे) आयु-वृद्धि के लिये (आरभे) प्राप्त करने का यत्न करूं । (यस्य) जिसके (आस्यतः) मुख से (उद्-यन्तम्) उठते हुए (धूमम्) धूम के समान निकलते हुए उद्गार को (अद्धातिः) प्रत्यक्षदर्शी विद्वान् स्वयं (पश्यति) साक्षात् करता है ।

[७६] १–(प्र०) 'येनेदंपरि' । इति पैप्प० सं० ।
२–(तृ० च०) धातुर्यस्य पश्यत मम हृद्यन्तःश्रितः' इति पैप्प० सं० ।

"एष ह वै सान्तपनो अग्निर्यद् ब्राह्मणः। यस्य गर्भाधान-पुंसवन सीमन्तोन्नयन-जातकर्म-नामकरण-निष्क्रमणान्नप्राशन-गोदान-चूडाकरणोपनयनाप्लावनाग्निहोत्रव्रतचर्यादीनि कृतानि भवन्ति स सान्तपनः। गो० पू० २। ३॥ धूमो वा अस्य अग्नेः श्रवो वयः। सहि एनम् श्रावयति। श० ७। ३। १। २॥ अर्थात् गर्भाधान से लेकर व्रतचर्यादित संस्कार शील ब्राह्मण सांन्तपन अग्नि कहाता है, उसके ज्ञानोपदेश धूम हैं।

यो अ॒स्य स॒मिधं॒ वेद॑ क्ष॒त्रिये॑ण स॒माहि॑ताम्।
नाभि॒ह्वारे॑ प॒दं नि द॑धाति॒ स मृ॒त्यवे॑ ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो विद्वान् (अस्य) इस पूर्वोक्त अग्नि की (क्षत्रियेण) क्षत्रिय द्वारा (सम्-आहितां) प्रतिष्ठित की हुई (समिधम्) समिधा को (वेद) जान लेता है (सः) वह (मृत्यवे) अपने मौत के लिये (अभिह्वारम्) कुटिल मार्ग में (पदं न निदधाति) पैर नहीं रखता।

अर्थात् जो यह जानता है कि ब्राह्मणों की रक्षा और उनका उत्तेजन क्षत्रिय=राजा के द्वारा है वह ब्राह्मण के अपमान आदि अनुचित कार्य में पैर नहीं रखता। वैसा करने से राजा स्वयं ब्रह्मनिन्दक को दण्ड देता है।

नैनं॑ घ्नन्ति पर्या॒यिणो॒ न स॒न्नाँ अव॑ गच्छति।
अ॒ग्नेर्यः क्ष॒त्रियो॑ वि॒द्वान्नाम॑ गृ॒ह्णात्यायु॑षे ॥ ४ ॥

भा०—(एनम्) पूर्वोक्त अग्नि रूप विद्वान्, निष्ठ ब्राह्मण के (पर्यायिणः) समीप आने वाले पुरुष भी (न घ्नन्ति) उसकी हिंसा नहीं करते, क्योंकि वह भी (सन्नान्) समीप बैठों को (न अवगच्छति) कुछ नहीं कहता। (यः क्षत्रियः) जो क्षत्रिय होकर भी (विद्वान्)

३–(प्र०) 'योऽस्य', (तृ०) 'मा विह्वरे' इति पैप्प० सं०। 'अभिह्वरे' इति सायणाभिमतः।

४–(द्वि०) 'एनं गच्छति'। (तृ०) विश्वा नाम' इति पैप्प० सं०।

ज्ञानवान् होकर (अग्नेः नाम) अग्रिणी रूप ब्राह्मण का (नाम गृह्णाति) नाम उच्चारण करता है वह भी (आयुषे) उसके दीर्घ जीवन के लिये होता है। प्रसिद्ध विद्वान् का आश्रय लेकर क्षत्रिय भी चिरकाल तक विनष्ट नहीं होता।

[७७] ईश्वर से रक्षा की प्रार्थना।

कबन्ध ऋषिः। जातवेदो देवता। १—३ अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत्।
आस्थाने पर्वता अस्थु स्थाम्न्यश्वाँ अतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

भा०—सर्वनियन्ता ईश्वर की शक्ति से (द्यौः अस्थात्) यह द्यौः, आकाश समस्त तारों सहित स्थिर है (पृथिवी अस्थात्) पृथिवी भी अपने स्थान में स्थिर है। (इदम्) यह (विश्वम्) समस्त (जगत्) जगत् भी (अस्थात्) स्थित, व्यवस्थित है। अपने २ (आ-स्थाने) स्थान में (पर्वताः अस्थुः) पर्वत भी स्थिर हैं, इसी प्रकार मैं अपने (अश्वान्) अश्वों के समान गमनशील व्यापक, विषयों तक पहुंचने वाले प्राणों को भी (स्थाम्नि) इस स्थिर देह में (अतिष्ठिपम्) व्यवस्थित करूं।

य उदानट् परायणं य उदानण्न्यायनम्।
आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे ॥ २ ॥

(प्र० द्वि०) ऋ० । १६ । ५ ॥ (तृ० च०) ऋ० १० । १६ । ४ तृ०चं० ॥

भा०—(यः) जो महान् आत्मा (परायणम्) परम स्थान, मोक्ष

[७७] १—(तृ० च०) 'तिष्ठ……इमे स्थामन्नश्वा रंसत' इति पप्पें०-सं०।
२—(प्र०) 'यउदानड् व्ययनं' (द्वि०) 'यउदानट् परायणम्' इति ऋ०।
ऋग्वेदे मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा ऋषिः। आपो गावो वा देवता।

में (उद् आनट्) व्यापक है। और (यः) जो (न्यायनम्) नीचे अयन, तामस लोक को भी (उद्-आनट्) उन्नत करता है और (यः) जो जीव के (आ-वर्त्तनम्) यहां आगमन और (निवर्त्तनम्) यहां से गमन, मुक्ति इन दोनों को वश करता है। ऐसा जो (गोपाः) लोकों का पालक है (तम् अपि हुवे) उसको भी मैं स्मरण करता हूं।

जातवेदो नि वर्तय शतं ते सन्त्वावृतः।
सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि ॥ ३ ॥

(द्वि० तृ०) यजु० १२ । ८ । ऋ० १० । १९ । ५ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) सर्वज्ञ, सर्वव्यापक ईश्वर ! (ते) तेरे रचे हुए (शतम्) सैकड़ों (आ-वृतः) आवरण, देह, व्यवस्थाएं हैं। तो भी हमें (नि वर्तय) उन सब बंधनों से दूर कर। (ते उप-आ-वृतः सहस्रम्) तेरे बनाए कर्मबन्धन भी असंख्य हैं (ताभिः) उनसे (नः) हमें (पुनः) फिर (आ कृधि) अपने ही साक्षात् करने में समर्थ कर।



[७८] स्त्री पुरुष का परस्पर व्यवहार।

अथर्वा ऋषिः । १,२ चन्द्रमा त्वष्टा देवता । १—३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

तेन भूतेन हविषायमा प्यायतां पुनः।
जायां यामस्मा आवाक्षुस्तां रसेनाभि वर्धताम् ॥ १ ॥

भा०—(तेन) उस (भूतेन) अभूत, प्रचुर, परिपक्व (हविषा)

३-(च०) 'ताभिरेनं निवर्त्तय'। इति पैप्प० सं०। 'पुनर्नो नष्टमाकृधि' पुनर्नो रयिमाकृधि' इति यजु०।

[७८] १-(प्र०) 'भूतस्य' (तृ० च०) 'जायां यामस्या विदं सा रसेनाभिवर्धताम्' इति पैप्प० सं०।

अन्न से (अयम्) यह पति (पुनः) वार २ (आप्यायताम्) पुष्ट हो और (याम्) जिस (जायाम्) स्त्री को (अस्मै) इस पुरुष के साथ (आ-अवाक्षुः) विवाह किया है (तां) उसको भी (रसेन) रस, पोषक पदार्थ से (अभिवर्धताम्) पुष्ट करे। पति अपनी स्त्री को भी वही पुष्टिकारक अन्न खिलावे जिससे वह स्वयं पुष्ट होता है।

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम् ।
रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ ॥ २ ॥

भा०—मनुष्य (पयसा) पुष्टिकारक पदार्थ से (अभि वर्धताम्) वढ़े और (राष्ट्रेण) राष्ट्र से भी वढ़े। (इमौ) ये दोनों स्त्री और पुरुष (सहस्र-वर्चसा) सहस्रों प्रकार से बल देने वाले (रय्या) धन से (अनुपक्षितौ) कभी दरिद्र न (स्ताम्) हों।

त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम् ।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम् ॥ ३ ॥

भा०—(त्वष्टा) परमात्मा (जायाम्) पुत्र उत्पन्न करनेवाली स्त्री को उत्पन्न करता है। और (अस्यै) इस स्त्री के लिये हे पुरुष ! (त्वष्टा) त्वष्टा, परमात्मा ही (त्वाम् पतिम्) तुझ पति को भी उत्पन्न करता है। (त्वष्टा) परमात्मा ही (वाम्) तुम दोनों को (सहस्रम्) हज़ारों (आयूंषि) वर्षों तक की (दीर्घम्-आयुः) दीर्घ जीवन (कृणोतु) करे।



२-(प्र०) 'वर्धतां प्रजया' इति पैप्प० सं०।

३-(द्वि०) 'त्वां पतिमृदधौ', (तृ०) 'सहस्रआयू—' (च०) 'कृणोतु माम्' इति पैप्प० सं०।

[७९] प्रचुर अन्न की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः। संस्फानो देवता। १-२ गायत्र्यौ, ३ त्रिपदा प्राजापत्या जगती। तृचं सूक्तम् ॥

अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु। असमातिं गृहेषु नः॥१॥

भा०—(अयं) यह ही प्रत्यक्ष सूर्य, मेघ या वायु (सं-स्फानः) अन्न को बढ़ानेवाला (नभसः) अन्तरिक्ष का या वर्ष के प्रथम मास श्रावण का पति, पालक है । वह (नः) हमारी (अभि रक्षतु) सब प्रकार से रक्षा करे । और (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (असमातिम्) इतना अन्न आदि समृद्धि प्रदान करें जो समा भी न सके ।

त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय । आ पुष्टमेत्वा वसु ॥ २ ॥

भा०—हे (नभसः पते) नभः, अन्तरिक्ष के स्वामिन् ! (त्वं) तू (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (ऊर्जम्) पुष्टिकारक अन्न को (धारय) भर। और (पुष्टम्) हृष्ट, पुष्ट; (वसु) सम्पन्न धन प्राप्त करा ।

देवे संस्फान सहस्रापोषस्येशिषे । तस्य नो रास्व
तस्य नो धेहि भक्तिवांसः स्याम ॥ ३ ॥

भा०—हे (देव) प्रकाशस्वरूप (संस्फान) अन्न के वृद्धिकारक ! तू (सहस्र-पोषस्य) हज़ारों जीवों के पोषण करने में समर्थ धनधान्य का

[७९] १–'गृहाणामसमर्त्यै भव बहवो नो गृहा असन्' इति तै० सं० । (प्र०) नभसः पुरः' इति तै० सं० ।

२–(प्र०) ' स त्वं ' । (द्वि०) 'ऊर्जं नो धेहि भद्रया' इति तै० सं० ।

३–(द्वि०) 'सहास्रपोषिषे' 'तस्य नो धेहि तस्य ते भक्षीमहि' इति पप्प० सं० । (च०) 'भक्तिवानो भूयास्म', 'तस्यास्ते भक्तिवानः स्याम' इति तै० ब्रा० ।

(ईशिषे) स्वामी है । (तस्य) उसे (नः) हमें भी (रास्व) प्रदान कर और (नः) हमें (तस्य) वही (धेहि) दे । (ते) तेरे (तस्य) उसी अपरिमित धन के हम भी (भक्तिवांसः स्याम) भागी हों ।



[८०] कालकञ्ज नक्षत्रों के दृष्टान्त से प्राणों का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्रमा देवता । भुरिक् । अनुष्टुप् १,३ प्रस्तार पंक्तिः तृच सूक्तम् ॥

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत् ।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ १ ॥

(प्र०, द्वि०) ऋ० १० । १३६ । ४ प्र०, द्वि० ॥

भा०—दिव्य श्वा के दृष्टान्त से प्राण का वर्णन करते हैं । जिस प्रकार दिव्य श्वा (अन्तरिक्षेण पतति) अन्तरिक्ष मार्ग से गमन करता है उसी प्रकार यह दिव्य श्वा—देव-इन्द्रियों के लिये हितकारी प्राणमय आत्मा अन्तरिक्ष=देह के भीतरी भाग में गति कर रहा है । और जिस प्रकार वह (विश्वा भूता) समस्त नक्षत्रों में (अव चाकशत्) अधिक प्रकाशमान है उसी प्रकार यह प्राणमय आत्मा (विश्वा भूता) समस्त पञ्चभूत के विकार तन्मात्र इन्द्रियों और समस्त जीवों को प्रकाशित करता है, जीवित चैतन्य बना देता है । उस (दिव्यस्य) दिव्य, क्रीड़नकारी, तेजोमय (शुनः) चेतनामय गतिशील प्राणमय आत्मा का (यत् महः) जो चेतनास्वरूप तेज है, हे अग्ने ! आत्मन् ! (तेन हविषा) उस अन्न जीवन रूप शक्ति से (ते विधेम) तेरी अर्चना करें, तेरा ज्ञान करें ।

---

[८०] १–(द्वि०) 'विश्वरूपा' । (द्वि० तृ० च०) 'स्वर्भूता व्यचाकलत्' सनी दिव्यस्यैदं महस्तस्मा, एतेनं हविषा जुहोमि, इति पैप्प० सं० ।

ये त्रयः कालकाञ्जा दिवि देवा इव श्रिताः ।
तान्त्सर्वानह्व ऊतयेस्मा अरिष्टतातये ॥ २ ॥

भा०—(ये) जो (त्रयः) तीन (कालकञ्जाः) कालकञ्ज नामक तारे, मृगशिरा नक्षत्र मण्डल में (दिवि) द्यौ लोक में (श्रिताः) आश्रय पाये हुए हैं। वे (देवाः, इव) इस मूर्धास्थल शिरोभाग में विद्यमान तीन प्राणों की शक्तियों अर्थात् चक्षु, वाणी और श्रोत्र के समान हैं। इसी प्रकार आत्मा में और भी प्राण गुंथे हुए हैं। वे सब भी कालकाञ्ज अर्थात् कलना, चेतनाशील कञ्ज पद्म=सहस्रकमल रूप मूर्धागत मस्तिष्क शक्ति के पुत्र हैं (तान् सर्वान्) उन सबको (अस्मै) इस पुरुषस्वरूप आत्मा के (अरिष्टतातये) कल्याण के लिये और (ऊतये) रक्षा के लिये (अह्वे) पुकारता हूं उनका उपदेश करता हूं।

मृगशिरा नक्षत्र मंडल, कालपुरुष मण्डल भी कहाता है। उसके बीच के तीन तारे कालकञ्ज कहाते हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में—“कालकञ्जा वै नामासुरा आसन्। ते सुवर्गाय लोकाय अग्निमचिन्वत” इत्यादि आख्यायिका में लिखा है—स इन्द्रस्य इष्टकामावृहत्। ते अवाकीर्यन्त। ये अवाकीर्यन्त त उर्णनाभयोऽभवन्। द्वावुदपतताम्। तौ दिव्यौश्वानावभवताम् ॥ इत्यादि। यह ऐतिह्य सृष्टिक्रम के सिद्धान्त को स्पष्ट करता हुआ अध्यात्म में पंच प्राणों को स्पष्ट करता है। अर्थात् कालपुरुष मण्डल के ‘मृगशिरा’ भाग में तीनों तारे कालकञ्ज हैं, उनमें से बहुतसे तारे एक नेबुला या मूलमेघ या निहारिका से आवृत हैं। जिनको तैत्तिरीय ब्राह्मण के शब्दों में ‘ऊर्णनाभि’ शब्द से कहा है। और उनमें दो ‘श्वा’ एक कैनिस मेजर और दूसरा कैनिस माइनर’ सब मिलकर ‘कालकाञ्ज’ कहलाते हैं उसी प्रकार अध्यात्म में शिरो भाग में या इस काल=चेतनमय देह में कान, आंख, मुख ये तीन ‘कालकञ्ज’ हैं और इनके साथ दोनों प्राण दो श्वान हैं।

अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्थं समुद्रे अन्तर्महिमा ते पृथिव्याम् ।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! (अप्सु) समस्त संसार के मूल कारणरूप निहारिकाओं में से (ते जन्म) तेरा जन्म हुआ है और (दिवि) द्यौलोक में (ते) तेरी (सधस्थम्) अन्यतेरे जैसे सहस्रों प्रकाशमान पिण्डों के साथ स्थिति है। और तू (समुद्रे अन्तः) इस विशाल आकाश के भीतर है। और (ते महिमा) तेरी महिमा, विशाल कार्यक्षमता (पृथिव्याम्) पृथिवी पर प्रकट होती है। वास्तव में (दिव्यस्य) दिव्य आकाशस्थ (शुनः) श्वा='कैनिस मेजर का (यत् महः) जो नील प्रखर तीव्र प्रकाश है (तेन हविषा) उस रूप से हम (ते विधेम) तेरे रूपको भी जानते है।

यह बात वेद ने बड़े महत्व की बतलाई है। यह इस पृथ्वी का सूर्य आकाश के अति-प्रकाशवान् व्याध तारे के समान ही है। उसका भी नीला तेज ही है। वैज्ञानिकों का मत है कि पृथ्वी तथा सूर्य के निजी वातावरण के कारण सूर्य पीला दीखता है वास्तविक रूप उज्वल नील है।

अध्यात्म में—अग्निस्वरूप आत्मा आपः=प्राणों के भीतर लिपटकर या जलों में जीवन ग्रहण करता है। प्राणों, इन्द्रियों के बीच में रहता है, इस हृदय-समुद्र में व्यापक होकर भी पृथिवी=पार्थिव देह में अपनी चेतनामय महिमा को प्रकट करता है। दिव्य श्वा=मुख्य प्राण की शक्ति अहकार से हम उस आत्मा की अर्चना करते हैं। इस सूक्त का रहस्य देखो कौषीतकी उपनिषत् (अ० २)



[८१] पति-पत्नी का पाणि-ग्रहण, सन्तानोत्पादन कर्त्तव्यों का उपदेश।

त्वष्टा ऋषिः । मन्त्रोक्ता उत आदित्यो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ।

३–'स नो दिव्यस्य' इति पैप्प० सं० ।

यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि ।
प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम् ॥ १ ॥

भा०—इस सूक्त में कंकण या रक्षासूत्र के दृष्टांत से पति के कर्त्तव्यों का जायापति संवाद रूप में उपदेश करते हैं। पत्नी कहती है—हे पते ! (यन्ता असि) तू यन्ता, नियामक, मुझे विवाह बन्धन में बांधने वाला है। इसलिये (हस्तौ) मेरे दोनों हाथों को कङ्कण या रक्षा सूत्र से (यच्छसे) बांधता है । और इस प्रकार (रक्षांसि) हमारे गृहस्थ के विघ्नकारी पुरुषों को (अप सेधसि) दूर करता है। इसी कार्य से (अयम्) यह मेरा पति (परिहस्तः) मेरे हाथों को बांधने या ग्रहण करने वाला होकर ही (प्रजां) मेरी सन्तान और (धनं च) धनको (गृह्णानः) स्वीकार करने का अधिकारी (अभूत्) हो जाता है।

परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे ।
मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे ॥ २ ॥

भा०—हे (परि-हस्त) जाया या पत्नी का हस्त ग्रहण करने वाले पते ! तू (योनिं) पुरुषों के उत्पन्न करने वाली स्त्री को (गर्भाय) गर्भगत सन्तान के (धातवे) धारण कराने और पोषण करने के लिये (विधारय) विशेष रूप से पालन कर । पति अपनी पत्नी को आज्ञा देता है कि हे (मर्यादे) मर्य=पुरुषों को पति रूप में स्वीकार करने हारी पत्नि ! तू (पुत्रम्) पुत्रको (आधेहि) धारण कर । (तम्) और उस पुत्रको (आगमे) मेरे सहवास में (आगमय) उत्पन्न कर अथवा (तं आगमे आगमय) उस पुत्रको आगम=उत्पन्न होने के उचित अवसर पर जब शरीर की स्वाभाविक प्रवृत्ति उत्पन्न करने की आज्ञा दे तब उत्पन्न कर ।

---

[८१] १–(तृ०) 'कृण्वानः' इति सायणाभिमतः ।
२, उत्पादयेत्यर्थः इति सायणः ।

यं परिहस्तमबिभरदितिः पुत्रकाम्या ।
त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति ॥ ३ ॥

भा०—(अदितिः) अखण्डित, ब्रह्मचारिणी स्त्री (पुत्रकाम्या) पुत्र की अभिलाषा वाली होकर (यम् परिहस्तम्) निज पाणिग्रहण करने वाले जिस पति को (अबिभः) धारण करती है । (तम्) उसको (अस्याः) इस पत्नी के संग (त्वष्टा) परमात्मा (इति) इसलिये (आबध्नात्) सब प्रकार से बांधता है कि (यथा) जिससे वह स्त्री (पुत्रं जनात्) पुत्र को उत्पन्न करे ।

पति स्त्री के हाथ में कंकण पहनाता या अपना रक्षासूत्र केवल इस बातको सूचित करने के लिये बांधता है कि वह उसका पति है । वह कंकण ही सधवापन का चिह्न है । वह पति पुत्रको उत्पन्न करता है । केवल कंकणपरक अर्थ करना असंगत है, क्योंकि जड़ कंकण पुत्रको उत्पन्न करने में असमर्थ है ।



[८२] वर-वरण का उपदेश ।

जायाकामो भग ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

आगच्छत आगतस्य नाम गृह्णाम्यायतः ।
इन्द्रस्य वृत्रघ्नो वन्वे वासवस्य शतक्रतोः ॥ १ ॥

भा०—विवाह करने वाले वरका स्वागत करने का उपदेश करते हैं । कन्या के पिता आदि लोग वर-पक्ष के लोगों को या स्वयं वरार्थी पुरुषों

३–(च०) 'सुवादिति' इति पैप्प० सं० ।

[८२] १–'आगच्छता गतस्य' इति पैप्प० सं० । (च०) 'शतक्रतो' इति सायणाभिमतः ।

को कहें। हे विद्वान्, योग्य पुरुषो ! (आगच्छत) आओ और विराजो। मैं (आगतस्य) कन्या को प्राप्त करने के लिये मेरे द्वार पर आये पुरुष के (नाम) नाम को (गृह्णामि) लेता हूँ, स्पष्ट रूप से सबके सामने उच्चारण करता हूं जिससे आप लोग सब जान जायँ कि मैं अपनी कन्या का विवाह कितने उत्तम पुरुष से कर रहा हूं। और (आयतः) आये हुए (वृत्रघ्नः) विघ्नों के नाशक, (वासवस्य) धन, ऐश्वर्य के स्वामी (शतक्रतोः) सैकड़ों प्रज्ञाओं और कर्मों के साधक विद्वान् क्रियाशील (इन्द्रस्य) इन्द्र राजा के समान प्रतिष्ठाशील पुरुषको अपनी कन्या के लिये (वन्वे) वरता हूं, स्वीकार करता हूं।

वर या वींद को राजा के। समान सजाकर लेजाने की आज्ञा वेद के आदेश के अनुसार है। परन्तु जो ब्राह्मण हैं उनका इन्द्रत्व विद्या के आचार्य होने से ही जानना चाहिये। जैसा उपनयन एवं वेदारम्भ में लिखा है:—कस्य ब्रह्मचार्यसि। बालकः—भवतः। गुरुः—इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि। अग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव।

येन सूर्यां सावित्रीमश्विनोहतुः पथा।
तेन मामब्रवीद् भगो जायामा वहतादिति ॥ २ ॥

भा०—(अश्विनौ) दिन और रात (येन पथा) जिस मार्ग से, जिस विधि ।से (सावित्रीं सूर्याम्) प्रकाश उत्पन्न करने वाली प्रभाको (ऊहतुः) बड़े आदर से समस्त विश्व में फैलाते हैं उसी प्रकार (अश्विनौ) वर के माता पिता (सावित्रीम) पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ नवयुवति, नवोढ़ा कन्या को उसी मान आदर से (ऊहतुः) अपने घर लेजावें। इसलिये वर कहता है कि (भगः) भग=ऐश्वर्यवान् मेरा पिता (माम् इति अब्रवीत्) मुझे यह उपदेश करता है कि (जायाम्) अपनी स्त्री को भी (तेन) उसी आदार से (आवहतात्) बड़े आदर से रथ पर

बैठाकर लेजाओ। इस विवाह प्रकरण का विशेष विवरण (ऋ० मं० १०। सू० १५) में देखो। उसका विवरण (ऐ० ब्रा० ४ । ७) में स्पष्ट है।

यस्तेऽङ्कुशो वसुदानो बृहन्निन्द्र हिरण्ययः।
तेना जनीयते जायां मह्यं धेहि शचीपते ॥ ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमात्मन्! (यः) जो (ते) तेरा (अंकुशः) अंकुश, शासन (वसुदानः) बहुत धन वितरण करने वाला (हिरण्ययः) सुवर्णमय (बृहन्) बहुत बड़ा है। हे (शचीपते) समस्त शक्तियों के स्वामिन्! (तेन) उसी अंकुश या शासन से (जनीयते) पुत्रोत्पादन करने योग्य पत्नी की कामना करने वाले (मह्यं) मुझे भी (जायां धेहि) जाया, स्त्री का प्रदान कर।

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

[तत्र दश सूक्तानि ऋचश्चैकत्रिंशत् ।]



[८३] अपची या गण्डमाला रोग की चिकित्सा।

अंगिरा ऋषिः। मन्त्रोक्ता देवता। १ अनुष्टुप्। ४ एकावसाना द्विपदा निचृद् आर्ची अनुष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु ॥ १ ॥

भा०—गण्डमाला की चिकित्सा का उपदेश करते हैं। हे (अपचितः) गण्डमाला अपची रोग के विना पके फोड़ो! (वसतेः) अपने वास स्थान से (सुपर्ण इव) पक्षी श्येन के समान (प्र पतत) शीघ्र ही विनष्ट हो

३-(च०) 'त्वं धेहि शतक्रतो' इति पैप्प० सं०।

जाओ । (सूर्यः) सूर्य (भेषजम्) चिकित्सा (कृणोत) करे (वा) अथवा (चन्द्रमाः) चन्द्र (अप उच्छतु) इनको दूर करे । सूर्य की किरणों से या चन्द्र की किरणों से गण्डमाला की चिकित्सा करनी चाहिये । नीले रंग की बोतल से रक्तविकार के विस्फोटक दूर होते हैं । यही प्रभाव चन्द्रालोक का भी है । रात्रि के चन्द्राताप में पड़े, जल से प्रातः विस्फोटकों को धोने से उनकी जलन शान्त होती और विष नाश होता है । यह लेखक का निजी अनुभव है ।

एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे ।
सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन ॥ २ ॥

भा०—उक्त गण्डमालाओं में से (एका) एक (एनी) हलकी लाल श्वेत रंग की स्फोटमाला होती है और (एका) दूसरी एक (श्येनी) श्वेत फुन्सी वाली होती है । (एका) तीसरी एक (कृष्णा) काली फुन्सियों वाली होती है । और (द्वे) दो प्रकार (रोहिणी) लाल रंग की होती हैं । उनको क्रम से एनी, श्येनी, कृष्णा और रोहिणी नाम से कहा जाता है । इस प्रकार (अहम्) मैं (सर्वासाम्) इन सबके (नाम) नाम और लक्षणों का अथवा इनके नमन या दमन या वश करने के उपाय का (अग्रभम्) उपदेश करता हूं । जिससे ये (अवीरघ्नीः) पुरुष का जीवन विनाश किये बिना ही (अपेतन) दूर होजाया करें ।

असूतिका रामायण्यपचित् प्र पतिष्यति ।
ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति ॥ ३ ॥

भा०—(असूतिका) जो गण्डमाला पीप पैदा नहीं करती वह (रामायणी) रामा=रक्तनाड़ी में ही छिपी रहती है, ऐसी (अपचित्)

३–(च०) 'गलन्तः' इति क्वचित् ।

अपची या गण्डमाला भी पूर्वोक्त उपचार से (प्र पतिष्यति) विनष्ट हो जायगी । (इतः) इस स्थान से (ग्लौः) व्रणकी पीड़ा भी (प्र पतिष्यति) विनष्ट हो जायगी । (सः) वह (गलुन्तः) गलने से, परिपक्व होजाने से (नशिष्यति[1]) विनष्ट हो जायगी ।

वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि ॥४॥

भा०—हे पुरुष ! रोगिन् ! तू (स्वाम्) अपनी (आहुतिम्) भोजन सामग्री को (मनसा जुषाणः) अपने मन से प्रेम करते हुए (वीहि) खाया कर । (यद्) जो कुछ भी (इदम्) यह कटु ओषधि भी (जुहोमि) मैं तुझे दूं उसको (मनसा) मन से (स्वाहा) उत्तम जानकर सेवन कर । तभी रोग नष्ट होगा और खाये हुए औषध और अन्न का फल होगा । अथवा अपने (मनसा) मननपूर्वक भोजन करो और जो मैं ईश्वर (जुहोमि) तुम लोगों को देता हूं उसको भी मननपूर्वक (स्वाहा) स्वीकार करो। अविवेक से किसी पदार्थ को न खाओ और न उपयोग में लो।



[८४] आपत्ति और कष्टों के पापों से मुक्त होने की प्रार्थना ।

अङ्गिरा ऋषिः । निर्ऋतिर्देवता । १ भुरिक् जगती । २ त्रिपदा आर्ची बृहती
३ जगती ४ भुरिक् त्रिष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यस्यास्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कम् ।
भूमिरिति त्वाभिप्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परि वेद
सर्वतः ॥ १ ॥ यजु० १२ । ६४ ॥

---

१. 'न, शिप्यासि' इति सायणसम्मतः पदच्छेदः ।
४–'सकलं तेन शुध्यति [शुष्यति]' इति पैप्प० सं० ।
१–(प्र०) 'घोर आसन्' इति यजु० । 'क्रूर आसन्' इति पैप्प० सं०। 'यदधते आसनि' इति मै० सं० । (द्वि०) 'बन्धनाम्' यजु०, तै०

भा०—हे निर्ऋते ! पापमय, असत्यमय, आलस्यमय प्रवृत्ते ! (यस्याः (ते) जिस तेरे (घोरे आसनि) घोर मुख में (एषाम्) इन (बद्धानाम्) विषयों में बंधी हुई इन्द्रियों के (अव-सर्जनाय) सुख पूर्वक विचरण के लिये (जुहोमि) अपने आपको आहुति करता हूं। उस (त्वा) तुझको (जनाः) प्राणी लोग (भूमिः इति) अपने जीवन का आश्रय, सुख-भूमि रूप से या जीव को जन्मदात्री (अभि-प्रमन्वते) मानते हैं परन्तु (अहं) मैं ज्ञानवान् पुरुष तो (त्वा) तुझको (सर्वतः) सब प्रकार से (निर्ऋतिः) आनन्द रहित, निःसुख, कष्टकारिणी ही (परि वेद) जानता हूं।

दुनियां इन्द्रियों के विषय-सुखों को जीवन का आश्रय समझती है। परन्तु आत्मज्ञानी विषय-सुखों को ही हेय पदार्थ समझता है। निर्ऋतिः निरमणात् (निरु०)।

भूते॑ ह॒विष्म॑ती भवै॒ष ते॑ भा॒गो यो अ॒स्मासु॑ ।
मु॒ञ्चेमान॒मूनेन॑स॒ः स्वाहा॑ ॥ २ ॥

भा०—हे भूते ! संभूते ! आत्मा के देह में उत्पन्न होने के कारण-रूप ! तू (हविष्मती भवः) हवि=अन्न=भोग्य पदार्थों से सम्पन्न (भव) हो। (एषः) यही (ते) तेरा (भागः) भाग=सेवन करने योग्य पदार्थ है (यः) जो (अस्मासु) हम प्राणियों में विद्यमान है (इमान्) इन इहलोक के वासी और (अमून्) उन इस लोक में शरीर छोड़कर जाने वाले सब जीवों को (एनसः) पाप से (मुञ्च) मुक्त कर (स्वाहा) हमारी यही उत्तम प्रार्थना है। प्राणी उत्पन्न हों तो उनको उत्तम

सं० । 'बन्धानां प्रमोचनाय' इति मै० सं० । (तृ० च०) 'यंत्वा-जनो भूमिरिति प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाहं परिवेद विश्वतः' इति यजु० ।
२–(प्र०) 'भूमे हवि–' इति लडविगृकामितः ।

उत्तम अन्न आदि भोग्य पदार्थ प्राप्त हों । और वे सब जीव कुप्रवृत्ति से मुक्त होकर पाप से दूर रहें ।

एवो ष्व१स्मन्निर्ऋते नेहा त्वमयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान् ।
यमो मह्यं पुनरित् त्वा ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥३॥

अथर्व० ६ । ६३ । २ (द्वि० तृ० च०)

भा०—हे (निर्ऋते) दुष्प्रवृत्ते ! ज्ञानशून्ये ! अविद्ये ! दुःखकारिणि ! (अनेहा) निश्चेष्ट अथवा आघात रहित होकर (एव उ) ही (त्वम्) तू हमारे (अयस्मयान्) आवागमन के बने हुए मानो लोहे से बने (बन्धपाशान्) कर्मबन्धन के फन्दों को (अस्मत्) हमसे (विचृत) खोलदे दूर कर । (यमः) वह सर्वनियन्ता प्रभु (पुनः इत्) फिर भी (त्वा) तुझको (मह्यम्) भोग निमित्त मुझे (ददाति) प्रदान करता है । मैं (तस्मै) उस(यमाय) सर्व नियन्ता को (नमः) नमस्कार करता हूं । (मृत्यवे) जो देह को आत्मा से और आत्मा को बन्धनों से मुक्त करता है ।

भोगापवर्गार्थं दृश्यम् । सांख्य । प्रकृति का बना संसार या कर्म अविद्या भोग के लिये है और यही तत्व ज्ञानी के लिये अपवर्ग का कारण होती है ।

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥४॥

भा०—व्याख्या देखो [६ । ६३ । ३]



[८५] यक्ष्मा रोग की चिकित्सा ।

अथर्वा ऋषिः । यक्ष्मनाशनकामो । वनस्पतिर्देवता । अनुष्टुभः । तृच सूक्तम् ॥

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥ १ ॥

अथर्व० १० । ३ । ५ ॥

भा०—यक्ष्मा दोष के नाश का उपदेश करते हैं। (अयं) यह (वरणः) वरण नाम का (देवः) दिव्य गुण वाला (वनस्पतिः) वृक्ष (वारयातै) बहुतसे दोषों को नाश करता है । (अस्मिन्) इस पुरुष में (यः) जो (यक्ष्मः) रोगकारी कीटाणु (आविष्टः) प्रवेश कर गये हैं (तम् उ) उनको भी (देवाः) विद्वान् लोग (अवीवरन्) वरण नामक औषध के बलसे ही दूर करदें। वरण=वरुण=जीरक, इसके तीन भेद हैं। शुक्ल जीरक, कृष्ण जीरक और बृहत्पाली। जिनमें बृहत्पाली। जीर्ण ज्वर का भी नाशक है। कृमिघ्न तो सभी हैं। वरुण तमाल वृक्ष का भी नाम है। वह सुगन्ध होने से कदाचित् यक्ष्मदोष को दूर करने में सहायक हो।

इन्द्र॑स्य॒ वच॑सा व॒यं मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य च ।
दे॒वानां॒ सर्वे॑षां वा॒चा यक्ष्मं॑ ते वारयामहे ॥ २ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) सूर्य (मित्रस्य) मरण से त्राण=रक्षा करने वाली शुद्ध वायु और (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ या व्यापक विद्युत् सम्बन्धी (वचसा) उत्तम उपदेशों द्वारा और (सर्वेषां देवानाम्) समस्त देव विद्वानों की वाणी, सत्-शिक्षा से हम (ते यक्ष्मं) तेरे राजरोग को भी (वारयामहे) दूर करें।

यथा॑ वृ॒त्र इ॒मा आप॑स्त॒स्तम्भ॑ वि॒श्वधा॑ य॒तीः ।
ए॒वा ते॑ अ॒ग्निना॒ यक्ष्मं॑ वैश्वान॒रेण॑ वारये ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (वृत्रः) मेघः (विश्वधा यतीः) सब ओर बहने वाले (इमाः, आपः) इन जलों को (तस्तम्भ) अपने भीतर रोक रखता है उसी प्रकार वैद्य रोगी की धातुओं को क्षीण होने से

३–(द्वि०) 'विश्वधायतीः' इति सायणाभिमतः। (प्र०) 'वृत्रैमापः' इति पैप्प० सं०।

रोके और (एवा) इस प्रकार (वैश्वानरेण) सब मनुष्यों के हितकारी (अग्निना) अग्नि से (ते यक्ष्मम्) तेरे राज-रोग को (वारये) दूर करूं ।



[८६] सर्वश्रेष्ठ होने का उपदेश ।

वृषकामोऽथर्वा ऋषिः । एकवृषो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

वृषेन्द्रस्य वृषा दिवो वृषा पृथिव्या अयम् ।
वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो भव ॥ १ ॥

भा०—सब से श्रेष्ठ होने के लिये वेद उपदेश करता है । हे पुरुष ! (इन्द्रस्य) उस परम ऐश्वर्य से तू भी (वृषा) सब काम्यसुखों का वर्षक (भव) हो । (दिवः) द्यौः सूर्य के तेज से जिस प्रकार मेघ पानी बरसाता है उसी प्रकार तू भी तेज से युक्त होकर (वृषा भव) सब पर सुखों की वर्षा करने वाला हो । (अयम्) यह मेघ (पृथिव्याः वृषाः) पृथिवी पर जिस प्रकार सब वृष्टियां करता और अन्न उत्पन्न करता है उसी प्रकार तू भी सब पदार्थ दूसरों पर न्योछावर करके उनके सुखों को उत्पन्न कर । (विश्वस्य भूतस्य वृषा) समस्त चर अचर प्राणियों के लिये सुखों का वर्षक होकर हे पुरुष ! (त्वम्) तू भी (एक-वृषः भव) एकमात्र सर्वश्रेष्ठ हो ।

समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या वशी ।
चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार (स्रवताम्) बहने वाले जलों, नदी नालों पर (समुद्रः) समुद्र ही (ईशे) वश करता है । और जिस प्रकार (पृथिव्याः)

[८६] १–'ऐन्द्रस्य','ईश्रस्य' वा इति ह्विटनिकामितः ।
२–(तृ०) 'सूर्यो नक्षत्राणाम्' इति पैप्प० सं० ।

पृथिवी के तल पर उत्पन्न होने वाले सब वनस्पतियों पर (अग्निः) अग्नि उनको भस्म करने वाली होने के कारण (वशी) उन पर वश किये हुए है और जिस प्रकार (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों में से (चन्द्रमाः ईशे) चन्द्र ही अपने तेज से सब के प्रकाशों को दबा लेता है, उसी प्रकार हे पुरुष ! तू समस्त प्रजाजनों के बीच में (एकवृषः) एकमात्र सर्वश्रेष्ठ (भव) हो, होने का यत्न कर ।

सम्राडस्यसुराणां कुकुन्मनुष्याणाम् ।
देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव ॥ ३ ॥

भा०—हे उत्तम पुरुष ! तू (असुराणाम्) बलवान् पुरुषों का भी (सम्राट् असि) सम्राट् है । (मनुष्याणाम्) साधारण मनुष्यों में अथवा मननशील पुरुषों में भी (ककुत्) सबके ऊपर विराजमान हैं । (देवानाम्) दिव्य शक्तियों के धारण करनेवाले विज्ञानी पुरुषों में (अर्ध-भाक् असि) श्रेष्ठ पद को पाने वाला है । अतः (त्वम्) तू ही (एक-वृषः भव) एकमात्र सर्वश्रेष्ट हो ।



[८७] राजा को स्थायी और दृढ़ शासक होने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । ध्रुवो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत् ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १७३ । १ ॥

---

[८७] १–'अन्तरेधि' (द्वि०) 'चाचलिः' इति ऋ० । (च०) 'अस्मिन् राष्ट्रमधिश्रय' इति तै० सं० । 'अस्मे राष्ट्राणि धारय' इति तै०सं०। ऋग्वेदे ध्रुव ऋषिः । राज्ञः स्तुतिर्देवता ।

भा०—राजा को प्रजा का स्थायी शासक होने का उपदेश करते हैं। हे राजन् ! मैं समस्त प्रजाजनों का प्रतिनिधि, पुरोहित (त्वा) तुझको (आहार्षम्) यहां राजसभा के मुख्य पद पर लाता हूं। तू (अन्तः अभूः) हम सब के बीच में शक्तिमान् होकर रह। तू (ध्रुवः) स्थिर (अविचाचलत्) कभी भी प्रलोभन, भय और स्वार्थ के झकोरों से भी न डिगता हुआ (तिष्ठ) इस आसन, राज्य-सिंहासन पर बैठ। (त्वा) तुझको (सर्वाः विशः) समस्त नगर में बसने वाली प्रजाएं (वाञ्छन्तु) हृदय से चाहें। देख, कहीं किसी तेरे दोष से यह (राष्ट्रम्) तेरा राष्ट्र (त्वत्) तेरे अधिकार से (मा अधि-भ्रशत्) न फिसल जाय। अर्थात् जब तक प्रजा तुझको चाहेगी तब तक ही तू इस पद पर राष्ट्र का शासन कर पायेगा और जब यह प्रजाएं न चाहेंगी तो यह राष्ट्र तेरे शासन से निकल जायगा।

इ॒हैवैधि॒ माप॑ च्योष्ठाः॒ पर्व॑त इ॒वावि॑चाचलत् ।
इन्द्र॑ इ॒वे॒ह ध्रु॒वस्ति॑ष्ठे॒ह रा॒ष्ट्रमु॑ धारय ॥ २ ॥

ऋ० १० । १७३ । २ ॥

भा०—हे राजन् ! (इह एव एधि) इस राष्ट्र में तू सत्तावान् होकर रह। (मा अप च्योष्ठाः) तू कभी च्युत मत हो, अपने कर्त्तव्य से मत गिर। और (पर्वत इव) पर्वत के समान (अविचाचलत्) किसी प्रकार विचलित न होता हुआ (इन्द्र इव) सूर्य के समान (ध्रुवः) स्थिर होकर (इह) इस राजपद पर (तिष्ठ) विराज और (राष्ट्रम् उ धारय) राष्ट्र को पालन कर।

२–(द्वि०) 'चाचलिः' इति ऋ०। (प्र०) 'माव्यमिष्ठाः' इति तै० ब्रा०। (च०) 'यज्ञम्' इति आप० श्रौ० सू०। 'राष्ट्रं निधा–' इति पैप्प० सं०।

इन्द्रं एतमदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषां ।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १७३ । ३ ॥

भा०—जिस प्रकार (इन्द्रः) परमेश्वर (एतम्) इस ब्रह्माण्ड को (ध्रुवेण) अपनी स्थिर, सदा वर्त्तमान (हविषा) आदान शक्ति से (ध्रुवम्) स्थिर रूप में (अदीधरत्) धारण कर रहा है। उसी प्रकार राजा भी इस राष्ट्र को (इन्द्रः) अधिपति होकर अपनी (ध्रुवेण हविषा) स्थिर प्रतिष्ठापक शक्ति से (अदीधरत्) धारण करे। (तस्मै) उस इन्द्ररूप राजा को (सोमः) यह शान्त प्रकृति या सबका प्रेरक धर्माध्यक्ष और (ब्रह्मणस्पतिः च) वेद का विद्वान् आचार्य भी (अधि ब्रवत्) उपदेश करे।



[८८] राजा को ध्रुव होने का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः । ध्रुवो देवता । १–२ अनुष्टुभौ । ३ त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १७३ । ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (द्यौः ध्रुवा) यह द्यौः लोक ध्रुव स्थिर है। जिस प्रकार (पृथिवी ध्रुवा) पृथिवी भी स्थिर है वह अपने क्रान्ति-मार्ग से विचलित नहीं होती। (इदं विश्वं जगत्) यह समस्त संसार

३-(प्र०) 'इममिन्द्रो अदी' (तृ०) 'तस्माउ' इति ऋ० । 'तस्मैदेवा अधिब्रुवन्' इति तै० ब्रा० ।

[८८] १–प्र० तृ० द्वि० च० इति पादक्रमः ऋ० । (तृ०) 'ध्रुवा ह–' इति तै० ब्रा० ।

(ध्रुवम्) ध्रुव, अपने नियमों में स्थिर है । जिस प्रकार (इमे पर्वताः ध्रुवासः) ये पर्वत भी ध्रुव हैं । उसी प्रकार (अयम् राजा) यह राजा भी (विशाम्) प्रजाओं में (ध्रुवः) स्थिर हो ।

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥ २ ॥

ऋ० १० । १७३ । ५ ॥

भा०—हे राजन् ! (ते) तेरे (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (राजा वरुणः) सब का राजा, वह सर्वश्रेष्ठ प्रभु (ध्रुवम्) ध्रुव स्थिर करे । (देवः बृहस्पतिः) वही समस्त विशाल लोकों का पालक परम देव तेरे राष्ट्र को (ध्रुवम्) स्थिर करे । (इन्द्रः च) वह ऐश्वर्यशील और (अग्निः च) ज्ञानस्वरूप प्रभु (ते) तेरे राष्ट्र को (ध्रुवं धारयताम्) स्थिर रूप से धारण करे ।

अथवा वरुण, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि ये राष्ट्र के विशेष शासकों के पद हैं । वरुण—पोलीस विभाग का अध्यक्ष । बृहस्पति–मुख्य सचिव इन्द्र । सेनापति, अग्नि–नायक ।

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व ।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥ ३ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (अच्युतः) अपने कर्त्तव्यों से न चूक कर (ध्रुवः) स्थिर रहता हुआ (शत्रून्) राष्ट्र का नाश करने वाले पुरुषों को (प्र मृणीहि) खूब कुचल डाल । और (शत्रूयतः) शत्रु पुरुषों के समान आचरण करने वाले पुरुषों को (अधरान्) नीचे (पादयस्व) गिरा दे । (सर्वाः दिशः) सब दिशाएं, सब दिशाओं की निवासी प्रजाएं

३–(द्वि०) 'पातयस्व' इति सायणाभिमतः ।

(सध्रीचीः) एक साथ रहती हुईं (सं-मनसः) एक चित्त होकर रहें। (समितिः) प्रजाओं की महासभा (इह) इस राष्ट्र में (ते ध्रुवाय) तेरे स्थिरता के लिये (कल्पताम्) बनी रहें।



[८९] पति का कर्त्तव्य पत्नीसंरक्षण।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

इदं यत् प्रेण्यः शिरो दत्तं सोमेन वृष्ण्यम् ।
ततः परि प्रजातेन हार्दिं ते शोचयामसि ॥ १ ॥

भा०—(यत्) जो (इदम्) यह (प्रेण्याः) प्रियतमा पत्नी का (वृष्ण्यम्) बलप्रद (शिरः) शिर—इज्ज़त, कीर्त्ति (सोमेन) सर्व जगत् के प्रेरक परमात्मा ने हे पुरुष! तेरे हाथ में (दत्तम्) दी है। (ततः) उस स्त्री की कीर्त्ति से (प्र-जातेन) उत्पन्न हुए उत्कृष्ट तेरे यश या कर्त्तव्य से (ते) तेरे (हार्दिम्) हृदय के भावों को (परि शोचयामसि) हम उद्दीप्त करते हैं। मनुष्य स्त्रियों की कीर्त्ति की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझे और उनकी बे-इज्जती होती देखे तो अपने हृदय में मन्यु धारण करे। इसी प्रकार स्त्रियें भी अपने पतियों के यश की रक्षा करें।

शोचयामसि ते हार्दिं शोचयामसि ते मनः ।
वातं धूम इव सध्र्य१ङ् मामेवान्वेतु ते मनः ॥ २ ॥

भा०—हे मित्र! उसी कर्त्तव्य से (ते) तेरे (हार्दिम्) हृदय के भावों को हम (शोचयामसि) उद्दीप्त करते हैं। (ते मनः) तेरे मन को (शोचयामः) उद्दीप्त करते हैं। हे स्त्री! (ते मनः) तेरा संकल्प विकल्प करने वाला मन, अंतःकरण (वातं धूम इव) जिस प्रकार वायु

---

[८६] १–'परिप्रजातेन' इत्येकं पदमिति सायणः।
२–(तृ०) 'सध्रि' इति सायणाभिमतः।

के झकोरे के साथ धूआं उड़ा चला जाता है उसी प्रकार (माम् एव) मेरे ही (सध्यङ्) साथ २ (अनु एतु) पीछे २ चले। इसी प्रकार स्त्री भी पुरुष के प्रति भावना करे।

मह्यं त्वा मित्रावरुणौ मह्यं देवी सरस्वती ।
मह्यं त्वा मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्यताम् ॥ ३ ॥

भा०—हे स्त्री ! (त्वा) तुझको (मित्रावरुणौ) मित्र=मरण से बचाने वाला और वरुण=सर्वशरीरव्यापी प्राण और अपान (समस्यताम्) मिलाएं। (देवी सरस्वती त्वा मह्यं समस्यताम्) देवी सरस्वती यह वाणी तुझे मेरे साथ मिलाए रक्खे। (भूम्या मध्यम्) भूमि का मध्य भाग जहां हमारा घर बना है और (उभौ अन्तौ) उसके दोनों छोर भी (त्वा मह्यं समस्यताम्) तुझे मेरे साथ जोड़े रक्खें। अर्थात् प्राण अपान, जीवन, और वाणी से हम दोनों स्त्री पुरुष परस्पर प्रेम करें भूमि के बीच में और देश देशान्तरों में भी एक दूसरे का त्याग न करें।



[९०] रोग पीड़ाओं को दूर करने के उपायों का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। रुद्रो देवता। १-२ अनुष्टुभौ। ३ आसुरी भुरिग् उष्णिक्।
तृचं सूक्तम् ॥

यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च ।
इदं तामद्य त्वद् वयं विषूचीं वि वृहामसि ॥ १ ॥

भा०—हे पुरुष ! (रुद्रः) सर्व शरीरस्थ आत्माओं को रुलाने वाले रुद्र (याम्) जिस (इषुम्) बाण को तेरे (अंगेभ्यः) शरीर के अंगों और (हृदयाय च) हृदय के प्रति (आस्यत्) फेंकता है (अद्य) आज,

१-(तृ०) इमां त्वामद्य ते वयं' इति पैप्प० सं०।

अव (ताम्) उस पीड़ाकारी बाण को (त्वत्) तुझसे (विषूची) परे, विपरीत दिशा में (वि वृहामसि) दूर कर देते हैं। हृदय और शरीर में आने वाले पीड़ा और दुःख के कारणों का पहले ही से उपाय करना चाहिये।

यास्ते॑ श॒तं ध॒मन॒योऽङ्गा॒न्यनु॒ विष्ठि॑ताः।
तासां॑ ते॒ सर्वा॑सां व॒यं निर्वि॒षाणि॑ ह्वयामसि ॥ २ ॥

भा०—(याः) जो (ते) तेरे शरीर की (शतं धमनयः) सैकड़ों नाड़ियां (अङ्गानि) शरीर के अंगों २ में (अनु-विष्ठिताः) व्यापक हो रही हैं (ते) तेरी (तासां सर्वासाम्) उन सबों के (निर्विषाणि) अंगों को विषरहित, शुद्ध करने के उपाय (ह्वयामसि) करें।[1] शरीर में विष (Poison) बैठ जाने से अंगों में दर्द होता है इसलिये पीड़ा को दूर करने के लिये शरीर के विषों को दूर करना चाहिये। दर्द आप से आप दूर हो जायगा।

नम॑स्ते रु॒द्रास्य॑ते॒ नमः॑ प्रति॑हितायै।
नमो॑ विसृ॒ज्यमा॑नायै॒ नमो॒ निप॑तितायै ॥ ३ ॥

भा०—रोगपीड़ा की चारों दिशाओं में चिकित्सा का उपदेश करते हैं। हे रुद्र ! रुलाने वाले कारण ! (ते) तेरे (अस्यते) फेंकते हुए तुझे (नमः) हम वश करें। यदि उस समय तुझे न वश कर सकें तो (प्रतिहितायै नमः) तेरे फेंकने के लिये तैयार बाण या शूलकरी तीक्ष्ण धार को (नमः) हम वश करें। यदि उसे भी न रोक सकें तो (विसृज्यमानायै नमः) जब छोड़ ही दिया हो ऐसे बाण को मध्य में वश करें अथवा (निपतितायै) जब गिर पड़े तब उसको (नमः) वश करें।

२–(प्र०) 'यास्ते हिरा' (तृ०) 'सर्वासां साकं' इति पैप्प० सं०।

३–(द्वि०) 'प्रतिहिताभ्यः' (तृ० च०) 'विसृज्यमानाभ्यो नमस्त्रय ताभ्यः' इति पैप्प० सं०।

पीड़ाजनक रोग को बाण से उपमा देकर उसके वश करने का उपदेश किया है। प्रथम रोग कारणों को दूर करें और दूसरे जब रोग के कारणों से रोग उत्पन्न होने को हों तब उनको रोकें और तीसरे जब उत्पन्न हो रहे हों तब रोकें और चौथे जब रोग आ भी जाय तब भी उसको वश करें।

[९१] भवरोग-विनाश के उपाय।

भृग्वङ्गिराः ऋषिः । यक्ष्मा देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः ।
तेना ते तन्वो३ रपोऽपाचीनमप व्यये ॥ १ ॥

भा०—भव-रोग के विनाश का उपाय बतलाते हैं। (इमम्) इस (यवम्) शरीर इन्द्रिय आदि संघात को मिलाये रखने वाले आत्मा को (अष्टायोगैः) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि, इन आठ प्रकार के योगों द्वारा और (षड्-योगैः) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और मुमुक्षत्व इन छः के योग, सम्पत्ति से (अचर्कृषुः) कर्षण करते हैं अर्थात् आत्म-भूमि को शोधन करते हैं। (तेन) इस योगाभ्यास से (ते) तेरे (तन्वः) आत्मा और शरीर का (रपः) पाप और रोग (अपाचीनम्) दूर (अप व्यये) करने का उपदेश करता हूं।

न्य१ग् वातो वाति न्य१क् तपति सूर्यः ।
नीचीनमघ्न्या दुहे न्य१ग् भवतु ते रपः ॥ २ ॥

ऋ० १० । ६० । ११ ॥

---

[९१] १-(च०) 'प्रतीचीन अपहयता' इति पैप्प० सं० ।
२-(प्र०) 'वातो अववाति' इति ऋ० । तत्र बन्ध्वादयो गोपायना ऋषयः । सुबन्धो जीविताह्वानं देवता ।

भा०—हे पुरुष ! (वातः) प्राण वायु (न्यग्) शरीर के नीचे के मार्ग में भी (वाति) गति करता है । (सूर्यः) साधक का चेतनामय सूर्य (न्यक्) नीचे के मूल भाग में भी (तपति) प्रकाशित होता है । (अघ्न्या) कभी न नाश होने वाली चेतना (नीचीनम्) नीचे के मूल भाग में विशेष रूप में प्रकट होती है, साथ ही (ते रपः) तेरा पाप भी (न्यग् भवतु) स्वयं दब कर दूर हो जाय । अथवा—जिस प्रकार (वातः न्यग् वाति) वायु नीचे की तरफ़ वेग से जाता है (सूर्यः न्यक् तपति) सूर्य जिस प्रकार नीचे भूमि पर तपता है, जैसे (अघ्न्या नीचीनम् दुहे) जैसे गाय नीचे झुक कर दूध देती है उसी प्रकार तेरा (रपः) पाप भी (न्यग्) नीचे (भवतु) हो जाय ।

आप इद् वा उं भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृणवन्तु भेषजम् ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १३७ । ६ ॥ अथर्व० ३ । ७ । ५ ॥

भा०—अथवा (आपः इत् वा) जल ही (भेषजीः) सब रोगों की चिकित्सा है, क्योंकि (आपः) जल ही (अमीव-चातनीः) रोगों का नाशक हैं । (आपः) जल ही (विश्वस्य) समस्त प्राणियों के (भेषजीः) रोग दूर करती हैं, वही (भेषजम्) रोग को दूर (कृण्वन्तु) करें ।

इस सूक्त में तीन प्रकार से मल और पापों को नाश करने का उपदेश किया है (१) योगाभ्यास से चित्त के पापों को दूर करे । (२) क्रिया-योग से कायिक दोषों को दूर करे और (३) जल-स्नान से शरीर के बाह्य मलों को दूर करे ।



३–(तृ०) 'सर्वस्य भेष–' इति ऋ० । (तृ० च०) 'आपः समुद्रार्थायतीः परावहतु ते रपः' इति पैप्प०सं० । ऋग्वेदे सप्त ऋषय ऋषयः ।

[९२] प्राणरूप अश्व का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । वाजी देवता । २, ३ त्रिष्टुभौ । १ जगती । तृचं सूक्तम् ॥

वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥१॥

यजु० ९ । ८ ॥

भा०—हे (वाजिन्) वाज, बल, ज्ञान से युक्त प्राण ! (युज्यमानः) तू इस देह में नियुक्त होकर (वात-रंहाः भव) वायु के वेग वाला हो। और (मनोजवाः) मानसिक वेग से गतिमान् होकर तू (इन्द्रस्य) इस आत्मा के (प्रसवे) उत्तम ज्ञान-सम्पादन और इन्द्रियों के और शरीर के संचालन के कार्य में (याहि) गति कर । (त्वा) तुझे (मरुतः) ज्ञानी पुरुष (विश्व-वेदसः) सब धनों को प्राप्त करनेवाले, तपस्वी (युञ्जन्तु) योगाभ्यास द्वारा नियुक्त करें । अथवा इन्द्रियगण सब पदार्थों को ज्ञान करने और प्राप्त करने में अपने भीतर लें (त्वष्टा) स्वयं इन्द्र आत्मा (ते) तेरे (पत्सु) समस्त चरणों में, गमन साधनों में (जवम्) वेग का (दधातु) आधान करे ।

इन्द्रो वै त्वष्टा । (ऐ० ६ । १०) शरीर का प्राण; प्राण वायु के वेगसे चलता है । परन्तु मानसिक बल से प्रेरित होकर वह शरीर के सब कार्यों को चलाता है। विद्वान् लोग उन प्राणों को वश करते हैं । वह आत्मा स्वयं उस प्राण में वेग उत्पन्न करता है । अथवा इन्द्रियगण उस प्राण को अपने ज्ञान और कर्म करने में लगाती हैं ।

अश्वपक्ष में—हे (वाजिन् युज्यमान त्वं वात-रंहाः भव) हे वेगवान् अश्व ! गतिमान् यन्त्र-रथ में जुड़ा हुआ तू वायु के वेगवाला हो ।

---

[९२] १–(द्वि०) 'इन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि' इति यजु० । (तृ०) 'मरुतो देव्यस्' इति पैप्प० सं० ।

और (इन्द्रस्य प्रसवे मनोजवाः याहि) राजा की प्रेरणा में आकर तू मन के वेगवाला होकर चल। (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युञ्जन्तु) समस्त साधनों के और ज्ञानों के स्वामी मरुत् वेगवान् तीव्रगामी वीरभट तुझे अपने रथों में लगावें। और (त्वष्टा) त्वष्टा, गढ़ने वाला, कारीगर (ते पत्सु जवं दधातु) तेरे पैरों में वेग को उत्पन्न करे।

जवस्ते अर्वन् निहितो गुहा यः श्येने वात उत योचरत् परीत्तः।
तेन त्वं वाजिन् बलवान् बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः ॥ २ ॥

यजु० ९ । ९ प्र० ॥

भा०—हे (अर्वन्) गतिशील प्राण ! (ते) तेरा (जवः) वेग (यः) जो (गुहा) गुहा, भीतरी अन्तःकरण में (निहितः) रक्खा है और (यः) जो (श्येने) श्येन, ज्ञान के कर्त्ता आत्मा में (परीत्तः) सुरक्षित है (उत) और (यः) जो वेग (वाते) वायु में, प्राण वायुमें (परीत्तः) व्याप्त होकर (अचरत्) शरीर भर में फैल जाता और इन्द्रियों में विचरण करता है हे (वाजिन्) बलवन् ! प्राण ! (तेन) उस सब (बलेन) बल से (बलवान्) बलवान् होकर (समने) इस जीवन-संग्राम अथवा समन, इन्द्रिय-देहादि संघात में (पारयिष्णुः) सब बंधनों को पार करता हुआ सबको वश करता हुआ (आजिम्) चरम पद को (जय) विजय कर, प्राप्त कर।

गौण रूप से अश्व=घोड़े की तरफ भी लगता है—हे अश्व ! जो वेग हृदय में, बाज़ में और वायु में है उससे तू बलवान् होकर समन=संग्राम में सबको पार करता हुआ राज्य लक्ष्मी को प्राप्त कर।

२-(प्र०) 'जवो यस्ते वाजिन्' (द्वि०) श्येने परितो अचरश्च वाते (तृ०) 'तेन नः' (च०) 'वाजजिच्च भव शमने च पार-' इति यजु०। (द्वि०) 'श्येने चरति यश्च वाते' इति पैप्प० सं०।

तनूष्टे वाजिन् तन्वं१ नयन्ती वाममस्मभ्यं धावंतु शर्म तुभ्यम् ।
अह्रुतो महो धरुणाय देवो दिवीव ज्योतिः स्वमामिमीयात् ॥३॥
ऋ० १० ५६ । २ ॥

भा०—हे वाजिन् ! प्राणात्मन् ! (ते तनूः) तेरा व्यापार या तेरी गति (तन्वम्) इस देह को (नयन्ती) चलाती हुई (अस्मभ्यम्) हमें (वामम्) उस प्राण आत्मा को (धावतु) प्राप्त करावे या शुद्ध करे और (तुभ्यम्) तुझे (शर्म) सुख, शान्ति, अनुद्वेग प्राप्त करावे । तूही (देवः) प्रकाशात्मक या शरीर के भीतर सब क्रीड़ाएं करने वाला होकर (धरुणाय) इस शरीर के धारण करने के लिये (अह्रुतः) कभी मूर्छित न होने वाला (महः) महान् शक्ति है । (ज्योतिः) जिस प्रकार सूर्य (दिवि) आकाश में स्वयं प्रकाशमान होता है उसी प्रकार (देवः) तू भी स्वतः प्रकाशमान होकर (स्वम्) अपने इस आत्मा को (आमिमीयात्) प्राप्त हो, प्राप्त करा । अश्व पक्ष में स्पष्ट है ।

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि दश, ऋचश्च द्वात्रिंशत्]

[९३] सेनाओं से रक्षा ।

शंतातिर्ऋषिः । रुद्रो देवता । १-३ त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यमो मृत्युरंघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोस्ता नीलंशिखण्डः ।
देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥१॥

३–(द्वि०) 'धातु शर्म' (तृ०) 'देवान्' (च०) 'मिमीयाः' इति ऋ० । (तृ०) 'दिवो' इति सायणाभिमतः ।

[९३] १–(द्वि०) 'अस्त्रा' इति प्रायः । 'अस्ता' इति सायणाभिमतः । (द्वि०) 'भवः श–', 'शिखण्डी' । (च०) 'वृञ्जन्ति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यमः) सब का नियन्ता, व्यवस्था रखनेवाला, (मृत्युः) सबका मारनेवाला, (अघमारः) दुष्टों को पाप अपराधों के कारण दण्ड देनेवाला, (निर्ऋथः) भरसक पीड़ा देने वाला (बभ्रुः) सबका पालक, या पीली वर्दी पहननेवाला (शर्वः) हिंसा करनेवाला, (अस्ता) बाणों का फेंकनेवाला (नील-शिखण्डः) सिर पर नीला तुर्रा लगा कर चलने वाला ये सब (देव-जनाः) देव=राजा के भिन्न भिन्न प्रकार के अधिकारी पुरुष हैं। ये (सेनया) कप्तान सहित सेना बनाकर (उत्-तस्थिवांसः) दूसरे राष्ट्रों पर चढ़ाई करते हुए भी (अस्माकम्) हम प्रजाओं के (वीरान्) वीर पुरुषों को (परि-वृञ्जन्तु) हानि से बचाये रक्खें।

मन॑सा हो॒मैर्हर॑सा घृ॒तेन॑ श॒र्वाया॒स्त्र उ॒त राज्ञे॑ भ॒वाय॑।
न॒म॒स्ये॑/भ्यो॒ नम॑ ए॒भ्यः कृणोम्य॒न्यत्रा॒स्मद॒घवि॑षा नयन्तु ॥ २ ॥

भा०—(शर्वाय) शत्रुहिंसक, (अस्त्रे) शत्रुओं पर बाणों को फेंकनेवाले और (राज्ञे) राजा और (भवाय) सामर्थ्यवान् सब कार्यों के उत्पादक पुरुषों के लिये (मनसा) अपने चित्त से (होमैः) दानों, धन राशियों से, (हरसा) अपनी शक्ति से (घृतेन) और अपने तेज या स्नेह-मय पुष्टिकारक पदार्थों से हम सहायता करें। (एभ्यः) इन (नमस्येभ्यः) आदर योग्यपुरुषों के लिये (नमः) मैं आदर (कृणोमि) करता हूँ। और चाहता हूँ कि ये लोग (अघविषः) पापों के जहर या विष से पूर्ण या पापों से पूर्ण, नीच व्यक्तियों को (अस्मत् अन्यत्र) हम से अलग (नयन्तु) करें, हममें पापियों को न रहने दें।

त्राय॑ध्वं नो अ॒घवि॑षाभ्यो व॒धाद् विश्वे॑ देवा मरुतो विश्ववेदसः।
अ॒ग्नीषोमा॒ वरु॑णः पू॒तद॑क्षा वातापर्ज॒न्ययोः॑ सुम॒तौ स्या॑म ॥ ३ ॥

२–(द्वि० तृ०) अग्निषोमामरुतः पूतदक्षाः। विश्वदेवा मरुतो वैश्वदेवाः।' इति पैप्प० सं०।

भा०—(विश्वे देवाः) सब शक्तिशाली विद्वान् लोग और (विश्व-वेदसः) सब कुछ जाननेवाले (मरुतः) शीघ्रगामी, सेनानायक लोग (नः) हमें (अघ-विषाभ्यः) पाप से पूर्ण हत्याकारी सेनाओं से और (वधात्) हत्याकारी शस्त्रों से (त्रायध्वम्) बचावें । (अग्नीषोमौ) अग्नि=सेनानायक और सोम=प्रेरक राजा, और (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ महाराज होकर हमें पूर्वोक्त पापियों और हत्याकारों से बचावें । और हम (वातापर्जन्योः) वात=तीव्र वायु के समान शत्रु को उड़ा देनेवाले अथवा राष्ट्र के प्राणस्वरूप और राष्ट्र पर सुखों की वर्षा करनेवाले सेनापति और राजा के (सुमतौ) शुभ संकल्प में (स्याम) सदा रहें ।



[९४] एकचित्त रहने का उपदेश ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । सरस्वती देवता । अनुष्टुभौ । २ विराड् जगती ।
तृचं सूक्तम् ॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥ १ ॥

भा०—व्याख्या देखो [३।८।५] ।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥२॥
अथर्व० ३ । ८ । ६ ॥

भा०—(अहं) मैं (मनसा) मन से (मनांसि) आप लोगोंके मनों को (गृभ्णामि)ग्रहण करता हूँ, अपने अनुकूल करता हूँ । आप लोग (चित्तेभिः) अपने ज्ञानवान् चित्तों के साथ (मम) मेरे (चित्तम्

एत) चित्त के प्रति आकर्षित होकर आओ। (वः) आप लोगों के (हृदयानि) हृदयों को मैं (मम वशेषु) अपने वशों में, अपने अभिलषित कार्यों में (कृणोमि) लगाता हूँ। आप लोग (अनु वर्त्मानः) सब मेरे अनुकूल मार्ग चलते हुए होकर (यातम्) पूर्व आप्त पुरुषों द्वारा चले गये मार्ग पर या (मम यातम्) मेरे चले हुए मार्ग पर, मेरे पीछे (एत) गमन करो।

ओते॑ मे॒ द्यावा॑पृथि॒वी ओता॑ दे॒वी सर॑स्वती ।
ओतौ॑ म॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॒र्ध्या॑स्मे॒दं स॑रस्वति ॥३॥ अथर्व ५।२३।१॥

भा०—(मे) मेरी शक्ति से (द्यावापृथिवी) द्यौलोक और पृथिवी लोक (ओते) उरोये पिरोये हुए हैं। (देवी सरस्वती) दिव्य, ज्ञानमयी, वेदवाणी (ओता) ओत-प्रोत है। (मे) मेरे साथ (इन्द्रः च) इन्द्र और (अग्निः च) और अग्नि (ओतौ) ओतप्रोत हैं। हे (सरस्वती !) वेदवाणि ! (इदं) इस प्रकार मैं (ऋध्यासम्) समृद्ध होऊँ।

प्रत्येक व्यक्ति इसी प्रकार विचार करे कि मैं राजा प्रजा, प्राण अपान, स्त्री पुरुष इनमें ओत प्रोत रहूं। ये सब मुझ से प्रेम करें मैं ज्ञान में मग्न रहूं। राजा और सेनापति मेरे अनुकूल रहें। इस प्रकार शिक्षित समुदाय होकर ज्ञान के बल पर हम समृद्ध हों।



[९५] कुष्ठ ओषधि और सर्वव्यापक परमात्मा का वर्णन।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः। वनस्पतिर्मन्त्रोक्ता च देवता। अनुष्टुभः तृचं सूक्तम् ॥

अ॒श्व॒त्थो दे॑व॒सद॑नस्तृ॒तीय॑स्यामि॒तो दि॒वि ।
तत्रा॒मृत॑स्य॒ चक्ष॑णं दे॒वाः कुष्ठ॑मवन्वत ॥ १ ॥

भा०—व्याख्या देखो [५ । ४ । ३]।

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ २ ॥

भा०—व्याख्या देखो [५।४।४] ।

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो हिमवतामुत ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि ॥ ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! तू (ओषधीनां गर्भः) ओष=ताप, परिपाक शक्ति का धारण करनेवाले लोकों का (गर्भः) उत्पत्तिस्थान (उत) और (हिमवताम्) हिमवाले अतिशीत लोकों का भी (गर्भः) उत्पत्ति स्थान है । (विश्वस्य गर्भस्य) और तू तो समस्त उत्पन्न विश्व का (गर्भः) उत्पत्ति स्थान है तू (मे) मेरे (इमम्) इस आत्मा को (अगदम्) गद=रोग, जरा, जन्म, मरण आदि भव-बाधाओं से रहित (कृधि) कर ।



[९६] पापमोचन की प्रार्थना ।

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः ।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

(प्र०द्वि०) यजु० १२।९२ प्र०द्वि० ॥ (तृ०च०) यजु० १२।८९ तृ०च० ।
(प्र०द्वि०) ऋ० १०।९७।१८ प्र० द्वि० ॥ (तृ०च०) ऋ० १०।९७।१५ तृ०च० ॥

भा०—(याः) जो (ओषधयः) परिपाक योग्य या उष्णता या सामर्थ्य को धारण करनेवाली ओषधियाँ=प्रजाएँ (सोम-राज्ञीः) सोम=चन्द्र की रानियों के समान सोम=राजा ही से अपना सामर्थ्य ग्रहण करने वाली (बह्वीः) बहुत सी (शत-विचक्षणाः) सैकड़ों कार्यों के

१—(प्र०) 'या ओषधीः' इति ऋ० ।

सम्पादन में समर्थ, व्यवहार-कुशल प्रजाएँ हैं (बृहस्पति-प्रसूताः) बृहती—वेद-वाणी के पालक विद्वान् द्वारा प्रेरित होकर (ताः) वे (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें।

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्या/दुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥२॥

ऋ० १० ९७ । १६ अथर्व० ७१ । ११२ । २ ॥ यजु० १२ । ९०॥

भा०—वे पापों को सन्तापित और दग्ध करनेवाली प्रजाएँ (मा) मुझको (शपथ्यात्) वाणी द्वारा दूसरे के प्रति दुर्वचन करने से उत्पन्न हुए अपराध (उत) और (वरुण्याद्) झूठ बोलने आदि के दमन करने योग्य अपराध से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें। (अथो) और (यमस्य) नियन्ता राजा की (पड्वीशात्) डाली हुई पैरों पड़ी बेड़ियों से और (विश्वस्मात्) सब प्रकार के (देव-किल्बिषात्) देव=राजा, विद्वान् और अधिकारीगण के प्रति किये अपराध से मुक्त करें।

यच्चक्षुषा मनसा यच्च वाचोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु ॥ ३ ॥

भा०—(जाग्रतः) जागते हुए हम लोग (यत्) जो कुछ (चक्षुषा) आँख से और (यत् च मनसा) जो कुछ मन से और (वाचा) वाणी से (उपारिम) प्राप्त करें और (यत् स्वपन्तः) जो कुछ सोते हुए भी मन आदि से संकल्प विकल्प करें या वाणी से बात कहें (तानि) उन सब ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के गृहीत ज्ञानों और किये कामों को

२—(च०) 'सर्वस्मात' इति ऋ० । पड्वीशान्' इति क्वचित् ।
३—(प्र०) 'यन्मनसा' । (तृ०च०) 'सोमा तस्मादेनसः स्वधया पुनाति विद्वान्' इति पैप्प० सं० ।

(नः) हमारा (सोमः) सब का प्रेरक आत्मा या विद्वान पुरुष (स्वधया) अपनी धारणा, मनन, विवेक शक्ति से (पुनातु) पवित्र करे ।

आंख आदि बाह्येन्द्रिय, वाणी आदि कर्मेन्द्रिय और मन, अन्तःकरण इनके किये पर मनुष्य स्वयं अपनी बुद्धि से विवेक करे तो उसके आत्मा पर बुरा पाप संकल्प नहीं रहता । स्वधा शब्द के संग से सायण ने सोम शब्द से पितृ-लोकाधिपति देव-विशेष का ग्रहण किया है । ग्रीफिथ, स्वधा=His godlike nature=देव-स्वभाव ।



[९७] विजय प्राप्ति का उपाय ।

अथर्वा ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । १ त्रिष्टुप् । २ जगती । ३ भुरिक् । तृचं सूक्तम् ॥

अ॒भि॒भूर्य॒ज्ञो अ॒भि॒भूर॒ग्निर॑भि॒भूः सोमो॑ अभि॒भूरिन्द्र॑ः ।
अ॒भ्य१॒॑हं विश्वा॒ः पृत॑ना॒ यथासा॑न्ये॒वा वि॑धेमा॒ग्निहो॑त्रा इ॒दं ह॒विः ॥ १ ॥

भा०—(यज्ञः) एकत्र होकर मिल कर किया हुआ कार्य (अभिभूः) सब का पराजय करता है । (अग्निः) आगे चलने और सेना को ठीक २ मार्ग पर ले जानेवाला विद्वान् पथ-प्रदर्शक (अभि-भूः) विजय दिलाता और संकटों को दूर करता है । (सोमः अभि-भूः) सबका प्रेरक, और कार्य-सम्पादक पुरुष या विद्वान् पुरुष विजय कराता और सब शत्रुओं का दमन करता है । (इन्द्रः अभिभूः) ऐश्वर्य और शक्तिमान राजा शत्रुओं पर दमन करता है । हे पुरुषो ! आप लोग (अग्नि-होत्राः) जिस प्रकार अग्नि में घृताहुति को देकर तीव्र करते हैं उसी प्रकार अपने

[९७] १–(प्र० द्वि०) 'प्रजापतिः च'- (तृ०) बाधेथां द्वेषः । (च०) 'अस्मै क्षत्रं वचाधत्तमोजः । इति पैप्प सं० । (द्वि०) 'बाधस्व' इति तै० सं०, मै० सं० । दूरे इति ऋ० । 'ओर' इति मै० सं० ।

अग्रणा के कार्य में अपनी आहुतियाँ देकर उसकी शक्ति बढ़ानेवाले वीर पुरुषो ! हम सब लोग मिल कर (एवा) इस रीति से (हविः) परस्पर मन्त्रणा करके (विधेम) कार्य करें (यथा) जिससे (अहम्) मैं राजा (विश्वाः पृतनाः) समस्त सेनाओं को या समस्त मनुष्यों को (अभि-असानि) अपने वश करूँ और उनका पराजय करूँ ।

स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत् क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम् ।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्रमुमुक्तमस्मत् ॥२॥

(तृ०च०) ऋ० १ । १४ । ६ तृ० च० ॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! मित्र=न्यायाधीश और वरुण-राजन् ! आप दोनों (विपश्चितौ) मेधावी, बुद्धिमान् पुरुष हैं। आपके लिये (स्वधा अस्तु) अन्न, जो आपके अपने ही धारण करने के योग्य आपका षष्ठांश भाग है आपको प्राप्त हो । और (प्रजावत्) उत्तम प्रजा से युक्त (क्षत्रम्) क्षत्रिय बल को (इह) इस राष्ट्र में (मधुना) मधु से अमृत या अन्न या राजबल से (पिन्वतम्) युक्त करो । (निर्ऋतिम्) पाप या संकट डालनेवाली निर्ऋति, शत्रु की सेना या विपत्ति को (दूरे) दूर से हो (पराचैः) परे करते हुए (बाधेथाम्) विनष्ट करो । और (कृतम्) किये हुए (चित्) भी (एनः) हमारे अपराध को (अस्मत्) हमसे (प्र मुमुक्तम्) दूर करो ।

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १०३ । ६ ॥ अथर्व० १६ । १३ । ६ ॥ यजु० १८ । ३२ ॥

३-(तृ०) 'गोत्रभिदं गोविदं' इति ऋ० । पूर्वोत्तरयोरर्धयोर्विपर्ययः । (प्र०) 'इमं सजाता अनुवीरयध्वम्' इति ऋ० ।

भा०—हे (सखायः) मित्र लोगो ! आप लोग (उग्रम्) उग्रस्वभाव नित्य दण्ड देनेवाले, बलवान् (वीरम्) वीर्यवान् (ग्राम-जितम्) ग्राम को जीतने वाले (गोजितम्) इन्द्रिय को वश करने वाले (वज्र-बाहुम्) वज्र= खड्ग को बाहु में धारण करने वाले और (ओजसा) अपने बल से ही (अज्म) शत्रु के बल को (प्रमृणन्तम्) विध्वंस करने और (जयन्तम्) विजय प्राप्त करने वाले (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशील राजा को मुख्य मान कर (अनु सं रभध्वम्) उसको अनुमति के अनुकूल सब कार्य करो ।

अध्यात्म पक्ष में सखायः=इन्द्रियगण, इन्द्र=आत्मा, ग्राम=मानस दोषगण, गौ=इन्द्रिय, वज्र=ज्ञान, अज्म=काम-विकार ।



[९८] विजयशील राजा का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । ३,१ त्रिष्टुभौ । २ बृहतीगर्भा पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

इन्द्रो॑ जयाति॒ न परा॑ जयाता अधिराजो राज॑सु राजयातै ।
च॒र्कृत्य॒ ईड्यो॒ वन्द्य॑श्चोप॒सद्यो॑ नम॒स्यो॑ भवे॒ह ॥ १ ॥

भा—(इन्द्रः) वह पुरुष, इन्द्र है जो (जयाति) विजय करता है, (न पराजयातै) कभी पराजित नहीं होता और (राजसु) जो राजाओं में (अधिराजः) सब के ऊपर महाराज होकर (राजयातै) शोभा देता है । (इह) इस राष्ट्र में हे इन्द्र तू ! (चर्कृत्यः) सब अपने विरोधियों के दलों को बराबर काटता है इसी कारण वह (ईड्यः) सब के

[९८] १–(तृ०) 'विश्वा हि भूया पृतना अभिष्टी' इति तै० सं० । विश्वा अभिष्टीः पृतना जयते' । (च०) उपसद्यो नमस्यो यथासत् इति मै० सं० ।

की वर्षा करने वाला (हव्यः) प्रजा से कर संग्रह करने का अधिकारी होकर तू (दक्षिणतः) राष्ट्र के दक्षिण दिशा के भाग से या बल कार्य से सदा (एपि) आ।



[९९] राष्ट्ररक्षा का उपाय।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः। वनस्पतिर्देवता। सोमः सविता च देवते। १,२ अनुष्टुभौ। ३ त्रिपदा नाम गायत्री। तृचं सूक्तम्॥

अभि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांहूरणाद्धुवे।
ह्वयाम्युग्रं चेत्तारं पुरुणामानमेकजम्॥ १॥

भा०—हे इन्द्र! राजन्! विद्वन् आचार्य! (वरिमतः) तेरे महान् होने के कारण ही मैं (त्वा अभि) तेरे समीप रहता हूं और (पुरा अंहूरणात्) किसी घोर पाप या संकट के पूर्व ही (त्वां हुवे) तुझे पुकारता हूं, क्योंकि मैं चाहता हूं कि सदा (उग्रम्) बलवान् (चेत्तारम्) स्वयं ज्ञानी (पुरु नामानम्) बहुत प्रकार के वशीकरण साधनों से सम्पन्न (एकजम्) अकेले, स्वयं सामर्थ्यवान् पुरुषको (ह्वयामि) संकट में बुलाऊं।

यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन् न उदीरते।
इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्मः॥ २॥

भा०—(यः) जो (अद्य) अब भी तुरन्त (सेन्यः वधः) सेना का हथियार (नः जिघांसन्) हमें मारने की कामना से (उद् ईरते) उठे (तत्र) वहां ही उसी समय (इन्द्रस्य बाहू) राजा की भुजाएं (समन्तम्) हम अपने चारों तरफ (परि दद्मः) अपनी रक्षार्थ खड़ी पावें।

२-(च०) 'दध्मः' इति सायणाभिमतः। (प्र०) 'योऽद्य' (च०) 'परिदद्मः' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'जिघांसन्' इति पदपाठः।

(द्यौः) यह विशाल आकाश रात्रि काल में ओस (अदात्) प्रदान करती है। वह भी विषका शमन करती है। (पृथिवी अदात्) पृथिवी भी अपनी शक्ति (अदात्) देती है जिससे मिट्टी का लेप भी विष का नाश करता है। और (तिस्रः सरस्वतीः) तीनों सरस्वतिएं, तीनों वेद-वाणियां भी (अदुः) समानरूप से विष के नाश का उपदेश करती हैं।

यद् वो देवा उपजीका आसिञ्चन् धन्वन्युदकम् ।
तेन देवप्रसूतेनेदं दूषयता विषम् ॥ २ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (यत्) जिस (उदकम्) जल को (उपजीकाः) दीमक नाम की श्वेत कीड़ियां (धन्वनि) मरु, जलरहित देश में भी (आ-असिञ्चन्) अपने मुखसे जल उत्पन्न करती हैं वह भी (वः) आप लोगों के बड़ा उपयोगी है। (तेन) उस (देव-प्रसूतेन) दिव्य पदार्थों से या ईश्वरप्रदत्त शक्ति से उत्पन्न जल से (विषम्) विषको (दूषयत) निवारण करो। पं० ग्रीफ़िथ के मत से हे (उपजीकाः) दीमको ! (वः) तुमको (देवाः) देव लोगों ने (धन्वनि यद् उदकम् असिञ्चन्) निर्जल देश में भी जो जल दिया है। (तेन देवप्रसूतेन विषम् दूषयत) देवों से उत्पादित उस जल से विषका निवारण करो।

देखो अथर्व का० २ । ३ । ४ ।—"उपजीकाः उद्भरन्ति समुद्राद्-अधिभेषजम् । तद् आस्रावस्य भेषजम् तदु रोगमशीशमत् ।" श्वेत कीड़ियां या दीमकें समुद्र अर्थात् अपने जलोत्पादन सामर्थ्य से ओषधि उत्पन्न करती हैं। वह अतिमूत्र और नाड़ीव्रण की उत्तम औषध है। उससे रोग शान्त हो जाता है। सायण ने इस स्थल पर वल्मीक या

२-(द्वि०) 'उपचीका सिञ्चन्', 'धन्वन्तु' इति पैप्प० सं० ।

१-'उपजीकाः, उपदीकाः, उपजिह्विकाः, उपञ्जिकाः' इत्येते सर्वे पर्यायाः वम्रीवाचकाः ।

दीमकों की निकाली मिट्टी को उस रोग की औषध कहा है। कौशिक सूत्र में—"देवाः अदुर्रिति वल्मीकेन बन्धनपायनाचमनप्रदेहनमुदकेन। (कौ० ४।७) इस सूक्त से वल्मीक मृत्तिका को जल से बांधने, पिलाने, आचमन करने और लेप करने का विधान किया है इससे स्थावर और जंगम विषका प्रतिकार होता है। वेद ने वल्मीक कीड़ी के मुख से निकले जल में विष नाश करने के गुण का उपदेश किया है। अत्यन्त शुष्क स्थान में भी दीमक लग जाती है और वहां भी वे अपने मुँह में जल कहाँ से लाती हैं यह एक आश्चर्यजनक बात है। वेद उस जल को 'देव प्रसूत' कहता है। 'देव' का तात्पर्य वह मूलशक्ति है जिससे स्वयं जल बना है। इस सम्बन्ध में डा० लिविंगस्टोन का कथन है कि "सम्भव है कि वे अपनी शक्ति से अपने वानस्पतिक भोजन में विद्यमान उद्रजन, ओषजन को मिलाकर जल बना लेती हैं।" इस जल बनने की अद्भुत शक्ति का हमारे प्राचीन आर्यों ने भी अनुभव किया था। शतपथ में लिखा है—आपो वै सर्वमन्नं। ताभिर्हि इदमभिक्नूयमिवादन्ति (वम्रयः) श० १४। १। १४॥ यह सब अन्न स्वयं जल है। अन्न में विद्यमान जलों से ही ये दीमकें उसको गला कर २ के खाती हैं।

असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा।
दिवस्पृथिव्याः संभूता सा चकर्थारसं विषम् ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे! तू (असुराणां) बलशाली प्राणवान् पुरुषों के लिये (दुहिता) बल रस का दोहन करने वाली है, (सा) वह तू (देवानाम्) देव विद्वान् पुरुषों की (स्वसा) उत्तम रूप से गुण

३–(प्र०) 'हितासि देवा'– (तृ०)–'व्याः जज्ञिषे' इति पैप्प० सं०।
(च०) 'चकर्पारसं' इति सायणाभिमतः।

प्रकाश करने वाली है । तू (दिवः) द्यौलोक के जल और (पृथिव्याः) पृथिवी के जल से (सं-भूता) उत्पन्न हुई है (सा) वह तू (विषम्) विषको (अरसं चकर्थ) निर्बल करती है ।

ग्रीफ़िथ के मत से यह शिलाची नाम ओषधि है । सायण के मत से यह वल्मीक की मिट्टी है । (अथर्व—५ । ५ । ९) में—"शिलाची नाम वा असि देवानामसि स्वसा ।" इसी ओषधि के इस सूक्त में स्परणी, अरुन्धती, निष्कृति, काली, कन्यला, आदि दिया है । उस प्रसंग में कौशिक ने लाखको दूध में पकाकर शस्त्र-व्रण आदि की चिकित्सार्थ पान करने की विधि लिखी है ।

[१०१] पुष्ट प्रजनन अंग होने का उपदेश ।

शेपप्रथनकामोऽथर्वाङ्गिरा ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ।

आ वृषायस्व श्वसिहि वर्धस्व प्रथयस्व च ।
यथाङ्गं वर्धतां शेपस्तेन योषितमिज्जहि ॥ १ ॥

भा०—हे पुरुष तू (वृषायस्व) सब प्रकार से वीर्यसेचन में समर्थ हो । (श्वसिहि) प्राण को ऊपर खेंच और (वर्धस्व) शरीर में खूब पुष्ट हो, (प्रथयस्व च) और अपने अंगों को भी बड़ा कर । इतना हृष्ट पुष्ट हो कि (यथा) जिससे (शेपः, अङ्गम्) कामांग भी (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो । (तेन) उस अंग से (योषितम्) अपनी स्त्री के पास (इत्) भी (जहि) जा, सेचनसमर्थ हो । ऊपर श्वास लेकर अंगों को पुष्ट करो, जब कामांगों को पर्याप्त वृद्धि हो चुके तब युवकों को गृहस्थ धर्म से पुत्रोत्पत्ति करनी चाहिये ।

येन॑ कृ॒शं वा॒जय॑न्ति॒ येन॑ हि॒न्वन्त्यातु॑रम् ।
तेना॒स्य ब्र॑ह्मणस्पते॒ धनु॑रि॒वा ता॑नया॒ पसः॑ ॥ २ ॥

(तृ० च०) अथर्व० ४ । ६ । ४ तृ० च० ॥

भा०--पुष्टांग होने के उपाय का उपदेश करते हैं—(येन) जिस उपाय से (कृश) कृश पुरुष को (वाजयन्ति) बलवान् करते हैं और (येन) जिस उपाय से (आतुरम्) रोगी निर्बल पुरुष को (हिन्वन्ति) समर्थ बनाते हैं, हे (ब्रह्मणस्पते) ब्रह्म=अन्नको पालन करने वाले पुरुष ! (अस्य) इस निर्वीर्य पुरुष के (पसः) कामांग को भी उसी पौष्टिक उपाय से (धनुः, इव) धनुष के समान (आ तानय) पुष्ट कर। कृशों को और रोगियों को पुष्ट करने की ओषधियां ही निर्वीर्य पुरुष को वीर्यवान् बनाने की होती हैं।

आ॒हं त॑नोमि ते॒ पसो॒ अधि॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नि ।
क्रम॒स्वर्श॑ इव रो॒हित॒मन॑वग्लायता॒ सदा॑ ॥ ३ ॥

भा०—व्याख्या देखो (अथर्व का० ४ । ४ । ७) । (अहं ते पसः) मैं सद्-वैद्य तेरे कामांग को (तनोमि) दोष रहित करके सुधारता हूँ (धन्वनि अधिज्याम् इव) जिस प्रकार शिकारी अपने धनुष पर डोरी चढ़ाता है (अर्शः रोहितम् इव) और जिस प्रकार शिकारी प्रसन्नचित्त से मृग पर दौड़ता है उसी प्रकार (अनवग्लायता) सदा ग्लानिरहित चित्त से (क्रमस्व) अपनी पत्नी के पास जाओ। इससे चित्त में ग्लानि न रहकर सम्भोग काल में असफलता नहीं होती। ग्लानि होजाने से अकारण नपुंसकत्व उत्पन्न हो जाता है।

जिस ईश्वर ने समस्त संसार को उत्पन्न किया और जिसने निरन्तर उत्पन्न सृष्टि करने वाले अंगों को भी रचा उसकी दृष्टि में कोई पदार्थ अश्लील

२—'वश वाजयन्ति' इति सायणसम्मतः पाठः ।

नहीं । उसका भी अपना विज्ञान है । उसका वेद में उपदेश होना आवश्यक है । ग्रीफ़िथ ने यह तत्त्व न समझकर इस सूक्त को अश्लील जानकर इसका अनुवाद नहीं किया ।



[१०२] दाम्पत्य प्रेम का उपदेश ।

अभिसम्मनस्कामो जमदग्निर्ऋषिः । अश्विनौ देवते । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यथायं वाहो अश्विना समैति सं च वर्तते ।
एवा मामभि ते मनः समैतु सं च वर्त्तताम् ॥ १ ॥

भा०—स्त्री पुरुषों में परस्पर प्रेम उत्पन्न करने का उपदेश करते हैं । हे (अश्विनौ) एक दूसरे के हृदयों में व्याप्त स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों एक दूसरे के प्रेमी होकर यह कहो कि (यथा) जिस प्रकार (अयं वाहः) यह अश्व सवारी (अश्विना सम् एति) घुड़सवार के साथ ही साथ जाता है (सं वर्त्तते च) और उसके साथ ही रहता है । (एवा) उसी प्रकार हे प्रियतम ! हे प्रियतमे ! (माम् अभि ते मनः) मेरे प्रति तेरा चित्त (सुसम् आ एतु) आवे (सं वर्त्तताम् च) और सदा साथ ही रहे ।

आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव ।
रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः ॥ २ ॥

भा०—दोनों स्त्री पुरुष एक दूसरे से यही आशा करें और कहें कि—हे प्रियतम ! हे प्रियतमे ! (अहं) मैं (ते मनः) तेरे चित्तको (आ खिदामि) ऐसे खैंचूं जैसे (पृष्ट्याम् राजाश्व इव) जैसे पीठ पीछे बंधी गाड़ी को घोड़ा खींचता है । और यथा (रेष्म-च्छिन्नं) रेष्मा=प्रचण्ड वायु से टूटा हुआ (तृणं) घास उसी में लिपटकर उसके

साथ ही चला जाता है उसी प्रकार हे प्रियतमे ! (ते मनः) तेरा चित्त (मयि) मुझमें (वेष्टताम्) लिपट जाय । मुझमें आसक्त होकर मेरे साथ ही लगा रहे ।

आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च ।
तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे ॥ ३ ॥

भा०—स्त्री अपने पति को स्वीकार करने के निमित्त पति के हाथों दिये हुए अञ्जन, मुलैठी या अन्य हर्षोत्पादक कूठ और अन्य सुगन्ध पदार्थों को स्वीकार करे । इसी का उपदेश करते हैं । स्त्री उक्त पदार्थों का स्वीकार करती हुई कहती है—मैं (तुरः) शीघ्र ही प्राप्त होनेवाले (भगस्य) सौभाग्यशील पुरुष के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (आञ्जनस्य) अंजन (मदुघस्य) मदतृप्ति हर्षोत्पादक पदार्थ, (कुष्ठस्य) कूठ और (नलदस्य) खस आदि पदार्थ के घने (अनुरोधनम्) प्रेम=अभिलाषा और कामना के अनुकूल पदार्थ को (उद्-भरे) स्वीकार करती हूँ ।

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

[तत्र दश सूक्तानि, त्रिंशच्चर्चः]



[१०३] राष्ट्र-रक्षा और शत्रु-दमन ।

उच्छोचन ऋषिः । इन्द्राग्नी उत बहवो देवताः । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

संदानं वो बृहस्पतिः संदानं सविता करत् ।
संदानं मित्रो अर्यमा संदानं भगो अश्विना ॥ १ ॥

३–(प्र०) 'मधुघस्य' इति सायणसम्मतः । 'मधुगस्य' (च०) 'आभरे' इति पैप्प० सं० ।

[१०३] १–'संदानमिन्द्रश्चाग्निश्च' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(बृहस्पतिः) बृहस्पति (वः) तुम्हारा (सदानम्) बन्धन (करत्) करे । (सविता संदानं करत्) सविता तुम्हारा बन्धन करे (मित्रः) मित्र भी (संदानम्) तुमारा बन्धन करे। (अर्यमा संदानम्) अर्यमा तुम्हारा बंधन करे (भगः अश्विनौ) भग, और अश्विन् दोनों तुम्हारा बन्धन करें ।

बृहस्पति, सविता, मित्र, अर्यमा, भग, अश्विन् ये सब राष्ट्र के भिन्न अधिकारी लोग हैं । संग्राम छिड़ जाने पर सभी अधिकारी शत्रु के आदमियों पर विशेष बन्धन, रोक टोक रक्खें, उन पर पूरा २ वश रक्खें ।

सं प॒र॒मान्त्सम॑व॒मानथो॒ सं द्या॑मि मध्य॒मान् ।
इन्द्र॒स्तान् पर्य॑हा॒र्दाम्ना॒ ताना॑ग्ने॒ सं द्या॒ त्वम् ॥ २ ॥

भा०—मैं राजा अपने शत्रुओं में से (परमान्) ऊँचे श्रेणी के लोगों को (सं द्यामि) बन्धन में रखूं (अवमान् सं द्यामि) नीचे श्रेणी के लोगों को भी बन्धन में रखूँ और (मध्यमान् सं द्यामि) मध्यम श्रेणी के लोगों को भी बन्धन में रखूं । (इन्द्रः) राजा (तान्) उन सबको (परि अहाः) दूर से ही निवारण करे और हे (अग्ने) अग्ने, सेनापते ! (त्वं) तू (तान्) उनको (दाम्ना) रस्सी या पाश से (सं द्य) अच्छी प्रकार बांधे रख, वश किये रख, आगे मत बढ़ने दे ।

अ॒मी ये यु॒धमा॒यन्ति॑ के॒तून् कृ॒त्वानी॑क॒शः ।
इन्द्र॒स्तान् पर्य॑हा॒र्दाम्ना॒ ताना॑ग्ने॒ सं द्या॒ त्वम् ॥ ३ ॥

भा०—(अमी) वे दूर देश में स्थित शत्रु लोग (ये) जो (अनीकशः) अपनी सेना के प्रत्येक दस्ते या टुकड़ी पर (केतून् कृत्वा) अपने भिन्न २ झण्डे लगा २ कर (युधम् आयन्ति) संग्राम करने के लिये आवें (तान्) उनको (इन्द्रः परि अहाः) राजा या शक्तिशाली

२—'परमां, अवमां, मध्यमाम्' इति सायणाभिमताः ।

पुरुष दूर से ही विनाश करे। हे (अग्ने) अग्ने! सेनापते (त्वम्) तू उनको भली प्रकार (दाम्ना) रस्सी से या रस्सी के बने पाश से या रस्सी के समान बटी हुई दुगनी तिगुनी सेना से (सं-द्य) बाँध ले, जकड़ ले।



[१०४] शत्रुओं को पराजय और बन्धन।

प्रशोचन ऋषिः। इन्द्राग्नी उत बहवो देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

आदानेन संदानेनामित्राना द्यामसि।
अपाना ये चैषां प्राणा असुनासून्त्समच्छिदन् ॥ १ ॥

भा०—हम वीर लोग (आ-दानेन) शत्रु को पकड़ लेने के उपाय और (सं-दानेन) बाँध लेने के उपाय से (अमित्रान्) शत्रु लोगों को (आ द्यामसि) अपने वश कर लेते हैं। और वीर भट (ये च) जो भी (एषाम्) इनके (अपानाः) अपान और (प्राणाः) प्राण हैं उन सब (असून्) प्राणवृत्तियों को (असुना) मुख्य जीवनशक्ति के द्वारा (समच्छिदन्) काट डालें। अथवा (ये च एषां प्राणाः) जो इन शत्रुओं के प्राणरूप मुख्य नेता लोग और (अपानाः) अपानरूप निम्न पदाधिकारी हैं उन सब को (आ द्यामसि) हम वश कर लें और जिस प्रकार (असुना) मुख्य प्राण से प्राणित (असून्) शेष प्राण इन्द्रियगण को काट कर विनाश कर दिया जाता है उसी प्रकार इन मुख्य लोगों के आश्रय पर जीनेवाले लोगों को भी (सम् अच्छिदन्) काट गिराया जाय। अर्थात् मुख्य २ नेता लोगों को पकड़ कर क़ैद में डाल दिया जाय और शेषों को काट डाला जाय।

---

[१०४] १–(च०) 'अच्छिदम्' इति ह्विटनिकामितः प्रायिकश्च। (तृ० च०) 'तेषां प्राणान् समासून् अममसुतम् [?]' इत्यादि पैप० सं०।

इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम् ।
अमित्रा येत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम् ॥ २ ॥

भा०—(तपसा) तप द्वारा (इन्द्रेण सं शितम्) और इन्द्र=विद्युत् द्वारा अत्यन्त तीक्ष्ण (इदम्) यह ऐसा (आदानम्) बन्धनपाश मैं शिल्पी (अकरं) बनाऊँ कि जिससे (अत्र) यहाँ इस युद्धभूमिमें (ये नः अमित्राः) जो हमारे शत्रु हैं, हे (अग्ने) सेनापति ! (तान्) उनको (त्वम् आ द्य) तू उस पाश से बाँध ले ।

एनान् द्यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनौ ।
इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोतु नः ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्राग्नी) राजा और सेनापति (एनान्) उक्त शत्रुओं को (आद्यताम्) बाँध ले । (सोमः राजा च) सोम और राजा दोनों ही (मेदिनौ) इस कार्य के लिये बलवान् हैं । और (इन्द्रः) इन्द्र (मरुत्वान्) मरुत्=वीरभटों के साथ (नः) हमारे (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के लिये (आदानम्) बन्धन पाश (कृणोतु) तैयार करे ।



[१०५] 'कासा' चित्ति-शक्ति की एकाग्रता का उपदेश ।

उन्मोचन ऋषिः । कासा देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत मनसोनु प्रवाय्य/म् ॥ १ ॥

२–(द्वि०) 'इन्द्रियेण शंसितम्' (च०) 'मतानादान् द्विपतोमय' इति पैप्प० सं० ।

३–(द्वि०) 'राज्ञा सोमेन मेदिना ।' (च०) 'कृणोतु मे' (प्र०) 'एनां ध–' इति क्वचित् ।

भा०—'कासा' नाम चितिशक्ति को एकाग्र करने के क्रियात्मक उपाय बतलाते हैं—(यथा) जिस प्रकार (मनः) संकल्प विकल्प करने वाला मन (आशुमत्) अति वेगवान् होकर (मनस्केतैः) मन द्वारा चिन्तन करने योग्य विषयों के साथ (परा पतति) दूर चला जाता है। (एवा) उसी प्रकार हे (कासे) प्रकाशमान चितिशक्ते! (त्वं) तू भी (मनसः) मनके (प्र वाय्यम्) चिन्तनीय विषयों के (अनु प्र-पत) साथ ही साथ जा।

यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सु-संशितः बाणः) तीक्ष्ण बाण, (आशुमत्) वेगवान् होकर (परा पतति) दूर जा गिरता है हे (कासे) चितिशक्ते! (त्वम्) तू भी (एवा) उसी प्रकार (पृथिव्याः संवतम्) पृथिवी=देह के उत्तम प्रदेश की ओर (अनु प्र पत) गति कर, धारणा द्वारा विशेष देश में स्थिर हो।

यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम् ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सूर्यस्य रश्मयः) सूर्य की किरणें, (आशुमत्) अति वेगवान् होकर (परा पतन्ति) दूर तक फैल जाती हैं उसी प्रकार हे (कासे) प्रकाशमान चितिशक्ते! तू (समुद्रस्य) समुद्ररूप परम आत्मा के (वि-क्षरम् अनु प्रपत) विशेष प्रवाह के अनुकूल होकर गति कर। 'कासे' इस सम्बोधन से कौशिक ने इस सूक्त को कास-रोगनिवृत्ति परक माना है। सायण भी उसके पीछे चला है, परन्तु कौशिक ने इस सूक्त को सूर्योपस्थान के लिये भी लिखा है। यह वास्तव में आत्म-ध्यान या ब्रह्मोपासना का मन्त्र है। इसका देवता 'पुरुष' है। कासा=चकास्ति इति कासा, प्रकाशमयो ज्योतिष्मती चेतना, चितिशक्तिर्वा।

उस चितिशक्ति की तीन साधनाओं का उपदेश किया है । १. मन की गति के अनुकूल उसको यथाभिमत विषय पर लगावे । २. पृथिवी या मूल भाग में किसी अधिष्ठान में स्थिर करे । ३. फिर परम आत्मा के विशाल गुणों में लगा दे ।



[१०६] गृहों की रक्षा और शोभा ।

प्रमोचन ऋषिः । दूर्वाशाला देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ।

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः ।
उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १४२ । ८ ॥

भा०—गृहों की रक्षा और सुन्दरता के लिये उत्तम उपायों का उपदेश करते हैं । हे शाले ! (ते) तेरे (आ-अयने) अंगों के आने के स्थान में और (परा-अयने) पीछे के या दूर के स्थानों में भी (पुष्पिणीः) फूलों वाली (दूर्वाः) दूब और नाना वनस्पतियाँ (रोहन्तु) खूब उगें । और (तत्र) वहाँ (उत्सः वा) कूआ भी (जायताम्) हो । (वा) और (पुण्डरीकवान्) कमलों वाला (ह्रदः) तालाब भी हो । रहने के घर के समीप और दूर तक भी घास से हरा भरा मैदान, फुलवाड़ी, कूँआ और पुखरिया होनी चाहिये । ऐसे घरों में अग्नि आदि का भी भय नहीं रहता ।

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम् ।
मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि ॥ २ ॥

(प्र० द्वि०) ऋ० १० । १४२ । ७ प्र० द्वि० ॥ यजु० १७ । ७ प्र० द्वि०॥

[१०६]-(तृ० च०) 'ह्रदा वा पुण्डरीकाणि समुद्रस्य गृहा इमे' इति-ऋ० ।
२-(द्वि०) 'अग्ने परि' इति यजु० । (च०) 'ददातु भेषजं' इति ऋ०

भा०—गृहों के बनाने के लिये उचित स्थान के निर्णय करने का उपदेश करते हैं। (इदं अपां न्ययनम्) यह इधर जलों के नीचे बह आने का स्थान हो और (समुद्रस्य निवेशनम्) इधर समुद्र, जल भण्डार का स्थान हो। (ह्रदस्य मध्ये) तालाब के बीच में (नः) हमारे (गृहाः) घर हों। हे अग्ने! तू अपने (मुखा) मुखों को पराचीना (कृधि) दूर रख। अथवा हे शाले! तू अपने (मुखा) द्वारों को (पराचीना) दूर तक फैले हुए विशाल बना, अथवा, हे शिल्पिन् द्वारों को बड़ा बना।

हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि।
शीतह्रदा हि नो भुवोग्निष्कृणोतु भेषजम् ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १४२ खिले ॥ प्र० द्वि० यजु० १७ । ५ द्वि० ॥

भा०—हे शाले! गृह! (त्वा) तुझे (हिमस्य) हिम, शीतलजल के (जरायुणा) वेष्टन या आवरण पदार्थ से (परि व्ययामः) चारों ओर से घेर लें जिससे तू (नः) हमारे लिये (शीतह्रदा भुवः) शीतल तालाबों से युक्त हो। इस प्रकार (अग्निः) गृह में स्थित अग्नि भी हमारे पास (भेषजम्) हमारे रोगों और दुःखों के निवारण करने का साधन होकर हमारे रोगों को दूर (कृणोतु) करे।

गृह को शीतल तालाब आदि से घेर लेना चाहिये जिससे बाहर के जंगलों की आग घर को न सतावे। अग्नि भी उसमें जल के कारण आनेवाले रोगों को दूर करे।



[१०७] विश्व-विजयिनी राजशक्ति का वर्णन।

शंतातिर्ऋषिः । विश्वजिद् देवता । अनुष्टुभः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

खि० । (तृ०) 'ह्रदाहि' (च०) 'ददातु' इति पैप्प० सं० ।

विश्वंजित् त्रायमाणायै मा परि देहि ।
त्रायंमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्चं नः स्वम् ॥१॥

भा०—हे (विश्व-जित्) सब पर विजय करने वाले राजन् या परमेश्वर ! (मा) मुझे (त्रायमाणायै) त्रायमाणा=रक्षा करनेवाली अपनी शक्ति के अधीन (परि-देहि) रख । हे (त्रायमाणे) रक्षा करने-वाली शक्ति ! (नः) हमारे (चतुष्पात्) चौपाये और (द्विपात् च) दो पाये, मनुष्य पक्षी आदि (यत् च नः) और जो भी हमारा (स्वम्) धन है उसकी (रक्ष) रक्षा कर ।

त्रायंमाणे विश्वजिते मा परि देहि । विश्वंजिद् द्विपाच्च० ॥ २ ॥

भा०—हे (त्रायमाणे) राजा की रक्षाकारिणी शक्ति ! तू (मा) मुझे, मुझ प्रजाको (विश्वजिते परिदेहि) विश्वजित् राजा के अधीन रख और इस नाते हे (विश्वजित्) सर्व विजयी राजन् ! तू (नः) हमारे (द्विपात् च) दोपाये, भृत्य आदि और (चतुष्पात्) पशु चौपाये (यत् च नः स्वम्) और जो हमारा धन है उस (सर्वं रक्ष) सबकी रक्षा कर ।

विश्वंजित् कल्याण्यै मा परि देहि । कल्याणि द्विपाच्च० ॥ ३ ॥

भा०—हे (विश्वजित्) सर्वविजयी राजन् ! (मा) मुझे (कल्याण्यै परि देहि) देश की कल्याणकारिणी परिषद् के आधीन रख । हे (कल्याणि) कल्याणकारिणि परिषद् ! (द्विपात् चतुष्पात् च) दो-पाये और चौपाये (यत् च नः सर्वम् स्वम्) और जो भी हमारा सब धन है उसकी (रक्ष) रक्षा कर ।

[१०७]१–(प्र०) 'त्रायमाणे सर्वविदे मां' इति पैप्प० सं० ।
२–(प्र०) 'त्रायमाणे सर्वविदे' इति पैप्प० सं० ।
३–(प्र०) 'सर्वविद् विश्वविद् कल्याण्यै' इति पैप्प० सं० ।

कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि ।
सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (कल्याणि) देश के हित, कल्याण, सुख की सामग्री को उपस्थित करने वाली परिषद् ! तू (मा) मुझको (सर्वविदे परिदेहि) सब वस्तुओं को जानने वाले के आधीन कर । हे (सर्वविद्) सर्वज्ञ परिषद् ! तू (नः) हमारे (द्विपात् चतुष्पात् च यत् च नः स्वम् सर्वं रक्ष) दो पाये और चौपाये और भी जो हमारा धन है उस सबकी रक्षा कर । राज्य के चार विभाग होने आवश्यक हैं (१) विश्व-जित्, देशों के विजय करने वाला विभाग, (२) त्रायमाणा, विजित देशों की रक्षा करने वाली, (३) कल्याणी, नगरों और देशों की प्रजा के सुख आराम, जीवन सुधार का प्रबन्ध करने वाली, (४) सर्ववित्, राष्ट्र, परराष्ट्र आदि सबके विषय में ज्ञान प्राप्त करने वाली और तदनुसार अपने अन्य विभागों को उन उनके विषयक बातों की जानकारी रखने वाली । विजय करने वाला विभाग जिस देश को विजय करे उसे रक्षाकारी विभाग के हाथ देदें । और वह रक्षाकारी विभाग भी विजेता विभाग की आज्ञा से ही उसकी रक्षा करे और वह कल्याणी परिषद् को सौंपदे, कल्याणी परिषद् कल्याण करने के लिये सर्ववित् परिषद् के अधीन राष्ट्र को वहां के सब पदार्थों को जांच पड़ताल करने के लिये लगादें । जिससे राष्ट्र के सब प्रकार शिल्प, कारीगरी और व्यापार के उपयोगी पदार्थों का ज्ञान करके राष्ट्र में व्यापार और कारीगरी शुरू करावे ।

४–(प्र०) 'कल्याणि त्रायमाणायै' (तृ०) 'सर्वं रक्षत' इति पैप्प० सं० ।

[१०८] मेधा का वर्णन ।

शौनक ऋषिः । मेधा देवता । ४ अग्निर्देवता । १,४,५ अनुष्टुप् । २ उरोबृहती । ३ पथ्या बृहती । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

त्वं नो॑ मेधे प्रथ॒मा गोभि॒रश्वे॑भि॒रा ग॑हि ।
त्वं सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॒स्त्वं नो॑ असि य॒ज्ञिया॑ ॥ १ ॥

भा०—हे (मेधे) आत्मा को धारण करने वाली चितिशक्ते ! ज्ञानधारण-समर्थे ! (त्वं) तू (नः) हमें (गोभिः) ज्ञानेन्द्रियों और (अश्वेभिः) कर्मेन्द्रियों सहित (आ गहि) प्राप्त हो । (त्वं) तू (सूर्यस्य) सबके प्रेरक परमात्मा रूप सूर्य की (रश्मिभिः) ज्ञानमय किरणों सहित हमें प्राप्त हो । (त्वं) तू ही (नः) हमारे (यज्ञिया असि) यज्ञ आत्मा की शक्ति है । अथवा तू ही जीवन यज्ञ की सम्पादन करने वाली है ।

मे॒धाम॒हं प्र॑थ॒मां ब्रह्म॑ण्वतीं॒ ब्रह्म॑जूता॒मृषि॑ष्टुताम् ।
प्रपी॑तां ब्रह्मचा॒रिभि॑र्दे॒वाना॒मव॑से हुवे ॥ २ ॥

भा०—(अहं) मैं मेधा चाहने वाला ब्रह्मचारी (प्रथमाम्) श्रेष्ठ सबसे प्रथम, उत्तम गुणवाली, (ब्रह्मण्वतो) वेद ज्ञान से युक्त (ब्रह्म-जूताम्) ब्रह्मज्ञानियों से सेवित, (ऋषि-स्तुताम्) ऋषियों द्वारा प्रशंसा की गई (ब्रह्म-चारिभिः) ब्रह्मचारियों द्वारा (प्र-पीताम्) खूब उत्तम रीति से पान की गई, (मेधाम्) धारणावती चितिशक्ति को (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (हुवे) ध्यान करता हूं और उसको अपने पास बुलाता हूं, उसकी प्रार्थना करता हूं ।

---

[१०८] २-(द्वि०) 'ब्रह्मण्वतीमृषि-' (तृ०) 'प्रणिहितां ब्रह्म-' (च०) 'अव्रसा वृणे' इति पैप्प० सं० ।

यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः ।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्यावेशयामसि ॥३॥

भा०—(यां) जिस (मेधाम्) मेधा बुद्धि का (ऋभवः विदुः) ऋत सत्य ज्ञान और वेद से प्रकाशित होने वाले विद्वान् और शिल्पी लोग (विदुः) लाभ करते हैं और (यां मेधाम्) जिस मेधा बुद्धि का (असुराः विदुः) प्राण विद्या के जानने वाले, प्राणायाम के अभ्यासी लाभ करते हैं । और (यां मेधाम्) जिस (भद्राम्) कलाणकारिणी, सुखप्रद मेधा बुद्धि को (ऋषयः) मन्त्रार्थ के साक्षात् करने वाले ऋषिगण (विदुः) प्राप्त करते हैं । (ताम्) उसको हम (मयि) अपने आत्मा में (आ वेशयामसि) धारण करें ।

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥ ४ ॥

(तृ० च०) यजु० ३२ । १४ तृ० च० ॥ ऋ० १० १५१ खि० ॥

भा०—(याम्) जिस (मेधाम्) मेधा को (भूत-कृतः) उत्पन्न समस्त पदार्थों का उपयोग करने वाले अथवा पञ्चभूतों की साधना करने वाले, उन पर वशीकारसाधना करने वाले, (मेधाविनः) मेधावी, विद्वान्, मतिमान पुरुष (विदुः) प्राप्त करते हैं हे (अग्ने) आचार्यरूप अग्ने ! परमेश्वर ! (तया) उस (मेधया) मेधा से (अद्य) आज, अब (माम् मेधाविनं कृणु) मुझ ब्रह्मचारी को भी मेधावी बनाओ ।

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि ।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥ ५ ॥

४–(प्र० द्वि०) 'यां मेधां देवगणाःपितरश्च उपासते' (च०) 'कुरु' इति यजु० ।

५–(तृ० च०) 'मेधां सूर्येणोधेतो धीराणा उतस्त्वम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हम लोग (सायम्) सायं, सूर्यास्त के समय में (मेधाम्) मेधा बुद्धि का ध्यान करें (प्रातः मेधाम्) प्रातः, सूर्योदय काल में हम मेधा बुद्धि प्राप्त करने की प्रार्थना करें। (मध्यन्दिनं परि मेधाम्) मध्याह्न काल में भी मेधा बुद्धि को प्राप्त करने की प्रार्थना करें। हम (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य और उसके समान ज्ञानवान् आचार्य और ईश्वर के (वचसा) उपदेश-वचनों से उस मेधा बुद्धि को हम अपने में (आ वेशयामहे) स्थापित करें।

[१०९] पिप्पली ओषधि का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता पिप्पली भेषजं देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू३तातिविद्धभेषजी ।
तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम् ॥ १ ॥

भा०—(पिप्पली) पिप्पली नामक ओषधि (क्षिप्त-भेषजी) क्षिप्त रोग की उत्तम ओषधि है (उत) और (अति-विद्ध भेषजी) अति-विद्ध अर्थात् गहरी पीड़ा की भी उत्तम ओषधि है (ताम्) उसको (देवाः) विद्वान् लोग (जीवितवे) जीवन को जीवित रखने के लिये ही (अलम्) पर्याप्त (अकल्पन्) सामर्थ्यवाला बना लेते हैं। जाँघ में तीव्र वेदना के चलने के रोग को 'अतिविद्ध' कहते हैं। वेदना से हाथ पैर पटकने के रोग को 'क्षिप्त' कहते हैं।

सायण के मत से पिप्पली से गजपिप्पली आदि सोंठ, मिरच, पीपली, इस 'व्योष' में पठित ओषधि का ग्रहण उचित है। ग्रीफ़िथ के मत में 'पिप्पली' शब्द से पीपल की गुलरी लेना उचित है।

[१०९] १–(प्र०) 'क्षुप्त' (द्वि०) 'उत च विश्वभे–' (च०) अलं जीवातवायति' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'ऊ १ ता' इति क्वचित् ।

राजनिघण्टु में "अश्वत्थी, लघुपत्री स्यात् पत्रिका ह्रस्वपत्रिका, पिप्पलिका वनस्था च क्षुद्रा चाश्वत्थसंनिभा" इस प्रकार अश्वत्थी पिप्पलिका का उल्लेख किया है जिसके गुण मधुर, कषाय, रक्तपित्तनाशक, विष, दाहनाशक और गर्भिणी के लिये हितकारी है। इसके अतिरिक्त पिप्पली, तृड् ज्वर, उदर रोग, जन्तु, आमरोग, वातरोग, श्वास, कास, श्लेष्मा, क्षय इनका भी नाशक है। वेद में प्रदर्शित गुण कटुगण की पिप्पली के प्रतीत होते हैं। इसकी मूल पिप्पलीमूल है, वह भी वात नाशक और श्लेष्मा और कृमि का नाशक है। इसके दो भेद हैं श्रेयसी, और गजपिप्पली, वह भी श्लेष्मा और वायु का नाश करती है, माता का दूध बढ़ाती है। इसका एक भेद 'सैहली' है वह कफ, श्वास, पीड़ा का नाश करती है पेट को साफ़ करती है। सामान्यतः पिप्पली सर्वरोग नाशक रसायन कहाती है।

पिप्पल्य१ः समवदन्तायतीर्जननादधि ।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ २ ॥

यजु० १२ । ९१ । तृ० च० ॥ (तृ० च०) १० । ९७ । १७ तृ० च० ॥

भा०—(पिप्पल्यः) पिप्पली के पूर्वोक्त सब प्रकार के भेदवाली ओषधियाँ जो पिप्पली नाम से कहाती हैं (आयतीः) आती हुई (सम् आ वदन्त) परस्पर ऐसा कहती हैं कि (जननाद् अधि) जन्म से लेकर हम (यम्) जिस (जीवम्) जीव या प्राणधारी शरीर को (अश्नवामहे) व्याप लेती हैं (सः) वह (पुरुषः) पुरुष (न रिष्याति) कभी वात आदि रोग से पीड़ित नहीं होता।

असुरास्त्वा न्य/खनन् देवास्त्वोदवपन् पुनः ।
वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥ ३ ॥

२—'पिप्पल्यः' इति क्वचित् ।

भा०—हे पिप्पलि! (वातो-कृतस्य) तीव्र वात द्वारा पैदा हुए रोग की (भेषजीम्) ओषधि और (क्षिप्तस्य) क्षिप्त–'अलाउठा' नामक रोग की (भेषजीम्) उत्तम औषध (त्वा असुराः नि-अखनन्) तुझको असुर= प्राण विद्या के जानने वाले वैद्य लोग निरन्तर खोद लेते हैं और (देवाः) विद्वान् लोग (पुनः) बार २ (उद् अवपन्) उखाड़ लेते हैं।

[११०] सन्तान की रक्षा और सुशिक्षा।

अथर्वा ऋषिः। अग्निर्देवता। १ पंक्तिः। २–३ त्रिष्टुभौ। तृच सूक्तम् ॥

प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि।
स्वां चाग्ने तन्वं/पिप्राय स्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व ॥१॥

ऋ० ८। ११। १०॥

भा०—(प्रत्नः) अति पुरातन, पुराण पुरुष (हि कम्) ही निश्चय से (अध्वरेषु) हिंसारहित यज्ञों में, देवपूजा के अवसरों में (ईड्यः) स्तुति करने योग्य है। हे परमात्मन्! और तू (सनात्) चिरकाल से (च) ही (होता) सब का दाता है (च) और (नव्यः चं) सदा नवीन, अजर, अमर अथवा सदा स्तुति करने योग्य होकर (सत्सि) हमारे हृदयों में विराजता है। हे अग्ने! परमेश्वर! आप (स्वाम्) अपने (तन्वम्) विशाल ब्रह्माण्ड को (पिप्राय) पूर्ण कर रहे हो, उसमें व्यापक हो, आप (अस्मभ्यं च) हमारे लिये (सौभगम्) उत्तम समृद्धि (आ यजस्व) प्रदान करें।

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम्।
अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ २ ॥

भा०—जिस स्त्री के प्रथम बालक उत्पन्न होकर मर जाय उसकी अन्य सन्तति की रक्षा करने का उपदेश करते हैं। (ज्येष्ठघ्न्यां) ज्येष्ठ=

प्रथम बालक को खो चुकनेवाली मृतवत्सा स्त्री में यह बालक (जातः) उत्पन्न हुआ है, अथवा (विचृतोः) विशेष रूप से परस्पर मिले हुए दोनों बालकों में से या (यमस्य) युगल रूप से उत्पन्न हुए (एनम्) इस बालक को (मूल-वर्हणात्) नाभि में लगी नाड़ी के काटने के समय से ही (परि पाहि) रक्षा करो । (विश्वा दुरितानि) सब प्रकार के दुरित, दुष्ट उपचार, जो माँ बाप या धाई की ओर से किये गये हों बालक को दुःख देने वाले पीड़ाकर कार्य्यों से (अति नेषत्) पार कर दो । जिससे वह (शत-शारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ बरस की लम्बी आयु जीवे ।

सायण ने 'ज्येष्ठघ्न्यी' शब्द से ज्येष्ठा नक्षत्र 'विचृत्' से मूल नक्षत्र का ग्रहण किया है और मूल नक्षत्र या ज्येष्ठानक्षत्र में उत्पन्न बालक की रक्षा करने परक अर्थ किया है । सो असंगत है । वेद में फलित आदि असत्य बातों का होना सम्भव नहीं है ।

व्याघ्रेऽह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः ।
स मा वधीत् पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम् ॥३॥

भा०—(व्याघ्रे) व्याघ्र के समान प्रबल, क्रूर (अह्नि) अहन्=न घात किये जाने वाले, कठोर दिन में (वीरः अजनिष्ट) जो पुत्र उत्पन्न हो वह वीर होता है और (जायमानः) उत्पन्न होता हुआ (सु-वीरः) उत्तम बालक वही है जो (नक्षत्र-जाः) अस्खलित वीर्यवान्, ब्रह्मचारी गृहस्थ से उत्पन्न होता है । (सः) वह पुत्र बड़ा (सु-वीरः) बलवान हो जाता है । (सः) वह (वर्धमानः) बड़ा होकर (पितरं) अपने पालक पिता को (मा वधीत्) कभी न मारे और (मातरं) मान्य (जनित्रीम्) जिसने उसको पैदा किया है उसको भी (मा प्रमिनीत्)

३–'वैयाघ्रे व्याघ्रो, इति वा ह्विटनिकामितः । (च०) 'स मा मातरम्' इति ह्विटनिकामितः ।

कष्ट न दे। प्रायः मदोद्धत बलवान् पुत्र सम्पत्ति और बल के गर्व में आकर माँ बाप को भी कष्ट देते हैं इसलिये पुत्रों को माँ बाप की रक्षा का उपदेश वेद करता है।

सायण—(व्याघ्रेऽह्नि) क्रूर दिन में (नक्षत्रजाः) पाप-नक्षत्र में उत्पन्न हुआ।



[१११] बद्ध जीव की मुक्ति और उन्माद की चिकित्सा।

अथर्वा ऋषिः। अग्निर्देवता। २–३ अनुष्टुभौ। परानुष्टुप् त्रिष्टुप्।

चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति।
अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं यदानुन्मदितोसति ॥ १ ॥

भा०—बद्ध जीव की मुक्ति के साथ २ पागलपन रोगनिवृत्ति का भी उपाय बतलाते हैं—हे (अग्ने) अग्ने परमात्मन्! या विद्वन्! आचार्य! (यः) जो (बद्धः) बन्धन में बँधा हुआ यह आत्मा (सुयतः) अपने कर्म वासनाओं में खूब फँसा हुआ होने के कारण (लालपीति) बहुत बकता झकता है उस (इमम्) इस (मे) मेरे (पुरुषम्) पुरुष, आत्मा को (मुमुग्धि) बन्धन से मुक्त कर। (अतः) इसी प्रयोजन से हे अग्ने परमात्मन्! विद्वन्! यह जीव (यदा) जिस समय (अनुन्मदितम्) उन्माद=पागलपन, अविवेक से रहित (असति) हो जाय तब (ते) तेरा (भाग धेयम्) भजन (अधि कृणवत्) करे। कर्म बन्धन में फँसा जीव बौराये हुए पागल के समान भटकता और बकता है। ईश्वर करे वह जीव मुक्त हो और जब उसको कभी अपने चित्त में शान्ति प्राप्त हो वह ईश्वर का अधिक भजन किया करे।

[१११] १–'यथानुऽन्मदितोसति' इति सायणाभिमतः।

अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम् ।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोससि ॥ २ ॥

भा०—हे आत्मन् ! हे जीव ! (यदि) यदि (ते) तेरा (मनः) मन संकल्प विकल्प और मनन करनेवाला अन्तःकरण (उद्युतम्) उचाट हो जाय, किसी स्थान पर भी न लगे, तब मैं (विद्वान्) ज्ञानवान् आचार्य (ते) तेरी (भेषजम्) ऐसी उत्तम चिकित्सा (कृणोमि) करूँ जिससे तू (अनुन्मदितः) उन्माद रहित (असासि) हो जाय। तब उस तेरे मन को (अग्निः नि शमयतु) अग्नि, ज्ञानी रूप शान्त करे।

देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि ।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यदानुन्मदितोसति ॥ ३ ॥

भा०—(देव-एनसात्) देव=विद्वान् पुरुषों या दिव्य पदार्थों के प्रति किये पाप या अनाचार के कारण (उन्मदितम्) हुआ उन्माद हो या (रक्षसः परि उन्मत्तम्) मानस क्रिया को रोकनेवाले कारण या ज्ञानविधायक रोग से उत्पन्न उन्माद हो, उसकी मैं (विद्वान्) विद्वान् पुरुष (भेषजं कृणोमि) ऐसी चिकित्सा करूँ । (यदा अनुन्मदितः असति) जिससे पुरुष उन्माद रहित हो जाय ।

पुनस्त्वा दुरप्सरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः ।
पुनस्त्वा दुर्विश्वे देवा यथानुन्मदितोससि ॥ ४ ॥

भा०—(अप्सरसः) उत्तम स्त्रियें या जलधाराएँ (त्वां) तुझे (पुनः) वार २ (दुः) चेतना प्रदान करें । (इन्द्रः) इन्द्र सूर्य या वायु (पुनः) चेतना प्रदान करे । (भगः पुनः) भग, पुष्टिकारक अन्न तुझे पुनः चेतना प्रदान करे । (विश्वे देवाः पुनः त्वा) सर्व देव, इन्द्रियगण या

२–(द्वि०) 'उद्यतं' इति सायणाभिमतः ।

विद्वान् लोग तुझे चेतना दें (यथा) जिससे तू (अनुन्मदितः असिस) उन्माद रहित हो जाय ।



[११२] सन्तान की उत्तम शिक्षा और विनय ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् ।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥१॥

भा०—(अयम्) यह पुरुष (ज्येष्ठं मा वधीत्) अपने बड़े भाई को न मारे । हे (अग्ने) अग्ने ! परमात्मन् ! अथवा हे राष्ट्रपते ! (एषां) इनके (मूल-बर्हणात्) मूल-विनाश के बुरे कार्य से या मूल नाड़ी के कटने के समय से (एनम्) इस पुरुष को (परिपाहि) रक्षा कर (सः) वह तू हे अग्ने ! (प्रजानन्) भली प्रकार विद्वान् ! तू (ग्राह्याः) पकड़ने वाली क़ैद के (पाशान्) पाशों को (विचृत) खोल दे । तब (देवाः) अन्य विद्वान् पुरुष भी (विश्वे) सब (तुभ्यम्) तुझे इस कार्य की (अनु जानन्तु) अनुमति दें ।

कोई छोटा भाई होकर स्वार्थ या लोभ और कामवश अपने बड़े को न मारे, राजा उस पुरुष को अपना वंश नाश न करने दे, और ऐसे अपराधी को तभी बन्धन या कारागार से मुक्त करे जब कि और विद्वान् लोग उसको छोड़ देने की अनुमति दें अन्यथा उस अपराधी को क़ैद में ही रक्खें ।

---

[११२] १–(तृ०) 'प्रजानः' (च०) 'पिता पुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान् ।' इति पैप्प० सं० ।

उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्न एषां त्रयस्त्रिभिरुत्सिता येभिरासन् ।
स ग्राह्याः पाशान् विचृत प्रजानन् पितापुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान् ॥२॥

भा०—हे अग्ने ! राजन् ! (त्वम्) तू (एषाम्) इनके माता-पिता और भाई के (पाशान्) उन पाशों को (उन्मुञ्च) खोल दे । (येभिः) जिन (त्रिभिः) तीन या सब लोगों से (एषां) बड़े भाई के अधिकारों पर आघात करनेवाले इनमें से (त्रयः) मां, बाप और छोटा भाई तीनों (उत्सिताः) बँधे हुए (आसन्) हों । (सः) वह अग्नि, राजा (प्रजानन्) उत्तम रूप से सब व्यवस्था को जानता हुआ (ग्राह्याः) क़ैद के (पाशान्) पाशों को (वि चृत) खोल दे और (पितापुत्रौ) बाप, बेटे और (मातरं) माता को और इस निमित्त फँसे (सर्वान्) सब को (मुञ्च) छोड़ दे ।

यदि बड़े भाई के अधिकारों पर आघात हो राजा इस दोष में सब को पकड़े और जाँच पड़ताल करके जो निर्दोष हों उनको बन्धन से मुक्त करे । अन्यथा नहीं ।

येभिः पाशैः परिवित्तो विबद्धोऽङ्गेअङ्ग आर्पित उत्सितश्च ।
वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥३॥

भा०—(येभिः) जिन (पाशैः) बन्धनों से (परि-वित्तः) अपने ज्येष्ठ भाई का अधिकार हड़पने वाला पुरुष (वि-बद्धः) बाँधा जाय और (अंगे अंगे) अंग २ में (आर्पितः) जकड़ा और (उत्सितः च) बँधा रहे (ते) वे पाश (वि मुच्यन्तां) खोल दिये जायँ (हि) यदि (विमुचः)

२–(द्वि०) 'उत्थितः' इति सायणाभिमतः ।

३–(द्वि०) 'उत्थितः' इति सायणाभिमतः । (प्र०तृ०) एभिः पाशैः मुदुयो पतिर्निबद्ध परोपरार्पिता अंगे अंगे । विते चृत्यन्तां विचृतां हि सन्ति' इत्यादि पैप्प० सं० ।

वे खोल देने योग्य ही (सन्ति) हों । तब हे (पूषन्) राजन् (भ्रूणघ्नि) भ्रूणघाती पुरुष पर (दुरितानि) इन अपराधों को (मृक्ष्व) जानो । 'भ्रूण' का अर्थ कोषकार 'गर्भ' करते हैं परन्तु बोधायन ने लिखा है कि— "कल्पप्रवचनाध्यायी भ्रूणः ।" कल्प प्रवचन सहित साङ्ग वेद का विद्वान् भ्रूण कहाता है । अर्थात् उक्त दोष से सभी तब मुक्त हो सकते हैं यदि उनके कार्य के नीचे किसी और पापी हत्यारे (Outlow) का हाथ हो तब उसको पकड़ कर ही दण्ड दिया जाय ।



[११३] पाप अपराध का विवेचन और दण्ड ।

अथर्वा ऋषिः । पूषा देवता । १—२ त्रिष्टुभौ । पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्ये॑षु ममृजे ।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥ १ ॥

भा०—पूर्व ज्येष्ठ भाई की हत्या के पाप की विवेचना करते हैं— (देवाः) विद्वान् व्यवहाराधिकारी शासक लोग (एतद् एनः) उस ज्येष्ठ भ्राता की हत्या के अपराध को (त्रिते अमृजत) प्रथम उक्त तीनों व्यक्तियों—छोटा भाई, पिता और माता इन तीनों पर ही (अमृजत) लगाते हैं । (त्रितः) ये तीनों (एतत्) इस अपराध को (मनुष्येषु) अन्य मनुष्यों पर (ममृजे) लगाने का यत्न करते हैं । तो हे अपराधियो ! (यदि) अगर (त्वा) तुझ पर (ग्राहिः आनशे) इस अपराध के कारण क़ैद आ जाय तो (तां) उस क़ैद को (ते देवाः) वे विद्वान् (ब्रह्मणा) ब्रह्म=सत्य व्यवस्था के द्वारा ही (नाशयन्तु) दूर

[११३] १—' तृत ' इति प्रायः । (तृ०) 'ततो मायदि किंचिदानशे' इति तै० ब्रा० ।

करें। अर्थात् वे ही यथार्थ अपराधी का पता लगा कर अपराधी को पकड़े और निरपराधी लोगों को मुक्त करें।

सायण ने इस प्रसंग पर त्रित आप्त्य की कथा का उल्लेख किया है कि देवों ने पुरोडाश आदि के लेप के पाप को एकत द्वित, त्रित इन तीन पुरुषों पर लगाया। उन्होंने क्रम से सूर्याभ्युदित पर लगाया, सूर्याभ्युदित ने सूर्यनिम्रुक्त पर, उसने कुनखी पर, उसने अग्रदीधिषु पर, उसने परिवित्त पर, उसने वीरहा पर, उसने ब्रह्मघाती पर। पूर्व मन्त्र में भ्रूणघाती वही प्रतीत होता है जो इस कथा में ब्रह्मघाती है। 'ब्रह्मघाती' में यदि ब्रह्म शब्द से वेद मर्यादा या वैदिक व्यवस्था को लें तो उसके विनाशक (out-law) कानून-भंगकारी को अपराध होना ही उचित है।

मरीचीर्धूमान् प्र विशानु पाप्मन्नुदारान् गच्छोत वा नीहारान्।
नदीनां फेनाँ अनु तान् वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व॥२॥

भा०—हे (पाप्मन्) पाप ! तू (मरीचीः) चाहे सूर्य की किरणों में छिप जा, चाहे (धूमान् प्रविश) धूओं में घुस जा, (अनु) और वहाँ से जाकर चाहे (उदारान्) उससे भी ऊपर उठे हुए मेघों में (गच्छ) चला जा, (उत वा) और चाहे (नीहारान्) उससे भी सूक्ष्म मेघमय, वाष्प, कुहरा में विलीन हो जा और या (नदीनां) नदियों की (फेनान्) झागों में घुसकर (तान् अनु-विनश्य) उनके बीच में छुप जा तो भी तू छूट नहीं सकता। क्योंकि हे पूषन् ! सूर्य के समान राजन् ! तू (दुरितानि) बुरे कर्मों को (भ्रूण-घ्नि) भ्रूण=वेदाज्ञा के भंग करने वाले पापी पुरुष में ही (मृक्ष्व) भांप लेता है।

द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु॥ ३॥

२—(तृ०) 'नश्यन्' इति क्वचित् 'विद्व' इति सायणाभिमतः।

भा०—(त्रितस्य) मन वाणी और कार्य दोनों में बद्ध पुरुष या जीवात्मा का पाप उससे (अपमृष्टं) दूर रह कर भी (द्वादशधा निहितम्) बारह प्रकार से बंट जाता है। जिनको (मनुष्य-एनसानि) मनुष्य विचारशील पुरुष के एनस=पाप कहा जाता है। (ततः) उन कारणों से भी हे जीव (यदि) अगर (त्वा) तुझे (ग्राहिः) बन्धनमय अविद्या (आनशे) लग जाय (ते) तेरे (तां) उस बन्धन को (ब्रह्मणा) ब्रह्म वेद के द्वारा (देवाः) विद्वान् पुरुष (नाशयन्तु) दूर करें। पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन और बुद्धि ये १२ स्थान पाप के हो सकते हैं। इसलिये ये पाप मनुष्य-पाप हैं। इनके अनुसार जीव कर्म-बन्धन में फँसता है।

मरीची, धूम, उदार नीहार, नदी फेन और भ्रूणघ्न में नीचयोनियों में जानेवाले जीवों के लिये पितृयाण मार्ग है।

॥ इति एकादशोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकादश सूक्तानि ऋचश्च सप्तत्रिंशचः।]

[११४] पाप त्याग और मुक्ति का उपाय।

ब्रह्मा ऋषिः। विश्वे देवा देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

यद् देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्।
आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥ १ ॥

यजु० २२। १४॥

१–(तृ०च०) 'अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः।' इति आदित्यास्तस्मान्मा मुञ्चत ऋतेनर्तस्य मा उत' इति वा तै०आ०। 'मा इत' इति तै० आ०।

भा०—पाप त्याग करने का प्रकार बतलाते हैं—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (वयम्) हम (देव-सः) देव स्वतः विद्वान्, इन्द्रिय क्रीड़ा व्यसनी होकर भी (यद्) जो (देव-हेडनं) देव, विद्वानों के अनादर और क्रोधजनक कार्य (चकृम) करें तो (हे आदित्याः) सूर्य के समान तेजस्वी या पापात्माओं को पकड़नेवाले पुरुषो ! (तस्मात्) उस पाप के निमित्त (यूयम्) आप लोग (नः) हमें (ऋतस्य) सत्यमय ईश्वर के (ऋतेन) सत्यज्ञान, वेद व्यवस्था के अनुसार (मुञ्चत) हमें मुक्त करो ।

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः ।
यज्ञं यद्यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ २ ॥

भा०—हे (आदित्याः) विद्वान्, ज्ञानी पुरुषो ! (यजत्राः) दानशील, यज्ञशील संगतिकारी सभासद् लोगो ! आप लोग (नः) हमें (ऋतस्य ऋतेन) सत्यमय परब्रह्म के सत्यज्ञान द्वारा (इह) इस लोक में (मुञ्चत) मुक्त करो, पापों के बन्धन से मुक्त होने का उपदेश करो । हे (यज्ञ-वाहसः) यज्ञ-मय महान् आत्मा परमब्रह्म को अपने अपने हृदय में धारण करने वाले विद्वानो ! हम लोग (यद्) जब (यज्ञम् शिक्षन्तः) उस ब्रह्म की शिक्षा प्राप्त करते हुए अथवा (यज्ञं शिक्षन्तः) उस महान् आत्मा को प्राप्त करनें में यत्न करते हुए भी (न उपशेकिम) उसको प्राप्त न कर सकें तो भी आप (ऋतस्य ऋतेन नः मुञ्चत) उस सत्यमय ब्रह्म के सत्यज्ञान का उपदेश करके हमें मुक्ति का मार्ग बतलावें ।

मेदस्वता यजमानाः स्रुचाज्यानि जुह्वतः ।
अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम ॥ ३ ॥

२–(च०) 'शिक्षन्तु उपारिम' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'इह मा', (तृ०) 'यज्ञैर्वः', (च०) 'आशिक्षन्तो नशेकिम' इति तै० ब्रा० ।

३–(द्वि०) 'आज्येन' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यजमानाः) ब्रह्म की उपासना करते हुए हम लोग (मेदस्वता) मेद=मेध=आत्मा और शरीर को धारण करनेवाले अन्न से युक्त (स्रुचा) बलप्रदाता प्राण से (आज्यानि) अपने तेजोमय इन्द्रिय रूप प्राणों को (जुह्वतः) आत्मा में लीन करते हुए (अकामाः) निष्काम, कामना रहित होकर और (शिक्षन्तः) ब्रह्म को प्राप्त करने का यत्न करके भी (न उपशेकिम) बन्धन से मुक्त न हो सकें तो हे (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् पुरुषो ! (वः) तुम लोग हमें ब्रह्म के सत्य ज्ञान के उपदेश द्वारा, कर्म-बन्धन से मुक्त करो ।

सायण ने (मेदस्वता यजमानाः स्रुचा) इसका अर्थ करते हुए पशु-बलिमय यज्ञपरक अर्थ किया है । सो असंगत है ।

शतपथ में—मेदो वै मेधः । श० ३ । ८ । ४ । ६ ॥ मेधाय अन्नाय इत्येतत् । श० ७ । ५ । २ । ३३ ॥ ऐतरेय में—मेधो देवैरनुगतो व्रीहिरभवत् । ऐ० । ८ ॥—ताविमौ व्रीहियवौ मेधः । श० १ । २ । ३ । ६,७ ॥ व्रीहि, यव आदि धान्य और पुरोडाश का नाम मेधः=मेदः है, अन्न से उत्पन्न प्राण की साधना से भी यत्न करनेवाले अभ्यासी लोग जब कर्मबन्धन से मुक्त न हों तो पहुँचे हुए ज्ञानी पुरुष उनको ब्रह्म का उपदेश करें । ब्रह्मज्ञान के उपदेश के लिये ब्रह्मचर्य और अष्टांग-साधना आवश्यक है ।

[११५] पाप-मोचन और मोक्ष ।

ब्रह्मा ऋषिः । विश्वे देवा, देवताः । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम् ।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥ १ ॥

[११५] १–(प्र०) 'यदि वा यद् नक्तं' (द्वि०) 'आकरत्' (च०) 'मुञ्चतः' इति तै० ब्रा० । (प्र०) 'स्वप्ने' (द्वि०) 'एनांसि चकृमा वयम्' इति यजु० ।

भा०—(वयम्) हम (यद्) जब जब (विद्वांसः) ज्ञानवान् होकर या (अविद्वांसः) विना जाने हुए (एनांसि) अपराध या पाप-कर्म (चकृम) करें हे (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (स-जोषसः) एक मत होकर, सप्रेम, होकर (तस्मात्) उस पाप से (नः) हमें (मुञ्चत) मुक्त कराओ, छुड़ाओ ।

यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम् ।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥ २ ॥
(प्र० द्वि०) यजु० २० । १६ । प्र० द्वि० ॥

भा०—(यदि) मैं (एनस्यः) पापकारी होकर भी (जाग्रद्) जागते हुए (यदि) या (स्वपन्) सोते हुए (एनः) पाप (अकरम्) करूँ तो जिस प्रकार (द्रुपदात् इव) द्रुपद=खूँटे से बँधे पशु को जिस प्रकार छुड़ा कर मुक्त कर दिया जाता है उसी प्रकार मेरे साथ लगे (भूतम्) भूतकाल के और (भव्यम् च) भविष्यत् काल के पाप को (तस्मात्) उक्त प्रकार से मुझे (मुञ्चताम्) छुड़ाओ । अथवा (द्रुपदात् इव भव्यं भूतं च मुञ्चताम्) खूँटे के समान मुझसे भूत=इस लोक और भव्य=अमुक लोक दोनों के कर्म-बन्धन को छुड़ाओ ।

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥ ३ ॥
यजु० २० । २० ॥

भा०—(द्रुपदात् मुमुचानः, इव) जिस प्रकार पशु खूँटे से मुक्त हो जाता है और (स्विन्नः) पसीने से भीगा पुरुष (स्नात्वा)

३–(द्वि०) 'स्नातो' (च०) 'शुन्धन्तु' इति यजु० । (प्र०) 'द्रुप-दादिह' (द्वि०) 'स्नात्वी' (च०) 'मुञ्चन्तु' इति मै० सं० । 'विश्वान् मुञ्चन्तु' (द्वि०) 'सिन्धुःस्ना–' इति पैप्प० सं० ।

नहाकर (मलात् इव) जिस प्रकार मल से रहित होजाता है और जिस प्रकार (पवित्रेण) पवित्र=कुश के बने, अथवा पवित्र अर्थात् कम्बल या छानने के कपड़े से (पूतम्) छान लिया गया (आज्यम्) घृत या जल जिस प्रकार शुद्ध पवित्र होजाता है उसी प्रकार (विश्वे) समस्त विद्वान् पुरुष या (विश्वे देवाः) समस्त दिव्य गुण के पदार्थ जल, भूमि, चन्द्र, वायु आदि (मा) मुझे (एनसः) पाप से (शुम्भन्तु) शुद्ध करें।

उक्त दोनों मन्त्रों में 'द्रुपदात् इव' द्रुपद से छूटने की उपमा आई है। सायण के मत से "पादबन्धनार्थो द्रुमो द्रुपदः [६।११५।२] द्रुपदात् इव काष्ठमयात् पादबन्धनात् इव [६।११५।३]" द्रुपद शब्द का अर्थ लकड़ी का बना पैरों का बन्धन (अर्थात् खूंटा) है। यजुर्वेद भाष्यकार उव्वट और महीधर दोनों ने द्रुपद शब्द का अर्थ 'पादुका' किया है। कदाचित् 'पादुका'=खड़ाऊँ सायण को भी अभिमत हो। ग्रीफ़िथ के मत में द्रुपद=stake, खूँटा, बल्ला। इसका वास्तविक अर्थ बृहदारण्यक के नीचे लिखे उद्धरण से स्पष्ट होता है—

"अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन् यथा महा-सुहयः पड्वीश-शङ्कून् संवृहेदेवं ह वै इमान् प्राणान् संववर्ह।" इत्यादि। इसमें 'पड्वीशशङ्कु' वही पदार्थ है जिसे वेद 'द्रुपद' शब्द से कहता है। अथवा ऋग्वेद में—

"शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः" [ऋ० १। २४। १३] शुनःशेप तीन खूंटों में बँधा हुआ आदित्य को पुकारता है।



[११६] पाप से मुक्त होने का उपदेश।

जारिकायन ऋषिः। विवस्वान् देवता। १–२ जगत्यौ। ३ त्रिष्टुप्। तृच सूक्तम्॥

यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया।
वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम् ॥ १ ॥

भा०—(कार्षीवणाः) कृषि करनेवाले (अन्नविदः, न) अन्न विद्या के ज्ञानी पुरुषों के समान (विद्यया) ज्ञान या कृषिविद्या के अनुसार (अग्रे) पूर्व ही (निखनन्तः) भूमि को खोदते हुए (यत्) जिस (यामन्) राजनियम को स्थिर (चक्रुः) करते हैं (तत्) उसके अनुसार ही मैं अन्नपति, भूमिपति (वैवस्वते राजनि) विवस्वान=विशेष धन या राष्ट्र के पति राजा के पास (जुहोमि) कररूप में दूं। (अथ) और (यज्ञियम्) यज्ञ के योग्य, यज्ञ=राष्ट्र के हितकारी (नः) हमारा (मधुमत्) दुग्ध आदि, बल, वीर्य, रससम्पन्न (अन्नम् अस्तु) अन्न हो।

सायण—यामं=क्रूर कर्म। ग्रीफिथ–यामं=धनं बीजमयं धान्यम्। यमः=राजा, तत्सम्बन्धिकरदानादिसमयो यामं कर्म। यामः कर्म [श० ६।३।२।३] याम=नियम, व्यवस्था।

अर्थात् किसानों के खेती करते समय जो राजा का नियत कर है सबसे प्रथम उसको भूपति लोग चुकाया करें। उसके अनन्तर शेष अन्न स्वयं ग्रहण करें।

वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति।
मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद् वा पितापराद्धो जिहीडे ॥ २ ॥

भा०—(वैवस्वतः) राष्ट्र का स्वामी (भागधेयं कृणवत्) सबके हिस्सों का विभाग करता है। और (मधुभागः) अन्न का भाग ग्रहण करनेवाला राजा ही सबको (मधुना सं सृजाति) अन्न से सम्पन्न करता

[११६] १–(द्वि०) 'न विदो न विद्यया' इति सायणसम्मतः पाठः। 'यदि। आमं'.इति ब्लूमफील्डकामितः पदच्छेदः।
२–(प्र०) 'कृणवद् भेषजानि' इति पैप्प० सं०।

है । अर्थात् यदि राजा अन्न का भाग न ले तो लोग अन्न उत्पन्न न करें, प्रत्युत, राजा जिस वस्तु को चाहता है वही प्रजा उत्पन्न करती है । राजा को हम राजा का भाग इसलिये दें कि उसको उसका भाग न देने से दो अनर्थ उत्पन्न होते हैं—(१) (यत्) प्रथम तो (मातुः) माता पृथिवी या प्रजा का (इषितम्) अभिलषित पदार्थ अन्न (नः) हमारे पास (एनः) पाप रूप में या अपराध रूप में (आ अगन्) आ जाता है, (२) (च) और दूसरा यह (यद्) कि (पिता) पालन करनेवाला राजा (अपराद्धः) कसूर करने पर (जिहीडे). क्रोध करता है । इसलिये जिसका जो भाग हो वह उसको अवश्य दे देना चाहिये । उसको उसका हिस्सा न देने से जो पाप (एनः) होता है, उसका स्वरूप अगले मन्त्रों में स्पष्ट हो जाता है ।

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन् ।
यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः ॥३॥

भा०—(यदि) यदि (इदं एनः) यह पाप, दोष (मातुः) माता के (यदि वा) अथवा (पितुः) पिता के या (नः) हमारे (भ्रातुः) भाई के (चेतसः) चित्त से या (पुत्रात्) पुत्र की तरफ़ से (परि आ-अगन्) हम पर आवें तो (यावन्तः) जितने भी (पितरः) पालक, पिता लोग, पिता, माता, गुरु आचार्य, राजा आदि आदरणीय पुरुष और जो भी (अस्मान्) हम पर (सचन्ते) आश्रित होकर रहते हैं (तेषां सर्वेषाम्) उन सब का (मन्युः) क्रोध या चित्त (शिवः अस्तु) हमारे लिये शान्त होकर हमें कल्याणकारी हो ।

जिसको भाग नहीं प्राप्त होता वही हम पर अपने भाग को हड़प जाने का दोष लगावेगा और हम पर क्रोध करेगा, वही वेद में 'एनः' कहा गया है । ऐसा 'एनः', दोष इनके चित्त से हम पर आ लगता है । अर्थात् उनका चित्त हम पर दोष आरोपण करता है । तब हिस्सा न

पाकर जब कलह हो तो हमारे बड़े वृद्ध पुरुष ही उसको शान्त करें और हमारा फैसला करा दिया करें ।



[११७] ऋण-रहित होने का उपदेश ।

अनृणकामः कौशिक ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि ।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान् विचृतं वेत्थ सर्वान् ॥१॥

भा०—ऋणपरिशोध का उपदेश करते हैं—(यद्) जिस (अपमित्यम्) अपमान योग्य या प्रदान करने योग्य (अप्रतीत्तं) न चुकाये हुए धनको (अस्मि) लेता हूँ और (यमस्य) नियन्ता राजा के राज्य में (येन) जिस (बलिना) बलि, कर से (चरामि) मैं स्वयं अपना भोजन प्राप्त करूं (इदं तत) उसको मैं यह । हे (अग्ने) राजन् तेरे समक्ष ही चुका दूं और इस प्रकार उससे मैं (अनृणः) ऋणरहित (भवामि) होजाऊं । हे अग्ने ! राजन् ! (त्वं) तू ही (सर्वान् पाशान्)

[११७] १–(प्र०) 'यदाम्न' इति लडविगृकामितः । 'यत् कुसीदं यदप्रतीतम्' मयेह । (द्वि०) 'येन यमस्य निधिना चरावः' । (तृ०) एतत् जीवन्नेव प्रति हस्ता नृणानि' इति मै० सं० । (तृ०) 'इहैव सन्निरवदये तत्' इति तै० सं० । 'जीवन्नेव प्रति तत्ते दधामि' इति तै० ब्रा० । 'यानपामित्यान्यप्रतीतान्यस्मि यमस्य बलिना चरामि' इति तै० ब्रा० । 'यत्कुसीदमप्रदत्तं मयेह येन यमस्य निधिना चरामि । इदं तदग्ने अनृणो भवामि जीवन्नेव प्रतिदत्ते ददानि' इति मै० ब्रा० । 'यत् कुसीदमपामित्यमप्रतीतम्' इति गो० ब्रा० । (प्र०) 'अपमृत्युमप्रतीतं यदस्मिन्नस्येन' । (च०) 'जीवन्नेव प्रविददामि सर्वं' इति पैप्प० सं० ।

सब बन्धनों को (विचृतम्) नाना प्रकार से बांधना और खोलना भी (वेत्थ) जानता है।

राजा की साक्षी में जिसका ऋण देना हो दो और राजा का कर भी चुकाओ, नहीं तो वह न चुकाने वाले कर्ज़दार को नाना प्रकार के दण्ड देगा।

इहैव सन्तः प्रति दद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत्।
अपमित्य धान्यं यज्जघसाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि॥ २॥

भा०—हम लोग (इह एव) इस लोक में ही (सन्तः) वर्त्तमान रहते २ (एनत्) उस ऋणको (प्रतिदद्मः) चुका दिया करें। और (जीवाः) हम जीते जी (जीवेभ्यः) जीते हुए पुरुषों के (एनत्) इस ऋण को (निहरामः) सर्वथा साफ़ कर दिया करें, बेवाक कर दिया करें। (यत् धान्यम्) जो धान्य आदि ऋण लेकर भी (अहं जघस) मैं खाऊं, उसको भी (अपमित्य) वापिस देकर हे (अग्ने) न्यायाधीश! (इदं तत्) यह इस प्रकार मैं (अनृणः) ऋण रहित (भवामि) होऊं।

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम॥ ३॥

भा०—लौकिक और पारमार्थिक दोनों ऋणों की विवेचना करते हैं— हम लोग (अस्मिन्) इस (लोके) लोक में और (परस्मिन्) परलोक में और (तृतीये लोके) तृतीय लोक में भी (अनृणाः) ऋण रहित

२—(प्र०) 'प्रतितद्यातयाम' इति तै० ब्रा०। 'एतत्' इति पैप्प० सं०। 'अपमृत्युं' 'जघास अग्निर्मा तस्मादनृणं कृणोतु' इति पैप्प० सं०।
३—(तृ०) 'उत पितृयाणा सर्वान्' इति तै० ब्रा०।

(स्याम) हो जायँ। (ये देवयानाः) जो देवों, विद्वानों के जीवन-यापन के योग्य देवयान लोक हैं और जो (पितृयाणाः च लोकाः) पितृयाण लोक हैं (सर्वान्) समस्त (पथः) मार्गों में हम (अनृणाः) ऋण रहित होकर ही (आ क्षियेम) रहा करें। इस लोक के दो प्रकार ऋण हैं एक तो जो अधमर्ण होकर उत्तमर्णों से सुवर्ण, रजत धान्य वस्त्रादि लिया जाता है, दूसरा पितृऋण, देवऋण, और ऋषिऋण हैं। जैसे तैत्तिरीय संहिता में लिखा है "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणै-ऋणवान् जायते, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः। तै० सं० ६।३।१०।५]। ऋणं ह वै जायते, योऽस्ति स जायमान एव देवेभ्यः ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः। स यदेव यजते तेन देवेभ्य ऋणं जायते, तद्ध्येभ्यः एतत्करोति यदेनान् यजते यदेभ्यो जुहोति। अथ यदेवानुब्रुवीत तेन ऋषिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति ऋषीणान्निधिगोपा इति ह्यनूचानमाहुः। अथ यदेव प्रजामिच्छेत तेन पितृभ्य ऋणमिच्छते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेषां सन्तताऽव्यवच्छिन्ना प्रजा भवति। अथ यदेव वासयेत तेन मनुष्येभ्यः ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेनान् वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति स य एतानि सर्वाणि करोति स कृतकर्मा; तस्य सर्वमाप्तं सर्वं जितम्।" शत० का० १।७।२।१-५॥ ब्राह्मण उत्पन्न होते ही तीन ऋणों से ऋणवान् होजाता है ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास करके ऋषियों का, यज्ञों से देवों का और प्रजा से पितृ लोगों का ऋण होता है। (तै० सं०) जो भी उत्पन्न होता है उत्पन्न होते ही उस पर देव, ऋषि, पितर और मनुष्य चारों के ऋण हो जाते हैं। यज्ञों से देवों का ऋण उतरता है, अनुप्रवचन, अध्ययन कार्य से ऋषियों का ऋण उतरता है, विद्यावान् पुरुष ऋषियों का 'निधिगोपा' खजानची कहाता है। प्रजाओं से ऋषियों का ऋण उतरता है इससे प्रजातन्तु टूटता नहीं। मनुष्यों के घरों में अतिथि रूप से रहने और भोजन करने से मनुष्यों का ऋण होता है।

घर पर अतिथियों को वास देने और भोजन वस्त्र देने से मनुष्यों का ऋण चुकता है। जो इन सब कार्यों को करता है वह 'कृतकर्मा' है उसको सब प्राप्त होता है वह सब पर विजय प्राप्त करता है।

[११८] ऋण के आदान और शोध की व्यवस्था।

अनृणकामः कौशिक ऋषिः । अग्निर्देवता त्रिष्टुभः । तृच सूक्तम् ॥

यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः ।
उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः ॥ १ ॥

भा०—कुमार्ग में या जूआ आदि व्यसनों में ऋण लेने और देने की व्यवस्था करते हैं—(अक्षाणाम्) अक्ष=जुए के पासों की (गत्नु) क्रीड़ा को अथवा उनके द्वारा प्राप्त होनेवाले अर्थलाभों को (उपलिप्समानाः) प्राप्त करने का लाभ करते हुए (हस्ताभ्याम्) हाथों से (यत्) जब (किल्बिषाणि) पाप (चकृम) करें (तत्) तब (अद्य) तत्काल ही (उग्रं-पश्ये) उग्र, उद्यत दण्ड होकर देखने वाली और (उग्र-जितौ) उग्रता से सब को वश करने वाली (अप्सरसौ) दोनों राजा और प्रजा की संस्थाएं (नः) हमारे (ऋणम्) ऋण, अर्थदण्ड को (अनु-दत्ताम्) हम से दिलादें। अर्थात् धनके लोभ से जब २ हम जूआ आदि कामों में हाथ डालें तब २ प्रजा की व्यवस्थापक संस्थाएं हमें पकड़ लें और दण्ड-पूर्वक हमारा ऋण हमसे चुकवावें। प्रजा पर निगरानी करने वाली दो

[११८] १—'गणमुप' इति अजमेरमुद्रितसंहिता पाठः, ग्रीफिथसम्मतश्च, 'गत्युं' 'गतुं' 'गन्तुं' इति क्वचित् । (प्र०) 'चकर' (द्वि०) 'वग्नुमुपजिघ्नमानः' । इति तै० ब्रा०, मै०सं०। 'अवजिघ्रमापे' । (तृ०च०) 'दूरेपश्या च राष्ट्रभृच्च तान्यप्सरसमनुदत्तानृणानि' इति तै० ब्रा० । ''किल्विषमक्षमकर्मविलिप्संमानाः इति पैप्प० सं० । (तृ० च०)

संस्थाएं एक उग्रंपश्या दूसरी उग्रजित्, एक C. I. D. 'क्रिमिनल इन्वेस्टिगेटिंग डिपार्टमेंट' पापियों को खोज २ कर पता लगाने वाली दूसरी 'उग्रजित्' पोलिस अपराधियों को खोज २ कर दण्ड देने वाली। ये दोनों संस्थाएं प्रजा में (अप्सरसौ) गुप्त रूपसे विचरें, अपराधियों का पता लगावें और उनको दण्ड दें। यहां सायण, ग्रीफ़िथ और क्षेमकरण तीनों भाष्यकारों के भाष्य अस्पष्ट हैं। इसी विषय का स्पष्टीकरण अगले मन्त्र में देखो।

उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यद॒क्षवृ॑त्तमनु॑ दत्तं न ए॒तत्।
ऋ॒णान्नो॒ नर्णमेत्सॅमानो य॒मस्य॑ लो॒के अधि॑रज्जुरा॑यत् ॥ २ ॥

भा०—हे (उग्रं-पश्ये) उग्र होकर प्रजा के अपराधियों को देखने वाली संस्थे! और हे (राष्ट्र-भृत) राष्ट्र को अपराधी पुरुषों से बचाकर उसका पालन करने वाली संस्थे! हे पूर्वोक्त दोनों संस्थाओ! (यद्) जो (अक्ष-वृत्तम्) जुआखोरी में होने वाला पाप और जो २ (किल्बिषाणि) पाप हैं उन सब को (एतत्) इस प्रकार से (अनु-दत्तम्)[1] उनके अनुकूल हमें दण्ड दें और हमें जुआखोरी आदि व्यसनों से कर्ज़दार होने से बचावें जिससे (ऋणात्) ऋणवान् पुरुष से (ऋणम्) अपने दिये ऋण को (न) नहीं (एत्सॅमानः=आ ईत्सॅमानः) प्राप्त करे

२—'नेन्नर्णान् ऋणवा इत्समाना', '—रज्जुराय' इति तै० आ०। 'नेम्नर्णानृणवानीप्समानो'—'निधिराजराय' इति मै० सं०। (तृ०) ऋणवानोऽनृणवायदायच्छमानो' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'नर्णमेच्छमानः' इति सायणाभिमतः। 'ऋणात् । न'। 'ऋणात् न' इति सायणाभिमतः पदपाठः।

१ 'निवारयतम् इत्यर्थः' इति सायणः (प्र०)'उग्रं पश्येद्राष्ट्रभृतक' इति तै० आ०। राष्ट्रभृतः किल्बिषं 'दत्तं वस्तत्' इति पैप्प० सं०।

तो उत्तमर्ण हम पर (अधि-रज्जुः) रस्सी या हथकड़ी लगाता हुआ (यमस्य लोके) नियन्ता राजा के दर्बार में (नः) हमें (आयत्) ले आवे।

अथवा उग्रंपश्या और राष्ट्रभृत् संस्थाएं हमें जुआखोरी के पाप से बचावें, क्योंकि कहीं ऋणी पुरुष से ऋण चुकाना चाहता हुआ पुरुष हम पर हथकड़ी लगाकर हमें राज दर्बार में न घसीट लावें।

यस्मा॑ ऋ॒णं य॒स्य॑ जा॒याम॒ुपैमि॒ यं याच॑मानो अ॒भ्यैमि॑ देवाः।
ते वाचं॑ वादिषु॒र्मोत्त॑रां मद्दे॑वपत्नी॒ अप्स॑रसा॒वधी॑तम् ॥ ३ ॥

भा०—(यस्मै) जिसके (ऋणम्) ऋण को मैं धारूं और (यस्य) जिस पुरुष की (जायाम्) स्त्री को (उप-एमि) अनधिकार से उपभोग करूँ और या (यम्) जिसके पास (याचमानः) धन की या ऋण की याचना करता हुआ (अभि-एमि) पहुँच जाऊँ (हे देवाः) हे देवगण विद्वान् राजपुरुषो ! (ते) वे लोग (मत्) मुझ से (उत्तराम्) उत्कृष्ट, अधिक या दूसरी (वाचम्) वाणी को (मा वादिषुः) न बोलें। हे (देवपत्नी अप्सरसौ) विद्वानों की पालन करने और रखने वाली प्रजा की संस्थाओ ! यह बात (अधीतम्) सदा स्मरण रक्खो। अर्थात् मुद्दई और मुद्दाला दोनों की एक बात होनी चाहिए। अपराधी उस दोष को स्वीकार करे जो दोष उसके ऊपर आरोपक लगाता है यदि मुद्दई मुद्दाला दोनों की बातों में फर्क हो तो विद्वत्-संस्थाएं—पञ्चायतें या ज्यूरियें इस पर विचार करें और साथ ही अन्वेषण करें। वेदमन्त्र में यही बात लिखी है कि अपराधी का जितना दोष हो आरोपक उससे अधिक दोष धर्माधिकारियों के सामने उस पर न लगावें।



३–(द्वि० तृ० च०) 'यं याजमानौ अभ्येमहे। वांत वाजिन् वाजिर्मोत्तराम्मद्दनपत्नी अप्सरसापदीतम्' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'अभ्येमि' इति सायणाभिमतः।

[११९] ऋण और दोष का स्वीकार करना ।

अनृणकामः । कौशिक ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यददीव्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि ।
वैश्वानरो नो अधिपा वसिष्ठ उदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥१॥

भा०—(अहं) मैं (यद्) जो (ऋणम्) ऋण (अदीव्यन्) जूआ खेले विना, या विना व्यसन-क्रीड़ा किये, अपने आप कर लूँ और (उत) और (अदास्यन्) उसको न चुका कर भी (सं-गृणामि) चुका देने की प्रतिज्ञा कर लूँ तो हे (अग्ने) राजन् ! तू (वैश्वानरः) सब पुरुषों का हितकारी (वसिष्ठः) सब में वास करने वाले सब के भीतर समान रूप से आदर प्राप्त, (अधि-पाः) सब का स्वामी, राजा होकर (नः) हमें (सुकृतस्य) पुण्य के (लोकम्) लोक में (इत्) ही (उत् नयाति) ऊपर उठा ले । अर्थात् यदि कोई ऋण के कारण क़ैद पड़ा हो और वह ऋण जुआखोरी आदि बुरे काम से न हुआ हो तो उसको ऋण दे देने की सत्य प्रतिज्ञा कराके पुनः निरपराध के समान मुक्त कर दिया जाय ।

वैश्वानराय प्रति वेदयामि यद्यृणं संगरो देवतासु ।
स एतान् पाशान् विचृतं वेद सर्वानथ पक्वेन सह सं भवेम ॥२॥

[११९] १-(प्र०) 'यददीव्यन्नहमृणं' (च०) 'उरुन्नयाति' इति पै० पं० सं० । (प्र०) 'अहं चकार' इति तै० आ० । (द्वि०) 'यद्वा दास्यन्त्समजगार जनेभ्यः' इति तै० आ० ।

२-'वेदयामो यदी नृणम्' (तृ०) 'पाशान् प्रमुचं प्रवेद' इति तै० आ० । (तृ०) 'विचृतं वेद सर्वान्' इति पैप्प० सं० । (च०) 'स नो मुञ्चतु दुरितादवद्यात्' इति तै० आ० ।

यद॒न्तरि॑क्षं पृथि॒वीमु॒त द्यां यन्मा॒तरं॑ पि॒तरं॑ वा जिहिंसि॒म ।
अ॒यं तस्मा॒द् गार्ह॑पत्यो नो अ॒ग्निरुदिन्न॑याति सुकृ॒तस्य॑ लो॒कम् ॥ १ ॥

भा०—(यद्) यदि हम (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षगत प्राणियों को (पृथिवीम्) पृथिवी, पृथिवीगत प्राणियों को, (द्याम्) द्यौलोक, द्यौलोक के, विद्वान् प्राणियों को और (यत् मातरम्) जो माता (वा पितरम्) या पिता, अपने परिपालक को (जिहिंसिम) मारें, पीड़ा दें तो (गार्हपत्यः अग्निः) गार्हपत्य अग्नि, गृहों का स्वामी, नेता या भूलोक का स्वामी राजा या परमेश्वर (नः) हमें (तस्मात्) उस बुरे कार्य से (इत्) अवश्य (उत् नयाति) उन्नत करे और (सुकृतस्य लोकम्) सुकृत, उत्तम पुण्यलोक में प्राप्त करावे ।

पृथिवी, आकाश और उससे भी ऊँचे द्यौः में विचरने वाले या उनका ज्ञान प्राप्त करनेवाले प्राणियों का नाश करना या पृथिवी, अन्तरिक्ष, वायु और द्यौः सूर्य के उपकारक पदार्थों का नाश करना और माता पिता को दुःख देना यह जंगलीपन का जीवन है । घर बसा कर उसमें अग्निस्थापन करना, प्रत्येक घर में ज्ञानाग्नि के स्थापन एवं अपने राजा के स्थापन का प्रतिनिधि है, अर्थात् मनुष्य उस वर्बरता के जीवन से उठ कर गृहपति, सरकार या राजशासन का स्थापन करे और उन्नत जीवन व्यतीत करे ।

भूमि॑र्मा॒तादि॑तिर्नो ज॒नित्रं॒ भ्राता॒न्तरि॑क्षम॒भिश॑स्त्या नः ।
द्यौर्नः॑ पि॒ता पित्र्या॒च्छं भ॑वाति जा॒मिमृ॒त्वा माव॑ पत्सि
लो॒कात् ॥ २ ॥

---

[१२०] १–(तृ० च०) 'अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्रमुञ्चतु' इति पैप्प० सं० ।

२–(प्र०) 'अभिशस्त एनः' । (तृ० च०) भवासि जाभिमित्वा मा विविद्दि लोकान् । (द्वि०) 'अभिशस्त्याः । नः' इति सायणाभिमतः

भा०—पूर्व मन्त्र में कही परिभाषाओं को और भी स्पष्ट करते हैं—(भूमिः) भूमि, सब का उत्पत्तिस्थान (अदितिः) अखण्डित या अदीन होकर (नः) हमारी (माता) माता के समान ही (जनित्रम्) हमें उत्पन्न करने वाली है। और (अन्तरिक्षम्) उसमें विचरने वाला वायु (भ्राता) हमारे भाई के समान हमें भरण पोषण करनेवाला है। और (द्यौः) यह आकाश या सूर्य (नः पिता) हमारा वीर्य सेक्ता पिता के सामान ऊपर से जलवर्षक और प्रकाशप्रद जीवनप्रद है। ये (नः) हमें (अभिशस्त्याः) अपवाद से अथवा अभिशस्ति=चारों तरफ़ से आनेवाली पीड़ाजनक विपत्तियों से दूर करें और उनमें से प्रत्येक (शं भवाति) कल्याण और सुखकारी हो, और मैं (जामिम् ऋत्वा) दोष या रोग को प्राप्त होकर अथवा (पित्र्यात्) पालकों के योग्य (लोकात्) इस लोक से (मा अव पत्सि) न गिरूँ। अथवा—(जामिम्) अपनी भगिनी का (ऋत्वा) संग करके (पित्र्यात् लोकात्) पिता के घरसे, पितृकुल से (मा अव पत्सि) न गिर जाऊँ। अर्थात् मा बाप, भाई हमारा कल्याण करें और हम दोष या, भगिनी आदि निषिद्ध स्त्रियों से संग करके उनके अपवाद के पात्र न हों। प्रत्युत पुण्याचरण से अपने उत्तम कृत्य में प्रतिष्ठित बने रहें।

यत्रा॑ सु॒हार्दः॑ सु॒कृतो॒ मद॑न्ति वि॒हाय॒ रोगं॑ त॒न्वः१॒ स्वायाः॑।
अश्लो॑णा अङ्गै॒रह्रु॑ताः स्व॒र्गे तत्र॑ पश्येम पि॒तरौ॑ च पु॒त्रान् ॥३॥
अथर्व० (प्र० द्वि०) ३।२८।५॥

पदच्छेदः। 'जामि। मृत्वा', जामिम्। ऋत्वा' इत्युभयथा पदच्छेदः सायणाभिमतः। (द्वि०) 'त्रातान्तरि' इति पैप्प० सं० इति ग्रिलः।
३–(प्र०) 'मदन्ते', (द्वि०) 'तन्वां स्वायाम्'। (तृ०) 'अश्लोणांगैर्धृताः। (च०) 'पितरं च पुत्रम्'–इति तै० आ०। (द्वि०) 'तन्वाः' तृ० 'अश्रोणा' इति सायणाभिमतः।

भा०—(यत्र) जहां, (सुहार्दः) उत्तम हृदयवाले (सुकृतः) पुण्याचारी पुरुष (स्वायाः तन्वः) अपने शरीर के (रोगं विहाय) रोगों से मुक्त होकर, आरोग्य होकर (अंगैः) अंगों से (अश्लोणाः) अविकृत (अह्रुताः) कुटिलता से रहित, सरलस्वभाव होकर (मदन्ति) आनन्द से जीवन व्यतीत करते हैं हम भी (तत्र) वहां उन लोगों के बीच (स्वर्गे) उसी सुखमय, स्वर्गसमान देश में (पितरौ) अपने मां बाप और (पुत्रान् च) पुत्रों को आनन्द प्रसन्नरूप में विचरते हुए (पश्येम) देखें।



[१२१] त्रिविध बन्धन से मुक्ति।

कौशिक ऋषिः। मन्त्रोक्ता–दैवत्यम्। १–२ त्रिष्टुभौ। ३ ४ अनुष्टुभौ। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

विषाणा पाशान् वि ष्याध्यस्मद् य उत्तमा अधमा वारुणा ये।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥

भा०—हे अग्ने! परमेश्वर! (ये उत्तमाः) जो उत्तम, सात्विक, और (अधमाः) जो अधम, नीच तामस (वारुणाः) वरुण, परमात्मा के बनाये हुए पाश हैं उन (पाशान्) पाशों को (अस्मत्) हमसे (विषाणा[1]=वि-साना) मुक्त करता (अधि वि स्य) उन पाशों का अन्त कर दे। और (अस्मद्) हम से (दुस्वप्न्यं) दुष्ट काम विकारों से उत्पन्न होनेवाले बुरे स्वप्नों और (दुरितम्) बुरी चेष्टाओं को (निः स्व= निः सुव) दूर कर। (अथ) और उसके बाद हम (सुकृतस्य) उत्तम पुण्य के (लोकम्) लोक=जन्म या अवस्था को (गच्छेम) प्राप्त हों।

१–सुपां आत्वम्।

[१२१] १–(तृ०) 'निः ष्व' इति क्वचित्।

यद् दारुणि बध्यसे यच्च रज्ज्वां यद् भूम्यां बध्यसे यच्च वाचा।
अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥२॥

(तृ० च०) अथर्व० ६।१२०।१॥

भा०—हे जीव! (यत् च) जो तू (दारुणि) काष्ठ में (यत् च रज्ज्वां) और जो तू रस्सी में और (यद् भूम्यां) जो तू भूमि में (बध्यसे) बांधा जाता है और (यत् च वाचा) जो तू वाणी से बांधा जाता है (तस्मात्) उस बंधन से (नः गार्हपत्यः) हमारे गृहों का स्वामी (अग्निः) परमेश्वर या राजा (अयम्) यह साक्षात् (इत्) ही (सुकृतस्य लोकम्) पुण्य, शुभ कर्म से प्राप्त होनेवाले (लोकम्) प्रकाशमय लोक को (उत् नयाति) ले जाता है। दारु=काष्ठ=शरीर, रज्जू=रस्सी, गुणमयी प्रकृति, भूमि=योनि, मनुष्यादि जन्म, वाक्, वाणी, वेदाभ्यास, शिक्षा, उपनयनादि द्वारा वेदादिकृत धर्माधर्म की व्यवस्था, इन सब बन्धनों से जीव को उन्नत लोकों में प्राप्त कराता है। इसी प्रकार राजा के ये दण्ड अपराधी की उन्नति के लिये होने चाहियें।

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके।
प्रेहामृतस्य यच्छतां प्रैतु बद्धकमोचनम् ॥ ३ ॥

(प्र० द्वि०) अथर्व० २।८।१ प्र० द्वि०।

भा०—(भगवती) ऐश्वर्य, बल से सम्पन्न (विचृतौ) विशेष रूप से परस्पर सम्बद्ध प्राण और अपान नामक (तारके) जीव को शरीर से तराने वाले (उद् अगाताम्) ऊर्ध्व गति करते हैं तब वे दोनों (अमृतस्य) अमृत आत्मा का अमृत स्वरूप (प्रयच्छताम्) प्रदान करें तब (बद्धक-मोचनम्) वह आत्मा बद्ध अवस्था से मुक्तअवस्था को (प्रैतु) प्राप्त करे।

२–(प्र०) 'दारुणा', 'रज्ज्वा' इति पैप्प० सं०।

३–(प्र०) 'अमीये सुभगे दिवे' (च०) 'एतद् बद्धक–' इति तै० आ०

वि जिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम् ।
योन्या इव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वा अनु क्षिय ॥ ४ ॥

भा०—हे जीव ! इस बन्धनमय लोक=शरीर को (वि जिहीष्व) विशेष ज्ञानपूर्वक निःसंग होकर परित्याग कर अथवा (वि जिहीष्व) नाना शरीरों में गति कर (लोकं कृणु) और अपने प्राप्त होने योग्य उत्तम लोक का स्वयं अपने कर्मबल से सम्पादन कर (बद्धकम्) अपने आप बँधे हुए अपने को ही तू (बन्धात्) बन्धन से (मुञ्चासि) छुड़ा । और (योन्या) योनि से (प्रच्युतः) पूर्ण रूप से बाहर आए हुए (गर्भः इव) बालक के समान (सर्वान्) सब (पथः) मार्गों में, लोकों में (अनु) अपने इच्छा अनुकूल (क्षिय) निवास कर, उनमें विचर । मुक्तात्मा यथासंकल्प लोकों में विचरते हैं ।



[१२२] देवयान, पितृयाण और मोक्ष प्राप्ति ।

भृगुर्ऋषिः । विश्वकर्मा देवता । १–३ त्रिष्टुभः, ४-५ जगत्यौ । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

एतं भागं परि ददामि विद्वान् विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य ।
अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम ॥ १ ॥

भा०—हे विश्वकर्मन् ! हे परमात्मन् ! समस्त विश्व=जगत् के बनाने वाले जगदीश्वर ! तू (ऋतस्य) ऋत=सत्यज्ञान अथवा इस गतिमान् जगत्

४–(प्र०) 'वि जिहीष्व लोकान् कृधि' । (च०) 'अनुस्व' इति तै० आ० (च०) 'अनुगच्छ इति पैप्प० सं० ।

[१२२] १–'अनु संचरेम' इति सायणाभिमतः । 'स प्रजानन् प्रतिगृभ्णीत विद्वान् प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य' इति तै० आ० । 'तं प्रजानन्नित्येका' इति पैप्प० सं० ।

के भी (प्रथमजाः) प्रथम–पूर्व ही तू उसके मूलकारण रूप से विद्यमान रहता है । (विद्वान्) इस प्रकार जानता हुआ मैं मुमुक्षु (एतं भागम्) इस शरीर भाग को भी (परि ददामि) तेरे ही अर्पण करता हूँ । (अस्माभिः) हम लोगों द्वारा (जरसः परस्तात्) जरा=बुढ़ापा के बाद (दत्तम्) तेरे अर्पण किये इस (अच्छिन्नम्) विच्छेद रहित अमर, अविनाशी (तन्तुम्) व्यापक यज्ञरूप प्राणमय आत्मा के (अनु) खोज में ही (सं तरेम) भली प्रकार लग कर उसको प्राप्त हों, इस भवसागर को तर जायँ । अथवा (जरसः परस्तात् दत्तं=परित्यक्तं अच्छिन्नं तन्तुं अनुसंतरेम) वार्धक्य के बाद त्याग किये, कभी न टूटते हुए सन्तान रूप प्राकृतिक तन्तु=सिलसिले से हम संतरण करें, उसे सदा बनाये रक्खें ।

मोक्षमय तन्तु संतरण का प्रकार बृहदारण्यक उप०(२।१।२०)में "हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते । ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते। स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वा अतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥ १९ ॥ स यथोर्णनाभिः तन्तुना उच्चरेत् ।" हृदय से पुरीतत् प्रदेश तक ७२ हजार या १०७२ नाड़ियाँ जाती हैं उनसे ऊर्ध्व जाकर पुरीतत्=ब्रह्मरन्ध्र में वह सो जाता है, वहाँ अत्यन्त आनन्द की सीमा में ऐसा निःसंग होकर मग्न हो जाता है जैसे मकड़ी अपने जाले की तांत से ही स्वयं निःसंग रह कर उसमें नहीं फँसता। उसको यही उपनिषद् वाक्य है 'सत्यस्य सत्यम्' इति। सत्य अर्थात् प्राणों का भी वही सत्य अर्थात् वास्तविक मूल आत्मा है । यथा क्षुरिकोपनिषद् (९) में—

तत्र नाडी सुषुम्ना तु नाड़ीभिर्बहुभिर्वृता ।
अणुरक्ताश्च पीताश्च कृष्णास्ताम्रा विलोहिताः ॥
अतिसूक्ष्मां च तन्वीं च शुक्लां नाड़ीं समाश्रयेत् ।
तत्र संचारयेत् प्राणान् ऊर्णनाभीव तन्तुना ॥

अथवा—पाशं छित्वा यथा हंसो निर्विशङ्कः खमुत्पतेत् ।
छिन्नपाशस्तथाजीवः संसारं तरते सदा ॥२३॥

अथवा—प्राणायामसुतीक्ष्णेन मात्राधारेण योगवित् ।
वैराग्योपलघृष्टेन छित्त्वा तन्तुं न बध्यते ॥२४॥
अमृतत्वं समाप्नोति यदा कामात्स मुच्यते ।
सर्वैषणाविनिर्मुक्तश्छित्वा तन्तुं न बध्यते ॥२५॥

प्रजातन्तु का संतरण स्पष्ट ही है ।

ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनेन ।
अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव ॥ २ ॥

भा०—(येषाम्) जिन्होंने (आयनेन) शरीर में पुनः आगमन द्वारा अथवा (आयनेन) सन्तान की प्राप्ति से (पित्र्यं) पितृऋण को (दत्तम्) दे दिया या चुका दिया है । (एके) वे कुछ लोग (ततं तन्तुम् अनु) इस अविच्छिन्न तन्तु, प्रजा सन्तति को उत्पन्न करके ही (तरन्ति) इस संसार के कर्तव्य मार्ग को पार कर जाते हैं । और (एके) दूसरे लोग (अबन्धु) बन्धु अर्थात् सन्तान रहित होकर भी (ददतः) अपने प्रदान करने वाले महाजन को (दातुं शिक्षान्) ऋण देने में समर्थ व्यक्तियों के समान ही (प्रयच्छन्तः) अपनी विद्या, धन आदि का प्रदान करते हुए (चेत्) यदि (ददतः दातुं शिक्षान्) सब के प्रदाता महादानी ईश्वर के ही निमित्त सब कुछ अर्पण करने में समर्थ हो जायँ तो उनके लिये (सः एव स्वर्गः) वही परम त्यागमय निःसंगता ही परम सुखप्रद दशा है ।

२–(प्र०) अनुसंचरन्ति (द्वि०) 'आयन्वन्' (तृ०) 'प्रयच्छात्' (च०) 'शनक्नुवांसः स्वर्ग एषाम्' इति तै० आ० ।

अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम् ॥३॥

भा०—पितृयाण से मुक्त होने का उपाय बतलाते हैं—हे (दम्पती) स्त्री पुरुषो! आप दोनों (एतं लोकं अनु आरभेथाम्) इस लोक के अनुकूल अपना गृहस्थ धर्म पालन करो और (श्रत्-दधानाः) इस लोक के लिये कर्म द्वारा प्राप्त फल को भी श्रत्=सत्य रूप से श्रमपूर्वक धारण पोषण करते हुए (अनु संरभेथाम्) तदनुसार उत्तम रीति से सब कार्य सम्पादन करो। और (यत्) जो भी (वाम्) तुम दोनों का (पक्वम्) सुपक्व उत्तम परिणाम, फल पुत्ररूप आदि (अग्नौ परिविष्टम्) अग्नि रूप गृहस्थाश्रम में (परिविष्टम्) प्राप्त हो (तस्य गुप्तये) उसकी रक्षा करने के लिये (सं श्रयेथाम्) परस्पर एक दूसरे का आश्रय लो।

यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः।
उपहूता अग्ने जरसः परस्तात् तृतीये नाके सधमादं मदेम ॥४॥

भा०—देवयान मार्ग का उपदेश करते हैं—मैं (तपसा) तपस्या द्वारा (मनसा) मनःशक्ति से (यन्तं) प्राप्त होनेवाले (बृहन्तम्) उस महान् (यज्ञम्) पूजनीय प्राप्य, परम वेद्य, वेदनीय ईश्वर को (सयोनिः) उसके समान ही एक मात्र उसका अनन्य आश्रय लेकर (अनु आरोहामि) उस तक पहुँच जाऊँ। तब हे अग्ने! प्रकाशस्वरूप प्रभो! (जरसः परस्तात्) इस जरा, बुढ़ापे के गुज़रने के बाद दीर्घायु होकर हम लोग (उपहूताः) मानो ईश्वर से बुलाये हुए होकर ही (तृतीये नाके) तृतीय, परम, तीर्णतम, सुखमय लोक में (सधमादम्) सब मुक्त आत्माएँ ब्रह्म के साथ परम आनन्द का अनुभव करते हुए (मदेम) परम सुख का लाभ करें।

३–(प्र०) 'आरभे–' (द्वि०) 'समाण पन्थामवथो घृतेन' (तृ०) 'वां पुत्र', 'यदग्नौ' (च०) 'तस्मै गोत्रायेह जायापती संरभेथाम्' इति तै० आ०। (तृ०) 'वां पुत्रं' इति पैप्प० सं०।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे ॥५॥

अथर्व० ११ । १ २७ ॥ १० ६ २७ ॥

भा०—(इमाः) इन (यज्ञियाः) यज्ञ अर्थात् दान करने योग्य (शुद्धाः पूताः) शुद्ध पवित्र, (योषितः) स्त्रियों को (ब्रह्मणाम्) ब्रह्म ज्ञानी विद्वान् ब्राह्मणों के (हस्तेषु) हाथों (प्र-पृथक्) पृथक् २ (सादयामि) प्रदान करता हूँ। (अहम्) मैं कन्या का पिता (यत्कामः) जिस मनोरथ से (इदम्) इस प्रकार (वः) स्त्री पुरुषों के जोड़े बने हुए तुम दम्पतियों को (अभिषिञ्चामि) जल से छिड़कता हूं। (सः, इन्द्रः) वह परमात्मा (मरुत्वान्) समस्त शक्तियों का स्वामी (मे) मेरे (तत्) उस प्रयोजन को (ददातु) प्रदान करे, पूर्ण करे।

कन्या के पिता का प्रयोजन योग्य विद्वान के हाथ कन्यादान करने का यही होता है यदि कन्या के पिता की दूसरी पुत्र सन्तान नहीं है तो पुत्र पुत्रिका विधान से पुत्र प्राप्त हो। दूसरा, कन्या यशस्विनी होकर प्रजा उत्पन्न करे, सुख से रहे।



[१२३] मुक्ति की साधना।

भृगुर्ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। १-२ त्रिष्टुभौ, ३ द्विपदा साम्नी अनुष्टुप्, ४ एकावसाना द्विपदा प्राजापत्या भुरिगनुष्टुप्। पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

५-(च०) 'सददाददंमे' इति अथर्व० ११। १। २७॥ (प्र०) 'अपो-देवीर्घृतमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणां' (च०) तन्मे सर्वं सम्पद्यतां वयं स्याम-पतयो रयीणाम्' इति अथर्व० १०। ६। २७॥

[१२३]१-(द्वि०) 'सधस्थ' 'ते' (द्वि०) 'आवहात् शेवधिं' (तृ०) 'यज्ञ-पतिर्वो अत्र' इति यजु०।

एतं संधस्थाः परि वो ददामि यं शेवधिमावहाज्जातवेदाः ।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत परमे व्योमन् ॥१॥

यजु० १८ । ५९ ॥

भा०—ईश्वर उपदेश करता है हे (सधस्थाः) सदा साथ रहने वाले देवगण ! (वः) तुम लोगों को (एतम्) इस (शेवधिम्) खजाने को मैं (परि ददामि) सौंपता हूं (यम्) जिसको (जातवेदाः) सर्वज्ञ जातवेदा, अग्नि, ऋषि (आवहात्) तुम तक पहुँचता है। हे विद्वान् पुरुषो ! (यजमानः) यज्ञ करने वाला पुरुष जो (स्वस्ति) कुशल क्षेम सहित (अनु आगन्ता) इस ज्ञानमय खजाने का अनुसरण करता है (तम्) उसको (परमे व्योमन्) परम उत्कृष्ट, विशेष सुरक्षित, मुक्तिधाम में प्राप्त हुआ (जानीत) जानो ।

जानीत स्मैनं परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद लोकमत्र ।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीष्टापूर्तं स्म कृणुताविरस्मै ॥ २ ॥

यजु० १८ । ६० ॥

भा०—हे (सधस्थाः देवाः) सदा साथ रहने वाले देवगण ! विद्वान् पुरुषो ! (एनम्) इस यज्ञकर्त्ता पुरुष को भी (परमे व्योमन्) परम उत्कृष्ट रक्षा स्थान में प्राप्त हुआ (जानीत) जानो (अत्र) इसी ही स्थान पर (लोकम्) इसका लोक=स्थान या भोग्य भोग जानो। (यजमानः) दान देने और देवार्चन, ईश्वर-भजन करने वाला पुरुष ही यहां (स्वस्ति) कुशल पूर्वक (अनुआगन्ता) पहुँच सकता है। आप

२–(प्र०) 'एतं जानाथ' (द्वि०) 'विद रूपमस्य' (तृ०) 'यदागच्छात् पथिभिर्देवयानैः' (च०) 'इष्टापूर्ते कृणुताथ' इति यजु० । (द्वि०) 'वृन्दाः सध–' (च०) कृणुतान्' इति तै० ब्रा० ।

लोग (अस्मै) इस जीव के लिये (इष्टापूर्तम्) इष्ट=यज्ञ आदि ईश्वर पूजा के और आपूर्त=कूपतडागादि उपकार जनक कार्यों का (आविःकृणुत स्म) उसको उपदेश करो। उन कार्यों को करके यह उच्चगति प्राप्त करे।

देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो अस्मि ॥ ३ ॥

भा०—(देवाः) देव, विद्वान् पुरुष ही (पितरः) मेरे पालनकर्त्ता हैं और (पितरः) पालकगण ही (देवाः) सब गूढ़ रहस्यों के प्रकाशक देव है। और मैं आप लोगों का शिष्य (यः, अस्मि) जो वास्तव में हूँ (सः अस्मि) वही आत्मा हूँ। मुझे यथार्थरूप से उपदेश करो।

स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम् ॥ ४ ॥

भा०—प्रजापतिर्देवता। (सः) वही आत्मा चैतन्य ज्ञानी मैं (पचामि) कर्म-फलों को परिपाक करता हूँ, (सः) वही मैं (ददामि) दान करता हूं। (सः यजे) वही मैं ईश्वर की आराधना करता हूं। (सः) वही मैं (दत्तात्) अपने दानभाव, त्याग-भाव या आहुतिरूप उत्तम कर्म से (मा यूषम्) पृथक् न होऊँगा।

नाके राजन् प्रति तिष्ठ तत्रैतत् प्रति तिष्ठतु।
विद्धि पूर्तस्य नो राजन्त्स देव सुमना भव ॥ ५ ॥

भा०—हे राजन्! परमेश्वर! (नाके) स्वर्गमय, सुखमय, दुःख-रहित लोक में (प्रतितिष्ठ) तू प्रतिष्ठा को प्राप्त हो (तत्र) वहाँ यह हमारा किया सब कार्य (प्रति तिष्ठतु) प्रतिष्ठा को प्राप्त हो। हे राजन्! परमात्मन्! देव! ईश्वर! (नः) हमारे (पूर्तस्य) आत्मा को पूर्ण बनाने की साधना को (विद्धि) तू जान और (सः) वह आप हमारे प्रति (सुमनाः भव) शुभ संकल्पवान् हों।



[१२४] शौच-साधन ।

निर्ऋत्यपसरणकामोऽथर्वाऋषिः । मन्त्रोक्ता उत दिव्या आपो देवताः । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्यपप्तद् रसेन ।
समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन ॥ १ ॥

भा०—ईश्वर की स्वल्प शक्ति और कृपा से जीव को बड़ा सुख प्राप्त होता है, मुक्त जीव कहता है । (बृहतः दिवः) विशाल प्रकाशमान द्यौलोक और (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से जिस प्रकार जल का छोटा २ विन्दु बरसता है और उससे जीवों को बल, जीवन, ज्ञान और सुख प्राप्त होता है उसी प्रकार (दिवः) प्रकाशमान (बृहतः) महान, सब से बड़े (अन्तरिक्षात्) अन्तर्यामी परमेश्वर से (अपाम्) समस्त ज्ञान और कर्म शक्ति का (स्तोकः) स्वल्प लवलेश-अंश (रसेन) आनन्द सहित (माम् अभिपप्तत्) मुझ पर बरसता है । और उसी के बल से (अहम्) मैं मुक्त जीव (इन्द्रियेण) इन्द्र=आत्मा के बल से (पयसा) ज्ञानरूप रस से (हे अग्ने) परमात्मन् (छन्दोभिः) वेदमन्त्रों से और (यज्ञैः) नाना प्रकार के शुभ कर्मों से और (सुकृताम्) पुण्य कार्यों के फल से (सम्) युक्त हो जाता हूँ ।

यदि वृक्षादभ्यपप्तत् फलं तद् यद्यन्तरिक्षात् स उ वायुरेव ।
यत्रास्पृक्षत् तन्वो३ यच्च वासस आपो नुदन्तु निर्ऋतिं पराचैः॥२॥

---

[१२४]१-(प्र०) 'मा' (द्वि०) 'अपतच्छित्राय' (तृ० च०) 'मनसाहमागां ब्रह्मणा गुप्तः सुकृता कृतेन' इति हि० गृ० सू० ।

२-(प्र०) 'वृक्षाग्रादभ्यपतत्' (द्वि०) 'यदि', 'सा' (तृ०) 'यत्र वृक्षः तनुवै यत्र वासः' (च०) 'बाधन्ताम्' इति हि० गृ० सू० ।

भा०—(यदि) यदि (वृक्षात्) वृक्ष से (फलं अभि-अ.सत्) फल गिरे और (यदि अन्तरिक्षात्) यदि अन्तरिक्ष से जल गिरे तो (सः उ वायरेव) वह भी वायु ही है, वह भी प्राणशक्ति का बढ़ाने वाला जीवनरूप है। (यत्र) जिस (तन्वः) शरीर के भाग पर (अस्पृक्षत्) यदि मल स्पर्श करे और (यत् वाससः) कपड़े के जिस भाग पर वह स्पर्श करे उस स्थान पर से ही (आपः) जल (निर्ऋतिं) घृणाजनक मैल को (पराचैः) दूर (नुदन्तु) हटादें।

अर्थात् वर्षा का जल, वृक्ष का फल दोनों पवित्र पदार्थ हैं। फल से शरीर पुष्ट होता है, और जल से शरीर और वस्त्र स्वच्छ रहते हैं। इसी प्रकार हमारे कर्म-वृक्ष से फल प्राप्त होता है अन्तरिक्ष अन्तर्यामी परमात्मा से जीवन प्राप्त होता है। वे आत्मा और शरीर दोनों के मलों को दूर करें।

अभ्यञ्जनं सुरभि सा समृद्धिर्हिरण्यं वर्चस्तदु पूत्रिममेव।
सर्वा पवित्रा वितताध्यस्मत् तन्मा तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥३॥

भा०—(अभ्यञ्जनम्) शरीर में तैल आदि का मलना, और आँखों में अञ्जन करना, (सुरभि) सुगन्धित पदार्थ और (हिरण्यम्) सुवर्ण धारण करना और (वर्चः) शरीर में ब्रह्मचर्य तेज (सा) वह सब (समृद्धिः) समृद्धि ही है। और (तद् उ) वह भी (पूत्रिमम्-एव) पवित्र ही है। ये (सर्वा) सब ही (पवित्रा) पवित्र पदार्थ (वितता) इस संसार में नाना प्रकार से फैले हुए हैं। उन में से पवित्र हुए (अधि अस्मत्) हम पर (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी या मलिनता या घृणाजनक गन्दगी (मा तारीत्) न आवे। और (अरातिः मा उ) न मानसिक अनुदारता हम पर आवे।

॥ इति द्वादशोऽनुवाकः ॥

[तत्र एकादश सूक्तानि अष्टात्रिंशदृचः ।]



[१२५] युद्ध का उपकरण रथ और देह ।

अथर्वा ऋषिः वनस्पतिर्देवता । १,३ त्रिष्टुभौ, २ जगती । तृचं सूक्तम् ॥

वनस्पते वीड्व᳡ङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।
गोभिः संनद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥ १ ॥

ऋ० ६ । ४६ । २६

भा०—युद्ध के उपकरण रथ का वर्णन करते हैं—हे (वनस्पते) वनस्पति काष्ठ के बने रथ ! तू (वीड्वङ्गः) दृढ़ अंगों वाला (हि) ही (भूयाः) रह । तू (अस्मत्सखा) हमारा मित्र (सुवीरः) उत्तम बलशाली वीरों से युक्त होकर युद्ध में (प्रतरणः) पार पहुँचाने वाला है । तू (गोभिः) गो-चर्म का बनी रस्सियों से (संनद्धः) खूब अच्छी प्रकार जकड़ा हुआ (असि) है तू (वीडयस्व) पर्याप्त रूप से हमें भी दृढ़ कर और (ते आस्थाता) तुझ पर चढ़ने वाला (जेत्वानि) विजय करने योग्य पदार्थों की (जयतु) विजय करे ।

यास्क ने लिखा है—यज्ञसंयोगाद् राजा स्तुतिं लभते—तत्संयोगाद् युद्धोपकरणानि । तेषां रथः प्रथमगामी भवति । रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य । रममाणोऽस्मिं स्तिष्ठतीति वा । रमतेर्वा रसतेर्वा तस्यैषा भवति 'वनस्पते वीड्वङ्गः' इत्यादि अर्थात्—यज्ञ के संयोग से राजा की स्तुति होती है, राजा के संयोग से युद्ध के उपकरणों की भी स्तुति की जाती है । उन में रथ सब से प्रथम है । रथ शब्द रंह-गति करना, स्थिर-स्थिर रहना, रम—रमना, रप=बोलना, रस—ग्रहण करना आदि धातुओं से बना है । इससे यास्क ने रथ शब्द के बहुत से अर्थों पर प्रकाश डाला है। रथ आत्मा देह और ईश्वर भी कहाता है । जैसे—तं वा एतं रस सन्तं रथ इत्याचक्षते, रसतमं ह वै तद्रथन्तरं ॥ श० । ९ । २ । २६॥ वैश्वानरो वै देवतया रथः । तै० २ । २ । ५ ४ ॥ गो० पू० २ । २१ ॥

अध्यात्म पक्ष में—हे (वनस्पते) वन संभजनीय, सेवनीय पदार्थों के स्वामिन् ! पुरुष या देह ! तू (वीड्वङ्गो हि भूयाः) दृढांग हो (अस्मत्सखा) हम इन्द्रियों का मित्र (सुवीरः) शुभ वीर्यवान्, (प्रतरणः) इस संसारसागर को पार करने वाला है। तू इस संसार में (गोभिः) इन्द्रियों और वेदवाणियों से (संनद्धः) सम्बद्ध है, तू (वीडयस्व) पराक्रम कर (ते आस्थाता) तेरा अधिष्ठाता इन्द्र आत्मा समस्त (जेत्वानि जयतु) जीतने योग्य पदार्थों पर वश करे।

दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः।
अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज॥२॥

ऋ० ६। ४७। २७॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक से मेघ की वर्षा रूप से और (पृथिव्याः) पृथिवी से अन्नरूप में (ओजः) तेज, बल को (परि उद्भृतम्) सब ओर से प्राप्त कर संगृहीत किया और (वनस्पतिभ्यः) सब वनस्पतियों से (सहः) सहन या आघातकारी को दबा लेने की शक्ति को भी (पर्याभृतम्) सब पदार्थों से संग्रह किया और उससे यह शरीर रचा गया है अतः (अपाम्) सब रसों के (आत्मानम्) बल स्वरूप (गोभिः) इन्द्रिय शक्तियों से (परि आवृतम्) सम्पन्न (इन्द्रस्य) आत्मा के (वज्रं) सब पापों के वर्जनकारी इस (रथम्) देह को (हविषा) अन्न से (यज) सम्पन्न करो। युद्ध रथ के पक्ष में गौण हैं।

इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।
स इमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय॥३॥

२–(प्र०) 'आभृतं', । (द्वि०) 'परिसम्भृतं' इति पैप्प० सं०।
३–(प्र०) 'इन्द्रस्य विराजो' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (देव) प्रकाशस्वरूप ! हे (रथ) रथ, रसस्वरूप आनन्दमय ! तू (इन्द्रस्य ओजः) इन्द्र, आत्मा का बल है (महताम् अनीकम्) सब प्राणों का अनीक=प्रमुख सेनानायक या समूहित बल है (मित्रस्य गर्भः) मरण से रक्षा करने वाले 'मित्र' प्राण को अपने भीतर ग्रहण करने वाला है; (वरुणस्य नाभिः) सब से श्रेष्ठ वरुण परमात्मा का (नाभिः) बन्धु है। वह तू (इमाम्) इस (नः) हमारी (हव्यदातिम्) स्तुतिरूप भेंट को (जुषाणः) सेवन करता हुआ (हव्या) समस्त हव्य, आदान करने योग्य क्रिया सामर्थ्यों को (प्रतिगृभाय) स्वीकार कर।

'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' इस विशेष अनुभव काल में समाधिगत योगी अपने आत्मा के प्रति कहता है।



[१२६] युद्धोपकरण दुन्दुभि, राजा और परमात्मा।

अथर्वा ऋषिः। वानस्पत्यो दुन्दुभिर्देवता। १,२ भुरिक् त्रिष्टुभौ, ३ पुरो बृहती विराड्गर्भा त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम्॥

उप॑ श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्यां पु॑रु॒त्रा ते॑ वन्वतां॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त्।
स दु॑न्दुभे स॒जूरिन्द्रे॑ण दे॒वैर्दू॒राद् दवी॑यो॒ अप॑ सेध॒ शत्रू॑न्॥ १॥

भा०—हे दुन्दुभे ! तू (पृथिवीम् उप श्वासय) पृथिवी को जीवन, प्राण धारण करा (उत द्याम्) और द्यौलोक को भी प्राण धारण करा। (पुरु-त्रा) नाना, बहुत से रूपों में (वि-ष्ठितं) विद्यमान (जगत्) संसार (ते) तेरा (वन्वताम्) आश्रय ले। तू (इन्द्रेण सजूः) इन्द्र आत्मा के साथ सप्रेम होकर और (देवैः) देव-विद्वान्

[१२६] १—(द्वि०) 'मनुताम्' इति ह्निटनिकामितः। 'सनुताम्' इति पैप्प० सं०। 'वनुताम्' इति सायणाभिमतः। (चं०) 'आराद् देवा'—इति मै० सं०।

पुरुषों के साथ (सजूः) सहमत होकर (दूराद् दवीयः) दूर से दूर भी विद्यमान शत्रु को (अपसेध) परे कर । जिस प्रकार नक्कारा या दुन्दुभि उच्च घोष से सब को सुनाई देता और राजा और भटों सहित दूरस्त शत्रु को भी पराजित करता है इसी प्रकार दुन्दुभि रूप परमेश्वर जो अपने नाद से पृथिवी और आकाश को गुञ्जा रहा है, हमारे आत्मा और विद्वानों पर अनुग्रह कर हमारे दूरस्थ अज्ञात शत्रु काम-क्रोध आदि को भी परे करे ।

आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा अभि ष्टन दुरिता बाधमानः ।
अप सेध दुन्दुभे दुच्छुनामित इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व ॥२॥

भा०—हे दुन्दुभे ! नक्कारे ! (बलम् आक्रन्दय) शत्रु की सेना को रुला । (नः) हमारे में (ओजः) बल को (आ धाः) आधान कर और (दुरितानि) दुष्ट चरित्रों को, पापों को (बाधमानः) बाधित करता हुआ (अभि स्तन) सर्वत्र अपना नाद कर । और (दुच्छुनाम्) दुःख देने वाली शत्रु-सेना को (इतः) यहां से (अप सेध) दूर भगादे तू (इन्द्रस्य) इन्द्र राजा की (मुष्टिः असि) आगे बढ़ कर हृदय दहला देने वाली मुष्टि मुक्के या वज्र के समान है । (वीडयस्व) तू दृढ़ रह । अध्यात्म में—दुच्छुना=दुष्प्रवृत्ति, इन्द्रस्य=आत्मा की, मुष्टिः=सर्व दुःख और अज्ञान को हरने वाली शक्ति है, तू आत्मा को वीर बना ।

प्रामूं जयाभी३मे जयन्तु केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीतु ।
समश्वपर्णाः पतन्तु नो नरोस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥ ३ ॥

२–(द्वि०) 'निःस्तनीहि,' (तृ०) 'अपप्रोथ' 'दुच्छुना', इति पैप्प०, मै० सं० । 'दुच्छुनानिति' इति तै० सं० ।

३–(प्र) 'आमूरज प्रत्यावर्त्तयेमाः' (द्वि०) 'वावदीति', (तृ०) चरन्तिनो' इत्यन्यत्र । 'चरन्तु' इति मै० सं० । 'पतयन्ति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे इन्द्र ! राजन् (अमूम्) उस दूर देख पड़ने वाली शत्रु सेना को (प्र जय) उत्तम रीति से विजय कर (अभि इमे जयन्तु) और ये हमारे वीर भट विजय करें । यह (दुन्दुभिः) नकारा (केतुमत्) झण्डे वाला (वावदीतु) खूब शब्द करे । (नः नरः) हमारे वीर नेता सैनिक (अश्वपर्णाः) घोड़े सहित दौड़ते हुए (संपतन्तु) एक साथ आक्रमण करें । और हे इन्द्र ! राजन् (अस्माकम् रथिनः) हमारे रथी सवार लोग (जयन्तु) विजय करें ।

अध्यात्म में— हे पुरुष ! (अमूम्) उस दुर्वासना को (प्र जय) खूब जीत । (इमे अभि जयन्तु) ये तेरे इन्द्रियगण सब व्यसनों पर विजय प्राप्त करें । (केतुमत् दुन्दुभिर्वावदीतु) ज्ञानवान् गुरु तुझे उपदेश करें (नः नरः, अश्वपर्णाः संपतन्तु) हमारे नेता-इन्द्रियगण अश्व= प्राण से वेगवान होकर पदार्थों तक पहुँचे और वे ही (रथिनः) देह रूप रथ में चढ़ कर या प्राणरूप रथ में या रसरूप आत्मा में विराज कर विजयी हों । केनोपनिषद् की ब्रह्म विजय की कथा को यहां अवश्य परामर्श कर लेना उचित है ।



[१२७] कफ से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा ।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । वनस्पतिरुत यक्ष्मनाशनं देवता । १-२ अनुष्टुभौ त्रिपदा जगती ॥

विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते ।
विसल्पकस्योषधे मोच्छिषः पिशितं चन ॥ १ ॥

भा०—हे (वनस्पते) हे ओषधे ! (बलासस्य) कफ और कफ से उत्पन्न (विद्रधस्य) गिलटियों के फूल जाने और (लोहितस्य) रुधिर विकार से उत्पन्न लाल चकत्तेवाले रोग (विसल्पकस्य) त्वचा पर फैलने

वाले विसर्प नाम कुष्ट के (पिशितम्) विकृत मांस को (मा चन उच्छिपः) बिलकुल बचा न रहने दे। नहीं तो वह फिर विकार उत्पन्न करके दुःख का कारण होगा।

यौ ते बलास तिष्ठ॑तः कक्षे॑ मुष्कावप॒श्रितौ॑ ।
वे॒दाहं तस्यं भेष॒जं चीपुद्रुर॒भिच॑क्षणम् ॥ २ ॥

भा०—हे (बलास) कफ से उत्पन्न गिल्टी के रोग ! (ते) तेरे से उत्पन्न (यौ मुष्कौ) जो दो गिल्टियां (कक्षे) कांछ या बगल में (अपश्रितौ) बुरी तरह से उठ आती हैं। (तस्य भेषजम्) उसको चंगा करने को ओषधी को (अहम्) मैं जानता हूँ। उसका (अभिचक्षणम्) नाम (चीपुद्रुः) चीपुद्रु या 'चीपु' वृक्ष है। 'चीपुद्रु' या चीपु वृक्ष अज्ञात है। कदाचित् शिफा या जटामांसी यह पदार्थ है।

यो अङ्ग्यो॒ यः कर्ण्यो॑ यो अ॒क्ष्योर्वि॑सल्प॑कः ।
वि वृ॑हामो वि॒सल्प॑कं विद्र॒धं हृ॑दयाम॒यम् ।
परा॒ तमज्ञा॑तं॒ यक्ष्म॑मध॒राञ्चं॑ सुवामसि ॥ ३ ॥

भा०—(यः विसल्पकः) जो विसर्पक रोग (अङ्ग्यः) सारे शरीर में फैल गया हो, (यः कर्ण्यः) या जो केवल कान के भीतर हो या (यः, अक्ष्योः) जो आंखों के बीच में हो ऐसे (विसल्पकम्) विसर्पक या (विद्रधम्) गिल्टी के फूल जाने के रोग को और (हृदयामयम्) हृदय की पीड़ा या रोग को (विवृहामः) विशेष रूप से समूल नाश करें। (तम् अज्ञातं यक्ष्मम्) और उस बिना जाने, अलक्षित यक्ष्म= रोगकीटों से उत्पन्न रोग को भी (अधराञ्चम्) नीचे ही दबा कर (परा सुवामसि) दूर करदें।



२–'चीपद्रु' इति सायणाभिमतः पाठः। 'अपिश्रितौ' 'उपश्रितौ' इति 'चीपुद्रु' इति ह्विटनिकाभितः।

[१२८] राजा का राज्यारोहण ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । नक्षत्राणि राजा चन्द्रः सोमः शकधूमश्च देवताः । १-२ अनुष्टुभः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत ।
भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति ॥ १ ॥

भा०—(नक्षत्राणि) नक्षत्र जिस प्रकार (राजानम्) चन्द्र को अपने में मुख्य बना लेते हैं उसी प्रकार (नक्षत्राणि) नक्षत्र, निर्वीर्य निर्बल प्रजाएं (शकधूमम्) अपनी शक्ति से सब को कंपाने वाले पुरुष को (राजानं) राजा (अकुर्वत) बना लेते हैं । और (अस्मै) उसको (भद्राहम्) ऐसा कल्याणकारी वह शुभ दिवस (प्रायच्छन्) प्रदान करते हैं जिसमें कि (इदम्) यह (राष्ट्रम्) राष्ट्र उसका ही (असात्) हो जाय (इति) ऐसा घोषित करते हैं । अथवा—(इन्द्रम् राष्ट्रम् अस्मै प्रायच्छन् इति भद्राहम् असात्) वे इस राष्ट्र को उसको सौंप देते हैं इस कारण वह दिन प्रजा के लिये मंगलकारी हो जाता है । अर्थात् प्रजा अपने में शक्तिशाली को राजा बनावे और शुभ दिन में उसका राज्याभिषेक करे । अथवा उसके राज्यारोहण के दिवस को पुण्य माने ।

भद्राहं नो मध्यन्दिने भद्राहं सायमस्तु नः ।
भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः ॥ २ ॥

---

[१२८] १–'यद् राजानं शकधूमं नक्षत्राण्यकृण्वत । भद्राहमस्मै प्रायच्छन्ततो राष्ट्रमजायत' इति पैप्प० सं० ।

२–'भद्राहमस्तु नः स्याम् भद्रा प्रातरस्तु नः । भद्रा अस्मभ्यं त्वां शकधूम सदाकृणु । 'इति पैप्प० सं० ।

भा०—(नः) हमारा (मध्यन्दिने) मध्याह्नकाल में (भद्राहं अस्तु) सुखकर दिन हो। (नः सायं भद्राहम् अस्तु) हमारा दिन सायंकाल के अवसर में भी सुखकारी हो, (नः अह्नां प्रातः भद्राहम्) हमारे दिनों के प्रातःकाल का भाग कल्याणकारी हो, (नः रात्री भद्राहम् अस्तु) हमारा रात्रिकाल में भी शुभ कल्याणकारी दिन हो।

अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्।
भद्राहमस्मभ्यं राजञ्छकधूम त्वं कृधि ॥ ३ ॥

भा०—हे (शकधूम) अपनी शक्ति से सब शत्रु को कंपाने हारे राजन्! (त्वं) तू (अहोरात्राभ्याम्) दिन, रात (नक्षत्रेभ्यः) समस्त नक्षत्रों और (सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्) सूर्य और चन्द्रमा द्वारा (अस्मभ्यं) हमारे लिये (भद्राहम् कृधि) कल्याण और सुखकारी दिन को नियत कर। अर्थात् शुभ अवसर दे जिसमें दिन, रात सूर्य और चाँद भी चमकें, नक्षत्र भी खिलें और प्रजाएं आनन्दित हों।

यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा।
तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः ॥ ४ ॥

भा०—हे शकधूम! शक्तिशाली राजन्! हे नक्षत्रराज!! नक्षत्रों में चन्द्रमा के समान प्रकाशमान! निर्बलों के राजन्! (यः) जो तू (नः) हम प्रजाओं के लिये (सायम्) सायंकाल, (नक्तम्) रात (अथा दिवा) और दिन सब कालों को (भद्राहम् अकारः) पुण्य, कल्याणकारी बना देता है (तस्मै ते) उस तुझ राजा को (सदा नमः) हम प्रजाएं सदा आदर करती हैं।



४–(प्र०) 'अकरत्', (द्वि०) 'सायं प्रातरथो'।

[१२९] राजा का ऐश्वर्यमय रूप।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः। भगो देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

भगे॑न मा शांश॒पेन॑ स॒ाकमिन्द्रे॑ण मे॒दिना॑।
कृ॒णोमि॑ भ॒गिनं॒ माप॑ द्रा॒न्त्वरा॑तयः ॥ १ ॥

भा०—मैं (शांशपेन) 'शंशपा' नामक वृक्ष के अति शीघ्र वृद्धिशाली और शान्तिदायक (भगेन) ऐश्वर्य और (मेदिना इन्द्रेण) सब के स्नेही इन्द्र=राजा के साथ (मा भगिनं कृणोमि) अपने आपको ऐश्वर्यवान् करूं। (अरातयः) मेरे शत्रु और दुःखकारी, अमनोहर दरिद्रताएँ (अप द्रान्तु) दूर हों।

येन॑ वृ॒क्षाँ अ॒भ्यभ॑वो॒ भगे॑न॒ वर्च॑सा स॒ह।
तेन॑ मा भ॒गिनं॑ कृ॒ण्वप॑ द्रा॒न्त्वरा॑तयः ॥ २ ॥

भा०—शंशपा वृक्ष (येन) जिस सामर्थ्य से बढ़ कर (वृक्षान् अभिभवः) और वृक्षों से शक्ति, कठोरता, दृढ़ता, बल और ऊँचाई में बढ़ जाता है, और उनको दबा लेता है उसी प्रकार हे राजन्! जिस ऐश्वर्य और तेज से तू परिपुष्ट होकर सब पुरुषों को अपने अधीन कर लेता है बस (भगेन वर्चसा सह) ऐश्वर्य और तेज से (मा भगिनं कृणु) मुझे भी ऐश्वर्यवान् कर और (अप द्रान्तु अरातयः) मेरे शत्रु मुझसे दूर हों।

यो अ॒न्धो यः पु॒नःस॑रो॒ भगो॑ वृ॒क्षेष्वाहि॑तः।
तेन॑ मा भ॒गिनं॑ कृ॒ण्वप॑ द्रा॒न्त्वरा॑तयः ॥ ३ ॥

[१२९] १—'शांशफेन, शांसयेन, शांशयेन' इति क्वचित् पाठः। 'संशपेन' इति पैप्प० सं०। 'संशफेन' इति सायणाभिमतः पाठः।
२—'अथा वृक्षान् अयभवत् साकं मिन्द्रेण मेदिना एवामा' इति पैप्प०सं०।
३—(द्वि०) 'आहत' इति निरु०। 'वृक्ष आर्पितः'। (तृ०) 'भगे निरासे-

भा०—(यः) जो (भगः) ऐश्वर्य, बल, वीर्य, यश (अन्धः) जीवन को नित्य धारण करने वाला और (यः पुनः सरः) जो बार २, प्रत्येक ऋतु में और बार २ काट लेने पर भी हरा कर देने वाला वीर्य, (वृक्षेषु) वृक्षों में (आहितः) ईश्वरीय शक्ति से रक्खा गया है हे ईश्वर ! (तेन) उस ऐश्वर्य और वीर्य से (मां भगिनं कृणु) मुझको भी ऐवर्यवान् बना। और (अरातयः) शत्रुगण और विपत्तियाँ (अप द्रान्तु) दूर भाग जावें ।

सायण ने यहाँ भग देवको अन्धा और एक ही रास्ते को बार २ चलने और वृक्षों से ठोंकरे खानेवाला मानकर उससे प्रार्थना की है सो हास्यास्पद ।



[१३०] स्त्री पुरुषों का परस्पर प्रेम और स्मरण ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । स्मरो देवता। २,३ अनुष्टुभौ। १ विराट् पुरस्ताद् बृहती।

चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥

भा०—(रथजिताम्) रमण साधनों वा वेगों पर वश करनेवाले पुरुषों और (राथजितेयीनाम्) रमण साधनों वा वेगों पर वश करने वाली (अप्सरसाम्) स्त्रियों को (अयं स्मरः) यह स्मर=परस्पर एक दूसरे को स्मरण करानेवाला सहज प्रेम उत्पन्न होता है। हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! आप लोग मेरी अभिलषित स्त्री के हृदय में (स्मरम्

ऽस्तुशांशपो' इति पैप्प० सं० ।

[१३०] १–'रथजिते धीनाम्' इति सायणाभिमतः । अर्थजितामर्थजितानामिति 'भिल' सम्मतः ।

प्रहिणुत) उसी प्रेमवश स्मरण करने के भावको उत्पन्न करो जिससे वह मेरी प्रियतमा वियोग काल में (माम् अनु शोचतु) मुझे ही याद करके दुःख अनुभव करे। वियुक्त होकर भी स्त्री पुरुष परस्पर प्रेम-सम्बद्ध होकर एक दूसरे के गुणों को स्मरण करें और त्याग न किया करें। विद्वान् लोग उनको एक दूसरे के प्रति पतिव्रत और पत्नीव्रत रहने का उपदेश किया करें। और यह परस्पर दृढ़ प्रेम उन स्त्री पुरुषों में ही उत्पन्न होता है जो एक दूसरे के वियोग में भी अपने रमण साधन इन्द्रियों और कामवेगों पर वश करते हैं अन्यथा वे काम में वह कर व्यभिचारी हो जाते और प्रेम को स्थिर नहीं रख सकते।

असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति। देवाः० ॥२॥

भा०—(असौ) वह प्रियतमा स्त्री (मे) अपने मुझ प्रियतम पति का (स्मरतात्) स्मरण करे (इति) इस प्रकार पति निरन्तर अपनी स्त्री के विषय में चिन्तन करे और (मे प्रियः) मेरा प्रियतम पति (मे स्मरतात्) मेरा स्मरण करे (इति) इस प्रकार पत्नी निरन्तर अपने पति के विषय में चिन्तन करे। हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! (स्मरं प्रहिणुत) स्त्री पुरुषों में इस प्रकार के परस्पर स्मरण करानेवाले प्रेम भाव को जागृत करो। जिससे (असौ) वह दूरदेशस्थ प्रेमी (माम्) मुझ प्रेमपात्र को (अनु शोचतु) वियोग में भी स्मरण करे और मेरे दुःख से दुखी हो।

यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदा चन।

देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (असौ) वह दूर देशस्थ प्रियतम, प्रेमपात्र व्यक्ति (मम स्मरात्) मुझे स्मरण करता है। क्या (अमुष्य) उसका मैं (कदाचन न) कभी स्मरण नहीं करता? करता ही हूं। तब हे

(देवाः सरम् प्रहिणुत) परस्पर याद दिलाने वाले प्रेम के भावों को जागृत करो जिससे (असौ माम् अनुशोचतु) वह दूरस्थ देश का व्यक्ति मेरे प्रेम में दुखी हो और मुझे याद करे।

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय ।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु ॥ ४ ॥

भा०—हे (मरुतः) विद्वान् पुरुषो! उस प्रेमी व्यक्ति को मेरे प्रेमाभिलाप में (उन्मादयत) उन्मत्त कर दो, वह मेरे सिवाय किसी और की याद न रख मेरी स्मृति में ही दीवाना हो जाय। हे (अन्तरिक्ष) अन्तर्यामी आत्मन्! तू ही उस प्रेमपात्र को (उन्मादय) प्रेम में दीवाना कर दे। हे (अग्ने) परमात्मन्! (त्वम् उन्मादय) तू प्रेम में पागल कर दे। जिससे (असौ माम् अनुशोचतु) वह मेरे प्रेमवियोग में दुखी हो और मुझे स्मरण करे।

वेद में प्रेमियों को चिरस्थायी प्रेम में निरत रह कर एक दूसरे की अभिलाषा करने का उपदेश किया है, न कि विषय-लोलुपता में अन्धे होकर दीवाना होने को कहा है। वह स्थायी प्रेम, परस्परानुचिन्तन और परस्पर प्रेम में उत्पन्न होना भी (रथजित् राथजितेयी) कामवेगों को रोकने वाले जितेन्द्रिय स्त्री पुरुषों में ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त अध्यात्मपक्ष में रथजित्=आत्मसाधक, जितेन्द्रिय योगी और 'राथजितेयी' अप्सराएँ उनकी ध्यानवृत्तियाँ हैं। वे अपने प्रियतम उपास्यदेव को स्मरण करते हैं और उसी को अपने प्रेम और लगन के लिये द्रवित करना चाहते हैं उसी का स्मरण करते हैं, उसी के ध्यान में दीवाने हो जाते हैं। जैसे कबीर ने लिखा है—

"प्रीत लगी तुव नाम की पल विसरे नाहीं।
नजर करो अब मिहर की मोहि मिलो गोसाईं ॥

विरह सतावै मोहि को जिव तड़पै मेरा ।
तुम देखन की चाव है प्रभु मिलो सवेरा ॥
नैना तरसे दरस को पल पलक न लागै ।
दर्द बंद दीदार का निसिवासर जागै ॥
जो अवके प्रीतम मिलैं करूँ निमिष न न्यारा ।
अव कवीर गुरु पाइयाँ मिला प्राण पियारा ॥

[कवीर शब्दावली भा० २, श० ६]

[१३१] प्रेमियों का परस्पर स्मरण और चिन्तन ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । स्मरो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

नि शीर्षतो नि पत्तत आध्यो३ नि तिरामि ते ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥

भा०—मैं तेरा प्रेमी व्यक्ति (नि शीर्षतः) शिर से लेकर (नि पत्ततः) पैरों तक (ते) तेरे शरीर में (आध्यः) प्रेमोन्माद से उत्पन्न होनेवाली मानसी व्यथाएँ (नि तिरामि) उत्पन्न होने का कारण बनूं । हे (देवाः प्रहिणुत स्मरम् माम् असौ अनुशोचतु) विद्वान् पुरुषो ! प्रियतम दूरस्थ व्यक्ति में प्रेमपूर्वक स्मरण करने के भाव को जागृत करो जिससे वह मुझे स्मरण करके मेरे लिये वियोग दुःख अनुभव करे ।

अनुमतेन्विदं मन्यस्वाकूते समिदं नमः ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ २ ॥

भा०—हे (अनुमते) परस्पर प्रेमपूर्वक पतिपत्नीभाव से रहने के लिये एक दूसरे के प्रति प्राप्त अनुमते ! एक दूसरे को स्वीकार करनेवाले भाव ! (अनु इदं मन्यस्व) तू ही इस प्रकार परस्पर स्मरण करने और

एक दूसरे के वियोग में दुखी होने के लिये अनुमति देता है । और हे (आकूते) मानस संकल्प ! हार्दिक भाव ! तू भी (इदम्) इसी (नमः) प्रकार के परस्पर के आदर प्रेम के झुकाव को (सं अनुमन्यस्व) स्वीकार करता है । (देवाः प्रहिणुत स्मरम् असौ माम् अनुशोचतु) हे विद्वान् पुरुषो ! मेरे प्रियतम व्यक्ति से प्रेम पूर्वक स्मरण करने के भाव को जागृत करो जिससे वह मुझे स्मरण करके मेरे लिये वियोग दुःख को अनुभव करे।

यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम् ।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता ॥ २ ॥

भा०—स्थिर दाम्पत्य प्रेम का फल बतलाते हैं। पत्नी कहती है–हे प्रियतम ! (यद् धावसि त्रियोजनं) यदि तू तीन योजन या १२ कोश या (पञ्चयोजनम्) पाँच योजन या २० कोश या (आश्विनं) घोड़े जैसी शीघ्रगामी सवारी से जाने योग्य दूरी पर भी (धावसि) चला जाय तो भी (ततः) उस दूर देश से (त्वं पुनः आ आयसि) तू फिर लौट आ क्योंकि तू ही (नः) हमारे (पुत्राणां) पुत्रों का (पिता असः) पिता पालक और उत्पादक है ।



[१३२] प्रेम को दृढ़ करने का उपदेश ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । स्मरो देवता । १ त्रिपदानुष्टुप् । ३ भुरिग् । २,४,५ त्रिपदा महा बृहत्यः । २,४ विराजौ । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

यं देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या ।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ १ ॥

भा०—(देवाः) देवगण, विद्वान् लोग या ईश्वर की दिव्य शक्तियाँ (आध्या सह) मानसी व्यथा, हृदयवेदना के साथ २ (अप्सु अन्तः)

स्त्रियों या प्रजाओं के हृदय के बीच (यं स्मरम्) परस्पर एक दूसरे के प्रेम स्मरण करने और चाहने के जिस भाव को (असिञ्चन्) भीतर डाल देते हैं हे प्रियतमे ! (तम्) उस (ते) तेरे प्रेम, परस्पराभिलाषा के भाव को (वरुणस्य धर्मणा) वरुण–राजा या सर्वश्रेष्ठ परमात्मा के धर्म धारण, व्यवस्था या राजनियम द्वारा भी (तपामि) पकाता हूँ, परिपक्व करता हूँ । अर्थात् पारस्परिक दाम्पत्य प्रेम को दृढ़ करने के लिये राजनियम भी ऐसा होना चाहिये कि स्त्रीपुरुष एक दूसरे को आजीवन त्याग न करें ।

यं विश्वे॑ दे॒वाः स्मरमसि॑ञ्चन्न॒प्स्व१॒॑न्तः० । ० ॥ २ ॥

भा०—(विश्वे देवाः) समस्त देवगण (यं स्मरम् अप्सु अन्तः असिञ्चन्) जिस परस्पर स्मरण रूप परस्पराभिलाष या कामना को मानस व्यथा के सहित समस्त प्रजाओं के चित्त में डालते हैं उसी भाव को वरुण= राजा की व्यवस्था से भी मैं तेरे हृदय में परिपक्व करता हूँ ।

यमि॑न्द्रा॒णी स्मरमसि॑ञ्चद॒प्स्व१॒॑न्तः ० । ० ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्राणी०) ईश्वरीय शक्ति जिस परस्पर प्रेमाकर्षण को मानस व्यथा के सहित प्रजाओं के हृदय में डालती है उसी को राज-व्यवस्था से मैं परिपक्व करता हूँ ।

यमि॑न्द्रा॒ग्नी स्मरमसि॑ञ्चताम॒प्स्व१॒॑न्तः ० । ० ॥ ४ ॥

भा०—(इन्द्राग्नी यम् स्मरम् इत्यादि) इन्द्र=परमेश्वर और अग्नि आचार्य जिस परस्पराभिलाषा को मानस पीड़ा के सहित प्रजाओं के हृदयों में उत्पन्न करते हैं और उसको दृढ़ करते हैं उसको मैं वरुण राजा के क़ानून से और भी दृढ़ करूँ ।

यं मि॒त्रावरु॑णौ स्मरमसि॑ञ्चताम॒प्स्व१॒॑न्तः शोशु॑चानं स॒हाध्या ।
तं ते॑ तपामि॒ वरु॑णस्य॒ धर्म॑णा ॥ ५ ॥

भा०—(यं मित्रावरुणौ आध्या शोशुचानम्) मानसी पीड़ा के साथ

उत्पन्न करनेवाले जिस पारस्परिक अभिलाषा को (मित्रावरुणौ) मित्र=प्राण और वरुण=अपान, दोनों एक होकर (अप्सु अन्तः असिञ्चताम्) प्रजाओं के हृदय में सींचते हैं (तम्) उसी परस्पर प्रेम को (वरुणस्य धर्मणा) राजा की व्यवस्था से भी (ते तपामि) तुझमें मैं परिपक्व करता हूँ।

इस सूक्त में वेद ने विवाह बन्धन को और परस्पर के प्रेमाभिलाप को दृढ़ करने के ६ उपाय दर्शाए हैं। १. विद्वानों का उपदेश, (२) सब इष्ट सम्बन्धियों की प्रेरणा, (३) ईश्वरी शक्ति, (४) ईश्वर और आचार्य के समक्ष वार्त्तालाप और उनकी अनुमति, (५) प्राणशक्ति का एक होना, (६) सबके साथ २ राजनियम की सत् व्यवस्था। सायण का इन उक्त तीन सूक्तों का दुष्ट स्त्री के वशीकरण में लगाना वेद के साथ अन्याय है।



[१३३] मेखला बन्धन का विधान।

अगस्त्य ऋषिः। मेखला देवता। १ भुरिक्। २,५ अनुष्टुभौ। ३, त्रिष्टुप्। ४ भुरिक्। पञ्चर्चं सूक्तम्॥

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो युयोज।
यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात् स उ नो वि मुञ्चात्॥१॥

भा०—(यः देवः) जो देव विद्वान् ब्राह्मण, ज्ञानदाता या ज्ञानप्रकाशक आचार्य (इमाम्) इस (मेखलाम्) मेखला को (आबबन्ध) ब्रह्मचारी के शरीर पर बाँधता है और जो (नः) हम ब्रह्मचारियों को (संननाह) ब्रह्म पालन के लिये संनद्ध करता है और (यः उ नः) जो हमें (युयोज) व्रत पालन में लगाता है और (यस्य देवस्य) जिस ज्ञानदाता गुरु के (प्रशिषा) आज्ञापालन में या शासन में (चरामः)

[१३३]१–(तृ०) 'चरामि' इति पैप्प० सं०।

हम रहते हैं (सः) वही हमारे (पारम्) व्रत को पूर्ण पालन कराके उसकी समाप्ति भी (इच्छात्) चाहता है। (सः उ) और वही (नः) हमें (विमुञ्चात्) सब विघ्नबाधाओं से मुक्त करे।

आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम्।
पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ॥ २ ॥

भा०—हे (मेखले) (आहुता असि) तू चारों ओर पहनी जाती है और (अभिहुता असि) सब ओर से ग्रहण की जाती है और (ऋषीणाम्) मन्त्र द्रष्टा और वेदज्ञानी पुरुषों की (आयुधम् असि) आयुध, पापों के नाश करने का साधन, कामादि शत्रुओं के नाश का हथियार है। अतः वही (व्रतस्य) ब्रह्मचर्य आदि के व्रत के (पूर्वा) पूर्व में ही ब्रह्मचारी शरीर को (प्राश्नती) व्यापती हुई तू (वीरघ्नी भव) वीरपुरुषगामिनी हो।

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥ ३ ॥

भा०—(यत्) क्योंकि (अहम्) मैं (मृत्योः) आदित्य के समान प्रकाशवान् ज्ञानी पुरुष का या अज्ञान के बन्धन से मुक्त करने वाले आचार्य का (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी हूँ इसलिये (भूतात्) इस पञ्चभूत के देह से (यमाय) उस परब्रह्म सर्वनियन्ता परमेश्वर की प्राप्ति के लिए (पुरुषम्) देहपुरी के वासी आत्मा को (निर्याचन् अस्मि) मुक्त करने के यत्न में हूँ। हे आचार्य! ऐसे (तम्) उस (एनम्) इस आत्मा को (अहम्) मैं शिष्य (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेदोपदेश से, (तपसा) तपसे, (श्रमेण) श्रम से

२—(प्र०) 'आहुतासि ऋषीणां' (च०) 'अवीरघ्नी' इति पैप्प० सं०।
३—(द्वि०) 'भूतो निर्याचन्' इति पैप्प० सं०। 'निर्याचम्' इति सायणाभिमतः।

और (अनया मेखलया) इस मेखला से (सिनामि) बाँधता हूँ । स एष आदित्यो मृत्युः । श० १०।५।१।४। अग्निर्मृत्युः ॥ कौ० १३ । ३ ॥ योऽग्निर्मृत्युः सः ॥ जै० ३० । १ । २५ । ८ ॥

अथवा—(अहम्) मैं (ब्रह्मचारी) स्वयं ब्रह्मचारी होकर आचार्य (पुरुषं यमाय भूतात् मृत्योः निर्याचन् अस्मि) इस पुरुष को यमनियम पालन कराने के निमित्त भूत=निश्चित मृत्यु से छुड़ा देता हूँ। इसी निमित्त (ब्रह्मणा तपसा श्रमेण अनया मेखलया च अहं सिनामि) वेद, व्रत, तप, श्रम और इस मेखला से पुरुष को बाँधता हूँ और दीक्षित करता हूँ। इस प्रकरण को देखो । गोपथ पू० २ । १ ॥ इस विषयक देखो जै० उ० १ । २५ । ८ ॥ तदनुसार प्रकाशस्वरूप परब्रह्म=समुद्र उसके तीन रूप हैं शुक्ल, कृष्ण और पुरुष शुक्ल रूप=वाणी और अग्नि । कृष्णरूप=आपः, मन या अन्न और यजु । पुरुष=प्राण, साम, ब्रह्म, अमृत ।

श्रद्धाया॑ दुहि॒ता तप॒सोऽधि॑ जा॒ता स्वस॒ ऋषी॑णां भूत॒कृतां॑ ब॒भूव॑ ।
सा नो॑ मेखले म॒तिमा धे॑हि मे॒धामथो॑ नो धेहि॒ तप॑ इन्द्रि॒यं च॑॥४॥

भा०—मेखला का स्वरूप बतलाते हैं—यह मेखला (श्रद्धायाः दुहिता) श्रत्—सत्य के धारण करने वाली बुद्धि की दुहिता=पुत्री अथवा उसको दोहने वाली, देनेवाली है (तपसः अधिजाता) तपरूप ब्रह्म वेद सत्यज्ञान से उत्पन्न हुई है । और (भूत-कृतां) समस्त सत्पदार्थों का उपदेश करने (ऋषीणाम्) वाले ऋषि, मन्त्रद्रष्टाओं की स्वसा= भगिनी, स्वयं उनके पास प्रकट होनेवाली (बभूव) है । हे (मेखले) मेखले (सा) वह तू (नः) हमें (मतिम्) बुद्धि, ज्ञान (आधेहि) प्रदान कर, (अथ नः मेधाम्) और हमें मेधा शक्ति, (तपः) तप और (इन्द्रियं च) इन्द्रियों में बल भी प्रदान कर ।

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे ।
सा त्वं परिष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले ॥ ५ ॥

भा०—हे मेखले ! (यां त्वा) जिस तुझको (पूर्वे) ज्ञान में पूर्ण (ऋषयः) मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण (परि बेधिरे) बाँधते हैं (सा) वह (त्वं) तू (मां) मुझे (दीर्घायुत्वाय) दीर्घायु प्राप्त कराने के लिए (परिष्वजस्व) ग्रहण कर, मेरे शरीर के साथ आलिंगन कर । शतपथ (का० ३।२।१।१।११) में मेखला के विषय में एक ऐतिह्य लिखा है कि आङ्गिरस ऋषि ने दीक्षित बालकों को निर्बल पाया, वे व्रत से अतिरिक्त नहीं खाते थे । उन्होंने इस मेखला को ऊर्ज—अन्न रस के रूप में देखा, उसको उन्होंने अपने शरीर के बीच में धारण किया, उससे वे अपने कार्य में सफल हुए ।



[१३४] वज्र द्वारा शत्रु का नाश ।

शुक्र ऋषिः । मन्त्रोक्तो वज्रो देवता । १ परानुष्टुप् त्रिष्टुप् । २ भुरिक् त्रिपदा गायत्री । ३ अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

अ॒यं वज्र॑स्तर्पयतामृ॒तस्या॒वास्य॑ रा॒ष्ट्रमप॑ हन्तु जीवि॒तम् ।
शृ॒णातु॑ ग्री॒वाः प्र शृ॑णातू॒ष्णिहा॑ वृ॒त्रस्ये॑व॒ शची॒पतिः॑ ॥ १ ॥

भा०—पापनाशक दण्ड का वर्णन करते हैं—(अयं वज्रः) यह वज्र पापों का वर्जन करनेवाला, दण्ड (ऋतस्य तर्पयताम्) सत्य व्यवस्था को पूर्ण करे और (अस्य) इस अत्याचारी, दुष्ट राजा के (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (अप हन्तु) नाश करे और (जीवितम्) जीवन को भी (अव हन्तु)

[१३४] १–'व्रतेनावास्य' इति पैप्प० सं० । 'र्पयतामामृतस्य' इति ह्विटनिकामितः । 'र्पयताममृतस्य' इति लडविगृकामितः । 'हन्तु जीत्रम्' सायणाभिमतः ।

विनाश करे। (शचीपतिः) समस्त शक्तियों का स्वामी सूर्य जिस प्रकार (वृत्रस्य इव) मेघ के आवरण को छिन्न भिन्न कर देता है। उसी प्रकार यह दण्ड दुष्ट पुरुषों के (ग्रीवाः शृणातु) गर्दनों को काट २ डाले और (उष्णिहां प्र शृणातु) धमनियों को भी काट २ डाले।

अ॒ध॒रोध॑र उत्त॑रेभ्यो गू॒ढः पृ॑थि॒व्या मोत्सृ॑पत् ।
वज्रे॒णाव॑हतः शयाम् ॥ २ ॥

भा०—(उत्तरेभ्यः) उत्कृष्ट मनुष्यों से (अधरः अधरः) नीचे ही नीचे रह कर (पृथिव्या गूढः) पृथिवी में या भूगर्भ में छुप कर रहने वाला शत्रु (मा उत्सृपत्) कभी ऊपर न आवे। बल्कि (वज्रेण अवहतः) वज्र से ताड़ित होकर (शयाम्) सदा के लिये लेट जाय।

यो जि॒नाति॒ तमन्वि॑च्छ॒ यो जि॒नाति॒ तमिज्ज॑हि ।
जि॒न॒तो व॑ज्र॒ त्वं सी॒मन्त॑म॒न्वञ्च॒मनु॑ पातय ॥ ३ ॥

भा०—हे दण्डधर! (यः जिनाति) जो हानि पहुँचाता है। (तम् इच्छ अनु) उसी का विनाश कर। हे (वज्र) पापवारक दण्ड-धर (जिनतः) हानि पहुँचाने वाले पुरुष के (सीमन्तम्) शिर, कपाल पर अपने दण्ड से (अन्वञ्चम्) सीधा (अनुपातय) गिरा डाल, फोड़ डाल।

[१३५] वज्र द्वारा शत्रु नाश।

शुक्र ऋषिः। मन्त्रोक्तो वज्रो देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

यद॒श्नामि॒ बलं॑ कुर्व इ॒त्थं वज्र॒मा द॑दे ।
स्क॒न्धान॒मुष्य॑ शा॒तय॑न् वृ॒त्रस्ये॑व॒ शची॒पतिः॑ ॥ १ ॥

३–(तृ०) 'वज्रसायकसीम' इति पैप्प० सं०।
[१३५] १–(द्वि०) 'वज्रमनुपातयति' इति पैप्प० सं०।

भा०—मैं (यद् अश्नामि) जो खाऊँ उससे (बलं कुर्वे) अपना बल सम्पादन करूँ। और तब (शचीपतिः) शक्ति का स्वामी सूर्य जिस प्रकार (वृत्रस्य इव) वृत्र, मेघ को छिन्न भिन्न कर देता है या आत्मा अज्ञान का नाश करता है। उसी प्रकार मैं (अमुष्य) उस अमुक शत्रु की (स्कन्धान्) कन्धों को या स्कन्ध अर्थात् सेना-दलों को (शातयन्) विनाश करता हुआ (इत्थं वज्रम् आददे) इस प्रकार वज्र=तलवार या दण्ड को या पापों से मनुष्यों को बचानेवाले शासन-दण्ड को (आददे) उठाऊं।

यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिवः।
प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अमुं वयम् ॥ २ ॥

भा०—(यत् पिबामि) जिसको पीऊं (सं पिबामि) अच्छी प्रकार पीऊँ। और ऐसा (संपिवः) पीऊं जैसे (समुद्र इव) समुद्र समस्त नदियों का जल पी जाता है। (वयम्) हम भी (अमुष्य प्राणान्) शत्रु के प्राणों को, जीवन के साधनों को (संपाय) खूब पीकर (अमुं संपिबामः) उसको पी ही जावें, पचा ही जावें अर्थात् शत्रु को मारना ही शत्रु को पी जाना है।

यद् गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः।
प्राणानमुष्य संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम् ॥ ३ ॥

भा०—(यद् गिरामि संगिरामि) जिसको मैं निगलूं उसको अच्छी प्रकार निगलूँ। (संगिरः [समुद्र]ः इव) ऐसा निगलूँ जैसे समुद्र सब नदियों के जल को निगल [ज]ाता है। (अमुष्य प्राणान् संगीर्य)

२-(तृ० च०) 'सम्पिबं सम्पिबाम्यहं पिब' इति पैप्प० सं०।
३-(तृ० च०) 'प्राणमंमुष्य संगिरं संगिराम्यहं गिरम्' इति पैप्प० सं०।

शत्रु के प्राणों को या जीवन के साधनों को (संगीर्य) स्वयं निगल कर अर्थात् हड़प कर हो (वयं) हम (अमुं) उसको (सं गिरामः) हड़प सकते हैं।



[१३६] केशवर्धनी नितत्नी ओषधि ।

केशवर्धनकामो वीतहव्योऽथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता १–२ अनुष्टुभौ ।
२ एकावसाना द्विपदा साम्नी बृहती । तृचं सूक्तम् ॥

देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे ।
तां त्वा नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि ॥ १ ॥

भा०—हे (ओषधे) ओषधे ! तू (देवी) दिव्य गुण वाली है और (देव्याम्) दिव्य गुण वाली (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अधि-जाता) उत्पन्न होती (असि) है । हे (नितत्नि) नीचे २ फैलने वाली ओषधे ! (तां त्वा) उस तुझ को (केशेभ्यः दृंहणाय) केशों के दृढ़ करने और बढ़ाने के लिये (खनामसि) खोदते हैं।

दृंह प्रत्नान् जनयाजातान् जातानु वर्षीयसस्कृधि ॥ २ ॥

भा०—हे ओषधे ! (प्रत्नान्) पुराने केशों को (दृंह) दृढ़ कर और (अजातान्) जिस स्थान पर केश उत्पन्न नहीं होता उस स्थान पर नहीं उत्पन्न हुए केशों को भी (जनय) उत्पन्न कर । और (जातान्) उत्पन्न हुए केशों को (वर्षीयसः, कृधि) बड़ा लम्बा या चिरस्थायी कर ।

यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते ।
इदं तं विश्वभेषज्याभि षिञ्चामि वीरुधा ॥ ३ ॥

भा०—हे केशरोगिन् ! (यः ते केशः) जो तेरा केश (अवपद्यते) झड़ता है, (यः च समूलः वृश्चते) और जो केश मूल सहित टूट आता है,

(इदं तम्) उन सब केशों को (विश्वभेषज्या वीरुधा) केश के सब रोगों को दूर करने वाली लता के रस से (अभिषिञ्चामि) भिगोता हूँ । इससे सब केश के रोग छूट जायँगे । कौशिक एवं सायण ने केशों के रोग की निवृत्ति के लिए काकमाची जीवन्ती और भृंगराज का प्रयोग लिखा है । राजनिघण्टु के अनुसार 'देवी' ओषधि से मूर्वा, स्पृक्का, सहदेवी, देवद्रोणी, केसर और आदित्यभक्ता, ये छः ओषधि ली जाती हैं । काकमाची से काकादुनी ओषधि लेनी चाहिये क्योंकि वही राजनिघण्टु के अनुसार 'केश्या' है ।



[१३७] केशवर्धन का उपाय ।

केशवर्धनकामो वीतहव्योऽथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यां जमदग्निरखनद् दुहित्रे केशवर्धनीम् ।
तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः ॥ १ ॥

भा०—(जमदग्निः) अग्नि को निरन्तर प्रज्वलित रखने वाला गृहस्थ पुरुष (याम्) जिस (केशवर्धनीम्) केशों को बढ़ाने वाली ओषधि को (दुहित्रे) अपनी कन्या के निमित्त (अखनत्) खोदता है (ताम्) उसको (वीतहव्यः) प्राप्तज्ञान विद्वान्, पुरुष भी (असितस्य) बन्धन रहित प्रभु के (गृहेभ्यः) बनाये नाना स्थानों से (आ भरत्) प्राप्त करता है ।

अभीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेयाः ।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥ २ ॥

भा०—जो केश प्रथम (अभीशुना) अंगुलि से (मेयाः आसन्) मापे जा सकते हैं वे ओषधि सेवन के बाद (व्यामेन अनुमेयाः) बढ़

कर फैले हाथों से मापे जा सकते हैं । वे (ते शीर्ष्णः) तेरे शिर के (असिताः) काले २ (केशाः) केश (नडाः इव) नरकुलों के समान (परि वर्धन्तां) खूब बढ़ें ।

दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे ।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! केशों के (मूलं दृंह) मूल को दृढ़ करो । (अग्रम्) अग्र भाग को (वियच्छ) विशेष प्रकार से यमन कर, बाँध या मज़बूत कर और (मध्यं यमय) बीच के भाग को भी दृढ़ कर जिससे केश न आगे से टूटें न बीच से टूट कर झड़ें और न जड़ से उखड़ें । प्रत्युत (नडाः इव) तालाब के किनारे लगे नरकुलों के समान हे रोगी ! (ते शीर्ष्णः) तेरे शिर के (असिताः केशाः) काले बाल (परिवर्धन्ताम्) खूब बढ़ें ।



[१३८] नपुंसक करने के उपाय ।

क्लीबकर्तुकामोऽथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १–२ अनुष्टुभौ । ३ पथ्यापंक्तिः । पंचर्चं सूक्तम् ॥

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे ।
इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि ॥ १ ॥

भा०—हे (ओषधे) ओषधे ! (त्वं) तू (वीरुधाम्) सब लताओं में से (श्रेष्ठतमा) सब से अधिक श्रेष्ठ, गुणकारी (अभिश्रुता) प्रसिद्ध है । (अद्य) शीघ्र ही (इमम्) इस (मे) मेरे (पुरुषम्) शत्रु पुरुष को (क्लीबम्) नपुंसक और (ओपशिनम्) स्त्री के योग्य पोशाक से युक्त (कृधि) कर ।

[१३८] १-(तृ०) 'पौरुष' इति पैप्प० सं०

क्लीवं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ॥ २॥

भा०—हे ओषधे! तू इस शत्रु को (क्लीवं कृधि) नपुंसक बना दे। (अथो) और (ओपशिनं) स्त्री के लिवास में, उसके आभरणादि धारण करने वाला कर दे। (अथो कुरीरिणं कृधि) और उसको कुरीर नामक शिर के आभूषण धारण करनेवाला बना दे। (अथ) और (अस्य) इस शत्रु के (उभे) दोनों (आण्ड्यौ) अण्ड कोशों को (इन्द्रः) इन्द्र, राजा (ग्रावभ्यां) पत्थरों से (भिनत्तु) तोड़ दे।

क्लीव क्लीवं त्वाकरं वध्रे वध्रिं त्वाकरमरसारसं त्वाकरम्।
कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि॥ ३॥

भा०—हे (क्लीव) नपुंसक नर! (त्वा) तुझको (क्लीवम् अकरम्) नपुंसक ही कर देता हूँ। और हे (वध्रे) वधिया, तुझे (वध्रिम् अकरम्) मैं वधिया करता हूँ। और हे (अरस) रस=वीर्यरहित! नर तुझे मैं (अरसं अकरम्) वीर्य-रहित ही करता हूं। बल्कि साथ ही (अस्य शीर्षणि) ऐसे निर्वीर्य मनुष्य के सिर पर (कुरीरं कुम्बं च) कुरीर और कुम्ब नामक आभूषण भी (अधि नि दध्मसि) धर देते हैं। अर्थात् नपुंसक, वधिया और निर्वीर्य लोग स्त्री के वेश में रहना अच्छा समझते हैं। और यही ओषधि या उपचार पशुओं को वधिया या अख़ता करने का भी है। इसी प्रकार जो उत्पाती कामोपद्रवी हों उनको राजा नपुंसक करने का दण्ड देकर सौम्य स्वभाव का बना सकता है। दूसरे, वैज्ञानिक

२–(प्र०) 'कृत्वा', 'क्लीबं', 'ओपशु' (तृ० च०) 'उपाभ्यामस्य ग्रावभ्यामिन्द्रोभिनत्वा' इति पैप्प० सं०।

३–(प्र०) 'कुम्भम्' (तृ०) 'अरसं त्वाकरम् अरसारसोसि' इति पैप्प० सं०।

दृष्टि से यह कोई लज्जाजनक बात नहीं। योरोप के डाक्टर ये सब परीक्षण कीटों, पशुओं पर करते हैं और नर को मादा, मादा को नर आदि बनाते हैं।

ये ते॑ नाड्यौ॑ दे॒वकृ॑ते॒ ययो॒स्तिष्ठ॑ति॒ वृष्ण्य॑म् ।
ते ते॑ भिनद्मि॒ शम्य॑या॒मुष्या॒ अधि॑ मु॒ष्कयोः॑ ॥ ४ ॥

भा०—(ये नाड्यौ) जो दोनों नाड़ियाँ (देवकृते) विधाता, ईश्वर ने बनाई हैं और (ययोः) जिनमें (वृष्ण्यम्) वीर्य (तिष्ठति) रहता है, हे नरपशो ! (ते) तेरी (ते) उन दोनों (अधिमुष्कयोः) अण्डकोशों के ऊपर की नाड़ियों को (शम्यया) लकड़ी के दण्डे से (भिनद्मि) तोड़ डालूँ।

यथा॑ न॒डं क॒शिपु॑ने॒ स्त्रियो॑ भि॒न्दन्त्यश्म॑ना ।
ए॒वा भि॑नद्मि ते॒ शेपो॒ऽमुष्या॒ अधि॑ मु॒ष्कयोः॑ ॥ ५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (स्त्रियः) स्त्रियाँ (कशिपुने) चटाई बनाने के लिये (अश्मना) पत्थर से (नडं) नरकुल के नड़े को (भिन्दन्ति) कूट कर नर्म कर लेती हैं (एवा) उसी प्रकार (अमुष्य ते) अमुक पशु रूप (ते) तेरे (मुष्कयोः अधि) अण्डकोशों के ऊपर के (शेपः) प्रजनन इन्द्रिय को (भिनद्मि) कुचल डालूँ।

नपुंसकत्व उत्पन्न करने की प्रेरणा करना यहाँ वेद का उद्देश्य नहीं, अपितु ओषधि का गुणमात्र दिखाया गया है कि (१) उसके सेवन से क्लीब हो जाता है; और (२) पुरुष में स्त्रैण भावों का उदय होता है। और उसको आभूषण आदि अच्छे लगने लगते हैं, (३) विना औषध के भी क्लीब उत्पन्न करना हो तो अण्डकोश भेदन का उपाय भी किया जाना सम्भव है। पशुओं को वधिया या अश्वों को अख्ता करके मनुष्यों ने भारी सभ्यता का कार्य किया है।

[१३९] सौभाग्यकरण और परस्परवरण ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । २-३ अनुष्टुभौ । १ त्र्यवसाना षट्पदा विराड् जगती । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

न्यस्तिका रुरोहिथ सुभगंकरणी मम ।
शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशन्नितानाः ।
तया सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते ॥ १ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू (न्यस्तिका) सब अवगुणों को दूर करनेवाली (मम) मेरा (सुभगंकरणी) सौभाग्य उत्पन्न करनेवाली होकर (रुरोहिथ) उत्पन्न होती है । (तव प्रतानाः) तेरे फैलाव (शतं) सौ और (त्रयस्त्रिंशत् नितानाः) नीचे मूल की तरफ़ की शाखाएँ ३३ हैं । (तया) उस (सहस्रपर्ण्या) हज़ारों पत्तों वाली ओषधि से (ते हृदयं शोषयामि) हे स्त्रि! प्रियतमे ! तेरे हृदय को सुखाता हूँ, वियोग से दुःखी करता हूँ ।

यह जीवनरूप लता है जिसके ३३ देव, मानस दिव्यभाव वितान और शत वर्ष शतप्रतान हैं और सहस्रों कर्म, संकल्प विकल्प आदि सहस्र पर्ण हैं । जो दम्पती इस पर विचार करें तो वे इन सब जीवन के वर्षों और हृदय के भावों और दुनिया के सुख दुःखों के लिये अपना साथी चुनें और प्रेम से रह कर जीवन को सुखमय बनावें ।

शुष्यतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्यम् ।
अथो नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ २ ॥

भा०—हे प्रियतमे ! (ते हृदयम्) तेरा हृदय (मयि) मेरे में मग्न होकर, मेरे प्रेम में (शुष्यतु) सूखे, कृश हो जाय, (अथो) और (आस्यम् शुष्यतु) मुख भी सूख जाय, मुख पर दुर्बलता के चिह्न प्रकट

हों, (अथो) और (मां कामेन) मेरे प्रति अपनी प्रबल अभिलाषा, से तू (नि शुष्य) सर्वथा कृश होकर (शुष्कास्या) निर्बल, कृशमुखी होकर (चर) रह । इतने पर भी हे प्रियतमे ! तू अन्य किसी को हृदय से मत चाह ।

संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद ।

अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू (संवननी) स्त्री पुरुषों के परस्पर वरण कराने वाली (समुष्पला) स्त्री पुरुष दोनों के सहवास की रक्षा करनेवाली, हे (बभ्रु) पोषण करने वाली ! हे (कल्याणि) सुखदायिनी ! (अमूं) उस प्राणप्रिया स्त्री को (सं नुद) मेरे प्रति प्रेरित कर और (मां च) मुझको उसके प्रति (सं नुद) प्रेरित कर जिससे एक दूसरे के प्रति प्रेम-भाव से आकृष्ट होकर एक दूसरे का पाणिग्रहण करें और हमारे (हृदयम्) दोनों के हृदय को (समानं कृधि) समान, एक दूसरे के प्रति एक जैसा कर ।

यथोदकमपपुषोपशुष्यत्यास्य/म् ।

एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ ४ ॥

भा०—(यथा उदकम् अपपुषः) जिस प्रकार जल को न पीनेवाले पुरुष का (आस्यम् अप शुष्यति) मुँह सूख जाता है (एवा) उसी प्रकार (मां कामेन) मेरे प्रति प्रबल अभिलाषा की प्यास से (नि शुष्य) तू भी प्यासी होकर (शुष्कास्या चर) सूखे मुंह, प्यार की प्यासी होकर रह । अर्थात् मुझे ही अपने हृदय में बसाये रख ।

यथा नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः ।

एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति ॥ ५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (नकुलः) नेवला (अहिम्) सांप

को (विच्छिद्य) काट कर (पुनः संदधाति) फिर जोड़ देता है (एवा) इसी प्रकार हे (वीर्यावति) वीर्यवर्धक ओषधे ! तू भी (कामस्य) परस्पर अभिलाषा के (विच्छिन्नं) टूटे हुए तांते को (पुनः) फिर (सं धेहि) जोड़ और पुष्ट कर । नेवला सांप को काटता है और पुनः ओषधि जड़ी के बल पर उसके घाव भर देता है ऐसा विश्वास है ।



[१४०] दांतों को उत्तम रखने और सात्विक भोजन करने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । मन्त्रोक्तौ दन्तौ च देवते । १ उरो बृहती अनुष्टुप् । उपरिष्टाज्ज्योतिष्मती त्रिष्टुप् । ३ आस्तारपंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

यौ व्याघ्रावर्वरूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च ।
तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते शिवौ कृणु जातवेदः ॥ १ ॥

भा०—(यौ) जो (व्याघ्रौ) व्याघ्र नामक दोनों दाँत मुख फाड़ कर भोजन ग्रहण करनेवाले हैं (पितरम् मातरम् च) पिता और माता, अर्थात् ऊपर के और नीचे के जबड़ों को मानो (जिघत्सतः) खाने की इच्छा करते हैं (तौ दन्तौ) उन दोनों दांतों को, हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के परिपालक (जातवेदः) जात–उत्पन्न बालक के विज्ञान को जानने वाले विद्वान् ! (शिवौ कृणु) कल्याणकारी, सुखकारी कर ।

बालक के दांतों को निकलने के पूर्व ही सावधानी से निकलने देना चाहिये जिससे वे विकृत होकर मुख में आगे पीछे न जायँ और बाद में बड़े होकर होठों, जबड़ों और जीभ को घायल न करें ।

---

[१४०] १–(च०) 'कृणुहि' इति क्वचित् ।(च०) 'मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च' इति पैप्प० सं० ।

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥ २ ॥

भा०—बालक को अन्नप्राशन कराने का उपदेश—हे बालक के प्रथम उत्पन्न दोनों दांतो! (व्रीहिम् अत्तम्) तुम भात खाओ, (यवम् अत्तम्) जौ खाओ, (अथो माषम्) और माष, उड़द की दाल और तिल खाओ। हे दाँतो! (वां) तुम्हारा (एषः भागः) यह भाग खाने योग्य पदार्थ (रत्नधेयाय) उत्तम फल प्राप्त करने के लिये (निहितः) नियत किया गया है। हे (दन्तौ) दांतो! (पितरं मातरं च) पिता और माता को अर्थात् ऊपर के और नीचे के जबाड़े को (मा हिंसिष्टम्) विनाश मत करो। दांत निकल आने पर बालक को कोमल अन्न खाने का अभ्यास कराना चाहिये, नहीं तो दाँतों से जबाड़े घायल हो जायँगे, या वे माता के स्तनों को काटने और पिता के कोमल शरीर पर काटने के आदी हो जायँगे।

उपहूतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ।
अन्यत्र वां घोरं तन्वः परैतु दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च॥३॥

भा०—(सयुजौ) साथ जुड़े हुए (स्योनौ) सुखकर बालक के (दन्तौ) दो दाँत (सुमङ्गलौ) शुभ, मंगलजनक (उपहूतौ) कहाते हैं। (वां) तुम्हारे (तन्वः) शरीर के (घोरम्) घोर, काटने की तीक्ष्ण प्रवृत्ति (अन्यत्र परैतु) दूर हो जाय। हे (दन्तौ) दांतों (पितरम्) पिता और (मातरम्) माता दोनों को (मां हिंसिष्टम्) मत दुःख दो। उनको दांत मत मारो।



२–(द्वि०) 'माषमत्तम्' (तृ०) 'स' (च०) 'धेयं' इति पैप्प० सं०।
३–'अघोरौ सयुजा संविदानौ' (च०) 'अन्यत्र वां तन्वो घोरमस्तु' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'सयुजौ' इति ह्विटनिकामितः।

[१४१] माता पिता का सन्तान के प्रति कर्त्तव्य । नामकरण और कर्णवेध का उपदेश ।

विश्वामित्र ऋषिः । अश्विनौ देवते । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

वायुरेनाः समाकरत् त्वष्टा पोषाय ध्रियताम् ।
इन्द्र आभ्यो अधि ब्रवद् रुद्रो भूम्ने चिकित्सतु ॥ १ ॥

भा०—(वायुः) वायु (एनाः) इन प्रजाओं को (सम् आ-अकरत्) जीवित करे (त्वष्टा) त्वष्टा=अन्न इनकी (पोषाय) पुष्टि के लिये (ध्रियताम्) रक्षा करे, (इन्द्रः) इन्द्र, आचार्य (आभ्यः) इन प्रजाओं के लिये (अधिब्रवत्) विशेष हितकारी नियमों का उपदेश करे और (रुद्रः) रुद्र, चिकित्सक इनको (भूम्ने) बड़ी संख्या में बढ़ाने के लिये (चिकित्सतु) विशेष ज्ञानपूर्वक इनके रोगों को निवृत्त करे ।

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि ।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु ॥ २ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (लोहितेन) लाल तपे हुए (स्वधितिना) शलाका से (कर्णयोः) दोनों कानों में (मिथुनम्) छिद्र (कृधि) कर । हे (अश्विना) माता पिता, (लक्ष्म अकर्त्ताम्) ऐसा चिह्न या नाम रक्खो जो (प्रजया) सन्तति के साथ २ (तद् बहु अस्तु) वह बहुत गुणकारी हो । इस मन्त्र में कर्णवेध और नामकरण का उपदेश किया गया है ।

यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत ।
एवा सहस्रपोषाय कृणुतं लक्ष्माश्विना ॥ ३ ॥

[१४१] १–'इन्द्राभ्योऽधिब्रुवत्' (च०) 'भूम्नेऽत्र चिकित्सतु' इति पैप्प० सं० ।
२–(तृ० 'लक्ष्मि' (द्वि०) 'कृतम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यथा) जिस प्रकार (देवाः) विद्वान् ज्ञानी पुरुष और (यथा असुराः) जिस प्रकार बलवान् पुरुष और (उत मनुष्याः) जिस प्रकार मननशील पुरुष (चक्रुः) करते हैं। हे (अश्विनौ) माता पिताओ ! (सहस्रपोषाय) तुम भी सहस्रों प्रकार की पुष्टि के लिये प्रजा का (लक्ष्म कृणुतम्) चिह्न उत्तम नाम (कृणुतम्) करो । अथवा (सहस्रपोषाय) बलवान् आत्मा की पुष्टि के लिये नामकरण करो ।



[१४२] यव धान्य, राष्ट्र और क्षत्र बल की वृद्धि ।

विश्वामित्र ऋषिः । वायुर्देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

उच्छ्र॑यस्व ब॒हुर्भ॑व॒ स्वेन॒ मह॑सा यव ।
मृ॒णी॒हि विश्वा॒ पात्रा॑णि॒ मा त्वा॑ दि॒व्याशनि॑र्वधीत् ॥ १ ॥

भा०—हे (यव) जौ, अन्न ! प्रजाओ, राष्ट्र और सेनाबल ! तू (स्वेन महसा) अपने तेज, बल से(उच्छ्रयस्व) ऊपर उठ, ऊंचा हो और (बहुः भव) बहुत मात्रा में उत्पन्न हो । और (विश्वा पात्राणि) समस्त वर्तनों को बन्धनों को, (मृणीहि) पूर्ण करके बाहर निकल । (त्वा) तुझे (दिव्या अशनिः) आकाश से गिरनेवाली, बिजुली घोर शस्त्र (मा वधीत्) विनाश न करे ।

आ॒शृ॒ण्वन्तं॒ यवं॑ दे॒वं यत्र॑ त्वाच्छा॒वदा॑मसि ।
तदुच्छ्र॑यस्व॒ द्यौरि॑व समु॒द्र इ॑वैध्यक्षि॑तः ॥ २ ॥

भा०—(आशृण्वन्तं देवम्) हमारे कहे मनोरथों को सुनने वाले देवरूप (त्वां यवं) तुझ जौ, राष्ट्र, राजा को हम (यत्र) जहां (अच्छा-

[१४२] १–'मृणीहि' इति सायणाभिमतः । 'मृणीहि' इति लडविगनुमतः ।
२–'तत्र त्वाच्छवदा' इति सायणाभिमतः पाठः ।

वदामसि) उत्तम रीति से बोने आदि का उपदेश करें या तेरी बड़ाई करें (तत्) वहां २ तू (द्यौः इव) आकाश के समान (उच्छ्रयस्व) ऊंचा हो और (समुद्र इव) समुद्र के समान (अक्षितः एधि) अक्षय हो ।

अक्षितास्त उपसदोऽक्षिताः सन्तु राशयः ।
पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः ॥ ३ ॥

भा०—(ते उपसदः) तेरे ऊपर सदा निगरानी के लिये बैठनेवाले खेतिहर (अक्षिताः) कभी विनाश को प्राप्त न हों और (ते राशयः अक्षिताः सन्तु) तेरे ढेर भी कभी समाप्त न हों, अक्षय हों (पृणन्तः) घरों को तुझसे पूरने वाले गृहस्थ लोग भी (अक्षिताः सन्तु) अक्षय हों और (अत्तारः) तेरा भोजन करने वाले पुरुष भी (अक्षिताः सन्तु) कभी विनष्ट न हों । राष्ट्रं यवः ॥ तै० ३ । ९ । ७ । २ ॥ विड्वै यवः । श०॥१३।२।९।८॥ सैन्यान्यं वा एतदौषधीनां यद्यवाः ॥ ऐ० ८।१६॥

॥ इति त्रयोदशोऽनुवाकः ॥

[तत्राष्टादश सूक्तानि ऋचश्च चतुष्टषष्टिः ।]



षष्ठं काण्डम् समाप्तम् ॥

षष्ठे काण्डेनुवाकाः स्युस्त्रयोदश, शतोत्तरम् ।
सूक्तानि द्वाचत्वारिंशत्, चतुः पञ्चाशदुत्तरम् ।
ऋचां पञ्चशतं प्रोक्तमाथर्वणविशारदैः ॥

वेदवस्वङ्कचन्द्रेऽब्दे वैक्रमेऽश्वयुजः सिते ।
चतुर्थ्यां च भृगौ काण्डं षष्ठमाथर्वणं गतम् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जदेवशर्मणा विरचिते अथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये षष्ठं काण्डं समाप्तम् ।



❀ ओ३म् ❀

अथर्ववेदसंहिता

सप्तमं काण्डम्



[१] ब्रह्मज्ञानी पुरुष ।

ब्रह्मवर्चसकामोऽथर्वा ऋषिः । आत्मा देवता । १ त्रिष्टुप् । २ विराड्जगती । द्व्यृचं सूक्तम् ।

धीती वा ये अनयन् वाचो अग्रं मनसा वा येऽवदन्नृतानि ।
तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः ॥१॥
(प्र०) ऋ० १०।७१।१॥ च० ४।१।१६॥५।४०।६॥

भा०—(ये वा) जो विद्वान् लोग (धीती) ध्यान, धारणा या अध्ययन द्वारा (वाचः) इस वाणी के (अग्रं) अग्र=उत्पत्ति, कारण, निदान उससे भी पूर्व विद्यमान उस के मूल स्वरूप आत्माको (अनयन्) प्राप्त करते हैं (ये वा) और जो (मनसा) अपनी मननशक्ति से (ऋतानि) सत्य ज्ञानों को प्राप्त करके (अवदन्) उपदेश करते हैं वे (तृतीयेन) परम, तीर्णतम (ब्रह्मणा) ब्रह्म=वेदज्ञान, सामगायन या ईश्वर के तीर्णतमरूप से (वावृधानाः) शक्ति और ज्ञान की वृद्धि करते हुए (तुरीयेण) चतुर्थ, वेद या ब्रह्म के

[१] १—(तृ०) 'ब्रह्मणा संविदाना' (च०) 'मन्वता' इति शा० श्रौ० सू० (द्वि०) 'ये वदेय न्नृतेन' (तृ०) 'तुर्येण' इति पैप्प० सं० ।

तुरीय अति सूक्ष्म, आनन्दमय स्वरूप से (धेनोः) उस समस्त विश्व को रसपान कराने वाले आनन्दमय ब्रह्म का (नाम) स्वरूप (अमन्वत) जान लेते हैं।

उपनिषद् में जैसे–'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च' आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। तभी तुरीय पद की प्राप्ति होती है। आत्मा की चार दशाएं हैं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इस का व्याख्यान माण्डूक्य उपनिषद् में देखिये।

स वे॑द पु॒त्रः पि॒तरं॒ स मा॒तरं॒ स सू॒नुर्भु॑वत् स भु॑वत् पु॒नर्म॑घः ।
स द्यामौ॑र्णो॑द॒न्तरि॑क्षं॒ स्व१ः स इ॒दं विश्व॑मभव॒त् स आभ॑वत् ॥२॥

भा०—(सः) वह आत्मा (पुत्रः) उस परमेश्वर का पुत्र होकर उस परम आत्मा को अपना (पितरं) पालक (मातरं) और माता के समान वीज धारक (वेद) जानता है। (सः) वह इस (सूनुः) देह में उत्पन्न (भुवत्) होता है और (सः) वही (पुनःमघः) वार २ अपने कर्म फल एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न (भुवत्) हो जाता है। और (सः) वह परमात्मा, उत्तम पुरुष जो (द्याम्) द्यौः और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, मध्य आकाश और (स्वः) सुखमय, प्रकाशमय मोक्षपद को भी (और्णोत्) अपने वश किए हुए है (सः) वह (इदं विश्वम्) इस समस्त विश्व को (अभवत्) उत्पन्न करता है और (सः) वही (आभवत्) सब सामर्थ्य रूप से सर्वत्र व्यापक है। इसका विवरण देखो (श्वेताश्वतर उप० अ० ५ । ६ ।)



२—(तृ०) 'और्णोदन्तरिक्षं स सुवः स विश्वा भुवो अभवत्' इति तै० सं०। 'विश्वं भुवो भवत् स्वाभुवत्' इति पैप्प० सं०।

[२] ब्रह्मज्ञानी पुरुष।

ब्रह्मवर्चस्कामोऽथर्वा ऋषिः। आत्मा देवता। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्॥

अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम्।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥ १॥

भा०—(यः) जो विद्वान् (इमं) इस (यज्ञम्) यज्ञ=आत्मा को (मनसा) अपने मानस विचार द्वारा (अथर्वाणम्) अथर्वा—कूटस्थ, नित्य, (पितरम्) सब इन्द्रियों और प्राण सामर्थ्यों के पालक, (देवबन्धुम्) देव परमेश्वर के बन्धु अथवा देव इन्द्रियों के मूलकारण, (मातुःगर्भम्) माता के पेट में गर्भ रूप से प्रकट होने वाले और (पितुः) उत्पादक, बीजप्रद पिता के जीवन के अंश, (असुम्) प्राणस्वरूप, (युवानं) सदा नव, अजर अमर या देह इन्द्रिय और उसके सामर्थ्यों को मिलाने वाले या गर्भ में जो डिम्ब से स्वयं मिथुनित होने वाले जीव का (चिकेत) पूर्ण ज्ञान कर लेता है ऐसा विद्वान् (नः) हमें भी (प्रवोचः) उस आत्मा का उपदेश करे (तम्) उसको (इह इह) इस इस देह में अर्थात् प्रत्येक देह में (ब्रवः) बतलावे।

इस शरीर के आत्मा के साथ २ ब्रह्माण्ड व्यापी महान् आत्मा का वर्णन भी समझना चाहिए। इस की व्याख्या अथर्ववेदीय शिर-उपनिषत् में देखनी चाहिये।



[३] अध्यात्म ज्ञान का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। आत्मा देवता। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्।

अया विष्ठा जनयन् कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः।

१—(प्र०) 'पितरं विश्वदेवं' (तृ० च०) 'अयं चिकेत मृतस्य धाम नित्यस्य राजः परिधीरपश्यत्' इति पैप्प० सं०।

२–(तृ०) 'स प्रत्यैङ ऐत् धरुणे' इति पैप्प० सं०, (च०) 'स्वां यत् तन्वा

स प्रत्युदैद् धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा/तन्वं/मैरयत ॥१॥

भा०—(सः) वह आत्मा (वि-स्था) नाना प्रकार से व्यापक (अया) इस प्रकृति के सहयोग से ही निश्चय से (कर्वराणि) नाना प्रकार के जगत् के सर्जन आदि कार्यों को (जनयन्) उत्पन्न करता रहता है। (सः) वही (घृणिः) प्रकाशमान (वराय) वरण करने वाले जीव के लिये (उरुः गातुः) महान् बड़ाभारी, अति श्रेष्ठ गन्तव्य, परम मार्ग है इसलिए (सः) वह जीव इस समस्त (मध्वः) संसार के (अग्रं) सर्व श्रेष्ठ (धरुणं) धारक परमेश्वर के (प्रति-उत्-ऐत्) प्रति गमन करता है जो (स्वया) अपनी (तन्वा) सूक्ष्म शक्ति से उसके (तन्वं) स्वरूप को (ऐरयत) प्रेरित करता है। अपने प्रति आकर्षित करता है।

'तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। यजुः०॥

[४] आत्मज्ञान का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। वायुर्देवता। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्।

एकया च दशभिश्चा सुहुते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च ॥१॥

भा०—हे (वायो) देह के प्रेरक, सर्वधारक वायो! आत्मन्! हे (सु-हुते) उत्तम रूप से अपने को देह में अर्पण करने वाले अथवा अपने को योग द्वारा इष्ट देव में समर्पण करने वाले आत्मन्! तू (एकया) एक चिति शक्ति से और (दशभिः) दश प्राणों से इस देह को (वह) धारण कर और इसी प्रकार (द्वाभ्यां) दो प्राण और अपान और (विंशत्या च) उनकी

मैरयत' तै० सं०।

१–(प्र०) 'स्वभूते' (च०) 'नियुद्भि' (द्वि०) 'विंशती' (च०) 'वायविह' इति यजुः 'वियुद्भि' इति पैप्प० सं०।

बीस अर्थात् १० सूक्ष्म, आभ्यन्तर और १० स्थूल, बाह्य शक्तियों से (इष्टये) अपने इष्टि, इच्छापूर्ति के लिये इस देह को धारण करता है और इसी प्रकार (त्रिंशता) तीस और (तिसृभिः) तीन=३३ (वियुग्भिः) विशेषरूप से जुड़ी दिव्य शक्तियों से इस देह को धारण करता है। तू उन सब बन्धनकारिणी प्रवृत्तियों को (इह) इस लोक में (विमुञ्च) त्याग दे, शिथिल कर दे और मुक्त हो।

पञ्चम सूक्त के भी आत्म देवता के होने से मध्य में पठित चतुर्थ भी यह आत्मदेवताक है 'वायु' तो केवल उस प्राणात्मा का बोधक लिंग-मात्र है।

महान् आत्मा के पक्ष में दश दिशाएं, एक महान् प्रकृति, दो आत्मा, या महान् और अहंकार, २० वैकारिक तत्व, पांच स्थूल भूत, पांच सूक्ष्म भूत, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय अथवा ३३ देव, ८ वसु, ११ रुद्र, द्वादश आदित्य इन्द्र और प्रजापति इनका विशेष प्रकार से योग होकर संसार का महान् यज्ञ चल रहा है। प्रलय काल में वही सूत्रात्मा वायु, परमेश्वर उनको नियुक्त करता है।



[५] आत्मज्ञान का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। आत्मा देवता। त्रिष्टुप्। पञ्चर्चं सूक्तम्।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥१॥

५—१ ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः। साध्याः देवताः। तत्रैव पुरुषसूक्तपाठे नारायण ऋषिः। पुरुषो देवता। यजुषि नारायण ऋषिः। पुरुषो देवता। पुरुष सूक्तस्य नारायण ऋषिः पुरुषो देवता अनुष्टुप्छन्दः। मोक्षे विनियोगः

भा०—(देवाः) देवगण, विद्वान् पुरुष (यज्ञेन) यज्ञ, समाधिरूप आत्मयज्ञ से (यज्ञम्) सब के पूजनीय परम आत्मा को (अयजन्त) उपासना करते हैं। (तानि) वे ही (प्रथमानि) सब से उत्कृष्ट (धर्माणि) मोक्ष प्राप्ति और अभ्युदय के साधन (आसन्) हैं। (ते) वे इन योग समाधि के साधना करने हारे योगिजन (महिमानः) महत्व गुण को प्राप्त करके (नाकम्) दुःखरहित मोक्षाख्य परम पुरुष को (सचन्ते) प्राप्त होते हैं। (यत्र) जहां (पूर्वे) पूर्व मुक्त हुए (साध्याः) साधना सिद्ध (देवाः) ज्योतिर्मय, मुक्त पुरुष (सन्ति) विराजते हैं।

'यज्ञेन'=स्तुतिप्रार्थनोपासनारीत्या पूजनेनेति इति दयानन्दः। अग्निना ज्ञानरूपेण यज्ञेनेति सायणः। ज्योतिष्टोमाख्येन यज्ञेन अथवा यज्ञेन समाधिना इति उव्वटः। मानसेन संकल्पेनेति महीधरः। 'यज्ञम् होमाधारं आहवनीयमग्निम् विष्णुम् इति वा सायणः। पूजनीयं परमेश्वरं इति दयानन्दः। यज्ञपुरुषं ज्ञानरूपं नारायणाख्यम् इति उव्वटमहीधरौ। 'देवाः'=कर्मणा देवत्वं प्राप्ताः यजमाना इति सायणः, विद्वांसः इति दयानन्दः। इन्द्रादय योगिनो वेति उव्वटः। प्रजापति-प्राण-रूपा इति महीधरः। 'धर्माणि' अग्निसाधनानि कर्माणि इति सायणः। धर्माणि कर्त्तव्यानि इति दयानन्दः। यजनरूपाणि समाधिरूपाणि इति उव्वटः। जगद्रूपविकाराणां धारकाणीति महीधरः। 'साध्याः'= प्राणाभिमानिनो देवाः इति सायणः। प्राणाः वै साध्या देवा इति शतपथः। छन्दोभिमानिदेवा आदित्या अंगिरसश्चेति ऐतरेयः। पूर्वे सुराः विराड्-उपाधि साधकाः इति महीधरः। साधनवन्तः कृतसाधना

अस्य भाष्यं शौनको नाम ऋषिरकरोत्। प्रथमं विच्छेदः क्रियाकारकसम्बन्धः समासः प्रमेयार्थव्याख्येति सर्वमेतज्जनकाय मोक्षार्थं कथयामासेति उव्वटः। नारायणपुरुषदृष्टा जगद् बीजपुरुषदेवत्या षोडश ऋचः इति महीधरः। नारायण ऋषिः, राजेश्वरो देवता इति अजमेरमुद्रितायां यजुः-संहितायाम्।

विद्वांस इति दयानन्दः । अहंगृहोपासकाः, यद्वा साध्यं ज्ञानेन प्राप्यं वस्तु येषां आत्मत्वेनास्ति इति सायणः ।

'नाकं'=दुःखेन यन्न संभिन्नं नच ग्रस्तमनन्तरम् ॥
अभिलाषोपनीतं यत् सुखं स्वर्गपदास्पदम् ।
"यत्र देवाः अमृतमानशानाः" इति श्रुतिः ॥

य॒ज्ञो ब॑भूव॒ स आ ब॑भूव॒ स प्र ज॑ज्ञे॒ स उ॑ वावृधे॒ पुनः॑ ।
स दे॒वाना॒मधि॑पतिर्बभूव॒ सो अ॒स्मासु॒ द्रवि॑ण॒मा द॑धातु ॥ २ ॥

भा०—(यज्ञः) वह सब का परम पूजनीय परमेश्वर, 'यज्ञ' ही (बभूव) सदा काल से रहा है । (सः आ बभूव) वह सर्वत्र व्यापक और समर्थ है । इसलिये (सः प्र जज्ञे) वह समस्त सृष्टि को उत्पन्न करता है । (स उ) वह ही (पुनः) बार २ (वावृधे) इसका प्रलय कर इसका विनाश करता है । (सः) वह (देवानां) प्रकृति और अहं, महत्, पंच-भूतादि वैकारिक दिव्य पदार्थों का (अधिपतिः) अध्यक्ष, स्वामी, उनका मालिक और पालक (बभूव) है, (सः) वह (अस्मासु) हम में (द्रविणम्) ज्ञान और आत्मसामर्थ्य को (आ दधातु) धारण करावे ।

यद् दे॒वा दे॒वान् ह॒विषा॒ यज॑न्ता॒मर्त्या॒न् मन॑सा॒ मर्त्ये॑न ।
मदे॑म॒ तत्र॑ पर॒मे व्यो॑ऽमन् पश्ये॑म॒ तदु॒दि॑तौ॒ सूर्य॑स्य ॥ ३ ॥

भा०—(देवाः) देव, ब्रह्म के जिज्ञासु और ज्ञानी पुरुष (यत्) जिस परम पुरुष में निमग्न होकर (मनसा) मनन शक्ति से (अमर्त्यान्) मरण धर्म से रहित, अविनाशी, सदा चेतन, (देवान्) प्रकाशकरूप चेतन प्राणों या इन्द्रियों को (हविषा) मानस संकल्प या आत्म-

२-(द्वि) 'स वावृधे' (च) 'सोऽस्मानधिपतिं करोतु' तै० सं० इति तत्रैव 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्' इति अधिक पाठः । (द्वि०) 'स पृथिव्या अधिप तिर्बभूव' इति पैप्प सं० ।

सामर्थ्य से (अयजन्त) पूजा करते हैं, उनको बलवान् करते या अपने में संगत करते उन पर वश करते हैं (तत्र) उस (परमे) परम, उत्कृष्ट (व्योमन्) विशेष रक्षास्थान, अभय, शरणरूप या आकाश के समान महान् और निःसंग परम ब्रह्म में हम (मदेम) आनन्द प्राप्त करें और (सूर्यस्य) सबके प्रेरक और प्रकाशक उस महान् सूर्य के (उदितौ) उदय होने पर (तत्) उस परम प्रकाश को (पश्येम) सदा दर्शन करें। साधक की यह वह दशा है जिसमें वह कहता हैः—हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योसावसौ पुरुषः सोहमस्मि ।" इत्यादि। ईश० उप० ॥ सायणने इस मन्त्र को अध्यात्म में भी लगाया है।

यत् पुरु॑षेण ह॒विषा॑ य॒ज्ञं दे॒वा अत॑न्वत ।
अस्ति॒ नु तस्मा॒दोजी॑यो॒ यद् वि॒हव्ये॑नेजि॒रे ॥ ४ ॥

यजु० ३१ । १४ । प्र० द्वि० ऋ० १० । ९० । ६ प्र० द्वि०॥

भा०—(यद्) क्योंकि (देवाः) आत्मज्ञान से प्रकाशवान् पुरुष (पुरुषेण) पुरुष, इस देह पुरी में निवास करने वाले आत्मारूप (हविषा) हवि=ज्ञान सामर्थ्य द्वारा (यज्ञं) उस परम पूजनीय परमेश्वर की उपासना (अतन्वत) करते हैं, उसका वर्णन किया करते हैं और (यत्) क्योंकि (विहव्येन) विशेष स्तुति, प्रार्थनोपासना द्वारा या बाह्य चरु आदि से अतिरिक्त केवल समाधि या ज्ञानाभ्यास द्वारा (ईजिरे) उसकी संगति करते हैं (तस्मात्) इसलिए ही यह अध्यात्म यज्ञ (नु) निश्चय से (ओजीयः अस्ति) अधिक ओजस्वी, बलशाली होता है। विद्वान् लोग अपने इस आत्मा के अनुसार विश्वव्यापक प्रभु के विराड् देह की कल्पना करके वर्णन किया करते हैं और ध्यानयोग से उसकी उपासना करते हैं इससे वह उपासना बड़ी फलदायक होती है।

मुग्धा देवा उत शुना यजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधा यंजन्त ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ ५ ॥

भा०—(मुग्धाः) मोह में पड़कर (देवाः) विद्वान् पुरुष भी (इमं) इस (यज्ञं) यज्ञमय परम पुरुष को (शुना) गतिशील प्राण से (उत) और (गोः, अङ्गैः) गो=चिति शक्ति के अङ्गरूप ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों से या (गोः, अङ्गैः) गौ वेदवाणी के अंग-रूप योगादि दार्शनिक उपायों या वेदमन्त्रों से (पुरुधा) नाना प्रकारों से (अयजन्त) उपासना करते हैं, परन्तु (यः) जो पहुँचा हुआ परमज्ञानी (इयं यज्ञं) इस परम पूजनीय प्रभु को (मनसा चिकेत) अपने मनन साधन, आभ्यन्तर साधन से (चिकेत) ज्ञान कर लेता है वह (नः) हमें (प्रवोचः) उस उत्कृष्ट ज्ञान का उपदेश करे और वही विद्वान् (तम्) उस परम पुरुष के विषय में (इह इह) इन इन शंकास्पद स्थलों में या मोह की दशाओं में (ब्रवः) उपदेश करे। सायण और सायण के पीछे चलने वालों के मत में— 'देवताओंने मूढ़ होकर कुत्ता और गाय के टुकड़ों से यज्ञ किया।' इत्यादि अर्थ है सो असंगत है। क्योंकि इस प्रकरण में यज्ञ की उपासना के लिये मन को मुख्य साधन बताया है। इसलिये प्राण और चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा केवल प्राणाभ्यास और त्राटकादि धारणा साधनों को गौण बतलाया है। इससे वही अभिप्रेत है। जब देवता आत्मा है तो इसकी साधना में कुत्ते और गाय के मांस आदि का लेना मूर्खता है।



[६ (७)] आत्मज्ञान का उपदेश ।

अथर्व-ऋषिः । यजुर्वेदे १ प्रजापतिर्ऋषिः, २ वामदेवः । ऋग्वदे गोतमो ।

---

५ 'मूर्ध्ना देवाः' इति विक्टरहेनरीनामकहरिवर्षीयस्य मतेन पाठभेद इष्टः ।

राहूगण ऋषिः । अदितिर्देवता । त्रिष्टुप् । १ भुरिक् । ३, ४ विराड्-जगत्यौ । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥ १ ॥

ऋ० १।८९।१०॥ यजु० २५।२३॥

भा०-(द्यौः) द्यौलोक (अदितिः) अदिति, अदीन, अखंडित, अविनाशी प्रकृति की बनी है। (अन्तरिक्षम् अदितिः) यह अन्तरिक्ष भी (अदितिः) उसी अविनाशी प्रकृति का बना है। (माता) सब पदार्थों को बनाने वाली उनकी माता यह पृथिवी भी (अदितिः) वह प्रकृति ही है। (सः पिता) इस संसार का पालन करने वाला सूर्य भी (अदितिः) प्राकृतिक है, (सः पुत्रः) वह पुत्र अर्थात् पृथिवी सूर्य से उत्पन्न मेघ आदि भी प्रकृति के बने हैं। (विश्वेदेवाः अदितिः) समस्त दिव्य शक्तियों से युक्त पदार्थ सूर्य चन्द्र आदि अथवा पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश आदि भूत या महत् आदि विकार सब (अदितिः) प्रकृति ही हैं (पंचजनाः अदितिः) पंचजन=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद अथवा देव, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरस्, सर्प और पितर ये सब जीव भी प्रकृति गुणों के भेद से उत्पन्न होते हैं (जातम्) जो पदार्थ उत्पन्न होने वाला है सब (अदितिः) प्रकृति ही है (जनित्वम्) अर्थात् उत्पत्ति का आधार ही (अदितिः) प्रकृति है। अथवा अविनाशशील परमात्मशक्ति को 'अदिति' कहा गया है। यह द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, पंचभूत, पञ्चजन, संसार इत्यादि सब पदार्थ उसी ब्रह्म की त्रिगुण शक्ति का विलास है।

(६) निर्णयसागरमुद्रिते सायणभाष्ये शंकरपाण्डुरंगेनापि द्व्यृचं सूक्तमेवाभिमतम्। अथर्ववेदीयसर्वानुक्रमणीच 'षष्ठं द्व्यृचं इति पठति। परम अजमेरमुद्रितसंहितायां सूक्तमिदं चतुर्ऋचं पठ्यते पञ्चपटलिकानुसारम्।

म॒हीमू॒षु मा॒तरं॑ सुव्र॒तानां॑मृ॒तस्य॒ पत्नी॒मव॑से हवामहे ।
तु॒वि॒क्ष॒त्राम॒जर॑न्तीमुरू॒चीं सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम् ॥ २ ॥
यजु० २१ । ५ ॥

भा०—ब्रह्म की ज्ञानमयी वेदमयी नौका या भवतारिणी शक्ति का वर्णन करते हैं। (सुव्रतानाम्) उत्तम पुण्यकर्मों की (महीम्) पूजनीय, (मातरम्) उत्पन्न करने वाली, (ऋतस्य पत्नीम्) महत्, यज्ञ, सत्य और ज्ञान का पालन करनेवाली, (तुविक्षत्राम्) बहुत प्रकार से क्षति से बचाने वाली, बहुत धन और बल से युक्त, (सुप्रणीतिम्) उत्तम रूप से व्यवस्था करने और शुभ मार्ग में ले जाने वाली, (सुशर्माणम्) शुभ सुख देनेहारी, (उरूचीम्) विशाल ब्रह्म में व्यापक, (अजरन्तीम्) नित्य, अविनश्वर, (अदितिम्) अदीन, सदा नवीन, अखण्डित सत्यमयी वेदवाणी अदिति को हम अपनी (अवसे) रक्षा के निमित्त (हवामहे) स्मरण करते हैं उसका मनन, निदिध्यासन करते हैं। मनु ने प्रलयकाल में सब जीवों के बीजों की रक्षा के निमित्त जिस वेदमयी नौका का आश्रय लिया था उसका वर्णन मत्स्यपुराण में दर्शनीय है।

सु॒त्रामा॑णं पृथि॒वीं द्यामने॒हसं॑ सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम् ।
दैवीं॒ नावं॑ स्वरि॒त्राम॑नागसो॒ अस्र॑वन्ती॒मा रु॑हेमा स्व॒स्तये॑ ॥ ३ ॥
ऋ० १०।६३।१०॥ यजु० २१।६॥

भा०—उसीका वर्णन और भी करते हैं। (सुत्रामाणम्) उत्तम रीति से सब का पालन करनेवाली, (पृथिवीम्) विशाल (द्याम्) प्रकाश-स्वरूप (अनेहसं) किसी प्रकार का आघात न पहुँचाने वाली, (सुशर्माणम्) सब जीवों को सुखशान्ति, शरण देनेवाली, (सुप्रणीतिम्)

२—'हुवेम' इति यजु० ।
३—ऋग्वेदे गयप्लात ऋषिः ।(तृ०) 'अनागसम्' इति ऋ० ।

उत्तम रूप से विधान की गई या शुभ मार्ग में ले जाने वाली, (दैवीं) देव ईश्वर की बनाई हुई (सु-अरित्राम्) उत्तम पुण्यकर्म रूप पतवारों वाली, (अस्रवन्तीम्) दोषादि छिद्रों से रहित, कभी न डूबने वाली, (नावम्) संसार के पार उतारने में समर्थ वेदमयी या यज्ञमयी ज्ञान-नौका में हम (अनागसः) निष्पाप (स्वस्तये) अपने ही उत्तम कल्याण साधन के लिए (आरुहेम) सदा चढ़ें। अर्थात् अपने जीवनों को सफल करने के लिये वेद का आश्रय लें। उसकी व्यवस्था में चलें।

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे।
यस्या उपस्थ उर्व१न्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात् ॥४॥

यजु० ९।५॥

भा०—(वाजस्य) अन्न के (प्रसवे) उत्पन्न करने के कार्य में (महीम्) विशाल (अदितिम्) अखण्डित, समस्थलवाली (महीम्) पृथिवी को (वचसा) वेदोपदेश के अनुसार (नाम) ही (करामहे) तैयार करते हैं। (यस्याः) जिसकी (उपस्थे) गोद में (उरु) यह विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष या मेघ है। (सा) वह (नः) हमें (त्रिवरूथम्) तीन मंजिला (शर्म) गृह (नियच्छात्) बनाने के लिये आज्ञा दे। अध्यात्म में—वाज=ज्ञानबल के उत्पन्न करने में हम उस परम महती अखण्ड ब्रह्मशक्ति की वाणी द्वारा स्तुति करते हैं जिसके आश्रय पर यह विशाल अन्तरिक्ष खड़ा है। वह हमें (त्रिवरूथं) तीनों तापों से बचाने वाला मोक्ष सुख प्रदान करे।



४-(च०) 'सानो देवी सुहवा शर्म यच्छतु' इति पैप्प० सं०।

१—'यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत्।' इति उत्तरार्धे पाठभेदः यजु० ॥

[७ (८)] आत्मज्ञान का उपदेश

अथर्वा ऋषिः । अदितिर्देवता । आर्षी जगती । एकर्चं सूक्तम् ॥

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमवं देवानां बृहतामनर्मणाम् ।
तेषां हि धाम गभिषक्समुद्रियं नैनान् नमसा परो अस्ति कश्चन ॥ १ ॥

भा०—मैं परमात्मा (दितेः) दिति के (पुत्राणाम्) पुत्रों के स्थान को (अदितेः) अखण्डित, अविनाशी चितिशक्ति के पुत्र (बृहताम्) बड़े और (अनर्मणाम्) अव्यथित, अक्षत शरीर, अजर (देवानां) देवों, प्राणरूप इन्द्रिय सामर्थ्यों के (अव अकारिषम्) नीचे, अधीन करता हूं । क्योंकि (तेषाम्) उनका (धाम) तेज (समुद्रियम्) समुद्र-आत्मा से उत्पन्न होने वाला होने के कारण (गभिषक्) अति गम्भीर है । (एनान्) इनके प्रति (कश्चन) कोई (नमसा) नमन करने वाले अन्न सामर्थ्य से युक्त (परः न) दूसरा नहीं है । अथवा (एनान् पर, नमसा कश्चन न) उस परम आत्मा से बढ़ कर शक्तिशाली कोई नहीं है । कश्यप की दो स्त्रियां दिति और अदिति । दिति के पुत्र दैत्य और अदिति के पुत्र आदित्य, सुर असुर, देव दानवादि के कथानक आलंकारिक हैं । कश्यप, ईश्वर की दो शक्तियां हैं दिति और अदिति, जड़, प्रकृति और चिति शक्ति । जड़-प्रकृति से अचेतन पदार्थ उत्पन्न होते हैं, चिति शक्ति के पुत्र जीव हैं । दिति=प्रकृति के पुत्र जड़ पदार्थ=देहों को परमात्मा ने अदिति-चिति के पुत्र चेतनामय जीवों के अधीन किया । ईश्वर की समष्टि चितिशक्ति समस्त

(द्वि)—अकारिषमुरुशर्मणाम् । येषां नामानि विहितानि धामशश्चित्तैर्यजन्ति भुवनाय जीवसे ।' इति मै० सं० । 'अकारिषम् महाशर्मणां महतामनृम्णाम् त्वेषा युधामि गाभिषत् समुद्रं नहिनां ये अपरः परोऽस्ति किंचन इति पैप्प० सं०

(च०)'नैनां मनसा' इति हिटनिकामितः (प्र०) 'अकारिषम्' इति क्वचित् ।

लोकों को प्रेरित करती है। वह सब पदार्थों को गति देती है वही 'फोर्स' परम शक्ति है। उसके अधीन सूर्य, चन्द्र आदि समस्त जड़ पदार्थ हैं उनका धाम=धारण करने वाला बल यह महासमुद्र, महान् आत्मा, परमेश्वर है वह महान् अथवा अनन्त शक्ति का भंडार है उससे परे कोई भी अधिक बलशाली नहीं है।



[८ (९)] उत्तम मार्गदर्शक ।

उपरिबभ्रव ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुर एता ते अस्तु ।
अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरेशत्रुं कृणुहि सर्ववीरम् ॥ १ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (भद्रात्) शारीरिक और इह लोक के सुख से (अधि) भी ऊपर विद्यमान (श्रेयः) परम कल्याण, श्रेष्ठतम पद को (प्रइहि) प्राप्त हो। (बृहस्पतिः) समस्त महान् लोकों का स्वामी, वेद वाणी का विद्वान् पथदर्शक (ते) तेरे (पुरः एता अस्तु) सामने, आगे २ चलने वाला हो। वह तुझे सदा उत्तम २ मार्ग दर्शावे। (अथ) और (इमम्) इस जीव को (अस्याः) इस (पृथिव्याः) पृथिवी के (वरे) उत्तम, वरण करने योग्य, श्रेष्ठ, शान्तियुक्त, परम उच्च स्थान पर (सर्व-वीरम्) सब स्थानों में और प्रजाओं में वीर-सामर्थ्यवान् और (आरे-शत्रुम्) शत्रुओं से रहित, निर्भय (कृणुहि) कर।

एतावद्वा इदं सर्वं यावदिमे च लोका दिशश्च। श० ६।५।२।२२॥
एतावद्वा इदं सर्वं यावद् ब्रह्मक्षत्रं विट्। श० ४।२।२।१४॥



[८] १—'भद्रादभि', (तृ० च०) 'अथेमवस्य वर आ पृथिव्या आरे शत्रून् कृणुहि सर्ववीरः।' तै० सं०।

[९ (१०)] उत्तम मार्गदर्शक, पति और पालक से प्रार्थना ।

उपरिबभ्रव ऋषिः, ऋग्वेदे देवश्रवा यामायन ऋषिः । पूषा देवता ।
१,२ त्रिष्टुभौ । ३ त्रिपदा आर्षी गायत्री । ४ अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥१॥

ऋ० १० ॥ १७ ॥ ६ ॥

भा०—(पूषा) समस्त संसार का पोषक परमात्मा सूर्य के समान (पथाम्) समस्त मार्गों या लोकों के (प्रपथे) उत्कृष्ट, उच्चतर मार्ग में और (दिवः प्रपथे) द्यौ=सूर्य के मार्ग में और (पृथिव्याः प्रपथे) पृथिवी के मार्ग में (अजनिष्ट) विद्यमान है (प्रियतमे) अत्यन्त प्रियतम (सधस्थे) एक ही स्थान पर विद्यमान द्यौ और पृथिवी दोनों के (अभि) सन्मुख उन दोनों को (प्रजानन्) जानता हुआ (आ च चरति परा च) उनके पास और दूर सर्वत्र व्यापक है ।

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् ।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ॥ २ ॥

ऋ० १० । १७ । ५ ॥

भा०—(पूषा) सब का परिपोषण करने वाला परमात्मा (इमाः, सर्वाः, आशाः) इन सब दिशाओं को (अनुवेद) बराबर जानता है । अतः (सः) वह (अस्मान्) हमें (अभयतमेन) सब से अधिक भय रहित, कल्याणकारी मार्गसे (नेषत्) लेजाय । वह परमात्मा (स्वस्तिदाः)

१—'आरे । शत्रुम् ' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः ।

(द्वि०) 'मेषत्' इति मै० सं० । (त०) 'आघृणिः' (च०) 'प्रविद्वान्' इति तै० आ० ।

सब प्रकार कल्याण मय पदार्थों का देने वाला (आघृणिः) सब प्रकार से प्रकाशमान् (सर्ववीरः) सब स्थानों में और सब से अधिक वीर, वीर्यवान्, सामर्थ्यवान्, (प्रजानन्) सब बातों का जानने हारा, (अप्रयुच्छन्) कभी न प्रमाद करता हुआ (पुरः एतु) हमारे आगे २ मार्गदर्शक हो ।

मार्गदर्शक विद्वान् को भी इसी प्रकार का होना चाहिये वह सब दिशाओं के देश जाने, अपने स्वामी का कल्याण करे हृदय में वीर और ज्ञानी और प्रमाद रहित हो ।

पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन ।
स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ३ ॥

ऋ० ६ । ५४ । ९ ॥ यजु० ३४ । ४१ ॥

भा०—हे पूषन् ! सब के परिपोषक प्रभो ! (वयं) हम (तव व्रते) तेरे उपासना कार्य में (कदा चन) कभी (न) न (रिष्येम) विनष्ट हों । हम (इह) यहां (ते) तेरे सदा (स्तोतारः) सत्य गुणों का वर्णन करते (स्मसि) रहें ।

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम् ।
पुनर्नो नष्टमाजतु सं नष्टेन गमेमहि ॥ ४ ॥

ऋ०६।५४।१०।

भा०—(पूषा) परिपोषक परमात्मा (परस्तात्) दूर दूर तक (दक्षिणम्) कार्य कुशल दायें हाथ के समान बलवान् (हस्तं) अपना हाथ (परिदधातु) हमें दे । जिससे हम सब ऐश्वर्य प्राप्त करें और (नः) हमारा (नष्टं) विनष्ट पदार्थ (नः) हमें (पुनः) फिर (आजतु) प्राप्त हो । हम (नष्टेन) विनष्ट पदार्थ से पुनः (सं गमेमहि) संगति लाभ करें ।

२-(प्र०) 'पुरस्तात्' इति ऋ० ।

पूषादेवताक मन्त्रों का अर्थ हमने परमात्म-परक किया है । परन्तु पूषा विशां विट्पतिः । तै० २ । ५ । ७।४ ॥ पूषा वै पथीनामधिपतिः । श० १३ । ४ । १ । १४ ॥ पूषा भगं भगपतिः । श० ११ । ४ । ३ ।१५॥ पथ्या पूष्णः पत्नी । गो० उ० २ । ९ ॥ योषा वै सरस्वती वृषा पूषा । श० २ । ५ । १ । ११ ॥ पूषा भागदुघः अशनं पाणिभ्यामुपनिधाता । श० । ११ । १ । २ । १७ इत्यादि प्रमाणों से राजा, राष्ट्र के सब मार्गों पर चुंगी संग्रह करनेवाला, राष्ट्र का अधिकारी, खज़ानची, अन्नपति, गृह-पति और राष्ट्र का कर संग्रहाध्यक्ष ये भी 'पूषा' कहाते हैं । जिनमें गृह-पति के पक्ष में यहाँ निम्न-लिखित प्रकार से मन्त्रों के अर्थ जानने चाहियें । स्त्री अपने गृहपति को कहती है—

१—(पूषा पथाम् प्रपथे अजनिष्ट) मेरा पोषक पति सब मार्गों से उत्तम मार्ग में रहे । वह (दिवः प्रपथे, पृथिव्याः प्रपथे) द्यौ और पृथिवी, अमुक लोक और इस लोक दोनों में उत्तम मार्ग में चलें। (उभे प्रियतमे सधस्थे अभि) दोनों सहचारी प्रियतम स्त्री-पुरुष के अभि) सम्बन्ध को (प्रजानन्) अच्छी प्रकार जानता हुआ (आ च परा च चरति) दूर और समीप में विचरे अर्थात् सर्वत्र पति अपनी स्त्री के संग कभी पति-पत्नी के सम्बन्ध को विच्छेद न करे ।

२—(पूषा इमाः सर्वा आशाः अनुवेद) मेरा पति मेरी इन सब उत्तम इच्छाओं को अपने अनुकूल जाने है । (सः अस्मान् अभयतमेन नेषत्) वह हमें सब से अधिक भयरहित मार्ग से जीवनपथ पर ले चले । (स्वस्तिदाः आघृणिः सर्ववीरः प्रजानन् अप्रयुच्छन् पुरः एतु) वह कल्याणकारी, तेजस्वी, सर्वत्र वीर, विद्वान्, अप्रमादी होकर मेरे आगे आगे चले ।

३—(पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन) हे पते ! तेरे पालि-

अन्न्य में हम कभी अपराध न करें। हम तेरे ही यथार्थ गुणों का वर्णन करने वाले हों।

४—(पूषा) पति (दक्षिणं हस्तं परिदधातु) मेरा दायां हाथ ग्रहण करे। मेरा दायां अंग बने। (नः नष्टं पुनः आजतु) हमारा खोया हुआ आधा भाग पुनः प्राप्त हो। (नष्टेन सं गमेहि) हम अपने पुनः प्राप्त आधे खोये हुये भाग से मिलकर एक होकर गृहस्थ का पालन करें। प्रजापति ने अपने को दो भागों में किया आधे से स्त्री और आधे से पुरुष, इत्यादि उपाख्यान मनु और शतपथ में कई रूप से आया है।



[१० (११)] सरस्वती की उपासना।

शौनक ऋषिः। ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः। सरस्वती देवता। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्।

यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः॥ १॥

ऋ० १। ६४। ४६॥ यजु० ३। ५॥

भा०—हे (सरस्वति) मातः! वाणि अथवा मातः द्यौः! (यः) जो (ते) तेरा (स्तनः) स्तन या शब्द करने वाला गर्जनशील मेघ (शशयुः) अत्यन्त शान्तिदायक, अथवा अतिगूढ रहस्यमय है, (यः मयोभूः) जो सुखका उत्पत्ति स्थान है, (यः सुम्नयुः) जो शुभ मनन= ज्ञानका उत्पादक अथवा सुम्न–सुषुम्ना में योग समाधि का जनक है (यः सुहवः) जो उत्तम रीति से स्मरण करने योग्य और (सुदत्रः) उत्तम दाता है, (येन) जिससे तू (विश्वा वार्याणि) समस्त वरण करने योग्य उत्तम ज्ञानप्रद पदार्थों, अन्नों और ज्ञानियों को, बालकों को, माता के समान (पुष्यसि) पुष्ट करती है। हे सरस्वति! वेदमातः! (तम्) उस स्तन

को (इह) इस लोक में या इस गुरुगृह में (धातवे) हमें ज्ञान-रस पान करने के लिये (कः) हमारे प्रति कर । यज्ञ में गाय का दुग्ध इसी मन्त्र से दुहा जाता है ।



[११ (१२)] सरस्वती की उपासना ।

शौनक ऋषिः । सरस्वती देवता । पर्जन्य इति सायणः । त्रिष्टुप् ।

एकर्चं सूक्तम् ।

यस्ते॑ पृथु स्त॑नयि॒त्नुर्य ऋ॒ष्वो दैवः॑ के॒तुर्विश्व॑मा॒भूष॑ती॒दम् ।
मा नो॑ वधीर्वि॒द्युता॑ देव स॒स्यं मोत व॑धी र॒श्मिभिः॒ सूर्य॑स्य ॥१॥

भा०—हे सरस्वति ! (यः) जो (ते) तेरा (पृथुः) अति विस्तृत (स्तनयित्नुः) गर्जनशील और जो (ऋष्वः) हिंसा-जनक आघातकारी (दैवः) प्रकाशमान (केतुः) ध्वजा के समान विद्युत् और सूर्य (इदम्) इस समस्त (विश्वम्) संसार को (आ-भूषति) सुशोभित करता है, हे देव ! तू उस (विद्युता) विशेष दीप्ति युक्त विद्युत् वज्र से (नः) हमें (मा वधीः) मत मार । (उत) और उससे (सस्यं मा वधीः) हमारे खेत के धान को भी मत मार और इसी प्रकार (सूर्यस्य रश्मिभि.) सूर्य की तीव्र किरणों से भी हमें न मार और हमारे धान्यों, खेतियों को न मार । पुरुषों को ' सन् स्ट्रोक ' न हो और खेती सूख न जाय ।

यत् स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदस्य अग्नेः सारस्वतं रूपम् ऐ० ३ । ४ ॥ सरस्वतीति तद् द्वितीयं वज्ररूपम् । कौ० १२ । २१ ।

[११] १–'रुप्व', इति सायणाभिमतः ।

मेघका गर्जन और विद्युद्विलास यह भी अग्नि का सारस्वत रूप है सरस्वती वज्रका द्वितीय रूप है। राष्ट्र पक्षमें राजा, राजदण्ड, राजव्यवस्था क़ानून आदि सरस्वती वज्र आदि के प्रतिनिधि हैं।



[१२ (१३)] सभा समिति बनाने का उपदेश।

शौनक ऋषिः। सभा देवता। १, २ सरस्वती। ३ इन्द्रः। ४ मन्त्रोक्तं मनो देवता। अनुष्टुप्छन्दः। चतुर्ऋचं सूक्तम्।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः सङ्गतेषु॥१॥

भा०—(सभा च) सभा जिसमें सब समान हैसियत या पदके होकर विराजें और (समितिः च) और जिसमें समस्त प्रजाएं एकत्र हों अर्थात् एक पदाधिकारियों की सभा दूसरी प्रजाओं के प्रतिनिधियों की समिति ये दोनों (प्रजा-पतेः दुहितरौ) प्रजा के स्वामी राजा की दुहिता कन्या के समान उसकी आज्ञा पालन करने वाली होकर भी अपना हित स्वयं निर्णय करतीं और अपना लाभ सम्पत्ति, भोग यश आदि प्रजापति राजा को ही देती हैं। वे दोनों (सं-विदाने) परस्पर ऐकमत्य करके (मा) मुझ राजा को (अवतां) पालन करें। और हे सभासद् विद्वान् पुरुषो ! मैं (येन) आप लोगों में से जिस किसी से (सम्-गच्छै) मिलकर वार्तालाप करूं या सलाह लूं (सः) वही (मा) मुझको (उप शिक्षात्) मेरे समीप आकर मुझे अपने विभाग का ज्ञान

(तृ० च०) 'येन वदाम उपमा सतिष्ठाऽन्तर्वदामि हृदये जनानाम्।' इति पैप्प सं०। (प्र०) 'चोभे' (द्वि०) 'दुहितरौ सचेतसौ' (तृ० च०) 'या मा न विद्याद् उपमा स तिष्ठेत् सचेतनो भवतु शंसथे जनः।' इति पा० गृ० सू०।

प्राप्त कराये, मुझे सिखावे अथवा मुझे मेरे राज्यकार्य करने में समर्थ करे, मुझे सहायता दे। हे (पितरः) विद्वान् पुरुषो ! राष्ट्र के पालन करने वालो ! आप लोग ही वास्तव में राष्ट्र के पिता हो, आप (संग-तेषु) जब एकत्र हों तो आप लोगों के बीच में (चारु वदानि) मैं उत्तम प्रकार से अपना अभिप्राय प्रकट करूं। आप मित्र भाव से मेरे संग रहें, कुटिल भाव से वर्त्ताव न करें। राजसभा और प्रजा की प्रतिनिधि सभा दोनों के सदस्य राजा को राजकार्य में सहायता करें। उसे राज्य संचालन में समर्थ करें। उसे मार्ग दिखलावें और राजा अपने सब अभिप्राय स्पष्ट रूप से प्रथम सभा के और समितिअधिकारी सभा (State council) और प्रजा-प्रतिनिधि-सभा (Lgislative) के समक्ष रक्खें और उस पर विचार करलें कि राजा के मन्तव्य किस अंश तक प्रजा के लाभकारी और क्रियात्मक हो सकते हैं उनसे क्या हानि सम्भव है। इत्यादि।

मनु प्रोक्त त्र्यवरा, परिषत् आदि का मूल यही सभा है। इस स्थल पर मनु की उस व्यवस्था को देख लेना चाहिये। सभाओं और समितियों का वर्णन प्राचीन काल के साहित्य में बहुत है। प्रजाओं के विवाद निर्णयार्थ भी सभा, समिति की रचना आवश्यक है।

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥ २ ॥

भा०—(हे सभे) सभास्थ पुरुषो! आप लोगों की यह सभा है इसके (नाम) नमनशील, दूसरों पर बल डाल कर अपनी बात स्वीकार करा लेने के बल को हम (विद्म) जानें। हे सभे ! सभास्थ पुरुषो ! यह सभा (नरिष्टा नाम वा असि) नरिष्टा या अहिंसिता, कभी भी न दबने वाली है,

---

२—'वेद वै सभे ते नाम सुभद्रासि सरस्वति अथो ये ते सभासदः सुवाचसः'। इति पैप्प० सं०।

इस की आज्ञा को उल्लंघन नहीं किया जा सकता। इसलिए इस सभा के बीच में (ये के च) जो कोई भी—(सभा-सदः) सभासद्, विद्वान् पुरुष विराजमान हैं (ते) वे सब (मे) मुझ, मुख्य सभापति या प्रधान या राजा या राज-प्रतिनिधि के साथ (स-वाचसः) समान वचन, होकर, एक वाणी होकर (सन्तु) रहें। जिससे एक मन होकर बलपूर्वक अपना कार्य करें। सभा एकमत होकर सभापति को अपना वक्तव्य कहे और वह निश्चय बलपूर्वक कार्य में लाया जाय।

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥ ३ ॥

भा०—(एषाम्) इन (सम्-आसीनानाम्) एकत्र होकर सभा में विराजमान विद्वान् पुरुषों, पदाधिकारियों, एवं प्रजा के प्रतिनिधियों के (वि-ज्ञानम्) विशेष ज्ञान और (वर्चः) बलको (अहम्) मैं उनकी सम्मति लेकर (आ ददे) स्वयं प्राप्त करता हूं। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् परम राजन् प्रभो! (अस्याः सर्वस्याः) इस समस्त (सं-सदः) सभा के (भगिनम्) ऐश्वर्य का स्वामी (माम्) मुझे (कृणु) बना।

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा।
तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ ४ ॥

भा०—सभापति या वक्ता सभासदों के प्रति कहे, हे सभासद् महानुभावो! (वः) आप लोगों का (यद्) जो (मनः) मन (परा-गतम्) कहीं अन्यत्र गया है या (यद्) जो मन (इह वा इह वा) अमुक २ विषय में (बद्धम्) लगा है (वः) आपके (तद्) उस चित्त को मैं (आ वर्त्तयामसि) पुनः लौटा लेता हूँ, अपनी तरफ खैंचता हूँ, आपका वह (मनः) मन (मयि रमताम्) मेरे ऊपर, मेरी कही बात में लगे। आप मेरे वचनों पर विचार कीजिये।



[१३ (१४)] शत्रु के दमन की साधना ।

द्विषो वर्चोहर्तुकामोऽथर्वा ऋषिः। सोमो देवता। अनुष्टुप् छंदः। द्व्यृचं सूक्तम् ।

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे ।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥ १ ॥

भा०—शत्रु व्यक्ति चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री वह उनको अपने सामर्थ्य से दबाने के लिए अपनी आत्मा की शक्ति इन विचारों से बढ़ावे। (यथा) जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (उद्यन्) उदय होता हुआ (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों, तारों के (तेजांसि) प्रकाशों के (आ ददे) अपने में मिला कर लुप्त कर लेता है। (एवा) उसी प्रकार (द्विषताम्) द्वेष करने वाली (स्त्रीणाम्) स्त्रियों और द्वेषी (पुंसाम् च) पुरुषों के (वर्चः) तेज को मैं (आ ददे) दबा लूं, अपने में मिलालूं। अपने से अधिक उनको न चमकने देकर स्वयं अधिक उज्ज्वल कीर्त्तिवाला होऊँ।

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ ।
उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥ २ ॥

भा०—(स-पत्नानाम्) शत्रुओं में से (यावन्तः) जितने आप लोग (मां) मुझ को (आ-यन्तम्) अपने प्रति आते हुए (प्रति-पश्यथ) अपने से प्रतिकूल देख रहे हैं। मैं (सुप्तानां) सोते हुए पुरुषों के तेज को जिस प्रकार (उत्-यन् सूर्यः इव) उदय होता हुआ सूर्य हर लेता है उसी प्रकार (द्विषतां) द्वेष करने वाले आप लोगों का (वर्चः) तेज, वीर्य, बल, यश प्रताप को (आ ददे) हर लूं। सूर्योदय के बाद तक

[१३] २—'वर्चांसि यवतेरिव। एवा सपत्नानामहं वर्च इन्द्रियमादधे' इति पैप्प० सं० (द्वि०) 'प्रति पश्यत' इति सायणाभिमतः ।

सोने वाले आलसी पुरुषों का वीर्य, बल, तेज सूर्य ही हर लेता है इसलिये तेजस्वी होने के लिये सूर्योदय के पूर्व ही उठना चाहिये ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र त्रयोदश सूक्तानि ऋचश्चाष्टविंशतिः ।]

[१४ (१५)] ईश्वर की उपासना ।

अथर्वा ऋषिः । सविता देवता । १, २ अनुष्टुप्छन्दः ३ त्रिष्टुप् ।
चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम् ।
अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम् ॥ १ ॥

यजु० ४ । ५ । प्र० द्वि० ॥

भा०—मैं (ओण्योः) रक्षा करने वाले माता पिताओं और संसार के रक्षक द्यौः सूर्य और पृथिवी दोनों के (सवितारं) प्रेरक और उत्पादक (कवि-क्रतुम्) क्रान्तदर्शी ज्ञानवाले अथवा क्रान्तदर्शी मेधावी लोगों के परम ज्ञान बलरूप सब की बुद्धियों से पहले सर्वातिशायी ज्ञान से सम्पन्न तथा (सत्य-सवं) सत्य, सत् प्रकृति से उत्पन्न, समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाले (रत्नधाम्) समस्त रमण करने योग्य परम ज्ञान एवं रमणीय जीवन में आनन्दजनक पदार्थों और सूर्य आदि लोकों को धारण पोषण करने वाले (प्रियं) सब के प्रसन्न करने वाले, प्यारे (मतिम्[१]) सब को मानने या मनन करने योग्य (त्यं देवं) उस प्रकाशमय अथवा परम देव की (अभि अर्चामि) सदा उपासना करूं उसे प्राप्त करूं ।

---

(१४)—"मतिं कविम्" इति यजुः० । (तृ०) 'सत्यसवसं' इति मै० सं० ।

१—सर्वैर्मन्तव्यम् इति सायणः । मननयोग्यमिति महीधरः ।

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि ।
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः ॥ २ ॥

यजुः ४ । २५ तृ० च०

भा०—(यस्य) जिस परमदेव की (मतिः) अपरिमित आत्म शक्तिमय (भाः) कान्ति (सवीमनि) उसके चलाये इस जगत् में (ऊर्ध्वा) सब से ऊंची, सब पर अधिष्ठातृ भी होकर (अदिद्युतत्) प्रकाशमान है वह (हिरण्य-पाणिः) सबको प्रकाश देने वाला, या प्रकाशमान पिण्डों, सूर्य आदि लोकों को भी अपने हाथ में रखने वाला (सु-क्रतुः) सब से उत्तम ज्ञानवान्, शिल्पी (कृपात्) अपने सामर्थ्य से ही (स्वः) इस सूर्य स्वरूप नक्षत्र संसार को (अमिमित) बनाता है ।

सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै ।
अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः॥३॥

उत्तरार्धः ऋ० ३ । ५६ । प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (देव) परमात्मन् ! प्रकाशस्वरूप देव ! तू (प्रथमाय) सब से प्रथम, सर्वश्रेष्ठ (पित्रे) पिता, सब के पालक हिरण्यगर्भ अथवा जीवात्मा के लिये ही (सावीः) ये सब पदार्थ उत्पन्न करता है । और (अस्मै) इस जीव के लिये तू ही (वर्ष्माणम्) वर्ण, देह या भोग सामर्थ्य और (अस्मै) इस जीव को तूही (वरिमाणम्) सब पदार्थों से अधिक श्रेष्ठता भी प्रदान करता है। (अथ) इसी प्रकार तू (अस्मभ्यं) हम

२—(च०) 'कृपा स्वः' इति बहुत्र । 'कृपा स्वस्तुपास्वारतित्रा' आश्व० श्रौ० सू० ।

३—(प्र०) 'प्रसत्राय' (तृ० च०) 'सवितः सर्वताता दिवे दिवे आ' इति तै० ब्रा० । 'त्रिरादिव सवितर्वार्याणि दिवे दिव आसुव त्रिर्नो अह्नः' इति ऋग्वेदे ।

जीवों के लिये, हे (सवितः) सर्वोत्पादक प्रभो ! (वार्याणि) सब अभि-लाषा करने योग्य उत्तम पदार्थ और धन और (भूरि) बहुत से (पश्वः) पशुसमूह (दिवः-दिवः) दिनों दिन (आ सुव) प्रदान कर ।

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि ।
पिबात् सोमं ममददेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि॥४॥

भा०—(देव) वह प्रकाशमान प्रभु (सविता) सबका प्रेरक और उत्पादक और सर्वैश्वर्यवान् ! (वरेण्यः) सब को वरण करने योग्य, सबका प्रिय, (दमूनाः) और सबको उनके अभिलषित पदार्थों को प्रदान करता है । वह ही (पितृभ्यः) देह इन्द्रिय और मन और अपनी प्रजा, गृह आदि के पालन करने वाले जीवों को (रत्नं) उन के रमण करने योग्य कर्म फल, (दक्षं) ज्ञान और (आयूंषि) दीर्घ जीवन (दधात्) प्रदान करता है । (अस्य) इस साक्षात् प्रभु की (धर्मणि) धारण व्यवस्था में रह कर यह जीव (सोमं पिबात्) सोम स्वरूप परमानन्द रसका पान करता है और वह आनन्द रस (एनं) इस जीव को (ममदत्) मत्त कर देता है, अपने में मग्न और मस्त कर लेता है और वह जीव (परि-ज्मा) सर्वत्र गतिमान्, सर्वाप्तकाम सर्वसामर्थ्य हो कर (इष्टं चित्) उस परम पूज्य, इष्ट, उपास्य प्रभु को (क्रमते) प्राप्त करता, उसमें लीन हो जाता है ।



[१५ (१६)] ईश्वर की उपासना ।

भृगुर्ऋषिः । सविता देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ।

४—(तृ०) 'सोमममृदन्नेनमिष्टयः' (च०) 'रमते अस्य' (द्वि०) 'दक्ष'—'आयूनि' इति आश्व० श्रौ० सू० ।

तां स॑वि॒तुः स॒त्यस॑वां सुचि॒त्रामा॒हं वृ॑णे सु॒म॒तिं वि॒श्ववा॑राम् ।
याम॑स्य॒ कण्वो॒ अदु॑ह॒त् प्रपी॑नां स॒हस्र॑धारां महि॒षो भगा॑य॥१॥

यजु० १७ । ७४ ॥

भा०-हे (सवितः) सब के उत्पादक, प्रेरक प्रभो! सवितः ! (अहम्) मैं (सत्य-सवाम्) सत्यपदार्थों (ज्ञानों) को उत्पन्न करने वाली, (सु-चित्राम्) अति अद्भुत या अति पूजनीय, (विश्व-वाराम्) समस्त संसार की रक्षा करने वाली (तां) उस परम (सु-मतिम्) उत्तम रीति से मनन करने योग्य, दिव्य शक्ति की (आ वृणे) साक्षात् स्तुति करता हूं (अस्य) इसकी (याम्) जिस (सहस्रधाराम्) सहस्रों, लोकों या समस्त विश्व को धारण करने वाली (प्रपीनां) अति पुष्ट गौ के समान आनन्द रस का पान करने वाली, हृष्ट पुष्ट शक्ति को (भगाय) अपने ऐश्वर्यशील आत्म सम्पत् को प्राप्त करने के लिए (महिषः) महा (कण्वः) ज्ञानी पुरुष (अदुहत्) प्राप्त करता है ।



[१६ (१७)] सौभाग्य की प्रार्थना ।

भृगुर्ऋषिः । सविता देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ।

बृह॑स्पते॒ सवि॑तर्व॒र्धयै॑नं ज्यो॒तयै॑नं मह॒ते सौभ॑गाय ।
संशि॑तं चि॒त् सन्त॒रं सं शि॑शाधि॒ विश्वं॑ एन॒मनु॑ मदन्तु दे॒वाः॥१॥

यजु० २७ । ८ ॥

---

[१५] १—(प्र०) 'तां सवितुर्वरेण्यस्य चित्राम्' (द्वि०) 'विश्वजन्याम्' (च०) 'पयसा महीम् गाम्' इति बहुत्र । (प्र०) 'सत्य सवस्य चित्राम्' (द्वि०) 'वयं देवस्य प्रसवे मनामहे' (तृ०) 'प्रपाणाम्' इति पैप्प० सं० ।

[१६] १—(प्र० द्वि०) 'बोधयेनं' ज्योतैनं इति बहुत्र 'द्योतयेतिं सायणाभितः (तृ०) 'सन्तराम्' इति यजु० ।

भा०—हे (बृहस्पते) बृहती वेदवाणी और बृहत्=विशाल लोकों के स्वामिन् ! (सवितः) सर्वोत्पादक परमेश्वर एवं आचार्य (एनं) इस व्रती ब्रह्मचारी पुरुष की आत्मा को (वर्धय) बढ़ा, शक्तिशाली बना, और (एनं) इस आत्मा को (महते) बड़े (सौभगाय) सौभाग्य, आत्मसम्पत्ति और विद्यासम्पत् प्राप्त करने के लिये (ज्योतय) ज्ञान से प्रकाशित कर । और (संशितं) अच्छी प्रकार तपस्या से सम्पन्न इस ब्रह्मचारी तपस्वी पुरुष को (सं-तरं चित) खूब ही अच्छी प्रकार (सं-शिशाधि) शासन कर, शिक्षा दे । जिससे (विश्वे) समस्त (देवाः) ज्ञानी, विद्वान् पुरुष (एनम्) इस विद्वान् ब्रह्मचारी को देख कर (अनु मदन्तु) इसकी सफलता पर प्रसन्न हों । राजा अपने राष्ट्र में विद्वानों को इस प्रकार का आदेश करे । पिता आचार्य पुत्र के लिये प्रार्थना करे । आचार्य अपने शिष्य और यजमान के लिये ईश्वर से इसी प्रकार की प्रार्थना करे । मनु ने लिखा है—'आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः ।' इस प्रकार यह मन्त्र उभय-पक्ष में लगता है ।



[१७ (१८)] ईश्वर से ऐश्वर्य की प्रार्थना ।

भृगुर्ऋषिः । धाता सविता देवता । १ त्रिपदा आर्षी गायत्री । २ अनुष्टुप् ।
३, ४ त्रिष्टुभौ । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

धाता द॑धातु नो र॒यिमीशा॑नो जग॑त॒स्पतिः ।
स नः॑ पू॒र्णेन॑ यच्छतु ॥ १ ॥

भा०—(धाता) सब का धारण और पोषण करनेवाला, (जगतः पतिः) समस्त जगत् का पालक, (ईशानः) सब का स्वामी, ईश्वर (नः) हमें (रयिम्) ऐश्वर्य, यश और बल (दधातु) प्रदान करे । और (सः)

[१७] १—(प्र०) 'ददातु' (च०) 'पूर्णेन वावनत्' इति तै० सं० ।

वह (नः) हमें (पूर्णेन) हमारी पूर्ण शक्ति और साधना के अनुसार (यच्छतु) हमें बल और धन प्रदान करे। ईश्वर हमें जितना हम प्राप्त कर सकें, रख सकें, उतना हमें दे।

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः॥ २॥

भा०—(धाता) सब का धारणकर्त्ता, पालक, पोषक प्रभु (दाशुषे) अपने को समर्पण करने वाले अथवा सब को दान करनेवाले जीव के लिये (प्राचीम्) अति उत्तम रीति से प्राप्त होनेवाली (अक्षिताम्) अक्षय (जीवातुम्) जीवन शक्ति को (दधातु) दे। (वयं) हम (विश्व-राधसः) समस्त धनों के स्वामी (देवस्य) प्रकाशस्वरूप, प्रभु देव की (सुमतिम्) उत्तम मनन करने योग्य रूप शक्ति का (धीमहि) ध्यान करते हैं।

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः सजोषाः॥३॥

भा०—(धाता) पोषक पालक प्रभु (प्रजा-कामाय दाशुषे) प्रजा की अभिलाषा करने वाले दानी गृहपति को (दुरोणे) उसके घर में (विश्वा वार्या) समस्त प्राप्त करने योग्य आवश्यक धान धान्य आदि पदार्थों को (दधातु) प्रदान करे। (विश्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान् गण और (स-जोषाः) प्रेम से युक्त स्नेही (अदितिः) अखण्ड शक्तिशाली, माता

२—(प्र०) 'धाता ददातु नोरयिम्' तै० सं०, मै० सं०। (द्वि०) 'अक्षितिम्' गो० गृ० सू०। 'सत्यराधसम्' इति तै० सं०। 'सत्यधर्मणः' इति मै० सं०। 'वाजिनीवतः' आ० श्रौ० सू०।

३—'धाता ददातु दाशुषे वसूनि' (द्वि०) 'मीढुषे दुरोणे' (तृ०) 'अमृता सं व्ययन्ताम्' (च) 'देवासः' इति तै० सं० मै० सं० (तृ०) तस्या, प्रजाममृतः संवयन्तु। इति पैप्प० सं०।

या अदति सूर्य ये सब (देवाः) प्रकाशमान लोक (तस्मै) उसके लिये (अमृतं) अमृत, आत्म-शक्ति, जीवन-शक्ति का (सं व्ययन्तु) दान करें।

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः ।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु ॥ ४ ॥

यजु० ८ । १७ ॥

भा०—(धाता) सब का स्रष्टा धारक और पालक (रातिः) सब श्रेय कल्याणकारी पदार्थों और ज्ञान और बल का देने वाला और वही (सविता) सब का प्रेरक सब का आज्ञापक है। वही (प्रजा-पतिः) प्रजा का पालक (निधि-पतिः) ज्ञान के निधि, भण्डार और धनों के भण्डारों का स्वामी और (अग्निः) प्रकाशस्वरूप है। उसीके भिन्न २ गुणों और कर्त्तव्यों का पालन करने वाले अधिकारिवर्ग भी राष्ट्र में धाता, राति दानाध्यक्ष, सविता। प्रजापति, निधिपति और अग्नि आदि पदाधिकारी नियत हों, वे अपने को राजा का स्वरूप जानकर (नः) हमारी (इदं) इस प्रजाधन को ईश्वर के समान (जुषन्तां) प्रेम से रक्षा करें, (विष्णुः) व्यापक परमेश्वर के समान राज्य का कर्त्ता धर्त्ता (त्वष्टा) राजा (प्र-जया) अपनी प्रजा के साथ (सं-रराणः) आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करता हुआ (यजमानाय) ईश्वर के उपासक, प्रजा के दाता, और शुभ कर्म के कर्त्ता उत्तम पुरुष को (द्रविणं दधातु) सब प्रकार द्रव्य रखने की शक्ति दे। उसके द्रव्य की रक्षा करे, उसको द्रव्य सौंपे।

इन मन्त्रों के आधार पर राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि स्मृतिकारों ने कहा है। जिस प्रकार ईश्वर के निमित्त त्याग करने और उसकी पूजा

४—(द्वि०) 'निधिपादेवोऽग्निः'। इति यजुः। 'वरुणो मित्रो अग्निः' (तृ०) 'विष्णुस्त्वष्टा' इति मै० सं० (तृ०) 'रराणाः' (च०) 'दधात' इति यजुः।

करने वाला यजमान है इसी प्रकार राजा के निमित्त कर देने वाला उसको अपना राजा मान कर आदर दिखानेवाला प्रत्येक प्रजा का पुरुष यजमान है। राजा उसके धन की रक्षा करे।



[१८ (१९)] अन्न की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । पृथिवी पर्जन्यश्च देवते । १ चतुष्पाद् भुरिगुष्णिक् । २ त्रिष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ।

प्र नभस्व पृथिवि भिन्द्धी३दं दिव्यं नभः ।
उद्नः दिव्यस्य नो धातरीशानो वि ष्या दृतिम् ॥ १ ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवी मातः! तू (प्र नभस्व) खूब अच्छी रीति से हल आदि साधनों से खण्डित की जावे। हे (धातः) ईश्वर। (ईशानः) तू सामर्थ्यवान् विद्युत रूप होकर (इदं) इस (दिव्यम्) दिव्य गुणवाले (नभः) मेघ को (भिन्धि) खण्डित कर और (दिव्यस्य) दिव्य (उद्नः) जल के (दृतिम्) भरे बड़े भारी कुप्पे को (वि ष्य) नाना दिशाओं से काट डाल।

---

[१८] १–(प्र) 'उन्नमय पृथिवीम्' (च) 'विष्या बिलम्' (तृ) ऊभ्रो इति पैप० सं० । 'भिन्धद.' इति मै० सं० (तृ०) 'उद्नः' इति मै० सं० तै० सं० । 'दहाशाना' 'विसृजा' इति तै० सं० ।

ऊभ्रो दिव्यस्य इति अजमेरमुद्रितः पाठः । उद्न इति निर्णयसागरीयः पाठः पदपाठसम्मतश्च । सायणाभितः 'उद्नः' इति पाठः । 'उत्नो' 'उन्नो', 'ऊस्वो', इति कतिपय हस्तलिपिगताः पाठाः । 'ऊभ्रो' इति ग्रीफिथः ।

'धातः । ईशान ।' इति सायणाभिमतः पदच्छेदस्तदनुसारं च 'धात देहि प्रगच्छेति' अर्थोल्लेखः ।

ईशान यह रुद्र के आठ रूपों में से एक रूप है जिसको 'विद्युत्' कहा जाता है।

न घ्रंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः ।
आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम् ॥२॥

भा०—(घ्रन्) घाम या ग्रीष्मकाल का प्रचण्ड सूर्य, (न ताप) भूमि को जब अधिक न तपा रहा हो और जब (हिमः) हिम, पाला, अति शीत भी (न जघान) पीड़ित न करे तब (पृथिवी) यह पृथिवी क्षेत्रभूमि (जीरदानुः) जीवनप्रद, अन्न का प्रदान करने योग्य होकर (प्रनभताम्) अच्छी रूप से तैयार की जाय और तभी (आपः) जल-धाराएं (चित्) भी (अस्मै) इस भूमिपति या क्षेत्रपाल को (घृतम्) घी या आयु और बलप्रद अन्न ही मानो (क्षरन्ति) बहाते हैं। ठीक भी है क्योंकि (यत्र) जहां (सोमः) सोम, जल वर्षाने वाला मेघ बरसता है (तत्र) वहां (सदम् इत्) सदा ही (भद्रम्) सुख, कल्याण और सुभिक्ष रहा करता है।



[१९ (२०)] प्रजापति से पुष्टि की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । जगती छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः ।
सं जानानाः संमनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु ॥१॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजाओं का पालक परमेश्वर (इमाः प्रजाः) इन प्रजाओं को (जनयति) प्रथम उत्पन्न करता है और फिर (सुमनस्य-

२—(द्वि०) 'प्र सदस्यते' (तृ०) 'अस्मै सदम्' इति पैप्प० सं०।

[१६] १—(प्र०) 'आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिः' (तृ०) संवत्सर ऋतुभिः संविदानः इति मै० स०। (तृ०) 'सयोनीः' इति ह्विटिकामितः।

ामनः) उन सबके प्रति उत्तम कल्याणमय चित्त होकर वही प्रजापति उनका (धाता) धारण और पोषण करने वाला होकर (इमाः) इन प्रजाओं को (दधातु) पुष्ट करता है और (स-योनयः) एक ही मूल-स्थान, योनिस्थान, गर्भाशय में उत्पन्न होने वाली प्रजाएं (सं-जानानः) समान ज्ञान और (स-मनसः) एक ही चित्त वाली होती हैं। (पुष्ट-पतिः) पोषण क्रिया का स्वामी परमेश्वर (मयि) मुझमें (पुष्टं) पुष्टि (दधातु) दे। राष्ट्रपक्ष में—प्रजापति=गृहस्थ प्रजाओं को उत्पन्न करे उनको, धाता पालक दुग्धादि से पोषण करे, और वे प्रजाएं (सयोनयः) एक ही विद्यायोनि, गुरु के पास रहकर समानज्ञान और समानचित्त होकर रहें और (पुष्ट-पतिः) पोषणकर्त्ता अन्नादि पोषण द्रव्यों का अधिष्ठाता (मयि) मुझमें (पुष्टं) पुष्टि (दधातु) प्रदान करे।



[२० (२१)] 'अनुमति' नाम सभा का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। अनुमतिर्देवता। १,२ अनुष्टुप्। ३ त्रिष्टुप्। ४ भुरिक्।
५,६ अतिशक्करगर्भा अनुष्टुप्। षडर्चं सूक्तम्॥

अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम्।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम॥ १॥

यजु० ३४। ९॥

भा०—(अद्य) अब, वर्त्तमान काल में, सदा (नः) हमारी (अनु-मतिः) एक दूसरे के अनुकूल हित साधना की मति, या सभे! (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में हमारे (यज्ञं) परस्पर संगति और सत्कर्म अनुष्ठान आदि कार्य की (अनुमन्यताम्) सदा आज्ञा दे। इस प्रकार

[२०] १-(द्वि०) 'मन्यन्ताम्' इति पैप्प० सं०। (च०) 'भवतं', 'दाशुषेमयः' मै० ब्रा०। 'दाशुषः' इति ह्विटनिकामितः।

परस्पर के हित चिन्तन करने वाली संस्था और (हव्य-वाहनः) ग्रहण करने योग्य विचारों को हम तक पहुँचाने वाला, (अग्निः च) अग्नि=हमारा अग्रणी, ज्ञानवान् नेता ये दोनों (मम) मेरे (दाशुषे) दानशील समाज-व्यवस्था के अनुकूल अपना भाग देने वाले पुरुष के लिये (भवताम्) उसको उपयोगी, हितकर पदार्थ प्राप्त कराने वाली होवे ।

अन्विदंनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ २ ॥

यजु० ३४ । ९ ॥

भा०—हे (अनु-मते) अनुज्ञा करनेहारी सभे ! (त्वम्) तू (इदम्) इस सब कार्य-व्यवस्था को (अनु मंससे) समाज की व्यवस्था और हित के अनुकूल विचार करती है। और (नः) हमारे लिये (शं च कृधि) कल्याण और सुखदायि कार्यों को करती है। हे (देवि) विद्वानों से बनी सभे ! (आ-हुतं) हमारे दिये (हव्यम्) धन और अन्न आदि पदार्थ को (जुषस्व) तू प्रेमपूर्वक स्वीकार कर और (नः) हमें (प्रजां) उत्तम सत् प्रजा का (ररास्व) प्रदान कर। इयं वा अनुमतिः, स यत्कर्म शक्नोति कर्त्तुम् यच्चिकीर्षति इयं हास्मै तदनुमन्यते । श० ५ । २ । ३ । ४ ॥ इयं वा अनुमतिः । इयमेवास्मै राज्यमनुमन्यते । तै० १ । ६ । १ । ४–५ ॥

जो आदमी जिस प्रकार का काम करने में समर्थ हो या जो कोई जिस काम को करना चाहता है। यह प्रतिनिधि सभा (पृथिवी) या लोकसभा उसकी अनुमति [अनुज्ञा=मंजूरी] देती है। 'अनुमति'

२–(प्र०) 'त्वंमन्यासै' इति यजु० । (त० च०) ईशस्तोकाय नो दधत् प्रण आयूंषि तारिषत् । इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'मांसिसे' इति सायणाभिमतः । (तृ०) 'क्रत्वे दक्षाय नः कृधि' इति यजु० ।

नामक लोक सभा ही इस राजा को राज्य के अधिकार प्रदान करती है। अनुमती राकेति देवपत्न्यौ इति नैरुक्ताः। अनुमतिरनुमननात्। निरु० दैवत० ५। ३। ८॥ देवों, विद्वानों को अपने में पालन करनेवाली सभा अनुमति और राका कहाती है। इसी निरुक्ति से, स्त्री भी 'अनुमति' और 'राका' कही जाती है। पुरुष अपने सब घर के कार्य अपनी स्त्री की अनुमति से करे। उसके पक्ष में—हे अनुमते स्त्रि ! तू हमें इस सब गृह कार्य में अनुमति दे और हमें सुख शान्ति प्रदान कर। हम पुरुषों के प्रदान किये धन अन्न वस्त्र आदि को स्वीकार कर और हे देवि ! उत्तम प्रजा को उत्पन्न कर। वेद की दृष्टि में देह, गृह, समाज, और राज्य और समस्त जगत् पांचों की रचना, कार्य और प्रवन्ध समान रूप से होनी उचित है। उन सबकी रचना के सिद्धान्तों का वर्णन भी समान शब्दों में वेद ने किया है।

अनु मन्यतामनुमन्यमानः प्रजावन्तं रयिमक्षीयमाणम्।
तस्य वयं हेडसि मापि भूम सुमृडीके अस्य सुमतौ स्याम॥३॥

भा०—जो (अनु-मन्यमानः) सब को अनुमति देने वाला पुरुष अधिकारी है वह हमें (आक्षीयमाणम्) कभी न नष्ट होने वाले, (प्रजा-वन्तम्) प्रजा से युक्त (रयिम्) धन, बल को प्राप्त करने के लिये (अनु=मन्यताम्) सदा अनुमति दिया करे, इस से विपरीत नहीं। (तस्य) उस पुरुष के (हेडसि) क्रोध के पात्र (वयं) हम प्रजा या स्त्रीजन (मा अपिभूम) कभी न हों (अस्य) उस के (सु-मृडीके) सुखकर कार्य और (सु-मतौ) उत्तम मति के अनुकूल (स्याम) रहें। पूर्व मन्त्रों में 'अमुमति

३--(अ०) "अनुमन्यमाना" (तृ०) 'तस्यै' इति सायणाभिमतः। 'मानाः' 'तस्या' इति पैप्प० सं०। (च०) 'सा नो देवी सुहवा शर्म यच्छतु' इति तै० सं०।

देवि' अर्थात् अनुज्ञापक सभा और स्त्री का वर्णन है इस मन्त्र में अनुज्ञापक अधिष्ठाता सभापति और गृहस्थ के पति पुरुष का वर्णन है। यजुर्वेद (३८ । ८, ९) में इसी पुमान् विद्वान् सभापति का वर्णन किया गया है (देखो महर्षि दयानन्द कृत यजुर्भाष्य) सायण के मत में इस मन्त्र में अनुमति कोई पुंदेवता है। फलतः पति पत्नी के कर्तव्य-निर्देश में स्त्री भी अपने आज्ञाकारी पति से प्रजा के हितकारी धन को प्राप्त करे और उस के क्रोध का पात्र न होकर उस की सुख-कर शुभ आज्ञा में रहा करे।

यत् ते नाम सुहवं सुप्रणीतेऽनुमते अनुमतं सुदानु ।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥४॥

भा०—उत्तम पत्नी से उत्तम सन्तान प्राप्त करने का उपदेश है। हे (सु-प्रनीते) उत्तम रीति से गृहस्थकार्य में प्रवृत्त (अनु-मते) पति के अनुकूल चित्तवाली स्त्रि ! (यत्) क्योंकि (ते) तेरा (नाम) नाम और रूप (अनु-मतम्) अनुकूल रूप से अभिमत, (सु-दानु) उत्तम भाव प्रदान करनेवाला और (सु-हवम्) शुभ रूप से पुकारने योग्य है अथवा शुभ भाव उत्पन्न करने वाला है। हे (विश्व-वारे) समस्त लोकों से वरण करने योग्य शुभांगि ! (तेन) उस अपने शुभ रूप से (नः) हमारे (यज्ञम्) शुभ, गृहस्थ यज्ञ को (पिपृहि) पूर्ण कर और (नः) हमें, हे (सु-भगे) सौभाग्यवति ! (सु-वीरम्) उत्तम, वीर पुत्र सहित (रयिम्) यश और बल (धेहि) प्रदान कर।

स्त्रियों के शुभ नाम रखने चाहियें, वह गृहस्थ को सब कार्य पूरा करें और उत्तम सन्तान उत्पन्न करें। राष्ट्रपक्ष में—अनुमति सभा, उत्तम

४–(द्वि०) 'सुदावः' (तृ० च०) तेन त्वं सुमतिं देव्यस्म इषं पिन्व विश्ववारं सुवीरम्' । 'इति पैप्प० सं०' ।

रीति से बनायी जाये, उस के उद्देश्य उत्तम और नाम उत्तम हो, यज्ञ=जिसमें सब एकत्र हो उस के सब कार्यों को पूर्ण करें और वीर विद्वान् और यश को बढ़ावें ।

एमं यज्ञमनुमतिर्जगाम सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम् ।
भद्रा ह्यस्याः प्रमतिर्बभूव सेमं यज्ञमवतु देवगोपा ॥ ५ ॥

भा०—पुनः पत्नी का ही वर्णन करते हैं । (इमम् यज्ञम्) इस गृहस्थरूप यज्ञ को जिस में पति और पत्नी प्रेम से संगत होते हैं उस को (अनु-मतिः) अनुकूल चित्तवाली स्त्री (सु-क्षेत्रतायै) अपने उत्तम क्षेत्र को सफल करने के लिये और (सु-वीरतायै) उत्तम पुत्र उत्पन्न करने के लिये (आ जगाम) प्राप्त हो । तभी (सु-जातम्) यह यज्ञ उत्तम रीति से सुसम्पन्न होता है । (अस्याः) इस स्त्री की (वह) गृहस्थ के सम्पादन करने का (प्र-मतिः) श्रेष्ठ विचार (हि) निश्चय से (भद्रा बभूव) बड़ा कल्याणकारी होता है । (आ) वह स्त्री अवश्य (इमम्) इस (यज्ञम्) गृहस्थ रूप श्रेष्ठ यज्ञ की (देवगोपा) विद्वानों और राजगणों से सुरक्षित रह कर (अवतु) रक्षा करे । राष्ट्रपक्ष में—सभा और राजा और राष्ट्र के अधिकारी कार्यकर्त्ताओं के लिये क्षेत्र तय्यार करें और उत्तम वीर कार्यकर्त्ता तैयार करे, उत्तम कल्याणकारी विचार और कार्य करने की स्कीम तय्यार करे और यज्ञ=राष्ट्र की रक्षा करे ।

अनुमतिः सर्वमिदं बभूव यत् तिष्ठति चरति यदु च विश्वमेजति ।
तस्यास्ते देवि सुमतौ स्यामानुमते अनु हि मंससे नः ॥ ६ ॥

५–(प्र० द्वि०) 'आ नो देव्यनुमतिर्जगम्यात् सुक्षत्रा विरताया सुजाता' (च०) स इमं यज्ञं भवतु नेवजुष्टा [यज्ञमवतु देवजुष्टम्] इति पैप्प० सं० 'सुक्षेत्रसुवीरतायै सु जाता' इति लैन्मनकामितः । 'अनुमतिर्विश्वमिदं जजान' (द्वि०) 'यदेजति चरति यच्च तिष्ठति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—इस ईश्वरीय विराट् अनुमति का स्वरूप दर्शाते हैं—(यत्) जो (तिष्ठति) स्थिर रूप से विद्यमान है। (चरति) जो चल रहा है, गति कर रहा है, (यद् उ च विश्वम् एजति) और जो भी इस समस्त संसार को चला रहा है, (सर्वम् इदम्) यह सब (अनु-मतिः बभूव) 'अनुमति' ही है। उसी की आज्ञा से चलता है और खड़ा है। हे (देवि) दिव्य प्रकाश और गतिदायक शक्ति ! (तस्याः ते) उस तेरी (सु-मतौ) शुभ, कल्याणकारी उत्तम गति, ज्ञान, में हम (स्याम) रहें। हे (अनु-मते) सबकी आज्ञापक ! (नः) हमें भी तू ही (अनु मंससे) सब कार्य करने की आज्ञा देती है।



[२१ (२२)] प्रभु की उपासना ।

ब्रह्मा ऋषिः । आत्मा देवता । शक्वरीविराड्गर्भा जगती । एकर्चं सूक्तम् ॥

सुमेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम् ।
स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्त्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु ॥१॥

भा०—हे लोगो ! (विश्वे) आप सब लोग (दिवः) समस्त प्रकाश और इस महान् द्यौलोक के (पतिं) परिपालक उस प्रभु के पास (वचसा) वाणी द्वारा (सम्-एत) एकत्र होकर शरण में आओ। वह (एकः) एक है, (जनानाम्) समस्त जीवों और प्राणियों में (अतिथिः) व्यापक उनका अतिथि के समान पूजनीय है। (सः) वह सब से (पूर्व्यः) पूर्व विद्यमान, सब का पितामह, उत्पादक पुराण, आदि कारण (नूतनम्) अपने से उत्पन्न कार्यरूप जगत् को (आ-

[२१] १–'समेत विश्वा ओजसा' (द्वि०) 'य एकइद् भूरति–' (तृ०) नूतनम् जीगिषम्' (च०) 'वर्त्तनीर–' । पुरु इति पदं नास्ति साम० ।

विवासत्) प्रकट करता और उसको व्याप्त करता है (तम्) उस (एकम्) एकमात्र आदिकारण को ही (पुरु) नाना प्रकार के (वर्त्तनिः) मार्ग या लोक (अनुवावृते) पहुँचते हैं ।



[२२ (२३)] ज्ञानदाता ईश्वर ।

ब्रह्मा ऋषिः । मन्त्रोक्तो ब्रध्नो देवता । १ द्विपदैकावसाना विराड् गायत्री । २ त्रिपाद् अनुष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ।

अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि ॥१॥

साम० १ । ४५८ ॥

भा०—(अयं) यह परमेश्वर (सहस्रम्) सहस्र=बलवान्, सर्वशक्तिमान्, (मतिः) मननयोग्य, मति, विचार=ज्ञानस्वरूप, (विधर्मणि ज्योतिः) नाना प्रकार के या विशेष धर्म=आत्मा में ज्योतिरूप से प्रकाशमान होकर (नः) हमें (कवीनां) क्रान्तदर्शी ऋषियों को (दृशे आ) साक्षात् होता है, उनको ज्ञान प्रदान करता है ।

ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन् ।
अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ॥२॥

भा०—सूर्य जिस प्रकार अपनी प्रातःकालीन स्वच्छ, उत्तम कान्तियुक्त दिन को प्रकाशित करनेवाली उषाओं को प्रतिदिन प्रेरित करता है उसी प्रकार आत्मा भी अपनी दीप्तियुक्त, निष्पाप, ज्ञानमय, दीप्तियुक्त ज्योतिष्मती प्रज्ञाओं को प्रेरित करता है। जिस प्रकार (ब्रध्नः) सूर्य (अरेपसः) मल, दोष से रहित, (स-चेतसः) ज्ञानसहित, सदृश, मनोहर (स्व-सरे

---

[२२] १–(प्र०) 'आन्वोदृशः' (च०) 'विधर्म' इति साम० । 'आनोऋषिः कवीनामादीतिह ।' इति पैप्प० सं० ।

२–'मन्युमन्ताश्चितागोः' इति साम० ।

मन्युमत्-तमाः) दिन के समय अति प्रकाशमय (समीचीः) उत्तम,सुहावनी (उषसः) उषाओं को (गोः चिते) जंगम, पृथिवी के पदार्थ दर्शाने के लिये (सम् एरयन्) उत्तमरीति से प्रकट करता है उसी प्रकार (व्रध्नः) प्राण, इन्द्रिय और मन को एकत्र बांधने वाला ध्यानवद्ध योगी, (गोः चिते) सर्वप्रेरक, परम प्रभु के दर्शन के लिये (स्व-सरे मन्युमत्-तमाः) अपने में व्यापक प्रभु में अति मननशील (अरेपसः) पाप, मल, विक्षेप से रहित (स-चेतसः) ज्ञान और चितिशक्ति से सम्पन्न, (समीची) उत्तम रीति से आत्मा को प्राप्त होनेवाली (उषसः) पाप या तामस आवरण को जला देने वाली, विशोढका ज्योतिष्मती प्रज्ञाओं को (सम् ऐरयन्) उत्तम रीति से प्रेरित करता है ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि नव, ऋचश्च द्वाविंशतिः]



[२३ (२४)] बुरे विचार और बुरे आचार का त्याग ।

यम ऋषिः । दुःस्वप्ननाशनो देवता । अनुष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ।

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः ।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥१॥

अथर्व० ४ । १७ । ५ ॥

भा०—हम (दौः-स्वप्न्यम्) बुरे स्वप्नों का आना (दौः-जीवित्यं) दुःख से जीवन का बीतना, जीवन में बुरे भाव, बुरे आचार और हीनता का होना, और (रक्षः) धर्म-कार्य में विघ्नों का होना, तथा (अभ्वम्) जीवन काल में सामर्थ्य का न रहना और (अराय्यः) समृद्धि सम्पत्ति, और उत्तम गुणों रहित दुष्टवृत्तियां और (दुः-नाम्नीः) बुरे व निन्दित

नाम वाली और (दुःवाचः) दुष्ट वाणी बोलने वाली सब हीन मानस वृत्तियों को हम (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि) दूर करें ।

इसकी व्याख्या (४।१७।५) में भी कर आये हैं । वहां इस ऋचा का शुक्र ऋषि और अपामार्ग देवता है ।



[२४ (२५)] सर्वप्रद प्रभु ।

ब्रह्मऋषिः । सविता देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

यन्न इन्द्रो अखनद् यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत् स्वर्काः ।
तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात् ॥१॥

भा०—(यत्) जो फल, (नः) हमें (इन्द्रः) इन्द्र, राजा, (अग्निः) ज्ञानवान् राजा का भी अग्रणी, पुरोहित आचार्य, (विश्वे देवाः) राष्ट्र के और समस्त शक्तिधारी, विद्वान् अधिकारी (मरुतः) मरुद्गण, वेगवान् सुभट, वीर पुरुष और (सु-अर्काः) उत्तम ज्ञानी, प्रकाशवान् शक्तिमान् वैज्ञानिक लोग (अखनत्) खोद कर गुप्त २ स्थान से ला ला कर हमें देते हैं (तत्) उस वस्तु को वास्तव में हमें (सत्य-धर्मा) सत्य का धारण करने वाला (प्रजा-पतिः) सब प्रजा का परिपालक स्वामी, (सविता) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक (अनु-मतिः) सब का अनुज्ञापक प्रभु ही (नि यच्छात्) दिया करता है ।



[२५ (२६)] विष्णु और वरुण रूप परमेश्वर का सबसे पूर्व स्मरण ।

मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्वरुणश्च देवते । १, २ त्रिष्टुभौ द्व्यृचं सूक्तम् ॥

[२४] १–(प्र०) 'असनत्' इति सायणाभिमतः । 'अषनत्' इति क्वचित् ।

यय़ोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यै/र्वीरतमा शविष्ठा ।
यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥१॥

यजु० ८ । ५६ ॥

भा०—(ययोः) जिन दोनों के (ओजसा) बल से (रजांसि) लोक (स्कभिता) थमे हुए अपने अपने स्थान स्थिर हैं और (यौ) जो दोनों (शविष्ठा) अति बलवान् और (वीर्यैः) नाना बलों से (वीर-तमा) सब में अधिक वीर, वीर्यवान्, सब के प्रेरक हैं, और (यौ) जो दोनों (सहोभिः) अपने दूसरों को दमन करने वाले बलों से (अप्रतीतौ=अप्रति-इतौ) इतने बढ़े हुए हैं कि उनके बराबरी कोई नहीं कर सकता इसीलिये वे ही (पत्येते) समस्त संसार के पालक स्वामी के समान ईश्वर बने हुए हैं उन दोनों (विष्णुम्) विष्णु और (वरुणम्) वरुण को (पूर्वहुतिः अगन्) हमारी सब से प्रथम पुकार स्मरण या नाम कीर्त्तन पहुँचे। अर्थात् सब से प्रथम हम उन दोनों शक्तियों का स्मरण करें।

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते प्रचानति वि च चष्टे शचीभिः ।
पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥ २ ॥

भा०—उक्त दोनों शक्तियों को और अधिक स्पष्ट करते हैं। इस विशाल संसार में (यस्य प्र-दिशि) जिसके शासन में (इदं) यह समस्त विश्व (वि-रोचते) नाना प्रकार से शोभा पा रहा है (प्र अनति च) और उत्तम रूप से प्राण धारण करता है, जीवित रहता है और (शचीभिः च विचष्टे) नाना शक्तियों से प्रेरित होकर नाना प्रकार के पदार्थों को

[२५] १–(द्वि०) 'वीरेभिः' (तृ०) 'या', 'अप्रतीता' इति मै० सं० । (द्वि०) 'शविष्ठा', 'अप्रतीत्ता' इति तै० ब्रा० । (प्र०) 'स्तंभिता' (द्वि०) शचीभिः' इति पैप्प० सं० ।

२–(तृ०) 'ययोर्महो ऋतस्य धर्मणा युवाना' । इति पैप्प० सं० ।

देखता, पाता, अनुभव करता है। और जिस (देवस्य) सर्व प्रकाशक, सर्व शक्ति के प्रदाता, प्रभु परमात्मा के (धर्मणा) धारक बल और (सहोभिः) दमनकारी बलों से (पुरा) पूर्व कल्पों में भी यह जगत् उसके शासन में रहा, प्राण लेता रहा, और नाना शक्तियों से नाना फल प्राप्त करता रहा वह शक्ति विष्णु और वरुण हैं ये। दोनों उसी के नाम हैं। उस (विष्णुम् वरुणम्) व्यापक और कष्टनिवारक प्रभु को (पूर्व-हूतिः) सब से प्रथम हमारा स्मरण, नाम ग्रहण (अगन्) प्राप्त हो।



[२६ (२७)] व्यापक प्रभु की स्तुति।

मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्देवता । १ त्रिष्टुप् । २ त्रिपदा विराड् गायत्री । ३ त्र्यवसाना षट्पदा विराट् शक्करी । ४-७ गायत्र्यः । ८ त्रिष्टुप् । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

विष्णोर्नु कं प्र वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥१॥

यजु० ५ । १८ ॥ ऋ० १ । १५४ । १ ॥

भा०—(विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (वीर्याणि) बल, शक्ति पूर्वक किये विशाल कार्यों को (नु कम्) शीघ्र ही, यथाशक्ति (प्र वोचम्) उत्तम रूपसे विस्तार से कहूं (यः) जो प्रभु (पार्थिवानि) पृथिवी=तीनों लोकों में विदित या तीनों लोकों के घटक (रजांसि) प्रकृति के रजोगुण से युक्त क्रियावान्, दीप्तिमान् सूर्य आदि गतिमान् लोकों को (वि-ममे) नाना प्रकार से बनाता है और (यः) जो (उत्तरम्) उससे भी उत्कृष्ट या उससे पूर्व विद्यमान (सधस्थम्) उन लोकों के साथ नित्य सम्बन्ध से

---

[२६] १–यजुषि ऋग्वेदे च औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । (प्र०) 'वीर्याणि प्रवोचं' इति ऋ० ।

रहने वाले, कारणरूप प्रकृति तत्व को या द्यौलोक को (त्रेधा) तीन प्रकार के तीन गुणों द्वारा (वि-चक्रमाणः) व्यापक होकर (अस्कभायत्) वश किये हुए है। वही परमात्मा (उरुगायः) सब बड़े २ महात्माओं से गाया जाता है या वही वेद द्वारा बहुत से पदार्थों का ज्ञानोपदेश करता है।

प्र तद् विष्णुं स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
परावत आ जगम्यात् परस्याः ॥२॥ यजु० ५। २० प्र० द्वि० ॥
ऋ० १। १५४। २ प्र० द्वि० ॥

भा०—(तत्) उस अलौकिक परमब्रह्म के ही (वीर्याणि) शक्तिशाली कार्यों को देख कर (विष्णुः) उस व्यापक परमेश्वर की (स्तवते) स्तुति की जाती है। वही (भीमः मृगः न) भयानक सिंह के समान (कुचरः) सर्वव्यापक और (गिरिष्ठः) सब वेदवाणियों में विराजमान है। वह (परस्याः परावतः) दूर से दूर देश में विद्यमान हो कर भी वहां से हमारे हृदयों में (आ जगम्यात्) अति समीप ही विराजता है।

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।
उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर ॥ ३ ॥
(प्र०—च०) यजुः ५। १६। ऋ० १। १५४। १ ॥

भा०—(यस्य) जिस परमेश्वर के (उरुषु) विशाल (त्रिषु) तीनों (विक्रमणेषु) विक्रमों में या नाना प्रकार के क्रमों, सर्गों वाले तीनों प्रकार के जगतों में, ईश्वर के पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीनों प्रकार की रचनाओं में (विश्वा) समस्त (भुवना) लोक (अधि-क्षियन्ति) निवास करते हैं। हे (विष्णो) व्यापक परमेश्वर! आप (उरु) विशाल जगत् में (वि क्रमस्व) नाना प्रकार से व्यापक हो रहे हो, आप (नः)

२–(प्र०) 'वीर्येण' इति ऋ०।

हम जीवों के (क्षयाय) निवास के लिये ही (उरु) इन विशाल लोकों की (कृधि) रचना करते हो। हे (घृत-योने) समस्त क्षरणशील इस संसार के उत्पत्तिस्थान, आश्रय और आदिकारण अथवा घृत=तेजोमय सूर्यादि लोकों के आश्रय आप (घृतम्) इस समस्त तेजोराशि अथवा इस क्षरणशील विश्व संसार को (पिब) पान करते हो, प्रलय काल में ग्रस लेते हो और (यज्ञ-पतिं) यज्ञ=जीवनमय यज्ञ या देह में क्रतुमय इस जीव को (प्र-प्र तिर) पार करो।

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा। समूढमस्य पांसुरे ॥४॥

ऋ० १ । २२ । ७ ॥ यजु० ५ । १५ ॥ साम० उ० २ । २ । ५ ॥

भा०—(विष्णुः) व्यापक परमेश्वर ने (इदम्) यह समस्त जगत् (वि च क्रमे) नाना प्रकार से बनाया और उसमें स्वयं व्याप्त हुआ और (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदा) पदों, ज्ञान साधनों या विशेष शक्तियों को (नि दधे) गूढ़ रूप से धारण किया। और (अस्य) इसका परम शक्तिमय रूप (पांसुरे) लोकों से व्याप्त बल में यह समस्त विश्व (सम्-उढ़म्) स्थित है। इसकी आध्यात्मिक पक्ष में योजना देखो (साम० भाष्य पृ० ९२४) तथा (साम० भाष्य पृ० ७५९)।

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
इतो धर्माणि धारयन् ॥ ५ ॥

ऋ० १ । २२।१९ यजु० १३।४३॥

भा०—(गोपाः) समस्त गतिशील, लोकों और इन्द्रियों का पालक (अदाभ्यः) अविनाशी, नित्य, (विष्णुः) व्यापक, परमात्मा, (इतः) गति द्वारा ही (धर्माणि) समस्त लोकों को (धारयत्) धारण

४—(द्वि०) 'पदम्' इति ऋ० । 'पांसुले' इति सा० ।
५—(तृ०) 'अतः' इति ऋ० । 'ततः' इति तै० आ० ।

करता हुआ (त्रीणि) तीन (पदा) शक्तियों को (वि चक्रमे) सर्वत्र प्रेरित करता है।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पृशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ ॥

ऋ० १।२२।१९॥

भा०—(विष्णोः) सर्वव्यापक परमात्मा के (कर्माणि) आश्चर्यजनक कामों को (पश्यत) देखो (यतः) जिनसे जीव लोक (व्रतानि) सब ज्ञानों और कर्त्तव्य कर्मों को (पस्पशे) प्राप्त करता है। वह प्रभु ही (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (युज्यः) सदा साथ देनेवाला (सखा) परम मित्र है।

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ७ ॥

ऋ० १ । २२ । २० यजु । ६ । ५ ॥

भा०—(विष्णोः) सर्वव्यापक ईश्वर के (परमम् पदम्) सबसे उत्कृष्ट, परम मोक्ष पद को (सूरयः) विद्वान् लोग (सदा पश्यन्ति) सदा साक्षात् करते हैं वह परम ज्ञानमय मोक्षपद (दिवि) द्यौलोक, अन्तरिक्ष में (चक्षुः इव) सब पदार्थों के दर्शक सूर्य के समान अथवा (दिवि) प्रकाश में (चक्षुः इव) आँख के समान (आ-ततम्) खुला है। उससे पहुँच कर आत्मा को सब पदार्थों का साक्षात् ज्ञान हो जाता है। निरतिशयं सार्वज्ञवीजम्' । यो० सू० ॥

(त्रेधा नि दधे पदम्) समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसि इत्यौर्णवाभः । नि० ॥ प्राणा वै गयाः । श० १४।७।१।७॥ प्रजायाः शिर उत्तमो भागो यत् कारणं तद्विष्णुपदं विद्यादि धनानां यच्छिरः फलम् आनन्दः सोऽपि विष्णुपदाख्यः । तीन प्रकार का जगत्—(१) प्रकाश रहित पृथिवीमय

७–(द्वि०) 'शच्या' इति तै० स० ।

स्थूल (२) कारणरूप अदृश्य सूक्ष्म, (३) प्रकाशमय सूर्य आदिक। विष्णोः कर्माणि=जगत् का रचन, पालन और प्रलय आदि कर्म।

दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात्।
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात् ॥८॥

यजु० ५। १० ॥

भा०—हे (विष्णो) व्यापक परमेश्वर! आप (दिवः) द्यौलोक से (उत वा) और (पृथिव्याः) पृथिवी लोक से और (महः) बड़े (उरोः) विशाल (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष लोक से प्राप्त होने योग्य (बहुभिः) बहुत से (वसव्यैः) धनों से (हस्तौ) अपने ज्ञान और कर्म के दोनों हस्तों को (पृणस्व) भर लें और (दक्षिणात्) दायें (उत) और (सव्यात्) बायें, दोनों हाथों से (आ प्रयच्छ) हमें प्रदान करें।



[२७ (२८)] बुद्धिरूप कामधेनु का वर्णन।

मेधातिथिर्ऋषिः। इडा देवता। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम् ॥

इडैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः।
घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठोप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी ॥१॥

भा०—(इडा) श्रद्धा बुद्धि, सत्य धारण करने वाली बुद्धि रूप कामधेनु (एव) ही (अस्मान्) हमें (व्रतेन) ज्ञान और कर्म से

८–(प्र०) 'दिवोवा विष्ण' (द्वि०) 'महोवा' इति यजु०। (द्वि०) उरोर्वा विष्णो वृहतोऽन्तरिक्षात्' इति मै० सं०। 'उभा हि हस्ता वसुना पृणस्व' इति यजु०।

[२७] १–(प्र०) 'अनुघृतेन' (तृ०) 'वैश्वानरी शकरी वावृधाना।' इति, आप० श्रौ० सू०।

(अनु वस्ताम्) आच्छादित करे, सुशोभित करे, (यस्याः) जिसके (पदे) पद अर्थात् चरण, प्राप्ति और ज्ञान में (देवयन्तः) अपने को देव, उत्तम गुण सम्पन्न बनाने की चेष्टा करने वाले अथवा देव, ईश्वर और विद्वानों की उपासना करनेवाले लोग अपने को (पुनते) पवित्र कर लेते हैं। वह (घृतपदी) तेजोमय स्वरूप वाली, ज्ञानमयी, पद पद पर घृत के समान पुष्टिकारक, बुद्धिवर्धक पदार्थ को करनेवाली कामधेनु के समान (शक्करी) सब प्रकार से शक्तिमती, (सोम-पृष्ठा) सोम—आत्मा, और ब्रह्म को अपने पीठ पर धारण करनेवाली, आत्मा और ब्रह्मज्ञान की पोषक होकर (वैश्वदेवी) समस्त विद्वानों को हितकारक और आत्मा के सब इन्द्रियगण के लिये सुखकारी होकर (यज्ञम्) यज्ञ, शुभकर्म या परमात्मा में (अस्थित) स्थित है।



[२८ (२९)] कुशल को प्रार्थना।

मेधातिथिर्ऋषिः। वेदादयो देवताः। त्रिष्टुप् एकर्चं सूक्तम्॥

वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति।
हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुषन्ताम्॥१॥

भा०—(वेदः) वेद, पुरुष और दर्भमुष्टि (स्वस्तिः) हमें शुभ कल्याणकारी हो, (द्रुघणः) जिस पर बढ़ई लकड़ी रख कर काटता है वह लकड़ी का मुड़ भी (स्वस्ति) शुभकारी हो। (परशुः) लकड़ी काटने का फरसा और (वेदिः) यज्ञकी वेदी और (परशुः) घास काटने की दात्री ये पदार्थ भी (नः) हमें (स्वस्ति) शुभ और सुखकारी हों। (हविः-कृतः) अन्न हवि को तैयार करने वाले(यज्ञ-कामाः) यज्ञ के

[२८] १–(प्र० द्वि०) 'स्फ्यः स्वस्तिर्विघानः स्वस्तिः परशुर्वेदिः पाशुर्नः स्वस्तिः' इति तै० सं०।

अभिलाषी (यज्ञियाः) यज्ञ करने में कुशल (देवासः) विद्वान् लोग आकर (इमं यज्ञं जुषन्ताम्) इस यज्ञ को प्रेमपूर्वक सेवन करें ।

अध्यात्म में—वेद=पुरुष । द्रुवण=प्राण, परशु=ज्ञानवज्र, वेदि=चितिशक्ति । यज्ञिय=इन्द्रियें । यज्ञ=आत्मा ।



[२९ (३०)] अग्नि और विष्णु की स्तुति ।

मेधातिथिर्ऋषिः । अग्नाविष्णू देवते । १, २ त्रिष्टुभौ । द्व्यृचं सूक्तम् ।

अग्नाविष्णू महि तद् वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम ।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमाचरण्यात् ॥१॥

भा०—हे (अग्नाविष्णू) अग्ने ! और हे विष्णो ! (वां) तुम दोनों का (तद्) वह अपूर्व (महि) बड़ा (महित्वं) यश है कि आप दोनों (गुह्यस्य) गुहा में स्थित, सुगूढ़ (घृतस्य) प्रस्रवण करने वाले, तेजोमय, सार पदार्थ के (नाम) स्वरूप को (पाथः) पान करते हो, अपने भीतर उसको धारण करते हो । आप दोनों (दमे-दमे) घर २ में (सप्त) सात (रत्ना) रमण करने योग्य शक्तियों को (दधानौ) धारण करते हो । (वां) तुम दोनों की (जिह्वा) जीभ (प्रति घृतम्) प्रत्येक घृत को (आचरण्यात्) आस्वादन करती है ।

अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ ।
दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात् ॥ २॥

भा०—हे (अग्नाविष्णू) अग्ने और विष्णो ! (वां) आप दोनों का (महि) बड़ा (प्रियम्) मनोहर (धाम) तेज और धारण सामर्थ्य है । और आप दोनों (घृतस्य) ज्योतिर्मय आत्मा के (गुह्या) गुह्य, गूढ़

(द्वि०) 'पातम्' इति शा० श्रौ० सू० । 'महित्वं वीताम्', 'गुह्यानि' (च०) 'चरण्येत्' इति तै० सं० । 'चरण्यत्', 'उपवां' शां० श्रौ० सू० ।

रहस्यमय तत्वों को, ज्ञानमय और कर्ममय रहस्यों को (जुपाणौ) सेवन करते हुए (वीथः) उनको प्राप्त करते हो । (दमे-दमे) प्रत्येक घर या देह में (सु-स्तुत्या) उत्तम स्तुति, ज्ञानशक्ति से (वव्रृधानौ) वृद्धि को प्राप्त होते रहते हो । (वां) आप दोनों की (जिह्वा) जिह्वा, आदान शक्ति (प्रति घृतम्) प्रत्येक घृत, तेजोमय उल्लास को (उत् चरण्यात्) प्राप्त करे । राष्ट्र में अग्नि-विष्णु=राजा, मन्त्री, राजा सेनापति, गृहस्थ में अग्नि-विष्णु=यजमान और पुरोहित । आधिदैविक में अग्नि-विष्णु=अग्नि और सूर्य ।



[३० (३१)] ज्ञानाञ्जन ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । द्यावापृथिव्यौ, मित्रो ब्रह्मणस्पतिः, सविता च देवताः । बृहती छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम् ।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत् ॥ १ ॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी माता और पिता (मे) मेरी आंखों को (सु-आक्तम्) उत्तम रीति से अञ्जन करें, मुझे सब बातें खोल कर स्पष्ट रूप से बतलावें । (मित्रः) स्नेह करने वाला (अयम्) यह लोक भी (मे सु-आक्तं) मेरे आँखों में ज्ञान का उत्तम अञ्जन लगावें । वे भी मेरे आगे सब बातें स्पष्ट रखें । (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्मवेदका परिपालक आचार्य भी (मे सु-आक्तं) मेरे आँखों में ज्ञान का अञ्जन करे, मुझे सब ज्ञान स्पष्ट रीति से उपदेश करे । (सविता) सब का उत्पादक प्रेरक

(द्वि०) 'जुषाणा' इति बहुत्र । (तृ०) 'वावृधाना' इति त० सं० । 'सुष्टुती' इति मै० सं० । 'सुष्टुतीर्वामियाना' इति आ० श्रौ० सू० । (द्वि०) 'पातं घृतस्य गुह्यां जुषाणः' इति पैप्प० सं० । (तृ० च०) 'दमे दमे सामिधं यद्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत् ।' इति यजु० ८ । २४ ।

परमात्मा भी (मे सु-आक्तं) मेरे हृदय के नेत्रों में अञ्जन लगा कर उनको दीर्घदर्शी करे। इस मन्त्र से ब्रह्मचारी की आँख में अंजन लगाने का विनियोग है।



[३१ (३२)] अपनी उन्नति के साथ द्वेषी के क्षय की प्रार्थना।

भृग्वंगिरा ऋषिः। आयुर्देवता। अनुष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठाभिर्मघवञ्छूर जिन्व।
यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु ॥१॥

ऋ० ३। ५३। २१॥

भा०—हे इन्द्र राजन्! हे (शूर) बलवान् शक्तिमन्! (यावत्-श्रेष्ठाभिः) अति अधिक श्रेष्ठ, समस्त (बहुलाभिः) नाना प्रकार की (ऊतिभिः) रक्षा करने की विधियों से (नः) हमें (अद्य) आज, सदा ही (जिन्व) जीवित रख, हमारे जीवन की रक्षा कर। और (नः) हमसे (यः) जो (द्वेष्टि) द्वेष करे, प्रेम का वर्त्ताव न करे (सः) वह (अधरः) नीचे ही नीचे (पदीष्ट) चलता चला जावे। और (यम् उ) जिसको (द्विष्मः) हम द्वेष करें (तम् उ) उसको (प्राणः जहातु) प्राण छोड़ दे, वह जीवित न रहे।



[३२ (३३)] दीर्घ आयु प्राप्ति की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। आयुर्देवता। अनुष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

उप प्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम्।
अगन्म बिभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥१॥

ऋ० ९। ६७। २॥

[३१] १—(द्वि०) 'याच्छ्रेष्ठाभिर्म' इति ऋ०।

[३२] १—'दीर्घमायुः कृणोतु मे' इति चतुर्थः पादो ऋग्वेदे नास्ति।

भा०—हम (प्रियं) अपने को प्रिय लगाने वाले (पनिष्नतम्) सदा क्रियाशील, नित्य प्रयोग में आने वाले (युवानम्) सदा तरुण, नित्य नये, प्रबल (आहुती-वृधम्) आहुति पड़ने पर बढ़ने वाले हम लोग (नमः बिभ्रतः) अन्न को धारण करके अग्नि, जाठर अग्नि के (उप अगन्म) समीप प्राप्त हों। इससे वह प्रबल जाठर अग्नि (मे) मेरी (दीर्घम् आयुः) दीर्घ आयु (कृणोतु) करे। मन्दाग्नि में अन्न का भोजन करना आयुनाशक है। प्रबल जाठर अग्नि के होते हुए भूख लगने पर अन्न खाने से आयुष्य बढ़ता है।

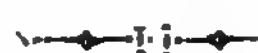


[३३ (३४)] दीर्घायु की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। मरुतः पूषा अग्निश्च मन्त्रोक्ता देवताः। पथ्यापंक्तिश्छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः।
सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥१॥

भा०—(मरुतः) प्राण अपान, व्यान समान, उदान आदि शरीर-व्यापी मरुत्गण और शुद्ध वायुएं (पूषा) पुष्टिकारक मन और सूर्य, (बृहस्पतिः) बृहती वाणी का पति आत्मा या परमात्मा और (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि=अग्नि जाठर अग्नि (मां) मुझे (प्रजया) प्रजा से और (धनेन च) धन से (सं सिञ्चन्तु, सं, सं, सं सिञ्च) अच्छी प्रकार सेचें मुझे प्रदान करें और (मे) मेरी (आयुः) आयु को भी (दीर्घम्) लम्बा (कृणोतु) करें, बढ़ावें।



[३३] १–(द्वि०) 'स इन्द्रः' (प्र०) 'सं वः' (तृ०) 'सिञ्च आयुषा च बलेन च' इति तै० आ०।

[३४ (३५)] शत्रु पराजय की प्रार्थना।

अथर्वा परमेष्ठी च ऋषिः । जातवेदो देवता । जगती छन्दः । एकर्च सूक्तम् ।

अग्ने जातान् प्र णुदा मे सपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व ।
अधस्पदं कृणुष्व ये पृतन्यवोनागसस्ते वयमदितये स्याम ॥१॥

पूर्वार्धः, यजु० १५ । १ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! विद्वन्! राजन्! प्रभो! तू (मे) मेरे (जातान्) उत्पन्न हुए (स-पत्नान्) शत्रुओं को (प्रणुद) दूर कर। और हे (जात-वेदः) समस्त उत्पन्न हुए पदार्थों को जानने हारे विद्वन्! (अजातान्) तू उन को भी जो अभी शत्रु बने नहीं हुए प्रत्युत उनके शत्रु बन जाने के लक्षण दीख रहे हों उन को भी (प्रति नुदस्व) दूर कर। और (ये) जो (पृतन्यवः) पृतना=सेना लेकर मुझ पर चढ़ाई करने के उद्योग में हैं उनको (अधः पदम्) मेरे चरण के नीचे, या मेरे से नीचे स्थान पर, मेरे से कम योग्यता और कम मान, प्रतिष्ठा वाला (कृणुष्व) कर। (ते अदितये) तुझ अखण्डनीय शासन करने वाले राजा के लिये (वयम्) हम प्रजागण सदा (अनागसः) निरपराध (स्याम) रहें।



[३५ (३६)] शत्रु पराजय की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः । जातवेदा देवता । १ जगती छन्दः । २,३ त्रिष्टुभौ । तृचं सूक्तम् ॥

[३४] १–"प्रणुद नः सपत्नात्", 'नुद जातवेद' इति यजु०। उत्तरार्धस्तु यजुषि 'अधि नो ब्रूहि सुमना अहेडंस्तवस्याम शर्मस्त्रिवरूथ उद्भौ।' इति यजु०।

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व ।
इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्वे एनमनु मदन्तु देवाः ॥१॥

पूर्वार्धः यजु० १५ । २ ॥

भा०—हे अग्निस्वरूप (जात-वेदः) अपने उत्पन्न शत्रु और मित्र सब को भली प्रकार से जानने वाले प्रभो ! राजन् ! तू (अन्यान्) अपने राष्ट्र के प्रजाजनों से भिन्न (स-पत्नान्) तेरे समान तेरे राष्ट्र पर अपना आधिपत्य जनाने का दावा करने वाले शत्रुगण को (सहसा) बलपूर्वक (प्रहस्व) अच्छी प्रकार दवा और (अजातान्) और अप्रकट शत्रुओं को (प्रनुदस्व) दूर कर दे और (सौभगाय) और उत्तम धन धान्य समृद्धि के लिये (राष्ट्रं) इस राष्ट्र को (पिपृहि) पालन कर और सब को सन्तुष्ट कर । जिससे (एनं) इस राजा को (देवाः) समस्त विद्वान् लोग शिल्पी गण, विद्या, शिल्प, धन धान्य से सम्पन्न शक्तिमान् लोग (विश्वे) सब प्रजाएं भी (अनु मदन्तु) इसके उत्तम शासन से प्रसन्न होकर इसे आशीर्वाद दें ।

इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत ।
तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् ॥२॥

भा०—(इमाः) ये (या) जो (ते) तेरी (शतं) सौ सैकड़ों (उत) और (सहस्रम्) हजारों (धमनीः) धमनी, स्थूल नाड़ियां हैं (तासां) उन (सर्वासां) सबके (बिलम्) मुख, छिद्र को (अहम्) मैं (अश्मना) पत्थर से, पत्थर के समान कठोर प्रतिबन्ध से (अपि अधाम्) बन्द करता हूं । शरीर की नाड़ियों और धमनियों के समान राजा के शक्ति

[३५] —'सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नान्' इति यजु० ॥ (च०) अनु त्वा देवाः सर्वे जुषन्ताम्' इति पैप्प० सं० ।

२–(तृ०) 'सर्वासां साकम्' इति पैप्प० सं० ।

प्राप्ति करने और प्रजा को चूसने के सैकड़ों, छोटे बड़े साधन हैं उनको कठोर प्रतिबन्ध से रोकना चाहिये ।

परं योनेरवरं ते कृणोमि मा त्वा प्रजाभि भून्मोत सूनुः ।
अस्वं त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि ॥३॥

भा०—(ते) तेरे (योनेः) पद या स्थान या आश्रय के (परं) उत्कृष्ट, सबसे उन्नत पदको मैं प्रजा का मुख्य प्रतिनिधि (अवरम्) कुछ नीचा (कृणोमि) करता हूं और फिर भी (त्वा) मुझे (प्र-जा) प्रजा (उत) और (सूनुः) तेरा पुत्रः अथवा तेरा प्रेरक मन्त्री आदि भी (मा मा अभि भून्) तेरा तिरस्कार न करे । (त्वा) तुझको मैं (अस्वं) स्व-धनसे रहित और (प्रजसं) प्रजा पुत्र आदि से रहित (कृणोमि) करता हूं । (ते) तेरे (अपि-धानं) चारों तरफ़ का आवरण (अश्मानं) पत्थर का (कृणोमि) बनाता हूं ।

राजा की सर्वोत्कृष्ट पदवी पुरोहित से नीचे रहे । प्रजा और मन्त्रि और राजकुमार आदि राजा का अपमान न करें । राजा का अपना कोई धन या जायदाद नहीं । प्रजा और राष्ट्र ही उसकी सार्वजनिक जायदाद है । उसका पुत्र कोई उसका निजी पुत्र नहीं, प्रत्युत वह भी उसकी सामान्य प्रजा के समान है । वह राजा पुत्र होने से राज्य का स्वामी नहीं हो सकता । राजा का पुत्र राजा नहीं इसमें एक पत्थर के समान दृढ़ या अभेद्य है अर्थात् यह नियम खूब कठोर होना चाहिये । २, ३ इन दोनों मन्त्रों को सायण ने प्रद्वेषिणी स्त्री के गर्भ-निरोध-परक लगाया है । ग्रीफ़िथ ने इन दोनों मन्त्रों को अश्लील जानकर अर्थ नहीं किया । परन्तु अथर्व-सर्वानुक्रमणी के अनुसार इन दोनों का देवता पूर्वमन्त्रानुसार जातवेदाः [राजा] है ।



३–'अश्वां त्वा अप्रजसं' इति सायणाभिमतः ।

[३६ (३७)] पति पत्नी की परस्पर प्रेम-वृद्धि की साधना ।

अथर्वा ऋषिः । अक्षि देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अक्ष्यौ/नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम् ।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति ॥१॥

भा०—वर वधू, पति पत्नी परस्पर प्रेम-व्यवहार बढ़ाने के लिए उक्त विचार सदा अपने चित्त में करें। हम पति और पत्नी हैं (नौ) हमारी (अक्ष्यौ) आँखें (मधु-संकाशे) मधुर मधु के समान प्रेममय अमृत से सिंची है । (नौ) हमारा (सम्-अञ्जनं) एक दूसरे के प्रति निःसंकोच व्यवहार और चित्त के भावों का स्पष्ट रूप में प्रकाश करना और परस्पर मिलना भी (अनीकम्) सुखपूर्ण, जीवन-दायक हो । हे प्रियतम ! और प्रियतमे ! (मां) मुझको तू (अन्तः हृदि) भीतर हृदय में (कृणुष्व) रख ले और (नौ) हम दोनों का (मनः इत्) मन भी (सह असति) सदा साथ रहे ।



[३७ (३८)] पतिपत्नी के परस्पर प्रेम-वृद्धि की साधना ।

अथर्वा ऋषिः । पतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा ।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥१॥

भा०—हे प्रियतम ! हे मेरी प्रियतमा स्त्री ! (मम) अपने (मनु-जातेन) मनु=मनन, दृढ़ संकल्प से बने, (वाससाः) अपने अच्छादन करने वाले वस्त्र से (त्वा) तुझको (अभि दधामि) बांधती हूं । (यथा) जिस से तू (केवलः) केवल, एकमात्र पति (मम असः) मेरे अतिरिक्त दूसरी स्त्रियों के विषय में (न चन कीर्त्तयाः) कभी बात भी न किया कर ।

[३६] (प्र०) 'अक्षौ' इति सायणाभिमतः ।

[३८ (३९)] स्वयंवर-विधान ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १, २, ४, ५ अनुष्टुप् ।
३ चतुष्पादुष्णिक् । पञ्चर्च सूक्तम् ।

इदं खनामि भेषजं मांपश्यमभिरोरुदम् ।
परायतो निवर्तनमायतः प्रतिनन्दनम् ॥१॥

भा०—मैं स्त्री (इदं) इस (भेषजं) रोग और अपने दुःख को दूर करने वाली औषध को (खनामि) खोदती हूं । यह औषध ऐसी है कि (मां-पश्यम्) जो पुरुष मुझे देखेगा यह ओषधि इसी (अभि-रोरुदम्[1]) दूर जाने से रोक कर खड़ा कर लेगी और यदि वह दूर भी चला जाय तो (परायतः) दूर के देश से भी (निवर्त्तनम्) उसे लौटा लेगी, (आयतः) और मेरे प्रति आते हुए पुरुष को (प्रति नन्दनम्) प्रसन्न कर देगी । स्वयंवरात कन्या आसुरी नामक दिव्य ओषधि को इस कल्प से स्वयं धारण करती है ।

येना निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यस्परि ।
तेना नि कुर्वे त्वा महं यथा तेसानि सुप्रिया ॥२॥

भा०—(आसुरी) आसुरी नामक ओषधि या प्राणशक्ति (येन) जिस प्रभाव से (देवेभ्यः) इन्द्रियों के (परि) ऊपर (इन्द्रं) इन्द्र=आत्मा को (नि चक्रे) बलशाली करती है । हे पुरुष ! (तेन) उसी बलसे (अहं) मैं स्वयंवरा कन्या स्वयं (त्वाम्) तुझ को (नि कुर्वे) सर्वथा अपने पर अधिकारी बनाती हूं । (यथा) जिससे (ते) तेरी मैं (सु-प्रिया) बहुत प्यारी (असानि) हो जाऊं ।

---

[३८] १–'साम्पश्यम्' इति क्वचित्, वेवरकामितश्च ।
२–पत्याः अन्यनारी संसर्गभाभितोनिरुन्धदिति सायणः ।

प्रतीची सोममसि प्रतीच्युत सूर्यम् ।
प्रतीची विश्वान्देवान् तां त्वाच्छावदामसि ॥३॥

भा०—पुरुष कन्या के प्रति कहते हैं। (सोमं प्रतीची असि) तू सौम्यगुण युक्त पुरुष के प्रति पत्नी भाव से आना चाहती है और तू (सूर्यम् प्रतीची) सूर्य=विद्वान्, या उत्तम सन्तानोत्पन्न करने में समर्थ पुरुष के प्रति जाना जाहती है। और (विश्वान् देवान् प्रतीची) समस्त देव विद्वानों के सन्मुख आना चाहती है। (तां) ऐसी उत्तम चरित्रवती (त्वाम्) तुझको हम (अच्छा वदामः) उत्तम कहते हैं।

अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद ।
ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥४॥

भा०—स्वयंवरा कन्या पुरुष के प्रति कहती है। (अहम्) और (सभायाम्) विद्वानों की सभा में (अहम् वदामि) जब मैं भाषण करूँ तब (न इत् त्वम्) तू भाषण मत कर। (अह) और बाद मेरे बोल चुकने पर (त्वम् वद) तू भी अपनी अभिलाषा, और योग्यता प्रकट कर इस प्रकार दोनों का परस्पर अभिप्राय प्रकट हो जाने के उपरान्त यदि तुम्हारी अभिलाषा गृहस्थ में मेरे संग रहने की दृढ़ हो तो (त्वम्) तू (मम इत्) मेरा ही होकर (असः) रह, (अन्यासाम्) उसके बाद और स्त्रियों के विषय (न चन कीर्तयः) का नाम भी मत लेना।

यदि वासि तिरोजनं यदि वा नद्य/स्तिरः ।
इयं ह मह्यं त्वामोषधिर्बद्ध्वेव न्यानयत् ॥५॥

भा०—हे मेरे अभिलाषी पुरुष! (यदि वा) चाहे तू (तिरः

४—'अहं वदानि महत्त्वम्' इति पैप्प० सं०।

५—(प्र०) 'तिरोचनम्' इति सायणाभिमतः। (तृ०) 'इयं त्वा मह्यमोषधिः' इति पैप्प० सं०।

जनम्) जनों के भीतर, अरण्यों में (यदि वा) और चाहे (नद्यः) नदी के भी (तिरः) पार हो। (इयम्) यह (ओषधिः) ओषधि जिसको मैं स्वयंवरा कन्या धारण करती हूँ वह (त्वाम्) तुझको (मह्यम्) मेरे लिये, मुझे प्राप्त होने के लिए (बद्ध्वा इव) मानों बाँध कर इस जन सभा में (नि आनयत्) अवश्य लायेगी।

सायण ने यह सूक्त पति वशीकरण के लिये आसुरी ओषधि को बाँध कर पत्नी के मुख से कहलाया है। परन्तु चतुर्थ मन्त्र हमें स्वयंवरा-कन्या-परक लगाने की प्रेरणा करता है।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र षोडश सूक्तानि, ऋचश्चैकत्रिंशत्]



[३९ (४०)] रससागर व ईश्वर का स्मरण।

प्रस्कण्व ऋषिः । मन्त्रोक्तः सुपर्णो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम्।
अभीपतो वृष्ट्या तर्पयन्तमा नो गोष्ठे रयिष्ठां स्थापयाति ॥१॥

ऋ० १ । १६४ । ५२ ॥

भा०—(दिव्यम्) द्यौलोक में या दिव्=मोक्ष में विद्यमान् (सुपर्णम्) शोभन रूप से पतनशील, पालन और ज्ञान से युक्त (पयसम्) ज्ञानमय आत्मबल से युक्त (बृहताम्) महान् (अपाम् गर्भम्) कर्मों

[३९] —'ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः। सरस्वान् सूर्यो वा देवता। (प्र०) 'वायसं' (द्वि०) 'दर्शनयोषधानां' (तृ०) 'तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि' इति ऋ०। (तृ०) 'वृष्टिभिः' इति तै० सं०। (प्र०) 'दिव्यं समुद्रं' (तृ० चं०) 'अभीसं रथ्या तपन्ति सरस्वन्तं रहिष्ठया (रयिष्ठां) सादये' इति पैप्प० सं०।

और विज्ञानों को ग्रहण करने वाले (ओषधीनाम्) ओषधी वनस्पतियों के प्रति (वृषभम्) जल वृष्टि करके उनको बढ़ाने वाले मेघ या सूर्य के समान ज्ञान-जलों और आनन्द वृष्टि के करनेवाले और (अभीपतः) और अपने शरण में आनेवाले जीवों को (वृष्ट्या) आनन्द और अमृत की वर्षा से (तर्पयन्तम्) तृप्त करते हुए उस परम पुरुष, परमेश्वर को हम स्मरण करें जो (नः) हमारे (गोष्ठे) गौ=इन्द्रियों के निवासस्थान देह में (रयिस्थाम्) रयि=बल=प्राणियों में भी अधिष्ठाता रूप से स्थापित करता है ।



[४० (४१)] रससागर ईश्वर का स्मरण ।

प्रस्कण्व ऋषिः । सरस्वान् देवता । १ भुरिक् । २ त्रिष्टुप् । द्वयृचं सूक्तम् ।

यस्य॑ व्र॒तं प॒शवो॒ यन्ति॒ सर्वे॒ यस्य॑ व्र॒त उ॑प॒तिष्ठ॑न्त॒ आपः॑ ।
यस्य॑ व्र॒ते पु॑ष्टप॒तिर्निवि॑ष्ट॒स्तं सर॑स्वन्त॒मव॑से हवामहे ॥१॥

भा०—(यस्य) जिसके (व्रतं) किये, कर्म को (सर्वे पशवः) समस्त पशु, वद्ध जीव (यन्ति) अनुगमन करते हैं, अनुकरण करते हैं । (यस्य) जिसके (व्रते) ज्ञान में (आपः) आपः=आप्तकाम, जीवन्मुक्त, कृतार्थ पुरुष (उप-तिष्ठन्ते) उपस्थित हैं, विद्यमान हैं और (यस्य व्रते) जिसके अपने किये कर्म में (पुष्ट-पतिः) उन २ नाना प्रकार के पुष्टिकारक पदार्थों का स्वामी, पूषा, परमेश्वर स्वयं (नि-विष्टः) विराजमान है । (तं) उस (सरस्वन्तं) महान्, समुद्र के समान समस्त ज्ञान और कर्मों के विशाल स्वामी, प्रभु को हम (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (हवामहे) स्मरण करते हैं ।

[४०] १–(द्वि०) 'व्रतं' (तृ०) 'पुष्टिपतिः' (च०) 'हुवेम' इति तै० सं० । (प्र०) 'व्रतं' इति पैप्प० सं० ।

आ प्रत्यञ्चं दाशुषे दाश्वंसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयिष्ठाम् ।
रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् ॥२॥

भा०—(इह) इस संसार में और इस मानव देह में (वसानाः) रहते हुए हम (प्रत्यञ्चः) उस प्रत्यक् आत्मा, भीतर विराजमान देह के अधिष्ठाता, साक्षात् आत्मास्वरूप (दाशुषे) अपने को उसके अधीन समर्पण करने वाले साधक को (दाश्वंसम्) वल, ज्ञान, प्रदान करते हुए (सरस्वन्तं) शक्ति क्रिया और ज्ञान के सागर (पुष्ट-पतिम्) सब पुष्टियों के स्वामी, सबके पोषक, (रयि-स्थाम्) रयि—वल और प्राणों में अधिष्ठाता रूप से स्थित (रायस्पोषं) धनों और प्राणों के पोषक (श्रवस्युम्) देह-धारियों को अन्न प्रदान न करने हारे, (रयीणां सदनं) समस्त ऐश्वर्यों और वलों के आश्रय स्थान उस (प्रत्यञ्चं) प्रत्यक्, समाधि काल में साक्षात् होने वाले विशुद्ध आत्मा को हम सदा (आ हुवेम) स्मरण करें और उस को पुकारें ।



[४१ (४२)] मुक्ति की प्रार्थना ।

प्रस्कण्व ऋषिः । श्येनो देवता । १ जगती । २ त्रिष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः ।
तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जगम्यात् ॥१॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य मरुस्थलों में भी जलों की वर्षा करता है और इन्द्र=मेघ के रूप में सर्वत्र कल्याणस्वरूप होकर प्राप्त होता है उसी प्रकार (श्येनः) ज्ञानवान् या सर्व-व्यापक प्रभु (नृ-चक्षाः) सब मनुष्यों

२-(तृ०) 'श्रवस्यं' (द्वि०) 'रर्याणाम्' (तृ०) 'वसानां' (प्र०) 'दाश्वासं' इति सायणाभिमतः ।

[४१] १-(द्वि०) 'नृचक्षावसाना' (च०) 'शिवा जगाम' इति पैप्प० सं०

का द्रष्टा (अवसान-दर्शः) अवसान–प्रलयकाल में भी सब पदार्थों और कर्म, कर्मफलों का द्रष्टा होकर (धन्वानि) धन्व – भोगभूमियों को (अति) अतिक्रमण करके (अपः) ज्ञान-जलों को (ततर्द) वर्षाता है । और (विश्वानि) समस्त (अवरा) नीचे के (रजांसि) लोकों को (तरन्) पार करता हुआ (इन्द्रेण सख्या) अपने मित्र जीव के साथ २ (शिवः) स्वयं साक्षात् कल्याण और सुखमय आनन्दमय, तुरीयपद, मोक्षरूप होकर (आ जगम्यात्) प्राप्त होता है, साक्षात् होता है ।

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः ।
स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत् २

भा०—(श्येनः) सर्वज्ञ, सर्वव्यापक (नृचक्षः) सब जीवों को द्रष्टा, (दिव्यः) मोक्षधाम का स्वामी, प्रकाशस्वरूप, (सुपर्णः) सुख-पूर्वक उत्तम रीति से सब का पालक, (सहस्रपात्) सहस्रों चरणों वाला सर्वज्ञ, सर्वगति, (शतयोनिः) अपरिमित, सैकड़ों पदार्थों का कारण और आश्रय, (वयोधाः) समस्त अन्न, कर्मफल को स्वतः अपने भीतर धारण करने वाला, (सः) वह परमात्मा (नः) हमें (यत्) जो (पराभृतम्) धन ज्ञान और सुख पर-आत्मा से अतिरिक्त इन्द्रिय मन, शरीर आदि कारणों द्वारा प्राप्त हो सके उस (वसु) जीवनोपयोगी ज्ञान को (नः) हमें (नियच्छात्) पूर्ण रीति से प्रदान करे । और वही सब सुख (अस्माकं) हमारे (पितृषु) पालकों या प्राणों में भी (स्वधावत्) अन्न या ग्राह्य विषय होकर स्वतः (अस्तु) प्राप्त हो ।



[४२ (४३)] पापमोचन की प्रार्थना ।

प्रस्कण्व ऋषिः । सोमरुद्रौ देवता । १, २ त्रिष्टुभौ । द्व्यृचं सूक्तम् ।

२–(द्वि०) 'वयोधात्' इति पैप्प० सं० ।

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश ।
वाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥१॥
ऋ० ६ । ७४ । २ प्र० द्वि० तृ० १ । २४ । ६ तृ० च० ॥

भा०—हे (सोमरुद्रा) सोम और रुद्र, जल और अग्नि (या) जो (अमीवा) रोगकारी पदार्थ (नः) हमारे (गयम्) गय प्राण में, घर में या शरीर में (आविवेश) प्रविष्ट हो गया है उस (विषूचीम्) नाना प्रकार से शरीर में या घर में या देश में फैलनेवाले रोग को (वि बृहतम्) नाना प्रकार के उपायों से नाश करो । और आप दोनों (निः-ऋतिम्) सब अप्रिय पदार्थ और पापमय प्रवृत्ति को (पराचैः) दूर ही (वाधेथाम्) रोको, दूर ही उसका विनाश करो । और (अस्मत्) हमसे (कृतम् चित्) किये हुए भी (एनः) पाप को दूर करो ।

सोम शब्द से—राजा, वायु, चन्द्र, क्षत्रिय, अन्न, प्राण, वीर्य, अमृत, आत्मा, ब्राह्मण आदि का ग्रहण होता है । रुद्र शब्द से अग्नि, घोर, प्रतिहर्त्ता, प्राण आदि लिये जाते हैं। यहाँ रोग निवारण का और पापनाशन का प्रकरण है । रोगनाशन में सोम और रुद्र दो प्रकार के चिकित्सक हैं एक सोम=जलीय शान्त गुण औषधियों से चिकित्सा करने वाले, दूसरे रुद्र= तीक्ष्ण ओषधियों द्वारा चिकित्सा करने वाले। पापनाशन में उपदेशक और दण्डकर्त्ता, आधिदैविक में जल और अग्नि । अध्यात्म में प्राण और अपान, या प्राण और उदान ।

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद् विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् ।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत् तनूषु वद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥२॥
ऋ० ६ । ७४ । ३ ॥

[४२] १—'ऋग्वेदे भारद्वाजो वार्हस्पत्य ऋषिः' (तृ०) 'आरे वाधेथां निर्ऋतिं' (च०) 'मुमुग्ध्यस्मत्' इति ऋ० । 'वाधेथां द्वेषो निर्ऋतिं च' (च०) 'अस्मात्' इति पैप्प० सं० ।
२—(प्र०) 'एतान्यस्मे' (द्वि०) 'यन्नो अस्ति' इति वहुत्र ।

भा०—हे पूर्वोक्त (सोमारुद्रा) सोम और रुद्र (युवम्) आप दोनों (अस्मत्) हमारे (तनूषु) शरीरों में (विश्वा भेषजानि) सब प्रकार की ओषधियों का (धत्तम्) प्रयोग करो। और (यत्) जो कुछ (नः) हमारे (तनूषु) शरीर में (कृतम् एनः) हमारा ही किया पाप या कुपथ्य (असत्) है उसको (अवस्यतम्) दूर मार भगाओ और (अस्मत्) हम से उसे (अव मुञ्चतम्) छुड़ाओ।



[४३ (४४)] चार प्रकार की वाणी।

प्रस्कण्व ऋषिः। वाग् देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि पपातानु घोषम्॥१॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरे प्रति (एकाः) एक प्रकार की वाणियां (शिवाः) शिव-कल्याणकारिणी सुखप्रद हैं, और (एकाः) एक प्रकार की दूसरी (ते) तेरी (अशिवाः) अशिव, अमंगलकारी, निन्दामय वाणियाँ हैं। तू उन सब को (सुमनस्यमानः) अपने चित्त को शुभ, सुन्दर, अविकृत भाव से रखते हुए ही (बिभर्षि) धारण कर, सुन। अर्थात् स्तुति और निन्दा दोनों को प्रसन्न चित्त होकर सुना कर, स्तुतियों से प्रसन्न मत हो और निन्दा के वाक्यों से उद्विग्न मत हो। क्योंकि (अस्मिन्) इस पुरुष के (अन्तः) भीतर (तिस्रः वाचः) तीन प्रकार की वाणियाँ (निहिताः) रक्खी हैं। (१) परा जो आत्मा में बीज रूप से विद्यमान् रहती है, (२) पश्यन्ती जो वक्ता के प्रयोग के पूर्व मन में संकल्प रूप से आती हैं। (३) मध्यमा, जो इच्छापूर्वक मानस संकल्पों में रह कर ही शरीर के हर्ष विषाद आदि मुख विकारों को प्रकट करती है, (तासाम्) उनमें से ही (एका) एक और, चौथी वैखरी

(घोषम् अनु) शब्द के स्वरूप में आकर (विपपात) नाना रूप से बाहर आती है। प्रयोक्ता के भीतर ही निन्दात्मक वाणी के भी तीन रूप रहते हैं और केवल एक चतुर्थ भाग ही बाहर आता है। इससे वही अधिक उसके पाप से युक्त है, न कि श्रोता।



[४४ (४५)] इन्द्र और विष्णु।

प्रस्कण्व ऋषिः। इन्द्रो विष्णुश्च देवते। भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः।

एकर्चं सूक्तम् ॥

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥१॥

ऋ० ६। ६९। ८॥

भा०—(उभा) दोनों इन्द्र और विष्णु (जिग्यथुः) विजय करते हैं (न परा जयेथे) कभी शत्रुओं से हारते नहीं हैं। (एनयोः) उन दोनों में से (कतरः चन) कोई एक भी (न परा जिग्ये) नहीं हारता। (इन्द्रः) इन्द्र (च) और हे (विष्णो) विष्णु! तुम दोनों (यत्) जब भी अपने विरोधी असुरों के साथ (अप स्पृधेथाम्) होड़ करते हो, युद्ध करते हो (तत्) तब २ (सहस्रं) समस्त संसार को (त्रेधा) तीनों प्रकार से (वि ऐरयेथाम्) व्याप्त करते और वश कर लेते, विजय कर लेते और उन में वीर सामर्थ्यवान् होकर शासन करते हो।



[४४] १–'ऋग्वेदेऽस्याः भारद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः।' (द्वि०) 'कतरश्च नैनोः' इति ऋ०। (च०) 'सहस्रं यदधीरयेथाम्' इति पैप्प० सं०।

[४५ (४६, ४७)] ईर्ष्या के दूर करने का उपाय ।

प्रस्कण्व ऋषिः । ईर्ष्यापनयनम् भेषजं देवता । १, २ अनुष्टुभौ ।

द्व्यृचं सूक्तम् ॥

जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतस्पर्याभृतम् ।
दूरात् त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम् ॥ १ ॥

भा०—ईर्ष्या, दाह या दूसरे की उन्नति को देखकर जलने के बुरे स्वभाव को दूर करने के उपाय का उपदेश करते हैं । हे ईर्ष्या के उपाय रूप ओषधे ! तू (ईर्ष्यायाः नाम) ईर्ष्या को झुकाने या दबाने का उत्तम साधन है, इसी से उसका (भेषजम्) इलाज या ईर्ष्या नाम के मानस रोग की उत्तम चिकित्सा है। (त्वा) तुझको मानो (दूरात्) दूर से (उद्-भृतम्) उखाड़ कर लाया गया (मन्ये) मानता हूं । तुझको (विश्व-जनीनात्) समस्त जनों के हितकारी (सिन्धुतः) नदी या समुद्र के समान विशाल; उपकारी सबके प्रति उदार (जनात्) मनुष्य से (परि आभृतम्) प्राप्त किया जाता है ।

जब हृदय में ईर्षा के भाव उदय हों उन को दबाने के लिये या दूर करने के लिये उन लोकोपकारी महापुरुषों का ध्यान करना चाहिये जो अपनी सर्वस्व सम्पत्ति को नदी के समान परोपकार में बहा देते हैं । और अपने आप उसका भोग नहीं करते । दूसरे के बढ़ते यश और कीर्त्ति से न जल कर स्वयं परोपकार में लगे और स्वयं यशस्वी और सच्चे परोपकारी बने । केवल ईर्ष्या में जलने से कोई बड़ा नहीं हो सकता ।

[४५]— पञ्चपटलिकायां द्व्यृचं सूक्तम् । अनुक्रमणिकायां एकर्चं सूक्तम् । सायणोल्लिखितेन विनियोगेनापि एकर्चमेव सूक्तम् । ग्रामसंहितासु द्व्यृचमुपलभ्यते । विषयभेदाच्च द्व्यृचमेव ज्ञायते ।

१ (प्र०) जनानां वाचामरुन्धतीनां [मुराच्चितानां ?]' इति पैप्प० सं० ।

अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक् ।
एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय ॥ २ ॥

भा०—(उद्ना) जलसे (अग्निम्-इव) जिस प्रकार जलती आग को शान्त कर दिया जाता है उसी प्रकार (अग्नेः-इव) आग के समान या (दावस्य) जंगल की भड़कती आग के समान (दहतः) जलते, कुढ़ते हुए या भयानक रूप में भड़कते हुए (एतस्य) इस ईर्षालु, द्रोह वाले चित्त की (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को प्रेम से या दूसरों के सच्चरित्र गुणों से (शमय) शान्त कर ।



[४६ (४८)] सभा, पृथिवी और स्त्री का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । विश्पत्नी देवता । १, २ अनुष्टुप् । ३ त्रिष्टुप् ।
तृचं सूक्तम् ॥

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ १ ॥
ऋ० २ । ३२ । ६ ॥ यजु० ३४ । १० ॥

भा०—हे देवि ! विश्पत्नि ! दिव्य गुणों वाली प्रजाओं की पालन करने वाली ! हे (सिनीवालि) अन्न का प्रदान करने वाली । अथ प्रेम-

२–'अग्नेरिवास्य' इति मन्त्रोऽनुक्रमणिकानुसारं पृथक् सूक्तमुपचर्यते । अस्य ईर्ष्यापनयनं देवता । (च०) 'उला, उन्ता, उन्ना, उत्ता' इति बहवो वर्णविकाराः । 'तत् संवेगस्य भेषजं तदसुनामं गृभाहितम्' इति पैप्प० सं० ।

[४६] १–ऋग्वेदे गृत्समद ऋषिः स्तुकः केशभारः, स्तुतिः, कामो वा इति महीधरः । पृथुसंयमितकेशभारा इति उव्वटः, २. उपचयार्थस्या वा दिहेर्दिशेतेर्वा लोटि शपः श्लुः ।

वद्धे ! हे स्त्रि ! हे (पृथुस्तुके) बहुत से पुत्रों वाली ! या बहुतों से प्रशंसित ! या विशाल मध्यभाग वाली ! या अतिकामनावति ! या पृथु=द्यौलोक के प्रति सदा खुली रहने वाली ! तू (देवानाम्) देव=वायु, सूर्य, जल, मेघ आदि दिव्य पदार्थों के साथ (स्वसा) स्वयं स्वभावतः नैसर्गिक रूप में संगत है । तू (आ-हुतम्) आहुति किये हुए (हव्यम्) अन्न को या वीर्य को जो बीज रूप से तेरे में बोते हैं उसे (जुषस्व) प्रेम से स्वीकार कर और (नः) हमें (प्रजां) प्रजाको उत्कृष्ट रूपसे उत्पन्न हो जाने पर (दिदिड्ढि) प्रदान कर । या (प्रजां दिदिड्ढि) अपने ऊपर रहने वाली जीव प्रजा को और अधिक बढ़ा । महर्षि दयानन्द ने मन्त्र को स्त्री के वर्णन में लगाया है ।

या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी ।
तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन ॥ २ ॥

ऋ० २ । ३२ । ७ ॥

भा०—पूर्व मन्त्र में कही विश्पत्नी-सार्वजनिक सभा, पृथिवी और स्त्री तीनों का श्लेष से वर्णन करते हैं । (या) जो स्त्री (सुबाहुः) उत्तम बाहुओं वाली, (सु-अङ्गुरिः) उत्तम अंगुलियों वाली, (सु-सूमा) उत्तम उत्पादक अंगों वाली, सुभगा, पृथुजघना, (बहु-सूवरी) बहुत से, अधिक दश पुत्रों को उत्पन्न करने में समर्थ है । (तस्यै) उस (सिनीवाल्यै) स्त्रीरूप पत्नी के लिये (हविः जुहोतन) हवि=अन्न नित्य प्रदान करो । सार्वजनिक सभा के पक्ष में (या सुबाहुः) जो उत्तम वीर भटों द्वारा सब विघ्नों को बांधने वाली, (सु-अङ्गुरिः) सब उत्तम अंगों वाली, (सू-सूमा) उत्तम रीति से प्रसव करने वाली (बहु-सूवरी) बहुत सन्तान उत्पन्न करने वाली है (तस्यै विश्पत्न्यै) सार्वजनिक सभा के लिये सब लोग (हविः जुहोतन) अपना २ भाग प्रदान करें । पृथिवी

२—(प्र०) 'सुमंगलिः सुषूमा' इति पैप्प० सं० ।

भी क्षत्रियों द्वारा, 'सुबाहू' देशवासियों द्वारा, उत्तम देशों द्वारा 'सुभङ्गुरि' नाना पुरुषों, अन्नों वनस्पतियों के उत्पादन से 'सुपूमा' और 'बहुसूवरी' है।

या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी।
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व॥३॥

भा०—हे (देवि) देवि! पति की कामना करने वाली! तू अपने (पतिम्) पति को (राधसे) धन और यश प्राप्त करने के लिये (चोदयस्व) प्रेरित कर। उसी प्रकार हे (विष्णोः पत्नि) व्यापक सार्वभौम राजा या तेरे हृदय में व्यापक प्रियतम की (पत्नि) पालिके! राजसभे! (तुभ्यम्) तेरे निमित्त तुझे (हवींषि) पर्याप्त साधन और अधिकार (राता) प्रदान किये गये हैं। यह (विश्पत्नी) पूर्वोक्त प्रजातन्त्र शासन की वह प्रतिनिधि सभा है (या) जो (देवी) विद्वानों की बनी हुई है और (सहस्र-स्तुका) सहस्रों संघों को अपने भीतर मिलाये हुए (अभि-यन्ती) प्रकट होती हुई (इन्द्रं) राजा या पति के भी (प्रतीची) सन्मुख उसके समान शक्ति वाली (असि) है। ऐसी हे (पत्नि) गृहपालिके, राष्ट्रपालिके, जन राजसभे! तू अपने (पतिं) पति, सभापति या राष्ट्रपति को (राधसे) पुत्र, यश और अर्थ-प्राप्ति के लिये न्यायमार्ग में (चोदयस्व) प्रेरित कर।

'नाविष्णुः पृथिवीपतिः' इस पुरानी किंवदन्ती का यही मन्त्र मूल है। राजा को वेद 'विष्णु' कहता है। वह 'विश्पत्नी' का पति है। इन्द्र राजा है और विष्णु राष्ट्रसभा का सभापति है। वह पूर्व अमावास्या का वर्णन हुआ। अमावास्या नाम स्त्री का है अमा=सह वसते पत्या इति अमावास्या जो पति के साथ रहे। 'अमा' एक साथ जिसमें सब प्रजाएं 'वास्या' बैठ सकें। जनरल कान्फ्रेंस, महासभा, साधारण सभा।



३—'या विश्वतः' (द्वि०) 'सहस्रस्तुता' (च०) 'राधसा' इति पैप्प० सं०।

[४७ (४९)] कुहू नामक अन्तरंगसभा का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । कुहुर्देवी देवता । १ जगती । २ त्रिष्टुप् ।
द्व्यृचं सूक्तम् ॥

कहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन् यज्ञे सुहवा जोहवीमि ।
सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद् ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥१॥

भा०—अब उत्तरा अमावस्या का वर्णन करते हैं, जो उस साधारण महासभा की अन्तरंग सभा है। (मैं) (सु-हवा) उत्तम रीति से आह्वान करने में समर्थ उत्तम आज्ञापक, उत्तम मन्त्र देने में समर्थ, सभापति (अस्मिन् यज्ञे) इस राष्ट्रमय यज्ञ में (देवीं) विद्वानों की बनी, (विद्मना-अपसम्) समस्त उचित कर्त्तव्यों को जानने वाली, (सु-कृतं) उत्तम कार्य सम्पादन करने वाली, (कुहूं) कुहू नामक गुप्तसभा, अन्तरंग सभा को (जोहवीमि) आह्वान करता हूं, बुलाता हूं। (सा) वह (नः) हमें हम राष्ट्र के शासकों को (विश्व-वारं) समस्त राष्ट्र के वरण करने योग्य, उनके अभिमत अथवा राष्ट्र की रक्षा करनेवाले (रयिं) धन, यश, उत्तम कर्म का (नियच्छात्) उपदेश करे या उत्तम रयि=व्यवस्था पत्र को प्रदान करें और (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय या वेद के अनुसार (शत-दायं) सैकड़ों सुखों के देने वाले (वीरम्) सामर्थ्यवान् पुरुष को (ददातु) राष्ट्र के कार्य में प्रदान करे, नियुक्त करे।

राष्ट्रपति या मन्त्री (सुहवा) जिसको अन्तरंग सभा बुलाने का अधिकार हो। वह (विद्मनापसम्) अन्तरंग के सभासदों को पूर्व में

---

[४७] १–(प्र०) 'कुहूमहम्' इति प्रायः'। 'सुवृत' आ० श्रौ० सू०। 'सुभगा' इति तै० सं०। 'अमृतं' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'सुहवं'। (तृ० च०) सा नो ददातु श्रावणं पितृणां तस्यै ते देवि हविषा विधेम' इति पैप्प० सं०।

विचारणीय विषय जना देवे और फिर बुलावे । उसमें सर्व हितकारी उत्तम निर्णयों या प्रस्तावों को स्वीकृत करावें और उनको कार्य रूप में लाने के लिये उत्तम शासक को नियत करे ।

कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत ।
शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु ॥ २ ॥

भा०—(देवानां) देवगण, विद्वानों के बीच में (अमृतस्य पत्नी) कभी न विनाश होने वाली, सत्य सिद्धान्त या नियम का पालन करने वाली (अस्य हविषः) इस हवि=मन्त्र या विचार को (जुषेत) सेवन करे, विचार करे । और (यज्ञं) राष्ट्र के हित को या परस्पर के संग साहाय्य को (उशती) चाहती हुई (शृणोतु) सब सभासदों के मत को भली प्रकार सुने । और (अद्य) अब (चिकितुषी) सब बात यथार्थ रूप से जानती हुई (नः) हमारे राष्ट्र के (रायस्पोषं) धन की सम्पत्ति वृद्धि को (दधातु) करे । कुहू के वर्णन के साथ २ गृहपत्नी के कर्त्तव्यों का भी वर्णन हो गया है । जैसे (१) मैं सुहवा पति (कुहू) जितेन्द्रिय विदुषी पत्नी को यज्ञ में बुलाता हूं । वह हमें सब प्रकार से हृष्ट पुष्ट पुत्र प्रदान करे । (२) वह अपने अमृत दीर्घायु पति की पत्नी पूजा के योग्य है । वह अपने पति की कामना करती हुई भी हमारे बीच में विदुषी होकर बड़ों की आज्ञा सुने और प्रजाओं को पुष्ट करे ।



[४८ (५०)] राका नाम राजसभा और स्त्री के कर्त्तव्यों का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । राका देवता । जगती छन्दः । द्वयृचं सूक्तम् ॥

२—(प्र०) 'पत्नीर्हव्या' (तृ०) 'कृणोतु' इति शां० श्रौ० सू० (तृ०) 'सा दाशुषे किरतु भूरि वामम्' इति मै० सं० । 'सा दाशुषे किरते भूरिपुष्टा' इति पैप्प० सं० । (च०) 'चिकितुषे' सू० इति तै० सं० । 'यजमाने दधातु, इति आ० श्रौ० सू० ।

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना ।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्य/म् ॥१॥

ऋ० २ । ३२ । ४ ॥

भा०—(अहं) मैं पुरुष (राकाम्) पूर्ण चन्द्रवाली पूर्णिमा के समान शोभना, शोडष कलायुक्त गुणवती स्त्री का (सु-हवा) उत्तम ज्ञान और (सुस्तुती) उत्तम गुण वर्णन युक्त वाणी से (हुवे) वर्णन करता हूं । वह (सुभगा) शुभ सौभाग्य सम्पन्न स्त्री (नः) हमारे उपदेशों को (शृणोतु) श्रवण करे । और (त्मना बोधतु) अपने भीतरी अन्तःकरण से उसको समझे, विचार करे कि वह (अच्छिद्यमानया) कभी न टूटने वाली (सूच्या) सूची से (अपः) सन्तति कर्म को (सीव्यतु) सीये । अर्थात् न टूटते हुए प्रजातन्तु को बनाये रखे । और (शत-दायम्) सैकड़ों दाय धन को प्राप्त करने वाले (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (वीरम्) पुत्र को (ददातु) उत्पन्न करे । अर्थात् सर्वांग गुणसम्पन्ना महिलाएं वीर, उत्तम राजा होने योग्य यशस्वी पुत्रों को उत्पन्न करें ।

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रापोषं सुभगे रराणा ॥२॥

ऋ० २ । ३२ । ५ ॥

भा०—हे (राके) सुखप्रदे ! पूर्ण प्रकाशयुक्त स्त्रि ! (याः) जो (ते) तेरी (सु-पेशसः) सुन्दर कान्ति वाली (सु-मतयः) उत्तम बुद्धियां उत्तम विचार हैं (याभिः) जिन्हों से (दाशुषे) अपने सर्वस्व अर्पण करने वाले प्रियतम पति को (वसूनि) नाना प्रकार के जीवन के सुख और नाना धन (ददासि) प्रदान करती है (ताभिः) उन उत्तम विचारों से

[४८] १–(प्र०) 'सुहवाम्' इति पैप्प० सं०, ऋ० ।
२–(च०) 'सहस्रपोषम्' इति ऋ० ।

(सु-मनाः) सदा प्रसन्नचित्त होकर (नः) हम, प्रजावासियों को हे (सु-भगे) सौभाग्यवति ! (रराणा) नाना प्रकार के आनन्द प्रदान करती हुई या नाना प्रकार से आनन्द प्रसन्न होकर (सहस्र-पोपम्) सब प्रकार के पुष्टि, धन धान्य सम्पत्ति को (उप-आ-गहि) प्राप्त कराओ। उत्तम महिलाएं जिन उत्तम विचारों से अपने पतियों के सुखकारी होती हैं उन विचारों और सत् कर्मों से अपने सम्बन्धी और पड़ोसियों को भी सुखकारी हों।

विश्पत्नी पक्ष में—राका भी उस राजसभा का नाम है जिसमें राजा स्वयं १६ या २० अमात्यों सहित राष्ट्र के कार्यों को विचार करता है। कार्यों की प्रारम्भिक अनुमति प्राप्त करने के लिये 'अनुमति' नामक सभा का वर्णन पूर्व आ चुका है। यह 'उत्तरा' उससे भी उत्कृष्ट राज सभा है जिससे अन्तिम निर्णय प्राप्त करके राजा अपने राष्ट्र में कार्य करे। इस पक्ष में मन्त्रों की योजना निम्नलिखित रूप से जाननी चाहिये।

(१) (राकाम् अहं सुहवां सुस्तुत्या हुवे) राजसभा को मैं स्वयं बुलाता हूं (शृणोतु नः सुभगा) वह श्रीमती राजसभा मेरे निर्णय को सुने। (बोधतुत्मना) स्वयं विचारे। (अच्छिद्यमानया सूच्या सीव्यतु) न टूटती सूई से जैसे फटे वस्त्रों को सिया जाता है उसी प्रकार वह विचार के योग्य सब अंगों को क्रम से सूक्ष्म बुद्धि से विचार उनको सम्बन्धित करे और (शतदायम्) सैकड़ों लाभप्रद (उक्थ्यं वीरं ददातु) प्रशंसनीय वीर, कार्यकर्त्ता को नियुक्त करे।

(२) हे (राके याः ते सुपेशसः सुमतयः) राजसभे ! जो तेरी उत्तम सम्मतियें हैं (ताभिः दाशुषे वसूनि ददासि) जिनके द्वारा राजा को नाना धन प्रदान करती हैं (ताभिः नः सुमनाः सहस्रं रराणा सुभगे उपागहि) हे श्रीमति ! उनसे ही सुचित्त होकर सहस्रगुण द्रव्य देती हुई प्राप्त हो।



[४९ (५१)] विद्वान् पुरुषों की स्त्रियों के कर्त्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । देवपत्न्यो देवताः । १ आर्षी जगती । २ चतुष्पदा पङ्क्तिः । द्व्यृच सूक्तम् ॥

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये ।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु ॥ १ ॥ ऋ० ५ । ४६ । ७ ॥

भा०—विद्वान् पुरुषों की विद्वान् स्त्रियों को और ऊँचे कर्मों का उपदेश करते हैं—(देवानां पत्नीः) देव=विद्वान् या राज्यशासक अधिकारी लोगों की विद्वान् स्त्रियें भी (रुशतीः) सुप्रसन्न, इच्छापूर्वक (नः) हम प्रजा के लोगों की (अवन्तु) रक्षा करें । और विशेष कर (वाज-सातये) संग्राम यज्ञ और ज्ञानप्राप्ति, शिक्षा के कार्य के लिये और (तुजये)[२] बालकों की रक्षा और राष्ट्र में बल या जोष उत्पन्न करने के लिये वे (नः) हम में (अवन्तु) आदरपूर्वक आवें । और (याः जो पार्थिवासः) राज्य-घराने की उन्नत पदाधिकार पर स्थित रानियां हैं और (याः) जो (अपाम्) प्रजाओं के (व्रते) पालन या शासन के कार्य में या सदाचार शिक्षण में नियुक्त हैं (ताः) वे (देवीः) विदुषी स्त्रियां भी (सु-हवाः) उत्तम उपदेश करने में समर्थ होकर प्रजाओं में (शर्म) सुख शान्ति (यच्छन्तु) प्रदान करें ।

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट् ।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥ २ ॥

भा०—(उत) और (देव-पत्नीः) देव=विद्वान् पुरुषों की स्त्रियां भी (ग्नाः) छन्दोमय वेदवाणियों का (व्यन्तु) अभ्यास किया करें । और

[४९] १–'यच्छत' इति ऋ० । अस्य सूक्तस्य प्रतिक्षत्र आत्रेय ऋषिः । 'यच्छतु' इति सायणाभिमतः पाठः ।
२–तोकाय अपत्याय इति सायणः, बलायेति दयानन्दः ।

(इन्द्राणी) इन्द्र, महाराज की स्त्री, (अग्नायी) और सेनापति की स्त्री (अश्विनी) अश्वी, वेगवान् रथ, विद्युत आदि के प्रणेता शिल्पी पुरुषों की और (राट्) राजा की स्त्री, रानी (रोदसी) रुद्र, दुष्टों के रुलाने वाले राष्ट्र के दमनकारी विभाग के अध्यक्ष की स्त्री, (वरुणानी) और वरुण राजनियम विधानकारी न्यायाधीश की स्त्री, ये सब (आश्रृणोतु) कार्य-व्यवहार और स्त्री-संसार के कार्यव्यवहारों को सुना करें। और (जनीनां) प्रजा की स्त्रियों को (यः ऋतुः) जो काल नियत हो उस अवसर में ये (देव्याः) विदुषी स्त्रियां (व्यन्तु) प्राप्त हों । और स्त्रियों की व्यवस्था किया करें ।

स्त्रियों के साक्षी आदि स्त्रियें हों । स्त्रियों के सामाजिक, नैतिक और चिकित्सा आदि कार्य स्त्रियां ही करें और जब २ उत्सव आदि के अवसरों पर भी स्त्रियों के उठने बैठने स्नान तीर्थादि की व्यवस्था उचित हो तब तब स्त्रियां प्रबन्धक हों यह वेद की आज्ञा है ।



[५० (५२)] आत्म-संयम ।

कितवबधनकामोऽङ्गिरा ऋषिः । इन्द्रो देवता । १, २, ५, ८ अनुष्टुप् । ३, ७ त्रिष्टुप् । ४, जगती । ६ भुरिक् त्रिष्टुप् नवर्चं सूक्तम् ।

यथा॑ वृ॒क्षम॒शनि॑र्वि॒श्वाहा॒ हन्त्य॑प्र॒ति ।
ए॒वाहम॒द्य कि॑त॒वान॒क्षैर्ब॑ध्यासमप्र॒ति ॥ १ ॥

---

[५०] —अनुक्रमणिकाहस्तलिपिपुस्तकेषु प्रायः सर्वत्र 'कितवद्वन्धनकामः', 'बन्धनकाम' इति ब्लूमफील्डः, 'द्वन्द्वधन' इति रॉडरः, 'वध्यासम्' इतिपदनिर्देशात् 'बाधन' इति व्हिट्निः, वध्यासम्' इति पाठ स्वीकारात् 'वध' इति सायणः । सार्वत्रिकपाठानुसारं 'वध्यासम्' इति-सायणसम्मतः पाठः । 'कितवबधनकाम' इति पाठः शुद्धः ।

१—(द्वि०) 'विश्वहं' (तृ०) 'एवाहममुं कितवं' इति पैप्प० सं० ।

भा०-(यथा) जिस प्रकार (अशनिः) मेघकी बिजुली (विश्वाहा) सब दिन, सदा ही (अप्रति) विना किसी अन्य को प्रतिनिधि वनाए; स्वयं ही (हन्ति) विनाश करती है (एवा) इस प्रकार ही (अहम्) मैं इन्द्र, आत्मा (अद्य) आज (कितवान्) चतुर जुआड़ी जिस प्रकार जुआड़ियों को स्वयं पासों से मारता है उसी प्रकार इन (कितवान्) जिनके पास कुछ नहीं ऐसे निःस्व, अचेतन जड़ विषयों को (अक्षैः) अपने अक्षों इन्द्रिय गण से (अप्रति) विना अन्य किसी को प्रतिनिधि किये, स्वयं अपने बल से (वध्यासम्) मारूं, या ज्ञान और कर्म का विषय करूं। अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रियों से इन निश्चेतन जड़ पदार्थों का जो जीवन में बाधा उत्पन्न करें उनको दवाकर अपने वश करलूं। अध्यात्म विषय को 'कितव' या जुआरियों की क्रीड़ा के समान 'अक्ष' आदि द्व्यर्थक पदों से श्लेष द्वारा वर्णन किया गया है।

तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम् ।
समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम ॥ २ ॥

भा०—(तुराणां) अति शीघ्रता करने वाली चञ्चल, अविवेकी, (अतुराणाम्) मन्द, जो शीघ्रता न कर सकें, तामस, (अवर्जुषीणाम्) जो अपने दोषों को या प्रकृति सिद्ध स्वभावों को परित्याग नहीं सकतीं ऐसी (विशाम्)[१] प्रजाओं, प्राणेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय रूप अध्यात्म प्रजाओं में से (विश्वतः) जो सब से अधिक (भगः) सम्पत्तिमान, ऐश्वर्यवान् है वह आत्मा (सम्-आ-एतु) मुझे प्राप्त हो। क्योंकि (कृतं) समस्त मेरी क्रिया शक्ति अथवा पुरुषार्थ धर्म, अर्थ काम और मोक्ष कर्म और कर्मफल सब (मम) मेरे (अन्तर्हस्तम्) अपने हाथ के भीतर हैं। सायण, ग्रीफ़िथ, ह्विटने आदिने यह मन्त्र जुआरियों पर लगाया है। कि "जुए में, जल्द-बाज और मन्दे जो जुए को छोड़ न सकें ऐसे लोगों का सब धन मेरे

२-(च०) "अन्तर्हस्त्यं कृतंमनः" इति पैप्प० सं०।

पास आ जाय क्योंकि कृत (नाम के चार पासे) मेरे हाथ में है।" ऐसे जुआखोरी परक अर्थ वेदमन्त्र को शोभा नहीं देते क्योंकि अंगिरा ऋषि अथवा वेदप्रवक्ता ईश्वर कभी ऐसा नहीं कह सकता। वह जुआ खोर नहीं हैं। ऋषि 'अंगिराः' अर्थात् वह ऋषि हैं जो अपने को ज्योतिष्मान् आत्मा रूप से अंगों में रस के समान अनुभव कर रहा है और इन्द्र देवता है। इन्द्र आत्मा को कहा जाता है।

ईडे अग्निं स्वावसुं नमोभिरिह प्रसक्तो वि चयत् कृतं नः।
रथैरिव प्र भरे वाजयद्भिः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृध्याम् ॥ ३ ॥
ऋ० ५ । ६ । १० ॥

भा०—मैं (अग्निं) प्रकाशस्वरूप (स्व-वसुम्) स्व=अपने देह के या आत्मा के भी भीतर वसने वाले उस प्रभु को (नमोभिः) नमस्कारों द्वारा (ईडे) स्तुति करता हूं। वह (इह) इस लोक में (प्र-सक्तः) अपनी उत्तम शक्ति से सर्वत्र व्यापक रहकर (नः) हमारा (कृतं) किया पुरुषार्थ हमें ही (वि चयत्) नाना प्रकार से प्रदान करता है। संग्राम में (वाजयद्भिः) वल पकड़ते हुए या वेग से जाते हुए (रथैः-इव) रथों से जिस प्रकार नाना देशों को जाता हूं और उन को वश करता हूं उसी प्रकार मैं आत्मा का साधक योगी (प्र-दक्षिणं) स्वयं अति उत्कृष्ट वलशाली (स्तोमं) समूह, इन्द्रियगण को (ऋध्याम्) अपने वश करूँ। और उन की शक्ति को बढ़ाऊँ। विजयशील सेनापति के पक्ष में भी उपमा के वल से लगता है। मन्त्र तैत्तिरीयब्राह्मण, मैत्रायणी संहिता में भी आता है वहां कहीं भी इस मन्त्र का द्यूतक्रीड़ा से सम्बन्ध नहीं है। इसलिये जूए के पक्ष में सायणकृत अर्थ असंगत है।

३—ऋग्वेदे श्यावाश्व आत्रेय ऋषिः। (द्वि०) 'इह प्रसत्तो'। 'प्रदक्षिणिन् मरुताम्' इति ऋ०। (प्र०) 'स्ववसम्' इति तै० ब्रा० मै० सं०। 'प्रदक्षिणित्' इति पैप्प० सं०। 'ऋन्ध्याम्' इति क्वचित्।

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे ।
अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुज॥४॥
ऋ० १ । १०२ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र परमेश्वर ! (त्वया) तुझ (युजा) सहायक की सहायता से (वयं) हम (वृतं) आवरणकारी, घेरने वाले तामस आवरण को (जयेम) विजय करें । जिस प्रकार ऐश्वर्यवान् राजा की सहायता से उसके सैनिक अपने नगर को घेरने वाले पर विजय प्राप्त करते हैं उसी प्रकार ईश्वर की सहायता से हम साधक गण आत्मा को घेरने वाले तामस आवरण अथवा राजस इन्द्रियगण को अपने वश करें । हे प्रभो ! (भरे-भरे) प्रत्येक संग्राम में (अस्माकम्) हमारे (अंशम्) व्यापक आत्मा को (उत् अव) उन्नति की तरफ ले जाओ । हे इन्द्र ! (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (वरीयः) सबसे उत्कृष्ट और महान् मोक्षपद को भी (सुगम्) सुखसे प्राप्त करने योग्य (कृधि) कर । और (शत्रूणां) हमारे बल और ज्ञान का नाश, शातन=नाश करने वाले काम क्रोध आदि शत्रुओं के (वृष्ण्या) बलों को (प्ररुज) अच्छी प्रकार तोड़ डाल । इस मन्त्र का भी द्यूतक्रीड़ा से कोई सम्बन्ध नहीं । अतः सायण आदि का द्यूतपरक अर्थ असंगत है ।

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम् ।
अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम् ॥ ५ ॥

भा०—हे प्रतिपक्ष ! राजस और तामसभाव (सं-लिखितम्) खूब अच्छी प्रकार शिला पर खुदे हुए लेख के समान हृदय पटल पर अंकित अथवा भूमिमानचित्र के समान आलिखित (उत) और (सं-रुधम्) हरेक उन्नति के कार्य में मुझे आगे बढ़ने से रोकने वाले,

४—(तृ०) 'वरिवः' इति ऋ० । ऋग्वेदे कुत्स आंगिरस ऋषिः इन्द्रो देवता ।

विघ्नकारी बाधक को मैंने अपने आत्मा के बल से (अजैषम्) जीत लिया है। और (यथा) जिस प्रकार (अविम्) भेड़ को (वृकः) भेड़िया (मथद्) पकड़ कर झंझोट डालता है उस प्रकार (ते) तेरे (कृतम्) किये दुष्फल को (मन्थामि) मैं भी मथ डालूं। अध्यात्म वेदी के लिये दो ही पदार्थ हैं। एक अस्मद्-विषय आत्मा और दूसरा 'युष्मद्-विषय' संसार। यहां संसार के प्रवर्त्तक अविद्या कृत आवरण को मथ कर तम या वृत्र पर जिसको पूर्व मन्त्र में 'वृत' कहा है विजय का प्रत्यक्ष रूप दर्शाया है।

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः॥६॥

ऋ० १० । ४२ । ६॥

भा०—(उत) और (इन्द्रः) इन्द्र ही ईश्वर या राजा, ऐश्वर्यवान् जीव ही समस्त प्राणों में (अति-दीवा) अत्यन्त अधिक तेजस्वी क्रियावान्, व्यवहारवान्, आनन्दी, हर्षवान् होने के कारण (प्र हाम् जयति) अपने मारने वाले को भी जीत लेता है। (काले) उचित समय पर (श्व-घ्नी) चतुर द्यूतकार जिस प्रकार (कृतम्-इव) अपने जयप्रद 'कृत' नामक अक्ष को खोज लेता है उसी प्रकार वह आत्मा (काले) अपने उचित अवसर में अपने (कृतम्) किये कर्म इष्ट और आपूर्त उपकार के कर्मों के (विचिनोति) अपने सुख प्राप्ति के निमित्त चुनता है और करता है। (यः) जो पुरुष (देव-कामः) विद्वान् महात्मा देवतुल्य पुरुषों के निमित्त अपने (धनं) धनको (न रुणद्धि) रोके नहीं रखता प्रत्युत उत्तम सज्जन पुरुषों के उपकार तथा उस की अभिलाषा के अनुकूल व्यय करता है इन्द्र परमेश्वर (तम् इत्) उसको ही (स्वधाभिः) अपने दानशा-

६—(प्र०) 'अतिदिव्यो जयाति' इति ऋ०। (प्र०) 'जयाति' (च०) 'स्वधावान्' इति सायणाभिमतौ।

लियों से (रायः) धन, सम्पत्तियां (सं सृजति) प्रदान करता है। ऋग्वेद में यह मन्त्र इन्द्र की स्तुति में है। सायण ने वहां उत्तम अर्थ करके भी इस स्थल पर इस मन्त्र को भारी जुआरिये पर लगा दिया है। 'श्वघ्नी' उपमान होने से उपमेय को भी कितव मानना असंगत है। ह्विटनी आदि सायण के उत्पादित भारी भ्रम में पड़ गये हैं।

गोभि॑ष्टरे॒माम॑तिं दु॒रेवां॒ यवे॑न वा॒ क्षुधं॑ पुरुहूत॒ विश्वे॑ ।
व॒यं राज॑सु प्रथ॒मा धना॒न्यरि॑ष्टासो वृ॒जनी॑भिर्जयेम ॥ ७ ॥

ऋ० १० । ४२ । १० ॥

भा०—हम (दुःएवाम्) दुःख प्राप्त कराने वाली (अमतिम्) दुर्गति या दरिद्रता को (गोभिः) गौ आदि पशुओं को पालन करके (तरेम) पार करें, अर्थात् गोपालन से हम अपनी दरिद्रता को नाश करें। हे (पुरु-हूत) बहुत प्रजाओं से पूजित इन्द्र ! राजन् ! (यवेन) जौ आदि धान्यों से (विश्वे) हम सब (क्षुधम्) भूख को (तरेम) पार करें। अन्न से भूख को शान्त करें और (राजसु) राजाओं के बीच में (प्रथमाः) उत्कृष्ट पद प्राप्त करके (वयं) हम लोग (अरिष्टासः) परस्पर की हिंसा न करते हुए, स्वयं भी सदा सुरक्षित रहकर (वृजनीभिः) बल-वती शक्तियों द्वारा (धनानि) नाना प्रकार की धन[1] सम्पत्तियों को (जयेम) जीतें प्राप्त करें।

सायण ने इस मन्त्र में भी 'वृजनी' शब्द से बलकारिणी पासे की रमल की दण्डियां ली हैं। यदि वे ऋ० १० । ४२ । १० ॥ में अपने ही किये इस मन्त्र का अर्थ देख लेते तो अथर्ववेद में यह अनर्थ न करते।

७–(द्वि०) 'पुरुहूत विश्वाम्' (तृ०) 'वयं राजभिः' (च०) 'धनान्यस्माकेन वृजनेनाजयेम' इति ऋ० । १. वृजनेन बलेन इति सायण ऋग्वेदभाष्ये । बलकारिणीभिरिति अथर्वभाष्ये । अक्षशलाकाभिरिति विशेष्यपदं सायणस्य स्वकपोलकल्पितम् ।

अध्यात्म पक्ष में-(गोभिः) वेद वाणियों से दुर्गम (अमतिम्) अविद्या को पार करें, हे पुरुहूत परमात्मन् ! हम सब सात्विक होकर यव आदि अन्नों से भूख को दूर करें । राजमान, विद्वानों में श्रेष्ठ होकर हम परस्पर हिंसा न करके प्रेम से रक्षा करते हुए अपनी (वृजनीभिः) बाधाओं और विषय प्रलोभनों का वर्जन कर देने वाली त्याग-वृत्तियों और वैराग्य साधनाओं से (धनानि) धारणीय बलों को प्राप्त करें ।

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ॥ ८ ॥

भा०—(मे) मेरे (दक्षिणे) दायें (हस्ते) हाथ में (कृतं) मेरा अपना किया हुआ कर्म, पुरुषार्थ है और (मे सव्ये) मेरे बायें हाथ में (जयः) जय, विजय (आ-हितः) रक्खी है । मैं अपने परिश्रम से (गो-जित्) गोधन का विजेता, (अश्व-जित्) अश्वों का विजेता और (धनं-जयः) धनका विजेता और (हिरण्य-जित्) स्वर्ण का विजेता (भूयासम्) होऊं । अध्यात्म में-कृत=साधना या तपस्या एक हाथ में है तो दूसरे हाथ में सब विषयों पर विजय है । तप के बल से गो=इन्द्रियों, अश्व=कर्मेन्द्रिय और मन और धन=अष्ट सिद्धियों और (हिरण्य) आत्मा और नवनिधियों पर भी वश हो जाता है ।

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव ।
सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नह्यत ॥ ९ ॥

भा०—हे (अक्षाः) इन्द्रिय गण ! जिस प्रकार धनी पुरुष (क्षीरिणी-म्-इव) दूध वाली दुधार (गां) गौ को दान देते हैं उसी प्रकार तुम (फल-वतीं) उत्तम फलवाली (द्युवं) क्रिया को या ज्ञानव्यवहार को (दत्त)

८—(प्र०) 'दिवं' इति पैप्प० सं० ।

प्रदान करो। और (मां) मुझ को (कृतस्य) अपने किये उत्तम कर्म की (धारया) परम्परा से (स्नाम्ना-इव) तांत से (धनुः) धनुष के समान (सं नह्यत) और प्रबल रूप से, भली प्रकार बांध लो।



[५१ (५३)] रक्षा की प्रार्थना।

अंगिरा ऋषिः । इन्द्रबृहस्पती देवते । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु॥१॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहस्पति बड़े बड़ों का स्वामी, (नः) हमें (पश्चात्) पीछे से या पश्चिम दिशा से (उत) और (उत्-तरस्मात्) उत्तर दिशा या ऊपर से, (अधरात्) नीचे से या दक्षिण दिशा से (अघयोः) पापी हत्यारे पुरुष के हाथ से (पातु) बचावे। (इन्द्रः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा, (पुरस्तात्) आगे से या पूर्व दिशा से और (मध्यतः) बीच में से बचावे। और (नः) हमारा सखा परमात्मा या इन्द्र (सखिभ्यः) हम मित्रों के लिये (वरीयः) श्रेष्ठ पदार्थ या उत्तम कार्य (कृणोतु) करे अथवा (सखा सखिभ्यः नः वरीयः कृणोतु) हममें से प्रत्येक मित्र-भाव से अन्यों को मित्र जान कर उनके लिये अपनी शक्ति से उत्तम से उत्तम कार्य करे या आश्रय दे।

इन्द्र और बृहस्पति राष्ट्रपक्ष में राजा के वाचक हैं, अध्यात्म में प्राण के या परमेश्वर के।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि त्रयोदश त्रिंशच्चर्चः]

[५१] १-वरीवः कृणोतु इति पैप्प० सं० ऋ० ।

[५२ (५४)] परस्पर मिलकर रहने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । सांमनस्यकारिणावश्विनौ देवते । १ ककुम्मती अनुष्टुप् जगती ।
द्व्यृचं सूक्तम् ॥

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः ।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् ॥१॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्वियो ! स्त्रीपुरुषो ! (नः) हमारा (स्वेभिः) अपने बन्धुओं के साथ (सं-ज्ञानं) उत्तम संमति, एकमति, मेलजोल रहे और (अरणेभिः) जो लोग हमें प्रिय नहीं लगते उनके साथ भी (सं-ज्ञानम्) हमारा मेलजोल बना रहे, (इह) इस समाज में (अस्मासु) हमारे बीच में (युवम्) तुम दोनों गृहस्थ में नव प्रविष्ट स्त्री-पुरुष पति-पत्नी होकर आये हो तुम भी हम में (सं-ज्ञानम्) परस्पर मेलजोल (नियच्छतम्) बनाये रक्खो । नये सम्बन्ध होने से, नव-वधुओं के घर में आते ही बहुत से कलह उत्पन्न होते हैं अतः नवप्रविष्ट गृहस्थों को यह उपदेश है ।

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन ।
मा घोषा उत् स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते ॥२॥

भा०—हम लोग (मनसा) चित्त से सदा (सं जानामहै) आपस में मिल कर, सहमति करके रहा करें, और (सं चिकित्वा) उत्तम रीति से आपस के सब मामलों को समझ बूझ कर (दैव्येन) विद्वानों के

[५२] १—(प्र० द्वि०) 'स्वः संज्ञानमरणैः', 'स्वभ्यः संज्ञानमरणेभ्यः', (च०) 'अस्मायनियच्छतु' इति क्वचित् पाठ ।

२—(द्वि०) 'मा युत्स्महि' इति ह्विटनि सम्मतः । (तृ०) 'विनिर्हुतम्' इति सायणाभिमतः ।

(मनसा) मननशील चित्त के अनुसार होकर आपस में (मा युष्महि) फूट २ कर, जुदा जुदा न रहे और (वहुले) अन्धकार के (वि-निर्हते) आ जाने पर हमारी बस्तियों में (घोषाः) हाहाकार के शब्द (मा उरु-तस्थुः) न उठा करें और (अहनि आ-गते) दिन के आते ही प्रातःकाल ही (इन्द्रस्य) इन्द्र, ईश्वर का (इषुः) वाण या दैवी विपत्ति (मा पप्तत्) हम पर न आ पड़े। या (इन्द्रस्य इषुः) राजा के वाण, ऐश्वर्य-वानों के वाण गरीबों पर न पड़ें। हम मिल कर रहें, समझ बूझ कर, विचार कर आपस में न फूटें, रात्रि में चोरी डाके, हत्या आदि कुकर्म न हों, दिन में दैवी विपत्ति या राजकीय अत्याचार या ऐश्वर्यवान् पुरुषों के गरीबों पर आक्रमण न हों।



[५३ (५५)] दीर्घायु की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। आयुष्यकारिणो बृहस्पतिरश्विनौ यमश्च देवताः। १ त्रिष्टुप्। ३ भुरिक्। ४. उष्णिग्गर्भा आर्षी पंक्तिः। ५ अनुष्टुप्। सप्तर्चं सूक्तम् ॥

अमुत्रभूयादधि यद् यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥१॥

यजु० २७। ६ ॥

भा०—हे (बृहस्पते)[१] बड़े २ लोकों के स्वामिन्! वा इंद्रियों के पालक! हे (अग्ने) ज्ञानवान्! सर्वप्रकाशक! (यद्) जब आप मुख्य

[५३] १–(द्वि०) 'बृहस्पति रभिशस्त्यामुञ्चात्' इति पैप्प० सं०। 'प्रतिमर्त्यं महतामश्विना त' इत्यपि क्वचित्। 'बृहस्पते अभिशस्ते' 'मृत्युमस्माद्' (प्र०) अमुत्रभूयादध' इति यजु०।

१–सम्बुद्धावपि छान्दसः सोर्लोपाभावः इति सायणः।

प्राण जीव (अमुत्र-भूयात्)[2] परलोक या परकालमें होनेवाले (यमस्य) सर्वनियामक यमस्वरूप प्रभु की दी (अभि-शस्तेः) मरणवेदना से तू अपने को (अमुञ्चः) मुक्त कर लेता है और (अश्विना) अश्विगण प्राण अपान, (देवानां भिषजा) देवगण, इन्द्रियों या विद्वज्जनों के चिकित्सक होकर (शचीभिः) अपनी शक्तियों के द्वारा (अस्मत्) हम से (मृत्युम्) देह और आत्मा के छूट जाने की घटना को (प्रति औहताम्) दूर करें । अथवा (अश्विनौ) शल्यतन्त्र और औषधतन्त्र के ज्ञाता दोनों प्रकार के चिकित्सक लोगोंके मृत्यु के भय कोदूर करें ।

सं क्रा॑मतं॒ मा ज॑हीतं॒ शरी॑रं प्राणापा॒नौ ते॑ स॒युजा॑वि॒ह स्ता॑म् ।
श॒तं जी॑व श॒रदो॒ वर्ध॑मानो॒ऽग्निष्टे॑ गो॒पा अ॑धि॒पा वसि॑ष्ठः ॥ २ ॥

भा०—हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! (सं क्रामतम्) तुम दोनों समान रूपसे वरावर चलते रहो। (शरीरं) शरीर को (मा जहीतम्) कभी मत छोड़ो । हे बालक ! (ते) तेरे प्राण और अपान दोनों (इह) इस शरीर में (स-युजौ) सदा साथ सहयोगी होकर (स्ताम्) रहें । और हे बालक ! तू (वर्धमानः) निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (शरदः शतं) सौ वरस (जीव) जीवित रह । (अधि-पाः) सब प्राणों का अधिपति (वसिष्ठः) शरीर में सब से मुख्य रूप में वास करता हुआ श्रेष्ठ वसु (अग्निः) प्राणरूप मुख्य जीव=अग्नि (ते) तेरा सब से उत्तम (गोपाः) रक्षक है ।

प्राणरूप अग्नि का वर्णन आथर्वण प्रश्नोपनिषत् में—'स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते ।' इत्यादि छान्दोग्य उपनिषत् में भी प्राण-अग्निका वर्णन है । वसिष्ठ-प्राण का वर्णन बृहदारण्यक उप० (६ । १ । ७)—"ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः । तद् होचुः

२—अमुत्र । भूयात् । इति पदच्छेदः इति उव्वटः ।
[५३] २—(तृ०) 'संरभ्य जीव शरदः सुवर्चाग्नि' इति पैप्प० सं० ।

को नो वसिष्ठ इति । तद् होवाच । यस्मिन् वः उत्क्रान्ते इदं शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति ।" जिसके उत्क्रमण होने पर यह शरीर शव हो जाता है वही वसिष्ठ अग्नि मुख्य प्राण जीव है। पूर्व मन्त्र में पठित 'अश्विनौ' इस मंत्र में 'प्राणापानौ' कहे गये हैं और पूर्व मंत्र में पठित 'अग्नि' को इस मंत्र में 'अधिपा वसिष्ठः' पद से कहा गया है।

आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम् ।
अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥३॥

भा०—हे बालक ! (ते) तेरी (यत्) यदि (आयुः) जीवन-काल (पराचैः) दूर भी (अति-हितं) कर दिया हो तो भी (प्राणः अपानः) प्राण और अपान (तौ) दोनों (पुनः) फिर भी (आइताम्) इस देह में आजावें। (अग्निः) मुख्य प्राण रूप जीवन की अग्नि ही (निर्ऋतेः) अति कष्टमय मृत्यु अथवा अविद्या के (उप-स्थात्) समीप से (तत्) उस आयु को (पुनः) फिर (आहाः) ले आता है। (तत्) उस आयु को (ते) तेरे (आत्मनि) देह में (पुनः) फिर भी (आ-वेशयामि) प्रवेश करा दूं।

यदि शरीर में से प्राण अपान के रुकजाने से जीवन की आशा दूर भी होजाय तो भी प्राण और अपान, श्वास और उच्छ्वास दोनों की गति ठीक कर देने पर जीवन पुनः अपने को सम्भाल ले सकता है। देह में इस प्रकार योग्य प्राणाचार्य पुनः जीवन प्रवेश करा सकता है।

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो/वहाय परा गात् ।
सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥ ४ ॥

४—(प्र०) 'मा त्वा प्राणोदासीद् यस्मे प्रविष्टो' मा त्वाऽपानो वहाय 'परिदद्महे' 'नयन्तु' इति पाठभेदाः । पैप्प० सं० । 'मो आपानो' 'मोव्यानो ऽवहायेति' हेनरी कामितः पाठः ।

भा०—(इमं) इस बालक के शरीर को (प्राणः) प्राण (मा-हासीत्) न छोड़े, और (अपानः उ) अपान वायु भी इसको (अव-हाय) छोड़कर (परा) दूर (मागात्) न जाय। मैं पिता और आचार्य अपने बालक को (सप्तर्षिभ्यः) सात ऋषि, ज्ञान द्रष्टा प्राणों के अधीन (परि ददामि) सौंपता हूं। (ते) वे सातों प्राण (एनं) इस जीव को (जरसे) बुढ़ापे के काल तक (स्वस्ति) सुखपूर्वक (वहन्तु) पहुंचा दें।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥५॥

भा०—हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! तुम दोनों (व्रजम्) पशुशाला में (अनड्वाहौ-इव) दो बैलों के समान इस देह में (प्रविशतम्) प्रवेश करो। (अयं) यह बालक (जरिम्णः) वार्धक कालका भी (निधि) पात्र, ख़ज़ाना, हो, अर्थात् वह बुढ़ापा भी लम्बा भोगे। और (अरिष्टः) बिना किसी प्राणबाधा के कुशलपूर्वक (इह) इस लोक में (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो।

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते ।
आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥६॥

भा०—हे बालक ! (ते) तेरे (प्राणं) प्राण शक्तिको (आ सुवामसि) समस्त शरीर में प्रेरित करें। और (ते) तेरे (यक्ष्मम्) रोग को (परा सुवामसि) दूर करते हैं। (अयम्) यह (अग्निः) मुख्य प्राण ही (नः) हमें (विश्वतः) सब प्रकार से (दधत्) भरण-पोषण करता है और इसी लिये (वरेण्यः) सब से श्रेष्ठ और सबके वरण करने योग्य है।

उद् वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥७॥

ऋ० १ । ५० । १० ॥ यजु० २७ । १० । २० । २१ ॥

भा०—(वयं) हम (तमसः) तमस; अन्धकार, अविद्या, अज्ञान, दुःख, इसके मूल पाप से (परि) दूर, ऊपर (उत्) ऊंचे होवें और (उत्-तमम्) सबसे श्रेष्ठ (नाकम्) सुखमय परम पदको (उद्-रोहन्तः) प्राप्त होते हुए (देव-त्रा) प्राकशमान्, ज्ञानवान् लोकों और पुरुषों के भीतर (सूर्यम्) सूर्य के समान प्रकाशक प्रेरक (उत्-तमं ज्योतिः) सर्वोत्कृष्ट परम ज्योतिःस्वरूप (देवम्) उस परम देव प्रभु को (अगन्म) प्राप्त करें ।

इस सूक्तमें दीर्घ जीवन प्राप्त करने और उसमें परम प्रभु को प्राप्त कर मोक्ष पालेने का उपदेश किया गया है । वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।



[५४ (५६, ५७-१)] ज्ञान के भण्डार वेद ।

भृगुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते ।
एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥१॥

भा०—हम विद्वान् लोग (ऋचं) ऋग्वेद और (साम) सामवेद मन्त्र पाठ और उनके गायन प्रकार दोनों का (यजामहे) अपने शिष्यों को उपदेश करते हैं । (याभ्यां) जिन दोनों के द्वारा

७–'उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम् । इति ऋ० । (च०) 'स्वः पश्यन्त उत्तरम्' । इति यजु० ।

(कर्माणि) समस्त यज्ञ कर्म और लौकिक और पारमार्थिक कर्म (कुर्वते) लोग किया करते हैं । (सदसि) इस संसार में (एते) ये ऋग्वेद और सामवेद दोनों ही (राजतः) प्रकाशमान हैं, आदर से देखे जाते हैं । और ये दोनों और (देवेषु) विद्वानों के भीतर (यज्ञं) यज्ञ को या प्रभु परमात्मा के स्वरूप को (यच्छतः) उपदेश करते हैं । उदरमेवाऽस्य यज्ञस्य सदः । श० ३ । ५ । ३ । ५ । प्रजापतेर्वा एतदुदरं यत्सदः । तां० ६ । ४ । ११ । तस्मात् सदसि ऋक्सामभ्यां कुर्वन्ति । ऐन्द्रं हि सदः । श० ४ । ६ । ७ । ३ ॥ तस्य पृथिवी सदः । तै० २ । १ । ५ । १ । अर्थात् यज्ञका उदर भाग 'सदः' स्थान होता है । वह प्रजापति का उदर भाग है । वह इन्द्र विषयक है । उसमें ऋग्वेद और साम का पाठ होता है । यह पृथिवी ही 'सदः' है । इसमें प्राणी विराजते हैं ।

ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम् ।
एष मा तस्मान्मा हिंसीद् वेदः पृष्टः शचीपते ॥२॥

भा०—मैं (यद्) जब (ऋचम्) ऋग्वेद से (हविः) ज्ञानमय साधन और (साम) साम से (ओजः) आत्मिक बल और (यजुः) यजुर्वेद से बाह्य क्रियामय, शारीरिक बल को (अप्राक्षम्) प्राप्त करने या जानने की इच्छा करूं तब हे (शची-पते) शक्तियों के और वाणी के स्वामी इन्द्र ! आचार्य ! (एषः) यह (वेदः) ज्ञानमय वेद ईश्वरीय ज्ञानभण्डार (पृष्टः) इस प्रकार पूछा गया (तस्मात्) इस कारण से (मा) मुझे (मा हिंसीत्) विनाश न करे । ऋग्वेद से व्यवहार के साधनों का ज्ञान करे, साम से आत्मबल या ब्रह्मबल प्राप्त करे यजुर्वेद से कर्मकाण्ड और क्षात्रबल का सम्पादन करे इस प्रकार वेद या ईश्वरीय ज्ञान किसी के विनाश का कारण नहीं होता ।

[५५ (५७-२)] आनन्द की प्रार्थना ।

भृगुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराट् परा उष्णिक् । एकर्च सूक्तम् ॥

ये ते॒ पन्था॒नोऽव॑ दि॒वो येभि॒र्विश्व॒मैर॑यः ।
तेभि॑: सुम्न॒या धे॑हि नो वसो ॥ १ ॥ साम० प्र० २ । ८ । ८ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमात्मन्! (ते) तेरे (ये) जो (पन्थानः) मार्ग या प्रेरक शक्तियां (दिवः) प्रकाशमान सूर्य के समान शक्तिपुञ्ज या द्यौलोक के (अव) अधीन हैं (येभिः) जिन्हों से (विश्वम्) समस्त संसारको (ऐरयः) चला रहा है। (तेभिः) उन शक्तियों से हे (वसो) समस्त संसार को वसाने हारे प्रभो ! (नः) हमें (सुम्न या) सुखकारी दशा में (आधेहि) रख । अध्यात्म में—द्यौ=ब्रह्माण्ड कपाल के नीचे जो प्राणमार्ग हैं जिन से (विश्वम्) समस्त देह प्रेरित, संचलित होता है उन इन्द्रियों या प्राणों सहित हे वसो ! आत्मन् हमें (सुम्नया) सुम्ना=सुमना=सुषुम्ना नाड़ि के द्वारा समाधि दशा में प्राप्त करा । विशेष देखो सामवेद भाष्य पृ० १०२ सं० [१७२]



[५६ (५८)] विषचिकित्सा ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ताः वृश्चिकादयो देवताः । २ वनस्पतिर्देवता ।
४ ब्रह्मणस्पतिर्देवता । १-३, ५-८ अनुष्टुप् । ४ विराट्
प्रस्तार पंक्तिः । एकर्चं सूक्तम् ॥

---

[५५] १—'ये ते पन्था अधो दिवो येभिर्व्यश्वमैरयः । उत श्रोषन्तु नो भुवः ॥' इति साम० । तत्र वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता ।

१. 'सुम्ने । आ' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः ।

तिरश्चिराजेरसितात् पृदाकोः परि संभृतम् ।
तत् कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥ १ ॥

भा०—(इयं) यह (वीरुत्) लता, ओषधि (तिरश्चि-राजेः) तिरछी धारियों वाले, (असितात्) काले नाग और (पृदाकोः) महानाग से (परि सम्-भृतम्) शरीर में प्रवेश कराये हुए (विषम्) विषको और (कङ्क-पर्वणः) कौवे के समान पोरुओं वाले उड़ने सांप के (विषम्) विष को भी (अनीनशत्) विनाश करती है ।

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः ।
सा विह्रुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥ २ ॥

भा०—(इयम्) यह (विरुत्) लता ओषधि (मधु-जाता) मधु=पृथिवी से उत्पन्न है (मधु-ला) मधु=मदकारी गुण को प्राप्त कराने वाली; (मधु-श्चुत्) मधुर रस को चुआने वाली (मधूः) मधु ही है वह (वि-ह्रुतस्य) विशेष रूप से कुटिलगामी सर्पों के विषम विषकी भी (भेषजी) उत्तम चिकित्सा है (अथो) और (मशक-जम्भनी) मच्छर आदि विषैले कीटों को भी नाश करती है ।

सायण ने 'मधु' शब्द से मधुक ओषधि ली है वह क्या है इस में संदेह है । क्योंकि वह बहुतों का नाम है । परन्तु हमारी सम्मति में यह स्वतः 'मधु'=शहद है । मधु के गुण राजनिघण्टु में—

'छर्दिर्हिक्का विषश्वास कासशोषातिसारजित्'

मधु वमन, हिचकी, विषवेग, सांस, दमा, खांसी और तपेदिक अतिसार आदि नाश करता है ।

उष्णैर्विरुध्यते सर्वं विषान्वयतया लघु ।
'उष्णार्त्तैरुष्णैर्वा तन्निहन्ति तथा विषम् ।'

[५६] १–(तृ०) 'तदङ्गपर्वणो विषम्' इति पैप्प० सं० ।

मधुऊष्ण स्वभाव के पदार्थों से मिलकर हानि उत्पन्न करता है, वह स्वयं विष हो जाता है, इसलिये वह उस समय विष का भी नाश करता है ।

यतो॑ द॒ष्टं यतो॑ धी॒तं तत॒स्ते॒ निर्ह्व॑यामसि ।
अ॒र्भस्य॑ तृप्रदं॒शिनो॑ म॒शक॑स्यार॒सं वि॒षम् ॥३॥

भा०—हे विषार्त्त नाग से काटे हुए पुरुष ! तेरे शरीर में (यतः) जिस स्थान से (दष्टम्) नाग ने या विषैले जीव ने काटा है (यतः) और जिस स्थान से (धीतं) रक्तपान किया है । (ततः) उसी स्थान से हम उसके विष को (निर्ह्वयामसि) बाहर कर दें । इस प्रकार (तृप्र-दंशिनः) भरपेट या अति शीघ्र काट लेने वाले, तेज़ काड़ने वाले (अर्भस्य) बालक सर्प के और (मशकस्य) मच्छरों का भ (विषं) विष (अरसम्) निर्बल होजाता है ।

अ॒यं यो व॒क्रो विप॑रु॒र्व्य॑ङ्गो॒ मुखा॑नि व॒क्रा वृ॑जि॒ना कृ॒णोषि॑ ।
तानि॒ त्वं ब्र॑ह्मणस्पत इ॒षीका॑मिव॒ सं न॑मः ॥ ४ ॥

भा०—विषों को वश करने की रीति लिखते हैं— हे (ब्रह्मणस्पते) वेदविद्या के विद्वान् ! (यः) जो (अयं) यह (वक्रः) टेढ़ा मेढ़ा (वि-परुः) सन्धिस्थानों में नाना प्रकार की चेष्टा करता हुआ। (वि-अङ्गः) अङ्गों में विकार दिखाता हुआ, छटपटाता हुआ, काले नाग से काटा हुआ

३–'यतो दष्टं यतः प्रतं ततस्ते निर्नयामासि । अर्भस्य तृप्तदंश्मनो मशकस्यारसं विषम्' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'निर्वयामासि' (तृ०) 'त्रिप्रदंशिनः' इति पाठौ सायणाभिमतौ । तत्र 'त्रि-प्रदं-शिनः इति च्छेदः ।

४–'अयं यो विकरो विकटो विपर्वा अह मुखानि वृजिना कृणोषि । तानि त्वं देव सवित रिषीकामिव संनमः ।' इति पैप्प० सं० ।

पुरुष (वृजिना) वर्जन करने योग्य या बलपूर्वक, असाध्य रूप से (मुखानि) मुखों को (वक्रा) टेढ़े मेढ़े (कृणोपि) करता है। (तानि) उनको (त्वं) तू (इषीकाम्-इव) सींख के समान (सं नमः) झुका दे, या सीधा कर दे।

अथवा —यह सर्प काटे पुरुष पर न लगकर सर्प भी पर लगता है। (अयं-यः) यह जो सर्प, (विपरुः) नाना पोरुओं वाला, (विअंङ्गः) विचित्र शरीर का (वृजिना) दुःखदायी प्रहार करने वाले (मुखानि) मुखों को (वक्रा) टेढे करता है। फुंफकार २कर मारता है। हे (ब्रह्मणस्पते) विद्वन् ! (त्वं) तू (तानि) उसके इन सब कुटिल मुखों को (इषीकामिव सं नमः) सींख के समान झुका देता है। अर्थात् तेरे मन्त्र और ओषधिबल से वह नाग अपने फन को धरती पर झुका लेता है। सायणादि भाष्यकारों ने उक्त मन्त्र की पूर्व रीति से व्याख्या की है। हमें दूसरी सहमत है।

अ॒र॒सस्य॑ श॒र्कोट॑स्य नी॒ची॒नस्यो॑प॒सर्प॑तः ।
वि॒षं ह्यू॒३॑स्यादि॒ष्यथो॑ ए॒नम॑जीजभम् ॥ ५ ॥

भा०—नाग-दमन का उपदेश करके अब उनके विष-संग्रह का उपदेश करते हैं। पूर्वोक्त रीति से (अरसस्य) मन्त्र और औषध के बल से निर्बल हुए और (नीचीनस्य) नीचे पड़े २ (उपसर्पतः) सरकते हुए (अस्य) इस (शर्कोटस्य) शर्कोट या कर्कोट नामक भयंकर महानाग के भी (विषं) विष को मैं विषविद्या का वेत्ता पुरुष (आ-अदिषि) तोड़ डालता हूँ या ले लेता हूँ। उसको पकड़ कर उसके मुख से निकाल सकता हूँ और फिर (एनम्) उस नाग को (अजीजभम्) मार डालूं या पकड़ कर अपने बन्धन में रखलूं।

न ते॑ बा॒ह्वोर्बल॑मस्ति॒ न शी॒र्षे नोत म॑ध्य॒तः ।
अथ॒ किं पा॒पया॑मु॒या पुच्छे॑ बिभर्ष्यर्भ॒कम् ॥ ६ ॥

भा०—हे वृश्चिक आदि कीट (ते) (तेरी (बाह्वोः) बाहुओं में (बलं न अस्ति) बल नहीं है (न शीर्षे) न सिर में बल है, (उत) और (मध्यतः नः) बीच भाग में भी बल नहीं है। (अथ) तो फिर (अमुया) इस (पापया) पापमय, दूसरे को कष्ट पहुंचाने वाली वृत्ति से (किं) क्या (पुच्छे) पूछ में (अर्भकम्) छोटासा विषैला कांटा या थोड़ा सा विष (बिभर्षि) रक्खे हुए है।

जिनकी पूछ में विष है वे कीट सब उसी जाति के हैं जिनके बाहु, सिर और बीच के भाग में बल नहीं होता, प्रत्युत पापबुद्धि से प्रेरित होकर वे अपने भी पूंछ के थोड़े से विष से भी बहुतसा विनाश किया करते हैं। इसके अतिरिक्त, सर्प के भी शिर, बाहू और बीच में बल नहीं होता प्रत्युत पूंछ में विष होता है। लोग उसके मुंह, पूंछ काट कर पकाकर खा जाते हैं। कदाचित् उस विष-पुच्छ वाले सर्प का ही यह वर्णन है। अगले मन्त्र में 'शर्कोट' का पुनः वर्णन है।

अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः।
सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरसं विषम् ॥ ७ ॥

भा०—हे सर्प ! (त्वा) तुझे (पिपीलिकाः) कीड़ियां (अदन्ति) खा जाती हैं। और (मयूर्यः) मोरनियां, मोरनियों और मुर्गियों को सभी जातें (वि वृश्चन्ति) तुझे नाना प्रकार से काट डालती हैं। हे पिपीलिकाओतु और मोरनियो ! तुम जीव गण जो सर्प को खा जाती और काट फाट डालती हो ! (सर्वे) तुम सब (भल)[1] भली प्रकार (ब्रवाथ) बतलारही हो कि (शार्कोटम्) शर्कोट या कर्कोटक नाग का (विषम्) विष (अरसम्) निर्बल है। अर्थात् उसके विष का प्रबल प्रतिकार भी उपस्थित है।

१—'भल ब्रवाथ' इत्येकं पदं सहइति योगविभागात् तिङन्तेन समासः इति सायणः। 'भल ब्रवाथ।' इति पदद्वयमिति पदपाठः।

य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्ये/न च ।

आस्ये३ न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत् ॥ ८ ॥

भा०—(यः) जो तू (पुच्छेन च) पूंछ से भी और (आस्येन च) मुख से भी (प्रहरसि) प्रहार करता है, काटता है, (ते) तेरे (आस्ये) मुख में (विषं न) विष नहीं है (किम् उ) तो क्या वह (पुच्छ-धौ) पूंछड़ी में (असत्) है।

(पुच्छधि) 'पुच्छवत् आधीयते इति पुच्छधिः भावे धेः' पुच्छ के समान जिस अंग को धारण किया है वह 'पुच्छधि' कहाता है। हिन्दी में 'पूंछड़ी' है।



[५७ (५९)] सरस्वती रूप ईश्वर से प्रार्थना ।

वामदेव ऋषिः । सरस्वती देवता । जागतं छन्दः । द्वृचं सूक्तम् ॥

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद् याचमानस्य चरतो जनाँ अनु ।

यदात्मनि तन्वो/मे विरिष्टं सरस्वती तदा पृणद् घृतेन ॥ १ ॥

भा०—(जनान्) सर्वसाधारण लोगों के (अनु) हित के लिये उनके (मे वदतना) मेरे बोलते हुए (आशसा) उनके घात प्रतिघात, पीड़ाकारी प्रयत्न, हिंसन आदि द्वारा मेरा (यत्) जो मन (वि-चुक्षुभे) विक्षोभ या व्याकुलता को प्राप्त हो, और (जनान् अनु चरतः) लोगों के हित के लिये उनके पास जा २ कर (याचमानस्य) भिक्षा करते हुए (यत् मे विचुक्षुभे) जो मेरा मन विक्षोभ, व्याकुलता या बेचैनी को प्राप्त हो और (मे तन्वः)

८–(तृ०) 'आस्ये च नते विष' इति पैप्प० सं० ।

[५७] १–यदाशसा मे चरतो जनान् अनु यद्याचमानस्य वदतो विचुक्षुभे । यन्मे तन्वो रजसि प्रविष्टं सरस्वती तदा पृणाद् घृतेन । इति पैप्प० सं० । 'तदात्मनि' इति सायणसम्मतः । 'सरस्वाति' इत्यपि क्वचित् ।

शरीर में और (आत्मनि) आत्मा और मनमें (यत् विरिष्टं) जो विशेष रूप से क्षति आयी हो, चोट पहुंची हो (सरस्वती) विद्या देवी, (घृतेन) अपने ज्ञानमय और स्नेहमय घृत=मरहम से (तत्) उस घावको (आ-पृणात्) पूरदे, भरदे, आरोग्य करदे । लोकहित के व्याख्यान देने और लोकहित के कामों में भिक्षा करने में शतशः लोकप्रवाद और दुरपवादों से जो मानस विक्षोभ, आघात और व्यथाएं हृदय की चोटें उत्पन्न हों उनको आन्तरिक विज्ञानमयी हृदय देवता सरस्वती भरदे । वह ज्ञानमय देवी वह परमात्मा ही है ।

वाक् वै सरस्वती । श० ५।५।४।२५॥ योषा वै सरस्वती पूषा वृषा श० ५।५।१।११॥ ऋक् सामे वै सारस्वतावुत्सौ तै० १।४।४।९॥ सरस्वतीति तद् द्वितीयं वज्ररूपम् । कौ० १२।२॥ वाणी सरस्वती है । घर की स्त्री भी सरस्वती है । ज्ञानमय प्रभु की ऋग्वेद सामवेद ये दोनों सरस्वती के दो स्रोत हैं । सरस्वती ज्ञानमय वज्र है, वह पुष्टिकार देवी है जो आत्मा में बल उत्पन्न करती है ।

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि ।
उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः ॥ २ ॥

ऋ० १० । १३ । ५ ॥

भा०—(मरुत्वते शिशवे) मरुत, सात मरुतों से युक्त, सात शिरोगत प्राणों से युक्त (शिशवे) इस शरीर में शयन करने वाले, अथवा, अपने आत्मबल से शरीरपिण्ड में प्राणों के सातों मार्गों को बनाने वाले शिशु नाम आत्मा के लिये या उसके निमित्त (सप्त) सातों प्राण (क्षरन्ति) गति करते हैं । ठीक ही है । क्योंकि (पित्रे) पिता के लिये (पुत्रासः) उसके लड़के (अपि) भी (ऋतानि) नाना कर्मों को (अवीवृतन्) किया करते हैं । इसी प्रकार वह शिशु आत्मा प्राणों का पालक और उत्पादक होने से पिता है, उस (पित्रे) पिता के लिये ये

उससे उत्पन्न प्राण उसके पुत्र हैं और 'पुरु त्रायते इति पुत्रः' इस निरुक्त वचन के अनुसार आत्मा की नाना प्रकार से रक्षा करने से भी ये पुत्र हैं, इस प्रकार ये (पुत्रासः) प्राण रूप पुत्रगण (ऋतानि) सत्य, यथार्थ ज्ञान प्राप्तिरूप व्यापारों को (अपि) भी (अवीवृतन्) किया करते हैं। और (अस्य) इस आत्मा के (इत्) ही (उभे) ये दोनों प्राण और अपान, हैं और (अस्य) इसके ही बल पर ये (उभे) दोनों (राजतः) सदा प्रकाशमान; जीवित जागृत हैं और अन्य सब प्राणों के ऊपर विराजमान हैं। (अस्य) इसके ही निमित्त (उभे यतेते) दोनों प्रयत्न करते हैं। और (उभे) दोनों ही (अस्य) इसको ही (पुष्यतः) पुष्ट करते हैं, इसको सबल बनाये रखते हैं। अथवा—इस मन्त्र में ३ वार उभे आया है अतः। (अस्य इत् उभे) ये दोनों कान उसी के हैं, (अस्य उभे राजतः) दोनों आँखें उसी की चमकती हैं (उभे अस्य यतेते) दोनों नाकें उसके लिये गति करते हैं (उभे अस्य पुष्यतः) रसना और मुख दोनों उसको पुष्ट करते हैं। सातों शीर्षण्य प्राणों का इस प्रकार वर्णन कर दिया है। पूर्वमन्त्र में इसी आत्मा रूप सरस्वती का वर्णन है। "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः।" कठवल्ली ३। १। 'अपांशिशुर्मातृतमास्वन्तः'। तै० सं० १८। १२। १॥ "सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। ऋ० ८। ६९। १२। 'मरुत्वत्। पद के सामर्थ्य से मरुत्वान् इन्द्र है। "इन्द्रोऽस्मान् अरदद् वज्रबाहुः अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्। (ऋ० ३। ३३। ६) ये सब मन्त्रगण उसी इन्द्र आत्मा के वर्णन करते हैं जो उपनिषद् में प्रजा-

---

२–सप्त स्रवन्ति शिशवो मरुत्वते पिता पुत्रेभ्यो अप्यवीवृत् पद्धतः।
उभये पिप्रते उभयेऽस्य राजाहि उभे उभयेऽस्य पिश्यकः।"
— इति पैप्प-सं०।

(द्वि०)–'अप्यवीवतन्नृतम्' (तृ०) 'उभे इदस्योभयस्य', (च०) 'उभयस्य पुष्यतः' इति ऋ०।

पति रूप होकर अण्ड में ७ प्राणों से सात छिद्र करता हुआ वर्णन किया गया है । 'सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् । तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत मुखाद्वाग् । वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः । प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतां अक्षीभ्यां चक्षुषी चक्षुष आदित्य कर्णौ निरभिद्येतामित्यादि समस्त प्रकरण 'शिशुआत्मा' और 'अपांशिशु' का अध्यात्म वर्णन किया है । इसीके लिये बृहदारण्यक में लिखा है । 'अयं वाव शिशुर्योयंमध्यमः प्राणः (आत्मा) तमेताः सप्त अक्षितयः उपतिष्ठते ।.........तदेष श्लोको भवति । "अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् । तस्यासत ऋषयः, सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना । इत्यादि (बृ० उ० २ । २ । १–४)



[५८ (६०)] अध्यात्म सोमरस-पान ।

कौरुपथिर्ऋषिः । मन्त्रोक्ताविन्द्र वरुणौ देवते । १ जगती । २ त्रिष्टुप् ।

द्व्यृचं सूक्तम् ॥

इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ ।
युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुप यातु पीतये ॥१॥

ऋ० ६ । ६८ । १० ॥

भा०—हे (इन्द्रावरुणा) इन्द्र और वरुण आप दोनों (सुत-पौ) सोम ज्ञान का और आभ्यन्तर आनन्द का पान करने हारे हो । अतः (मद्यं) हर्ष और तृप्ति जनक (सुतं) इस उत्पादित (सोमम्) ज्ञान और आनन्द रस को (धृत-व्रतौ) स्थिर, नियत, कर्मनिष्ठ और समस्त

[५८] १–(द्वि०) 'धृतव्रता' । (तृ०) 'अध्वरं' । (च०) 'याति' इति ऋ० ।

अस्य ऋग्द्वयस्य ऋग्वेदे भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

कर्मों को धारण करने में समर्थ होकर (पिबतं) पान करो, (युवोः) तुम दोनों के भीतर (रथः) रमण करने वाला (अध्वरः) कभी न हिंसित, सदा जीवित, अमर, यज्ञमय आत्मा (देव-वीतये) देव=इन्द्रियगणों के प्राप्त ज्ञान का भोग करने के लिये और (पीतये) विचार धारण में प्रतिदिन आनन्द रस पान करने के लिये (प्रति स्व-सरम्) प्रति देह-रूप घट में (उप यातु) प्राप्त हो अथवा (प्रति स्व-सरम् उप यातु) देह के प्रत्येक स्वयं सरण करने योग्य इन्द्रियों में व्याप्त हो ।

इन्द्रा॑वरुणा॒ मधु॑मत्तमस्य॒ वृष्णः॒ सोम॑स्य वृषणा॒ वृषे॑थाम् ।
इ॒दं वा॒मन्धः॒ परि॑षिक्तमा॒सद्या॒स्मिन् ब॒र्हिषि॑ मादयेथाम् ॥ २ ॥

ऋ० ६ । ६९ । ११ ॥

भा०—(इन्द्रावरुणा) इंद्र और वरुण, प्राण और अपान तुम (मधुमत्-तमस्य) सब से अधिक आनन्दमय (वृष्णः) वीर्यवान् (सोमस्य) रसों के रस एवं सब प्राणों के प्रेरक आत्मा के आप दोनों (वृषणौ) तर्पक हो । आप दोनों (वृषेथाम्) भीतर सब प्रकार के सुखों का वर्षण करो । (इदं) यह (वाम्) तुम दोनों के लिये (अन्धः) जीवन धारण करने में समर्थ अन्न आदि भोग्य पदार्थ (परि-सिक्तम्) सब ग्रह या पात्र रूप इन्द्रियों के मुखों में रक्खा है । आप दोनों (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) वृद्धिशील, उद्यमशील, श्रमयुक्त देहरूप यज्ञ में कुशासन पर विराज-मान ब्राह्मणों के समान (आ-सद्य) विराज कर (मादयेथाम्) आनन्दित, हर्षित एवं तृप्त होओ । यज्ञ में ग्रह पात्रों में सोम भर कर इन्द्र वरुण को आह्वान करना प्रतिनिधिवाद से आत्मा की देहमय वेदि और इन्द्रिय रूप यज्ञ पात्रों में ज्ञान कर्ममय सोमरस को भर कर आत्मगत प्राण अपान को तृप्त करने का ही तात्पर्य है ।

२–(तृ०) 'परिषिक्तमस्मे आसद्या' इति ऋ० । 'इदं वामस्मे परिषिक्तमन्ध आसद्या' इति पैप्प० सं० ।

तं सोमं अघ्नन् । तस्य यशो व्यगृह्णत । ते ग्रहा अभवन् । तद् ग्रहाणां ग्रहत्वम् । तै० २ । २ । ८ । ६ ॥ तद्यदेनं पात्रैर्व्यगृह्णत तस्माद्-ग्रहा नाम । श० ४ । १ । ३ । ५ ॥ ते देवाः (इन्द्रियमात्राः) सोममन्वविन्दन् । तमघ्नन् । तस्य यथाभिज्ञायं तनूर्व्यगृह्णत ते ग्रहा अभवन् । तद् ग्रहाणां ग्रहत्वन् । श० ४ । ६ । ५ । १ ॥ अष्टौ ग्रहाः । श० १४ । ६ । २ । १ ॥ प्राणा वै ग्रहाः । श० ४ । २ । ४ । १३ ॥



[५९ (६१)] निन्दा का प्रतिवाद ।

बादरायणिर्ऋषिः । मन्त्रोक्तोऽरिनोशना देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

एकर्चं सूक्तम् ॥

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।

वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु ॥ १ ॥

भा०—(यः) जो (अशपतः) निन्दा न करते हुए भी (नः) हमें (शपात्) बुरा भला कहे । और (यः च) जो (शपतः) बुरा भला कहते हुए भी (नः) हमें (शपात्) बुरा भला कहे वह (वि-द्युता हतः) बिजली की मार से मरे हुए (वृक्ष-इव) वृक्ष के समान (आ मूलात्) चोटी से जड़ तक (अनु शुष्यतु) सूख जाय । व्यर्थ का निन्दक और प्रतिनिन्दक दोनों ही असत्य और मानस पाप से सूख जाते हैं ।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तान्यष्टौ ऋचश्च पञ्चविंशतिः ।]



---

[५६] १–(तृ०) 'वृक्षेव' इति पैप्प० सं० ।

[६० (६२)] गृह-स्वामि और गृह-बन्धुओं के कर्त्तव्य ।

ब्रह्मा ऋषिः । रम्या गृहाः वास्तोष्पतयश्च देवताः । पराऽनुष्टुभः ।
सप्तर्चं सूक्तम् ॥

ऊर्जं बिभ्रद्वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण ।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥ १ ॥

यजु० ३ । ४१ ॥

भा०—मैं गृहपति जब (गृहान्) अपने घर, स्त्री, पुत्र आदि के पास (एमि) आऊँ तब (ऊर्जम्) पुष्टिकारक अन्न को (बिभ्रत्) लिये हुए आऊँ । और आकर (वसु-वनिः) आवासयोग्य अन्न, वस्त्र, धन आदि को सब में बांटूं और (सु-मेधाः) उत्तम शुभ बुद्धि से युक्त होकर (अघोरेण) अघोर, सौम्य, प्रसन्न (मित्रियेण) स्नेहपूर्ण (चक्षुषा) दृष्टि से सब को देखूं और (सु-मनाः) शुभ प्रसन्नचित्त होकर सब को (वन्दमानः) नमस्कार करूं । हे गृह के वासियो ! और स्त्रियो ! भाइयो ! (रमध्वं) आप लोग आनन्द प्रसन्न रहो (मत्) मुझसे (मा बिभीत) किसी प्रकार का भय मत करो ।

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः ।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥ २ ॥

भा०—(इमे गृहाः) ये हमारे घर परिवार (मयः-भुवः) सुख

[६०] १—"गृहान् एमि मनसा मोदमानो र्जं बिभ्रद् वसुमतिः सुमेधाऽघोरेण चक्षुषा मित्रियेण गृहाणाम् पश्यान् पय उत्तरामि ।" इति पैप्प० सं० ॥

२—"गृहा मा बिभीत, मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि । ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः" इति यजु० (तृ०) वामस्य (च०) 'जानन्तु जानतः' इति पैप्प० सं० ।

आनन्द के उत्पादक (ऊर्जस्वन्तः) धन धान्य आदि से पूर्ण (पयस्वन्तः) घी दूध मक्खन से भरपूर (वामेन) धन से (पूर्णाः) भरे पूरे (तिष्ठन्तः) रहकर (ते) वे (आयतः) बाहर से आते हुए (नः) हम लोगों का अभ्युत्थान द्वारा (जानन्तु) जानें, सत्कार करें।

येषा॑म॒ध्येति॑ प्र॒वस॑न् येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः ।
गृ॒हानुप॑ ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्त्वाय॒तः ॥ ३ ॥

यजु० ३ । ४२ ॥

भा०—(प्र-वसन्) प्रवास में गया हुआ पुरुप (येपाम्) अपने जिन सम्बन्धियों का (अधि एति) नित्य स्मरण किया करता है और (येपु) जिनके प्रति या जिन पर वह (बहुः) बहुत बार, बहुधा, (सौमनसः) उत्तम चित्तवाला, सुप्रसन्न एवं कृपालु या जिनके विपय में वह बहुत बार नाना प्रकार के शुभ संकल्प किया करता है उन (गृहान्) घर परिवार के बन्धुओं को हम सदा (उप ह्वयामहे) याद करें, बुलावें, जिससे (ते) वे (नः) हमें (आ-यतः) पुनः घर पर आते हुवों को (जानन्तु) जानें और हमें प्रेम से मिलें।

उप॑हूता॒ भूरि॑धनाः॒ सखा॑यः स्वा॒दुसं॑मुदः ।
अ॒क्षु॒ध्या अ॑तृ॒ष्या स्त॒ गृहा॒ मास्मद् बि॑भीतन ॥ ४ ॥

भा०—(भूरि-धनाः) बहुत धनाढ्य (स्वादु-संमुदः) स्वादु, सुखकारी, मिष्टान्न आदि पदार्थों में एकत्र होकर आनन्द लेने वाले (सखायः) मित्रगण (उप-हूताः) नाना अवसरों पर बुलाये जाया करें। और हे (गृहाः) घर के सम्बन्धी लोगो ! आप लोग (अक्षुध्याः) भूख से

३-(च०) 'जानन्तु जानतः' इति यजु० ।

४-(द्वि०) 'स्वादुसंनरः' 'अरिष्टाः सर्वपूर्णा गृहा नः सन्तु सर्वदा ।' इति पैप्प० सं० ।

पीड़ित न होकर सदा तृप्त रहो, और (अतृष्याः स्त) कभी प्यासे न रह कर सदा तृप्त, भरे पूरे रहो, (अस्मत्) हम से (मा विभीतन) भय मत करो ।

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः ।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥ ५ ॥

यजु० ३ । ४३ ॥

भा०—(इह) इस घर में (गावः) गौएं (उप-हूताः,) लाई जावें, (अज-अवयः) बकरियां और भेड़ें भी (उप-हूताः) लाई जावें, (अथो) और (अन्नस्य) अन्न का (कीलालः) सारभूत अंश अर्थात् अन्नों में से भी उत्तम २ बलकारी सारवान् अन्न (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (उप-हूतः) लाया जावे ।

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः ।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥ ६ ॥

भा०—हे (गृहाः) हमारे गृह और परिवार के बन्धुजनो ! आप लोग सदा (सूनृत-वन्तः) सत्यभाषण किया करो, (सु-भगाः) सदा उत्तम भाग्यशाली, सम्पन्न और (इरा-वन्तः) धन धान्य से युक्त रहो । नित्य (हसा-मुदाः) हंसमुख, प्रसन्न रहो । सदा (अतृष्याः) तृष्णा रहित और (अक्षुध्याः) विना भूख के, सदा तृप्त (स्त) रहो । और (अस्मद्) हमसे मा (विभीतन) भय मत करो ।

इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत ।
ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया ॥ ७ ॥

५—(तृ०) 'अथो अन्नस्य यो रसः' इति ला० श्रौ० सू० । (च०) 'गृहेषु यः' इति क्वचित् ।

६–(तृ०) 'अक्षुध्याऽतृष्यास्त' इति पैप्प० सं० । 'अनश्या अतृष्या' इति हि० गृ० सू० ।

भा०—हे गृह के वन्धुजनो! आप लोग (इह एव) इस गृह में ही (स्त) सुख से रहो (मा अनु गात) जब हम विदेश जायं तो हमारे पीछे २ मत जाओ, यहां ही (विश्वा) समस्त (रूपाणि) धन और गौ आदि पशुओं को (पुष्यत) पुष्ट करो। मैं विदेश से (भद्रेण सह) कल्याण और सुखकारी पदार्थों सहित (आ-एष्यामि) लौट आऊँगा और (मया) मेरे द्वारा ही आप लोग (भूयांसः) खूब सम्पन्न (भवत) होकर रहो। गृह, परिवार, पुत्र भाई, स्त्री वन्धुओं के संग सदा ऐसा ही व्यवहार करते रहें जिससे सब को सुख हो, सम्पत्ति और परस्पर प्रेम बढ़े।

[६१ (६२)] तपस्या का व्रत।

अथर्वा ऋषिः। अग्निर्देवता। अनुष्टुभौ। द्व्यृचं सूक्तम्॥

यद॑ग्ने॒ तप॑सा॒ तप॑ उपत॒प्याम॑हे॒ तपः॑।
प्रि॒याः श्रु॒तस्य॑ भूया॒स्मायु॑ष्मन्तः सु॒मे॒धसः॑ ॥१॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! परमात्मन् और तत्प्रतिनिधे ब्रह्मन्! आचार्य! (यत्) जो (तपः) तप (तपसा) ब्रह्मज्ञान द्वारा किया जाता है उसी (तपः) तप को हम भी (उप-तप्यामहे) करना चाहते हैं। (श्रुतस्य) ब्रह्म, वेदज्ञान के (प्रियाः) प्यारे (भूयास्म) हों और (आयुष्मन्तः) आयुष्मान्, दीर्घजीवी और (सु-मेधसः) उत्तम पवित्र धारणावती बुद्धि से युक्त हों।

अग्ने॒ तप॑स्तप्यामह॒ उप॑ तप्यामहे॒ तपः॑।
श्रु॒तानि॑ शृ॒ण्वन्तो॑ व॒यमायु॑ष्मन्तः सु॒मे॒धसः॑ ॥ २ ॥

भा०—हे (अग्ने) ब्रह्मन्! आचार्य! ज्ञानमय, ज्ञानप्रकाशक! हम (तपः) तप (तप्यामहे) करें और (तपः) तपस्वरूप आत्मा और ब्रह्म की ही (उप तप्यामहे) उपासना या ज्ञान करें। हम (श्रुतानि)

[६१] —'प्रेत्तामहे तपः' इति पैप्प० सं०।

वेदवाक्यों को (शृण्वन्तः) श्रवण करते हुए (सु-मेधसः) उत्तम बुद्धि सम्पन्न और (आयुष्मन्तः) दीर्घायु होकर रहें।

'तप पर्यालोचने' इति धातुपाठः। वेद का पर्यालोचन, साक्षात्कार और अनुशीलन करना तप है। ऋतं, सत्य, तप, शम, दम, यज्ञ, मनुष्य-सेवा, प्रजोत्पादन, प्रजारक्षण, प्रजावर्धन और सबके साथ स्वाध्याय और प्रवचन करना यही तप है। राथीतर आचार्य सत्यपालन को तप कहते हैं, पौरुशिष्ट आचार्य 'तप' को ही तप कहते हैं। मौद्गल्य नाक आचार्य स्वाध्याय और प्रवचन को ही तप कहते हैं, वास्तव में ऋत आदि सभी 'तप' हैं। ऋतं तपः, सत्यंतपः, श्रुतं तपः, शान्तं तपो, दमस्तपः, शमस्तपः, दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः। (तैत्तरीय आरण्यक प्रपा १०। अनु० ८) तैत्तिरीयारण्यक में ऋत आदि क्यों तप हैं इसकी विस्तृत व्याख्या देखने योग्य है। 'मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं तप उच्यते'। मन और इन्द्रियों का दमन ही तप है।



[६२ (६४)]

कश्यप मारीच ऋषिः। अग्निर्देवता। जगती छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

अयम॒ग्निः सत्प॑ति॑र्वृ॒द्धवृ॑ष्णो र॒थीव॑ प॒त्तीन॑जयत् पु॒रोहि॑तः।
नाभा॑ पृथि॒व्यां निहि॑तो॒ दवि॑द्युतदधस्प॒दं कृ॑णुतां॒ ये पृ॑त॒न्यवः॑ ॥१॥

यजु० १५। ५१॥

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वर और आचार्य, राजा, (सत्-पतिः) सज्जन पुरुषों को, स्वामी, पालक, (वृद्ध-वृष्णः) महा बलशाली, वृद्ध-ज्ञान वृद्ध पुरुषों द्वारा बलवान् (पुरः-हितः) सब के आगे प्रधान पद पर स्थापित होकर (रथी इव) रथी जिस प्रकार (पत्तीन्) पैदल सैनिकों को (अजयत्) जीत कर उनसे अधिक बलशाली रहता है उसी प्रकार यह भी (रथी) रथ=देह रूप रथ में चढ़े

आत्मा (पत्तीन्) ज्ञान करने के साधन जो ग्राह्य विषयों तक गति करते हैं उन इन्द्रियों पर (अजयत्) वश किये हुए है वह जितेन्द्रिय है। (पृथिव्यां) पृथिवी=अन्तरिक्ष स्थान में (निहित) स्थापित सूर्य जिस प्रकार (दविद्युतत्) निरन्तर प्रकाशमान रहता हुआ उन लोगों को (ये) जो (पृतन्यवः) पृतना=सेना लेकर हम पर चढ़ आवें, (अधः-पदं) निचले पद=स्थान में (कृणुताम्) करें। अर्थात् उनको वश करके हमारे नीचे रक्खें। हम शासन करे और वे हमारे शासित होकर रहैं।



[६३ (६५)] राजा का आमन्त्रण।

मरीचिः काश्यप ऋषिः। जातवेदा देवता। जगती छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात् सधस्थात्।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद् देवोऽति दुरितान्यग्निः ॥१॥

भा०—(पृतना-जितम्) सेनाओं द्वारा संग्राम का विजय करनेवाले (सहमानम्) शत्रु को दबानेवाले (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी परन्तप राजा को उसके (परमात्) परम, सबसे उत्कृष्ट होकर हमारे बीच में (सध-स्थात्) हमारे साथ रहने के कारण अर्थात् हमारे साथ रह कर भी सबसे उत्कृष्ट रहने के कारण (हवामहे) हम उसकी स्तुति करते हैं, उसको अपनी रक्षा और शिक्षा के लिये आदर से बुलाते हैं। क्योंकि (सः) वह (नः) हमें (विश्वा) समस्त (दुः-गानि) दुर्गम स्थानों को (अति पर्षत्) पार करा देता है। और वही (देवः) सर्व

[६३] १-(च०) 'विश्वा क्षामद् देवोऽधि' इति पैप्प० सं०। हैनरी-ह्विटनि आदयः 'क्षामद्' इत्यस्यस्थाने 'क्रामद्' इति वाञ्छन्ति। तदयुक्तम्। क्वापि तथानुपलम्भात्। 'क्षामद्' इति नाशकरणार्थस्य क्षियः क्तान्तस्य प्रणिचि रूपम्।

व्यवहार कुशल; राजा (अग्निः) अग्नि के समान समस्त पापों को भस्म करने हारा, दुष्टों का तापकारी, (दुः-इतानि) सब दुष्ट कर्मों को (अति क्षामद्) सर्वथा नाश करे ।



[६४ (६६)] पाप से छूटने के दो उपाय ।

यम ऋषिः । कृष्णः शकुनिर्निर्ऋतिर्वा मन्त्रोक्ता देवता । १ भुरिग् अनुष्टुप्, २ न्यंकुसारिणी बृहती छन्दः । द्यृचं सूक्तम् ॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत् ।
आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः ॥१॥

भा०—(इदं) यह (यत्) जो (कृष्णः) काला, या मनको अपनी तरफ़ आकर्षण करनेवाला (शकुनिः) शक्तिमान् प्रबल पाप या पाप की वासना (अभि निः-पतन्) चारों ओर से बड़े वेग से हमारे आत्मा पर आवरण करता हुआ, मंड़राता हुआ, झपटता हुआ (अपीपतत्) हमको गिराता है हमारे ऊपर आक्रमण करके हमें पाप के मार्गों में ढकेलता है । (आपः) परमात्मा की व्यापक शक्तियाँ जो मुझे प्राप्त हैं वही (तस्मात्) उस (सर्वस्मात्) सब प्रकार के (दुः-इतात्) दुष्ट कर्म मय (अंहसः) प्रबल पाप से (पान्तु) बचावें । काले काक के स्पर्श से उत्पन्न पाप से बचने के लिये जलों से प्रार्थना मान कर सायण और तदनुयायी पाश्चात्य पण्डितों ने व्याख्या की है वह असंगत है । उन्होंने यम ऋषि निर्ऋति पाप देवता पर विचार नहीं किया ।

---

[६६] १–यदस्मान् कृष्णशकुनिर्निष्पतन्नानशे आपो मा तस्मादेनसो दुरितात् पातु विश्वतः ।" इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'अभिनिपतन्' इति 'ह्विटनि'कामितः ॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन ।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

भा०—हे (निः-ऋते) आत्मा को नीचे ले जाने, प्रिय न लगने वाली, निर्ऋते ! पाप प्रवृत्ते ! जन्ममरणकारिणि मृत्युदेवते ! (इदं यत्) यह जो (कृष्णः) काला, तामस, मन को अपहरण करने वाला, (शकुनिः) अतिप्रबल विषय विक्षेप हमें (ते) तेरे (मुखेन) स्वरूप से (अव-अमृक्षन्[1]) नीचे गिरा देता है, या हम से बन्धन रूप में संसक्त हो जाता है, (तस्मात्) उस (एनसः) पाप से (गार्ह-पत्यः) गार्हपत्य, गृहपति आत्माका हितकारी प्राणरूप अग्नि ही (मां) मुझको (प्र मुञ्चतु) भली प्रकार मुक्त करे, प्राणायाम के बल से पाप से छूटने का उद्योग करे । पाप का संकल्प चित्त में आते ही यदि प्राणायाम करें तो प्रबल पापवासना निर्मूल हो जाती है और मृत्यु का भय भी दूर होता है । प्रथम मन्त्र में प्रभु की शक्तियों के स्मरण से और दूसरे मन्त्र में देह रूप गृह के पति आत्मा की मुख्य शक्ति प्राणमय अग्नि की साधना से पाप से मुक्त होने का उपदेश है ।

प्रजापतिः गार्हपत्याः । ऐ० ८ । २४ ॥ एष एव (आत्मा) गार्हपत्यो यमो राजा (श० २ । ३ । २ । २) ।



२—"यदि वा मृक्षते कृष्णाशकुनिर्मुखेन निर्ऋते तव अग्निस्तत्सर्वं शुन्धतु हव्यवान् घृतसूदनः" इति पैप्प० सं० । 'यदपामार्देच्छकुनि'-इत्यादि आप० श्रौ० सू० 'यत्तु कृष्ण शकुनः' 'अवमृशत्' इत्यादि तै० सं० ॥

१. मृश अवमर्शने (तुदादिः०) मृक्ष संघाते (भ्वादिः०) इत्यनयोरेकतरस्य रूपम् ॥

[६५ (६७)] पाप निवारक 'अपामार्ग' का स्वरूपवर्णन ।

दुरितापमृष्टिप्रार्थी शुक्र ऋषिः । अपामार्गवीरुद् देवता । अनुष्टुप् छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ ।
सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः ॥ १ ॥

भा०—हे (अपामार्ग) अपामार्ग लते ! (त्वम्) तू जिस प्रकार (प्रतीचीनफलः) अपने फलों को अपने से छूने वाले के प्रति कष्टदायी होकर अपने फलों के उसके वस्त्रों से चिपटा देता है इसलिये 'प्रतीचीन फल' वाला होकर (रुरोहिथ) उगा करता है। इसलिये तेरे पास कोई नहीं जाता। इसी प्रकार हे (अपामार्ग) पाप लेशों को दूर से परे रखने वाले पुरुष ! तू भी (प्रतीचीनफलः) अपने शत्रुओं के लिये विपरीत फल उत्पन्न करने वाले काम करता हुआ (रुरोहिथ) वृद्धि को प्राप्त हो। और (मत्) मुझ से (सर्वान्) समस्त (शपथान्) आक्रोश या निन्दाजनक भावों को (इतः) अभी इसी काल से (वरीयः) सर्वथा (अधि यवय) परे कर। अथवा अमामार्ग शब्द से आत्मा को ही सम्बोधन किया गया है। हे अपामार्ग कर्म-परिशोधक, आत्मन् ! तू (प्रतीचीनफलः) प्रत्यक्, साक्षात् होकर ही फलने हारा या स्वतः फल-रूप होकर (रुरोहिथ) अधिक बलवान् पुष्ट होता है। तू मुझसे (शपथान्) सब पाप भावों को (इतः) यहां इस देह से (अधि यवय) दूर कर। देखो अथर्व ४ । १९ । ७ ॥

यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद् वा चेरिम पापया ।
त्वया तद् विश्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे ॥ २ ॥

भा०—हम (पापया) पापकारिणी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर (यद्) जो (दुष्कृतं) दुष्ट काम और (यत् शमलं) जो मलिन, कलंक-जनक, घृणित कार्य (यद् वा अथवा जो कुछ भी (चेरिम) करते हैं, हे

(अपामार्ग) पापों को दूरने हारे प्राण ! (तत्) उसको (त्वया) तेरे बलसे, हे (विश्वतः-मुख) सर्वतोमुख ! (अप मृज्महे) दूर करते हैं ।

श्यावदता कुनखिना बण्डेन यत्सहासिम ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ३ ॥

भा०—(यत्) और जो (श्याव-दता) काले दाँत वाले, मलिन मुख, दन्तधावन न करने वाले, व्यसन से मलिन पदार्थ, मांस आदि खाने वाले (कु-नखिना) बुरे नखों वाले, (बण्डेन [1]) और लड़ाके या परस्पर फूट डालने वाले, चुगलखोर के साथ (आसिम) बैठें तो हे (अपामार्ग) पापों को दूर करने हारे (त्वया) तेरे बल पर (तत् सर्वं) उस सब दुष्प्रभाव को (अप मृज्महे) दूर करें ।



[६६ (६८)] ब्रह्मज्ञान के धारण का यत्न ।

ब्रह्मा ऋषिः । ब्राह्मणं ब्रह्म वा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु ।
यदस्रवन् पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु ॥ १ ॥

भा०—(यदि) जो (उद्यमानम्) अध्ययन के समय में गुरुमुख से वहता हुआ ब्रह्मज्ञान या वेदाध्ययन करते समय उसका तात्विक श्रवण (अन्तरिक्षे) मेघ के होने पर (यदि वातम्) जो प्रचण्ड वायु के चलने

[६५] ३–'वन्डेन' इति सायणाभिमतः ।

१. वण्डेन नपुंसकेनेति सायणः । भग्नाङ्ग इति ह्विटनिः, वडि विभाजने इति धातोः पचाद्यच् । बण्डो विभाजकः ।

[६६] १–"यदन्तरिक्षम् यादे वा रजांसि, तत् वृक्षेषु भयनलपेषु । अजस्रवन पशव" इत्यादि पैप्प० सं० । (तृ०) 'यदस्रवन् पशवः' इति प्रायः । 'अश्रवन्' इति बहुत्र । 'अश्रवन्' इति सायणाभिमतः ।

पर (यदि वृक्षेषु) और जो वृक्षों के भीतर पक्षि आदि के विघ्न करने से (यदि वा उलपेषु) या तृण घास, धान के खेत आदि के बीच में इधर उधर के दृश्यों या कीट पतङ्गों के विघ्नों से और (यत्) जो (पशवः=पशुषु) पशुओं के बीच में उनकी चपलता के कारण (अस्रवन्) मेरे कान में आकर भी निकल गया है—विस्मृत हो गया है (तत्) वह (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञान (पुनः) फिर (अस्मान्) हमें (उपैतु) प्राप्त हो ।

हमने जिन विघ्नों का निर्देश किया है उनको ही देख कर आपस्तम्बमें वेदाध्ययन और अध्यापन का निम्न-लिखित स्थानों और अवसरों पर निषेध किया है । "नाभ्रे न च्छायायां, न पर्यावृत्ते, आदित्ये, न हरितयवान् प्रेक्षमाणो न ग्राम्यस्य पशोरन्ते, नारण्यस्य, नापामन्ते ।(आप० १५ । २१ ८)

सायण आदि ने असुक अवसरों पर वेदाध्ययन करना पाप जनक कहा । तृतीय में (यत् पशव उद्यमानं आश्रवन्) जो पशुओं ने सुन लिया है ऐसा अर्थ किया है : पशुओं के श्रवण में कोई दोष न होने से यह अर्थ निरर्थक है ।



[६७ (६८)] शरीरस्थ अग्नियें ।

ब्रह्मा ऋषिः । आत्मा देवता । पुरः परोष्णिग् बृहती । एकर्चं सूक्तम् ॥

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयातामिहैव ॥ १ ॥

भा०—(मा) मुझे (इन्द्रियं) इन्द्रियों का सामर्थ्य, बल (पुनः, प्राप्त हो । अथवा मुझे इन्द्र परमेश्वर का बल अथवा चक्षु आदि इन्द्रियगण पुनः २ प्राप्त हों । (आत्मा) मन, जीव और देह (द्रविणम्) धन और (ब्राह्मणं च) ब्रह्म-ज्ञान भी पुनः २ प्राप्त हो । (धिष्ण्याः) आधान के स्थान में विहरण करने वाले (अग्नयः) अग्नियां, आहवनीय, गार्हपत्य और अन्वाहार्यपचन आदि (यथा-स्थाम) अपने २ स्थानों पर

(इह एव) इस लोक में, देह में, गृह में भी (पुनः) बार २ (कल्पयन्ताम्) प्रज्वलित हों, समर्थ हों। शरीरस्थ अग्नियों का विवरण प्राणाग्नि-होत्र उपनिषत् के अनुसार इस प्रकार है। (१) सूर्य-अग्नि 'एक ऋषि' होकर मूर्धा स्थान पर विराजती है। (२) दर्शनाग्नि आहवनीयाग्नि होकर मुख में बैठती है। (३) शारीर अग्नि, जठर में हवि प्राप्त करती है, वही दक्षिणाग्नि होकर हृदय में बैठती है। (४) कोष्ठाग्नि गार्हपत्य होकर नाभि में रहती है। (५) उससे नीचे प्रायश्चित्ती अग्नियें प्रजननांग में रहती हैं। ये पांचों शरीर धारण करने से 'धिषण,' शरीर में विद्यमान रहने से 'धिष्ण्य' कहाती हैं। अथवा 'धिषणा' बुद्धि द्वारा प्रेरित होने से 'धिष्ण्य' कहाती हैं।



[६८ (७०, ७१)] स्त्री के कर्त्तव्य।

शंतातिर्ऋषिः। सरस्वती देवता। १ अनुष्टुप्। २ त्रिष्टुप्। ३ गायत्री। तृचं सूक्तम् ॥

सर॑स्वति व्र॒तेषु॑ ते दि॒व्येषु॑ दे॒वि धाम॑सु।
जु॒षस्व॑ ह॒व्यमाहु॑तं प्र॒जां दे॑वि ररास्व नः ॥ १ ॥

भा०—हे (सरस्वति) सरस्वती रस-अन्न आदि से गृह भर को पुष्ट करनेहारी स्त्रि ! (ते) तेरे कार्यों में और (दिव्येषु) दिव्य, रमण करने योग्य, या व्यवहार करने योग्य (धामसु) तेजों में, सामर्थ्यों में हमारा (आहुतम्) दिया हुआ (हव्यम्) स्वीकार करने योग्य पदार्थ ही (जुषस्व) प्रेम से स्वीकार कर और (नः) हम गृहपतियों को हे (देवि) (प्रजां) प्रजा का (ररास्व) प्रदान कर। स्त्रियाँ पतियों के प्रदान किये समस्त पदार्थों को प्रेम से स्वीकार करें और गृह में उत्तम सन्तान उत्पन्न करें। विद्या को लक्ष्य करके—हे सरस्वति। हम तेरे (व्रतेषु) नियमपूर्वक अध्ययन-अध्यापन, दिव्य सामर्थ्यों में अपना 'आहुत'

मनोयोग प्रदान करते हैं उसे स्वीकार कर, हमें प्रज्ञा का प्रदान कर। दो ही प्रकार के पुत्र हैं एक विद्यासम्बन्ध से, और दूसरे योनिसम्बन्ध से। विद्यासम्बन्ध से भी गोत्र चलते हैं और योनिसम्बन्ध से भी।

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं[1] यत्।
इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम ॥२॥

भा०—हे (सरस्वती) सरस्वती देवि! प्रियतमे! (ते हव्यम्) तेरा भोज्य पदार्थ (इदम्) यह (घृतवत्) घृत आदि पुष्टिकारक, गर्भ-पोषक पदार्थों से युक्त हो। इदम् यही (पितॄणां) बालकों के उत्पादक पिता लोगों का भी (हविः) अन्न है (यत्) जो (आस्यम्=आश्यम्) खाने योग्य है। (ते) तेरे (इमानि) ये (उदितानि) उच्चारण किये वाक्य (शं-तमानि) बहुत कल्याणकारी और सुखकारी हों। और (वयम्) हम (तेभिः) उन तेरे मधुर वचनों से ही (मधुमन्तः) हृदय में आनन्द और हर्षयुक्त (स्याम) हो जांय।

विद्यापक्ष में—हे विद्ये! सरस्वति! यह तेरा प्राप्त करने योग्य तेजो-मय रूप है जिसको पितृ=पालक गुरु आदि भी प्राप्त करते हैं (यत् आस्यम्) और जो शिष्यों के प्रति देने योग्य है। तेरे समस्त वचन कल्याणकारी हों और उनसे हम मधुमान् या ज्ञानी और आनन्दमय रहें।

शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वति।
मा ते युयोम संदृशः ॥ ३ ॥

भा०—हे (सरस्वति) स्त्रि! या विद्ये! तू (नः) हमारे लिये (शिवा) शुभ और (शं-तमा) अति कल्याण और सुखकारिणी

[६८] २–(द्वि०) 'पितॄणां हविराज्यं यत्' इति 'रोथ'आदिसम्मतः।
३–(तृ०) 'माते व्योम संदृशि' इति तै० आ०।

(सु-मृडीका) अति आनन्द और हर्षजनक (भव) हो (ते) तेरी (सं-दृशः) प्रेममय दृष्टि से (मा युयोम) कभी वञ्चित न हों। अर्थात् तू सदा हम पर अपनी प्रेम दृष्टि रख, हमसे कभी मुख न फेर।



[६९ (७२)] कल्याण, सुख की प्रार्थना।

शंतातिर्ऋषिः। सुखं देवता। पथ्यापंक्तिश्छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

शं नो॒ वातो॑ वातु॒ शं न॑स्तपतु॒ सूर्यः॑।
अहा॑नि॒ शं भ॑वन्तु नः॒ शं रात्री॒ प्रति॑ धीयतां॒ शमु॒षा
नो॒ व्यु/च्छतु॒ ॥ १ ॥ यजु० ३६। १०। ११।

भा०—(वातः) वायु (नः) हमारे लिये (शं) सुखकारी होकर (वातु) वहे। (सूर्यः) सूर्य (नः) हमारे लिये (शं) सुखकारी होकर (तपतु) तपे। (नः) हमारे (अहानि) दिन (शं) सुखकारी हों। (रात्री) रात्रिमें (शं) सुखकारी (प्रति धीयताम्) रहें। (उषा) प्रातःकाल (नः) हमें (शम्) सुखकारी होकर (व्युच्छतु) प्रकट हो।



[७० (७३)] दुष्ट पुरुषों का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। श्येन उत मन्त्रोक्ता देवता। १ त्रिष्टुप्। अति जगतीगर्भा जगती, ३–५ अनुष्टुभः (३ पुरःककुम्मती)। पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

---

[६९] १–(प्र०) "शं मे वातो निवाते शं मे तपति सूर्यः" इति पैप्प० सं०। "शं नो वातः पवतां।" (च०) 'श रात्रीः' इति यजु०।

यत् किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा यजुषा ।
तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं हन्त्वस्य ॥१॥

पैप्प लाद० १६ का० ।

भा०—(असौ) यह पुरुष, (मनसा) अपने मन से विचारता है। (यत् किंच) जो कुछ और (यत् च) जो भी (वाचा) अपनी वाणी से बोलता है। और जो कुछ (यजुषा) यजुर्वेद के अनुसार (हविषा) अन्नादि पदार्थों को (यज्ञैः) यज्ञादि कर्मों के द्वारा (जुहोति) त्याग करता है (निः-ऋतिः) पाप प्रवृत्ति (मृत्युना) मौत के साथ (सं-विदाना) एक होकर (सत्यात् पुरा) उसके सत्य अर्थात् कर्म फल के सत् रूप में आने के पूर्व ही (अस्य) इस पुरुष का (आ-हुतिम्) त्याग आदि कर्मों का (हन्तु) विनाश करती है । आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः । यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् । तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु । गीता०। १६ । १६,१९ । अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् । असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ गीता० १७ । २८ । गर्व, मद, मान (निर्ऋति) से प्रेरित होकर नामयज्ञों से जो दम्भपूर्वक यज्ञ करता है क्रूर अशुभ पापी पुरुषों को ईश्वर आसुरि योनियों में भेजता है। श्रद्धा रहित होकर किये यज्ञ, दान, तप सब दोनों लोकों में असत्, निष्फल होते हैं।

यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम् ।
इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु मा तत् सं पादि यदसौ जुहोति ॥ २ ॥

[७०] १–'यजुषा हविर्भिः' । (तृ०) मृत्युनिर्ऋत्या संविदानः पुरादिष्टादाहुतिरस्य हन्तु ।" इति तै० सं० । (द्वि०) यजुषा हविर्भिः, (च०) पुरा दृष्टां रात्र्यो हन्त्वस्य ।" इति पैप्प० सं० ॥

२-(प्र०) 'यातुधाना' इति सायणाभिमतः ।

भा०—आसुर भाव वाले पुरुषों के कार्यों के विनाश के कारणों का उपदेश करते हैं। (यातुधानाः) पीड़ाकारी लोग, (निः-ऋतिः) पाप की चाल, (आत् उ) और (रक्षः) बाधक विघ्नकारी लोग ही (अस्य सत्यम्) उसके सत्य, सत्, इष्ट फल को अपने (अनृतेन) असत्य व्यवहार से (घ्नन्तु) नाश करें। और (इन्द्र-इषिताः) इन्द्र परमेश्वर से प्रेरित (देवाः) विद्वान् व्यवहारज्ञ, पुरुष भी (अस्य) उक्त प्रकार के नीच पुरुष के (आज्यम्) सामर्थ्य, बल को (मथ्नन्तु) मथ डालें, और फल यह हो कि (यद्) जो कुछ भी (असौ जुहोति) वह त्याग करता है (तत्) वह (मा सं-पादि) कभी फल न दे।

अ॒जि॒रा॒धि॒रा॒जौ श्ये॒नौ सं॑पा॒तिना॑विव।
आज्यं॑ पृत॒न्य॒तो ह॑तां॒ यो नः॒ कश्चा॒॑भ्य॒घा॒यति॑ ॥ ३ ॥

भा०—दूसरे पर पाप से अत्याचार करने वाले का और क्या हो सो भी बतलाते हैं (नः) हमारे (यः) जो (कः च) कोई भी पुरुष (अभि-अघायति) साक्षात् रूप में हम पर पापकर्म, अत्याचार, क्रूरता और असत्य दम्भ गर्व आदि में आकर अपनी बुरी स्वार्थ भरी चेष्टाएं करना चाहता है उस (पृतन्यतः) सेना बल से हम पर आक्रमण करते हुए उसके युद्ध के सामर्थ्य सेना बल को (अजिर-अधिराजौ) अजिर और अधिराज अर्थात् शत्रुका प्रतिस्पर्द्धी राजा और इससे भी अधिक बलशाली मध्यस्थ राजा, मित्र राजा और पार्ष्णिग्रह दोनों मिलकर (सम्-पातिनौ) झपटते हुए दो (श्येने इव) बाजों के समान (हतां) विनाश करें।

अपा॑ञ्चौ त उ॒भौ बा॒हू अपि॑ नह्याम्या॒स्य॑म्।
अ॒ग्नेर्दे॒वस्य॑ म॒न्युना॒ तेन॑ तेऽवधिषं ह॒विः ॥ ४ ॥

३—'अघायन्ति' इति क्वचित्।

४—(द्वि०) 'अप नह्यामि' (तृ०च०) 'अग्निर्देवस्य ब्रह्मणा सर्वं तेऽवधिषं-कृतम्' इति तै० ब्रा०।

भा०—शत्रु के बल को नाश करके उसे कैद करें। हे शत्रो! (ते) तेरे (उभौ) दोनों (बाहू) बाहुओं को (अपाञ्ची) नीचे करके (अपि-नह्यामि) बांध दूं जिससे तू फिर हमारे विरुद्ध न उठ सकें। और तेरे (आस्यम्) मुंह को भी बांध दूं, जिससे तू कुवाच्य भी न कहे। (देवस्य) देव महाराज (अग्ने) अग्रगामी, नेता और शत्रुओं को भून डालने वाले परंतप प्रतापी राजा के (मन्युना) क्रोध से (ते) तेरे (हविः) बल वीर्य और अन्न और कर को मैं (अवधिपम्) विनाश करूं।

अपि॑ नह्यामि ते बा॒हू अपि॑ नह्याम्या॒स्य॑म्।
अ॒ग्नेर्घो॒रस्य॑ म॒न्युना॒ तेन॑ तेवा॑धिषं ह॒विः ॥ ५ ॥

भा०—हे शत्रो! (ते बाहू आस्यम् अपि नह्यामि) तेरी बाहुओं और मुखको बांध दूं। और (घोरस्य अग्नेः मन्युना, तेन ते हविः अवधि-षम्) भयंकर अग्निः नेता, राजा के क्रोध से तेरे अन्न, बल का नाश करूं।



[७१ (७४)] दुष्ट पुरुषों के नाश का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। अग्निर्देवता। अनुष्टुप्छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्रं॑ सहस्य धीमहि।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भंगु॒राव॑तः ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) हे सहस्य! बल से उत्पन्न राजन्! (वयं) हम लोग (पुरं) सर्व मनोरथों के पूरक (विप्रं) विद्वान् मेधावी, (धृषद्वर्णम्) सब शत्रुओं को पराजय करने में प्रसिद्ध, (भङ्गुरावतः)

[७१] १–(च०) 'भंगरावतम्' इति ऋ०, यजु०। 'भेत्तारं भंगुरावतः' इति तै० सं०। (द्वि०) 'विप्र सहस्व' इति पैप्प० सं०। द्विटनेरोथादि-भिर्हिरिवर्षायैः (द्वि०) 'वप्रं', (तृ०) 'दृषद्वर्णं' इति पाठ इष्यते।

राष्ट्र को तोड़ फोड़ डालने वाले लोगों को (हन्तारं) विनाश करने हारे (त्वा) तुझको (दिवे दिवे) प्रति दिन, सदा (धीमहि) अपने राष्ट्र में पुष्ट करके स्थापित किये रहें ।

देहस्वरूप राष्ट्र में आत्मा को, हृदय में और ब्रह्माण्ड में ईश्वर को भी इसी प्रकार हम धारण करें और ध्यान करें ।



[७२ (७५, ७६)] योग द्वारा आत्मा का तप ।

अथर्वा ऋषिः । इन्द्रोदेवता । १ अनुष्टुप्, २,३ त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

उत् तिष्ठतावं पश्यतेन्द्रंस्य भागमृत्वियम् ।
यदिं श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन ॥ १ ॥

ऋ० १० । १७९ । १ ॥

भा०—हे लोगो ! (उत् तिष्ठत) उठो, (अव पश्यत) देखो, (इन्द्रस्य) इन्द्र राजा का (ऋत्वियम्) ऋतु अनुकूल (भागम्) भाग (यदि श्रातं) यदि परिपक्व होगया है तो (जुहोतन) दे दो (यदि अश्रातं) यदि नहीं पका है तो (ममत्तन) पकाओ ।

अध्यात्म में—हे साधक नेता, उठो इन्द्र आत्मा के (भागं) सेवन करने योग्य (ऋत्वियं) सत्य ज्ञान, ब्रह्ममय, प्राप्तव्य मोक्ष पदको देखो, (यदि श्रातं) उसका परिपाक होगया है तो उसको आत्मा के निमित्त अर्पण करो । यदि नहीं पक्व हुआ उसको परिपक्व कर लो अथवा (ऋत्वियं,

[७२] —ऋग्वेदे प्रथमस्य शिविरौशीनर ऋषिः । द्वितीयस्य प्रतर्दनः काशिराजः, तृतीयस्य वसुमना रौहिदश्व ऋषिः ।

१–(तृ०) 'यदिश्रातो', (च०) 'यद्यश्रातो' इति ऋ० ।

भागं) ऋतु=प्राण सम्बन्धि भाग अंश इन्द्रिय गणका निरीक्षण करो, यदि वह ज्ञान और तप द्वारा पक्क हैं तो उनको आत्मा में लीन करलो यदि नहीं तो उनको तप से पक्क करलो ।

श्रातं ह॒विरो ष्विन्द्र॒ प्र याहि ज॒गाम॒ सूरो॒ अध्व॑नो॒ वि मध्य॑म् ।
परि॑ त्वासते नि॒धिभिः॒ सखा॑यः कुल॒पा न व्रा॒जप॑तिं॒ चर॑न्तम् ॥२॥

भा०—हे इन्द्र ! आत्मन् ! प्रभो ! (श्रातं हविः) आदान योग्य वह ब्र समाधि रस परिपक्क हो गया है, (उ प्र याहि) और समक्ष आओ, प्रकट होओ । वही (सूरः) सब का प्रेरक आत्मा (अध्वनः) हृदय आकाश के मध्यभाग में (वि) विशेष रूप से (जगाम) आ गया है । हे आत्मन् ! (त्वा) तेरे (परि) चारों ओर (सखायः) तेरे मित्र प्राण या समाहित मुक्तजन (निधिभिः) नाना प्रकार की सिद्धियों द्वारा प्राप्त ज्ञान, शक्तिरूप रत्नों से भरे स्वजनों सहित अथवा विशेष धारणाओं सहित (अ-सते) तेरी उपासना उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार (कुल-पाः न) कुलके पालक पुत्र या शिष्य गण (व्राज-पतिं) गृह के स्वामी पिता या आचार्य को (चरन्तं) विचरण करते समय या भोजन करते समय उसके चारों ओर रहते हैं ।

यज्ञपक्ष में—हवि अन्न पक गया है, हे इन्द्र ! आगे आओ, सूर्य आकाश के मध्य भाग में आगया है, तेरे मित्र (ऋत्विग्-गण) अपने मन्त्रस्तोमों सहित तेरी उपासना उसी प्रकार करते हैं जैसे पुत्रगण कुल-पिताकी ।

श्रा॒तं म॑न्य॒ ऊध॑नि श्रा॒तम॒ग्नौ सुश्रृ॑तं मन्ये॒ तदृ॒तं नवी॑यः ।
माध्यं॑न्दिनस्य॒ सव॑नस्य द॒ध्नः पिबे॑न्द्र वज्रिन् पुरुकृज्जुषा॒णः ॥३॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! आत्मन् ! (तत्) उस अलौकिक, परम (नवीयः) सबसे अधिक प्रशंसनीय; स्तुति के योग्य, अति नवीन सदा

३–(प्र०) 'सुश्रातं मन्ये तदृतं' (च०) 'पुरुकृत्' इति ऋ० ।

उज्वल (ऋतं) सत्य ज्ञानमय परम् ब्रह्मरस को (ऊधनि) ऊर्ध्व, स्वर्गमय परम मोक्षाख्य पद में (श्रातं) सुपरिपक्क रूप से ही (मन्ये) मनन करता हूं, जानता हूं। और (अग्नौ) फिर अग्नि, ज्ञानमय गुरुके समीप वास करने पर भी (श्रातं) तपस्या द्वारा, तपरूप से उसी को पकाया, उसीका अभ्यास किया है। और इस प्रकार अब समाधियोग होने पर उसको (सु-शृतं मन्ये) उत्तम रीति से परिपक्क हुआ जानता हूं। (माध्यन्दिनस्य) दिन के मध्य भाग मध्याह्न काल, ब्रह्म-प्रकाश के हृदयाकाश में अति उज्वलरूप में प्रकाशमान होने के (सवनस्य) सवन काल में उत्पन्न (दध्नः) ध्यानाभ्यास रसका (पिब) पान कर। हे (वज्रिन्) ज्ञानवज्र के धारण करनेहारे आत्मन् ! तू (जुषाणः) उसका सेवन करता हुआ उस रसका प्रेमी होकर (पुरु-कृत्) नाना इन्द्रियगण को अपने वश करके ध्यानाभ्यास रसका पान कर।



[७३ (७७)] ब्रह्मानन्द रस।

अथर्वा ऋषिः। अश्विनौ देवते। घर्मसूक्तम्। १, ४, ६ जगत्यः। २ पथ्या बृहती। शेषा अनुष्टुभः। एकादशर्चं सूक्तम्।

समि॑द्धो अ॒ग्निर्वृ॑षणा र॒थी दि॒वस्त॒प्तो घ॒र्मो दु॑ह्यते वामि॒षे मधु॑।
व॒यं हि वां॑ पुरु॒दमा॑सो अश्विना॒ हवा॑महे सध॒मादे॑षु का॒रवः॑ ॥१॥

भा०—हे (अश्विना) दोनों अश्वियो ! स्त्री पुरुषो ! (दिवः) द्यौलोक आकाश का (रथी) रथवाला, विजयी, रमणकारी, प्रकाशमान

[७३] १–(प्र०) 'समिद्धो अग्नि रश्विनौ' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'वयं हि वां पुरुतमासः', 'वृषणारातिर्दिव', 'वृषणारथिर्दिवः' इत्यपि आश्व० श्रौ० सू०, शां० श्रौ० सू०॥

(अग्निः) सूर्य (सम्-इद्धः) खूब प्रकाशमान होरहा है । (घर्मः) घर्म, घाम (तप्तः) तप गया है । (वाम्) तुम दोनों के लिये (इषे) अन्न के उपभोग के लिये (मधु) मधुर दुग्ध (दुह्यते) दुहा जाता है । हे (अश्विनौ) दोनों स्त्री पुरुषो ! (पुरु-दमासः) इन्द्रियों को दमन करने हारे अथवा बहुत से घरों वाले धनाढ्य (वयं) हम (कारवः) कार्य करने में समर्थ पुरुष (सध-मादेषु) एक साथ आनन्द हर्ष के अवसरों पर (वयं) तुम दोनों को (हवामहे) आमन्त्रित करते हैं । जब सूर्य उग आवे, गाय दुही जायं, सम्पन्न लोग विद्वान् स्त्री पुरुषों को अपने यहां आमन्त्रित करें । अध्यात्म में—साधक नात्मज्ञान होने पर साक्षात् करता है, वह (दिवः रथी) मोक्षाख्य प्रकाश का रमण-कारी आत्मा अग्नि अब चेत गया है । घर्म=तेजोमय रस प्राप्त होगया है । प्राण और अपान दोनों के निमित्त मधुर रसका दोहन किया जाता है । इन्द्रियों के विजेता जितेन्द्रिय हम उन अश्वियों प्राणों को समाधि काल के आनन्द प्राप्ति के कालों में उनका आगमन करते हैं ।

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां घर्म आ गतम् ।
दुह्यन्ते नूनं वृषणेह धेनवो दस्रा मदन्ति वेधसः ॥२॥

यजु० २० । ५५ ॥

भा०—हे (अश्विना) अश्वियो ! (अग्निः) अग्नि सूर्य या यज्ञ की अग्नि (सम् इद्धः) प्रदीप्त होगई और (वां) तुम दोनों के लिये (घर्म) तेजस्वरूप रस (तप्तः) प्रतप्त परिपक्व होगया । (आगतम्) तुम दोनों प्रकट होओ । हे (वृषणा) सुखों और बलोंके वर्षक तुम दोनों (इह) इस देह और गेह में (धेनवः) रसका पान कराने वाली प्राण

२—(द्वि०) 'तप्तो घर्मो विराट्सुतः' (तृ० च०) 'दुहे धेनुः सरस्वती सोमं शुक्रमिहेन्द्रियम्' इति यजु० ॥ (तृ०) 'दुह्यन्ते गावो', शाखा (च०) 'मदन्ति कारवः' इति शांखा०; आश्व० श्रौ० सू० ।

वृत्तियाँ और गौवें (दुह्यन्ते, दुही जाती हैं । हे (दस्रा) दर्शनीयरूप तुम दोनों ! हे सब दुःखों के विनाशक तुम दोनों के बल पर ही (वेधसः) देह का कार्य करने वाले इन्द्रियगण, गृहका कार्य सम्पादन करने वाले भृत्यगण, यज्ञ का कार्य सम्पादन करने वाले ऋत्विग्गण (मदन्ति) आनन्द प्रसन्न होते हैं या तुमको प्रसन्न करते हैं । अध्यात्म में आत्मा के प्रकाशित होने पर वहीं आत्मा का आनन्द उन प्राण और अपान के लिये परम है जो जीवन का वास्तविक आनन्द है । उस समय ये इन्द्रियें भी परमरस युक्त संवित् ज्ञाने प्राप्त करती हैं और (वेधसः) कर्मेन्द्रियें भी स्वयं प्रसन्न रहती और आत्मा को प्रसन्न करती हैं ।

स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः ।
तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति ॥३॥

भा०—(यज्ञः) यज्ञस्वरूप आत्मस्वरूप (शुचिः) सब तामस आवरणों से रहित होकर (देवेषु) विषयों में क्रीड़ाशील इन्द्रियों, विद्वानों, दिव्य पदार्थों या अन्य प्राणों के भीतर (स्वाहा-कृतः) स्वयम् अपने शक्ति से प्रविष्ट होकर विराजमान हैं । (यः) जो (अश्विनोः) अश्वि=प्राण और अपान दोनों के (चमसः) शक्ति प्राप्त करने के या अन्नरस खाने के चमस रूप हैं वही (देव-पानः) देव इन्द्रियों के रसपान करने का स्थान है । (विश्वे) समस्त (अमृतासः) आत्मा या मुक्तजन (तम् उ) उसका ही (जुषाणाः) सेवन करते हुए (गन्धर्वस्य) गौ वाणी को धारण करने हारे मुख्य प्राण रूप सूर्य के (आस्ना) मुख या प्रेरक शक्ति के द्वारा (प्रति-हन्ति) जिसको प्राप्त होते हैं, जिसका रसास्वादन करते हैं ।

यदुस्त्रियास्वाहुतं घृतं पयोयं स वामश्विना भाग आ गतम् ।
माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबतं रोचने दिवः ॥४॥

३–(द्वि०) 'देवेषु घर्मः' । (तृ०) 'तमाप् विश्वे' इति पैप्प० सं० ।
४–(च०) 'पिबतं सोम्यं मधु' इति, आश्व० श्रौ० सू० ॥

भा०—(यत्) जो शक्तिरस (उस्रियासु) उत्सर्पणशील इन्द्रिय रूप गौओं में (घृतं) आत्माको तेजोमय चेतनांश (आ-हुतं) प्रदान किया गया है (पयः) वह पुष्टिकारक अंश वास्तव में है (अश्विनौ) प्राण और अपान (सः) वह (वां भागः) तुम दोनों का भाग है। उसको प्राप्त करने के लिये तुम इस देह में, यज्ञमें (आगतम्) आओ, निरन्तर रहो। हे (विदथस्य) इस वेदना चेतनामय जीवनरूप यज्ञके (धर्त्तारौ) धारण करने हारो ! आप (माध्वी) मधुरूप आत्माको धारण करने हारे और (सत्पती) सतस्वरूप आत्माके पालक हो। आप उस (तप्तम्) तपे हुए, तप, स्वाध्याय, प्रवचन, शम, दम कृत, तितिक्षा, मुमुक्षा आदि साधनों से प्रतप्त, परिपक्व (घर्मम्) तेजोमय आत्मरस को (पिबतम्) पान करो, प्राप्त करो। जो (दिवः) द्यौ मूर्धास्थान के प्रति (रोचने) प्रकाशमान भाग में विराजता है।

तप्तो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरतु पयस्वान् ।
मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्रियायाः ॥ ५ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्वियो ! (वां) तुम्हें (घर्मः) ज्योतिर्मय आत्मानन्दरस (नक्षतु) व्याप्त करे। (स्व-होता) स्वयं तुम्हारा होता=आदान प्रतिदान करने हारा (अध्वर्युः) कभी विनाश न होने वाला आत्मा (वाम्) तुम्हारे बल पर (पयस्वान्) पुष्टिप्रद पदार्थों और ज्ञान और आनन्दरस से युक्त होकर (प्र चरतु) उत्तम, श्रेयोमार्ग में विचरण करे। हे अश्विनौ ! (तनायाः) देह के सब कार्यों का विस्तार करने वाली (उस्रियायाः) उत्सर्पणशील चेतना शक्ति के (मधोः) मधुमय, अमृत

५—(तृ०) 'प्रयस्वान्' इति सायणाभिमतः। (प्र०) 'नक्षति' (द्वि०) 'करति प्रयस्वान्' इति आश्व० शांख० श्रौ० सूत्र। (प्र०) नक्षतुस्म होता, (तृ०) 'तनाय वीतं' इति पैप्प० सं०।

(दुग्धस्य) दुहे गये, प्राप्त हुए (पयसः) ज्ञान राशिको (वीतं) और प्रकाशित करो। प्राणायाम के बल से आत्मा के आनन्द को प्राप्त करो। चिति शक्ति की ऋतम्भरा प्रज्ञाको प्राप्त करके परमानन्द का सुख उपभोग करो।

उप॑ द्रव॒ पय॑सा गोधुगो॒षमा घ॒र्मे सि॑ञ्च॒ पय॑ उ॒स्रिया॑याः ।
वि नाक॑मख्यत् सवि॒ता वरे॑ण्योनुप्र॒यार्ण॑मु॒षसो॒ वि रा॑जति ॥६॥

प्र० द्वि० मृ० ५ । ८१ । २ ॥

भा०—हे (गोधुक्) चितिशक्ति रूप कामधेनु को दोहन करने वाले अभ्यासिन् आत्मन् ! (ओपम्) उप=दाहकारी, अन्धकारनाशक तेजको (पयसा) आत्मा के बल-सम्पादक तृप्तिकर आनन्दरस के साथ मिलाकर (उप द्रव) उस रसमय परब्रह्म के अति निकट पहुंचने का यत्न कर। और (उस्रियायाः) ऊर्ध्व ब्रह्माण्ड मूर्धा भाग की ओर ऊर्ध्व-गामी वीर्य के बल से सर्पण करने वाली क्रम से मूल भाग से प्रारम्भ कर के ऊपर की ओर चेतना होती हुई चिति शक्ति के उस (पयः) आनन्द रसको (घर्मे) उस ज्योतिर्मय साक्षात् रसमें (सिञ्च) मिला। (सविता) सबका प्रेरक, प्रभु स्वतः साक्षात् ज्योतिर्मय, सब पदार्थों का प्रकाशक, (वरेण्यः) सब योगियों का परम वरणीय, श्रेष्ठ, उस दशा में आत्मा में (नाकम्) दुःख से सर्वथा रहित आनन्द ही आनन्दमय स्वरूप को (विख्यत्) विशेष रूप से प्रकाशित करता है। और अभ्यासी की यह

६–'गोधुगोपुम्' (तृ०) 'नाकमख्यद्दमूनाव्वरेण्यं' (च०) अनुधावा पृथिवी सुप्रणीते' इति च शा० श्रौ० सू० । 'पयसा गोपुमा घर्मे' इति आश्व० श्रौ सू० ॥ 'विनाकम ख्यत् सविता वरेण्योऽनुधावा पृथिवी सुप्रणीतिः' इति पैप्प० सं० ॥
(प्र०, द्वि०) विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः, प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे' इति प्रथम द्वितीयौ पादौ मिघेते ॥ ऋ० ॥

दशा आजाने पर (उषसः) तामस आवरण के विनाशक विशोका, ज्योतिष्मती या ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय होने के (अनुप्रयाणं) अनन्तर ही वह ज्योतिर्मय सविता साक्षात् तेजोमय ब्रह्मका स्वरूप (वि राजति) प्रकाशित होता है ।

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम् ।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचत् ॥७॥
ऋ० १ । १६४ । २६ ॥ अथर्व० ६ । १० । ४ ॥

भा०—मैं (एताम्) इस (सु-दुघाम्) सुख से दोहन करने योग्य (धेनुम्) आनन्द रस पान कराने वाली, ब्रह्ममयी, चिन्मयी, आनन्दघन कामधेनु को (उप ह्वये) स्मरण करता हूं । (एनाम्) इसको कोई (सु-हस्तः) कुशल (गो-धुक्) गोरूप आत्माका दोहन करने हारा (उत) हो (दोहत्) दुह सकता है । (सविता) सबका प्रेरक प्रभु (नः) हमें (श्रेष्ठं) सबसे अधिक श्रेय कल्याणकारी परम मंगलमय (सवम्) ज्ञान, परम प्रेरणा का (साविषत्) प्रदान करता है और तब (अभीद्धः) सब प्रकारों और सब तरफों से प्रकाशमान तेजोमय (घर्मः) परम रस, आनन्दस्वरूप ब्रह्म साक्षात् होता है । और (तत् उ) उस परमरूप का ही (सु) उपनिषद् आदि ग्रन्थों में ध्यानी ज्ञानी ऋषिगण, उत्तम रीति से (प्र वोचत्) प्रवचन करते हैं, शिष्यों का उसका उपदेश करते हैं ।

आधिभौतिक में वर्षा से सब प्रजाओं को जीवन देने हारी मेघरूप धेनु का मैं उपदेश करता हूं । सुहस्तः दोहनकुशल दोग्धा वायु उसका दोहन करता है । सूर्य उसको प्रेरित करता है । जब (घर्म) घाम खूब तपता है तभी यह वर्षा होती है । अथवा (एतासां सुदुघां अहं धेनुम् उपह्वये) उत्तम पदार्थ उत्पन्न करते हुए इस (गौ, पृथिवी, मेघ धर्ममेघ-सिद्ध, आत्मा) को मैं 'धेनु' कहता हूं । (सुहस्तः गोधुक् एनां दोहत्)

७—'दीर्घतमा ऋषिर्ऋग्वेदे ।' (च०) 'तदु षु प्रवोचम्' इति ऋ० ।

कुशल दोग्धा इसको दुह पाता है। (सविता श्रेष्ठं सवं साविषत्) प्रेरक मय आत्मा, सूर्य, यजमान श्रेष्ठ यज्ञ करता है। (अभीद्धः घर्मः) घाम, रस, श्रेष्ठ; पदार्थ, तेजो युक्त रत्न आदि तपता है, प्रचलित होता है, चमकता है (तद् उ सुप्रवोचत्) उसीका उत्तम रीति से उपदेश किया जाता है।

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा न्यागन्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥ ८ ॥

ऋ० १। १६४। २७॥

भा०—जिस प्रकार (वत्सम्) बछड़े को (इच्छन्ती) चाहती हुई गाय (हिंकृण्वती) 'घिं घिं' इस प्रकार शब्द करती हुई, भंभारती हुई बछड़े के पास आजाती है उसी प्रकार (वसुपत्नी) देह में मुख्य रूप से वास करने वाले आत्मारूप वसुकी 'पत्नी' शक्तिस्वरूप चिति शक्ति (वसूनां) अपने पुत्ररूप अन्य प्राणरूप वसुओं के निमित्त (मनसा) मनो बल से (नि-आगन्) उनको प्राप्त करती है। उनतक पहुंचती है। और जिस प्रकार (इयम्) यह (अघ्न्या) कभी न मारने योग्य, सुशीला, गोमाता (अश्विभ्यां) स्त्री पुरुषों, गृह के निवासी जनों को (पयः दुहाम्) दूध प्रदान कराती है, उसी प्रकार यह चिति शक्ति या ब्रह्ममयी धेनु (अश्विभ्यां) प्राण और अपान या आत्मा और अन्तःकरण दोनों के लिये (पयः) पुष्टिकारक और तृप्तिकारक ज्ञान तौर बल रूप रसको (दुहाम्) प्रदान करती है। (सा) इसलिये वह अघ्न्या गौ (महते सौभगाय) बड़े सौभाग्य समृद्धि और सुख के लिये (वर्धताम्) बढ़े। वर्षा के पक्ष में मेघरूप गौ गर्जन करती हुई अन्न आदि वसुका पालन करती है। चर अचर प्राणियों के लिये तृप्तिकारक जल प्रदान करती है। अध्यात्म में धर्म मेघ समाधि की दशा में चितिशक्ति (वसुपत्नी) वसु।

१—'ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः।' (द्वि०) 'मनसाऽभ्यागात्' इति ऋ०॥

इन्द्रियों की पालिका है वह (वत्सम् इच्छन्ती) वत्स मनको चाहती है, और (मनसा अभ्यागत्) मनन शक्ति द्वारा ही उसको प्राप्त करती है। (अश्विभ्यां पयः दुहाम्) प्राण और अपान जीव या अन्तःकरण या सिद्ध और साधक दोनों को रस प्रदान करती हुई, (अघ्न्या) अमर अविनाशी होकर (महते सौभागाय) बड़े भारी परम उत्कृष्ट सेवनीय मोक्ष-धाम के लिये (वर्धताम्) बढ़े, शक्तिशाली हो।

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥६॥
ऋ० ५। ४। ५॥ ५। २८। ३॥

भा०—(दमूनाः) जितेन्द्रिय, जितचित्त (अतिथिः) अतिथि के समान पूजायोग्य सर्वत्र व्यापक या निरन्तर गतिशील, ज्ञानवान् (दुरोणे) देहरूप गृह में (जुष्टः) अति प्रसन्न, अपने कर्म फलों को करने हारा आत्मा (नः) हमारे हम इन्द्रियगण के (इमं यज्ञम्) इस यज्ञको, परस्पर संगत हुए प्राणों के परस्पर आदानप्रतिदानमय व्यवस्थित जीवनमय यज्ञ को (उप याहि) प्राप्त हो। हे (अग्ने) सबके अग्रणी सेनापति या राजा जिस प्रकार परन्तप होकर (विश्वाः) समस्त (अभि-युजः) आक्रमणकारी सेनाओं को (विहत्य) विनाश करके (शत्रूयताम्) अपना बल नाश करने वाले, अपने पर आक्रमणकारी शत्रुओं के (भोजनानि) भोजन सामग्री को छीनकर अपने लोगों का ला देता है, उसी प्रकार हे आत्मन्! तू (विश्वाः) समस्त (अभियुजः) प्रत्यक्ष रूपसे इन्द्रियों से योग करने वाले पदार्थों को (विहत्य) प्राप्त कर उनको अपने अधीन करके (शत्रूयताम्) अपने शत्रु के समान 'त्वं' कारास्पद आत्मा से भिन्न पदार्थों के (भोजनानि) भोग योग्य फलों को प्राप्त कर, हमें इन्द्रियों के निमित्त प्राप्त करा। इन्द्रिगण का

६—'अस्या ऋग्वेदे वसुश्रुत आत्रेय ऋषिः ॥

आत्मा के प्रति वचन है । प्रजा या सेनानायक का अपने सेनापति या राजा के प्रति वचन भी स्पष्ट है। आत्मा के अतिथि आदि नाम उपनिषद् में स्पष्ट कहे हैं।

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् होता वेदिषद् अतिथिर्दुरोणसत् ॥

(क० उप० वल्ली ५ । क० २)

अग्ने शर्ध महते सौभगाय तवं द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु ।
सं जास्पत्यं सुयमसा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि ॥१०॥

ऋ० ५ । २८ । ३ ॥ यजु० ३३ । १२ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी ! ज्ञानवान् तू (मतेह सौभगाय) बड़े भारी सौभाग्य, उत्तम यश और सुखसम्पत्ति प्राप्त करने के लिये (शर्ध) [1] उत्साह कर, इस प्रकार के (तव) तेरे (उत्तमानि) उत्तम, उत्कृष्ट कोटिके (द्युम्नानि) यश और धन (सन्तु) हों । हे राजन् ! तू (जास्पत्यं) [2] पति पत्नी के परस्पर के दाम्पत्य सम्बन्ध को (सुयमम्) उत्तम रीति से सुदृढ़ (सम् आकृणुष्व) कर । और (शत्रूयताम्) शत्रु के समान आचरण करनेवाले पुरुषों के (महांसि) सब तेजों, बलों को (अभि तिष्ठ) दबा । राजा अपने पराक्रम से राज्य सम्पत्ति बढ़ावे, राष्ट्र में पतिपत्नी के सम्बन्ध को सुदृढ़ करे। और शत्रु के समान व्यवहार करनेवाले राजद्रोहियों के बलों को दबावे ।

१०–ऋग्यजुषोर्विश्ववारा आत्रेयी ऋषिका ।

१. शर्धद् उत्सहता मिति निरुक्तं (नै० अ० ४ । ख० १९) आर्द्रहृदयो भवतु इति सायणस्ताच्चिन्त्यम् । 'जास्पत्यं' जाया च पतिश्च जास्पती, तयोः कर्म इति सायणः । दाम्पत्यमित्यर्थः ।

सूयवसाद् भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥११॥

भा०—पुनः उसी गौ का वर्णन करते हैं। हे (अघ्न्ये) न मारने योग्य अघ्न्या गौ ! तू (सु-यवस-अत्) उत्तम जौ की भुस खाकर (ही) निश्चय से (भग-वती) दूध आदि सौभाग्यशाली पदार्थों से युक्त (भूयाः) हो। (अधा) और (वयं) हम भी (भग-वन्तः) सुख सम्पत्तिमान् (स्याम) हों। हे (अघ्न्ये) गौ ! तू (विश्व-दानीम्) सदा ही (तृणम्) घास (अद्धि) खा और (आ-चरन्ती) सब तरफ विचरती हुई (शुद्धम्) स्वच्छ (उदकम्) जलका (पिब) पान कर। अध्यात्म पक्ष में–विड् वै यवः। राष्ट्रं यवः। तै० ३। ९०। ७। २। यवस कभी जुदा न होनेवाले प्राण सामर्थ्यों का ही भोग करती हुई आन्तरिक शक्तियों के ही चमत्कारिक विभूतियों का भोग करती हुई चितिशक्ति (भग-वती) ऐश्वर्यवती हो। और इस प्रकार हम साधक भी ऐश्वर्यवान् हों। वह ज्योतिष्मती मुक्तिदायिनी चिति शक्ति या ज्ञानमयी, ब्रह्मगवी, या साधक की ज्ञानमुद्रा (अद्धि तृणम्) उस समय तृण=विनाश योग्य इस शरीर को खा जाती है, देह को अपने में लीन कर लेती है, और साधक विदेहप्रकृतिलय होने की चेष्टा करता है। और चिति शक्ति स्वतः शुद्ध उदक=स्वच्छज्ञान 'ऋत' का पालन करती हुई विचरती है वहीं ऋतम्भरा प्रज्ञाका उदय है। (तत्र निरतिशयं सार्वज्ञबीजम्। यो० सू० ॥) उस समय चितिशक्ति की सर्वज्ञशक्ति का उदय होता है।

राष्ट्र पक्ष में यवस=राष्ट्रकी आय उसको खाकर राज की ईश्वरी शक्ति

११–'अथो वयम्' इति आप०, कात्या० श्रौ० सू० अस्या ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः

सर्वत्र अघ्न्या=अविनाशी होकर रहे, राष्ट्रवासी हम भी प्रभु के समान ऐश्वर्यवान् हों। वह तृण=शत्रु को खाय और शुद्ध उदक 'राष्ट्र का' पालन करे।

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि चतुर्दश, ऋचो द्वाचत्वारिंशत् ।]



[७४ (७८)] गण्डमाला की चिकित्सा।

अथर्वा ऋषिः । १, २ अपचित्-नाशनो देवता, ३ त्वष्टा देवता, ४ जातवेदा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम ।
मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥१॥

भा०—(लोहिनीनां) लाल वर्ण की (अप-चिताम्) गण्डमाला की फोड़ियों की (माता) उत्पादक जननी (कृष्णा) कृष्ण वा नीले रंग की नाड़ियां होती हैं। (इति) इस प्रकार (शुश्रुम) हम अपने गुरुओं से सुनते हैं। (अहम्) मैं (ताः सर्वाः) उन सब को (देवस्य) प्रकाशमानं (मुनेः) मुनि, तेजस्वी अग्नि के (मूलेन) प्रतिष्ठास्थान, आ :-भूत, तीव्र जलन पैदा करनेवाले पदार्थ से (विध्यामि) बेधता हूँ।

कौशिक सूत्र में गण्डमाला के रोग की चिकित्सा के लिये कुछ प्रयोग इस प्रकार लिखे हैं १—तीखी शलाका (शर) से गण्डमालों की फोड़ियों को फोड़कर उनका रक्त निकालना । २—प्रातःकाल गरम जल से धोना । ३—ऊपर काली ऊनको जलाकर उसको घी में मिलाकर मल्लम बनाकर लगाना, ४—कुत्ते से चटाना, ५—गले पर गन्दा खून निकालने के लिये गोह या जोंक लगाना, ६—सेंधा नमक पीस कर उन पर छिड़ककर मिट्टी लगा कर मलना । ७—तांत से गण्डमाला के मस्सों को बांधना।

विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम् ।
इदं जघन्या/मासामा च्छिनद्मि स्तुकामिव ॥ २ ॥

भा०—(आसाम्) इन गण्डमालाओं में से (प्रथमाम्) प्रथम हुई आपची को (विध्यामि) तेज़ शलाका से या नस्तर से वेंधता हूँ। (उत्) और (मध्याम्) बीचकी को भी छेदता हूं। (इदम्) और इसी प्रकार से (आसाम्) इनमें से (जघन्याम्) सबसे निकृष्ट कोटि की अपची को भी (स्तुकाम्) फुनसी के समान (आ छिनद्मि) काट डालता हूं। दोष की अधिकता, समता और न्यूनता से अपची के तीन भेद हैं, १ म, जिसमें अधिक मवाद हो, २ य, जिसमें कम, ३ य, जिसमें बहुत सामान्य। तीनों की उत्तम रीति से चिकित्सा करे।

ईर्ष्या का उपाय।

त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि त ईर्ष्याममीमदम् ।
अथो यो मन्युष्टे पते तमु ते शमयामसि ॥ ३ ॥

भा०—पति कहता है। हे पत्नी! मैं (ते) तेरे हृदय की (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या के भाव या दूसरे की उन्नति और कीर्ति देखकर दिलमें पैदा हुई जलन को (त्वाष्ट्रेण) त्वष्टा इन्द्र परमेश्वर या पति के (वचसा) वचनों से, अर्थात् पति पद पर रहकर उसीके पदके योग्य अपने मधुर वचनों से (वि अमीमदम्)[1] तृप्त करता हूं या दूर करता हूं, शान्त करता हूं। स्त्री कहती है। हे (पते) स्वामिन्! पालक! नाथ! प्राणपते! (अथ) इसके बाद भी (यः) जो (ते) तेरा (मन्युः) क्रोध मेरे प्रति हो। (तम् उ) उसको भी (शमयामसि) हम शांत करें।

---

[७४] ३—१. मद तृप्तियोगे (चुरादिः), मदी हर्षग्लेपनयोः (दिवादिः) मदि मोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु (भ्वादिः), मदी हर्षे (भ्वादिः)।

इस ऋचाके पूर्वार्ध में पत्नि के प्रति पतिका वचन और उत्तरार्ध में पति के प्रति पत्नीका वचन है।

त्वष्टा पशूनां, मिथुनानां रूपकृद्रूपपतिः। तै० २। ८। ११। २॥ त्वंष्टा वै रेतःसिक्तं विकरोति। कौ० ३। ९॥ रेतः सिक्तिर्वै त्वाष्ट्रः॥ कौ० ११। ६॥ त्वष्टा, पशुओं का या दम्पति जोड़ों का बनाने वाला रूपपति (सब जातियों का स्वामी) है। वही प्रभु माता के गर्भों में समानरूप से सिक्त वीर्य को नाना प्रकार से परिपक्व करके भिन्न रूपका बनाता है। अथवा रेतःसेचन का कार्य त्वष्टा का है अतः त्वष्टा=प्रजापति और पति।

ज्ञानवान् की उपासना।

व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीह।
तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उप सदेम सर्वे ॥४॥

भा०—हे (व्रतपते) व्रतका पालन कराने हारे कर्मों के आचार्य, हे (जातवेदः) जातवेदा! जातप्रज्ञ विद्वन्! (त्वं) तू (व्रतेन) अपने महान् व्रत नियत कर्त्तव्य पालन के कार्य से (सम्-अक्तः) भली प्रकार सुशोभित हो (विश्वाहा) सदा ही (सु-मनाः) उत्तम हृदय और सुचित्त, शुभ संकल्प होकर या उत्तम विद्वान्, ज्ञानवान् होकर (इह) इस लोक में प्रकाशित हो और अन्यों को प्रकाशित कर। और हे (जात-वेदः) जातप्रज्ञ, विद्वन्! (तं) उस प्रसिद्ध (सम्-इद्धम्) प्रकाशवान (त्वाम्) तुझको हम (सर्वे प्रजा-वन्तः) सब प्रजा वाले राजगण और गृहस्थी लोग (उप सदेम) तेरे समीप आवें, तेरी उपासना और सत्संग करें, तेरे ज्ञानोपदेश से लाभ उठाएं।

[७५ (७९)] गो-पालन ।

उपरिबभ्रव ऋषिः । अघ्न्या देवता, अघ्न्या स्तुतिः । १ त्रिष्टुप् ।
२ त्र्यवसाना पञ्चपदा, भुरिक् पथ्यापंक्तिः । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥ १ ॥

ऋ० ६ । २८ । ७ ॥

भा०—हे गौवो ! हम (प्रजा-वतीः) बछड़ों वाली होकर (सु-यवसे रुशन्तीः) उत्तम तृण आदि भोजन के लिये चरती हुई और (सु-प्रपाने) उत्तम जलपान के स्थान पर (शुद्धाः अपः पिबन्तीः) शुद्ध जलोंका पान करती हुई विचरो । (स्तेनः) चोर (वः) तुम पर (मा ईशत) शासन न करे । (अघ-शंसः) पापी और दूसरों को पाप करने की शिक्षा देने वाले व्यक्ति भी तुम पर (मा ईशत) स्वामी न रहें । बल्कि (रुद्रस्य) दुष्टों के रुलाने वाले राजा का (हेतिः) शस्त्र-बल (वः) तुम्हारी (परि-वृणक्तु) सब ओर से रक्षा करे ।

गौएं शुद्ध जलपान करें, उत्तम घास खावें, राजा उनकी रक्षा का प्रबन्ध करे । और चोर हत्यारों और हत्या करने के लिये दूसरों को प्रेरित करने वालों को अपने पास गौएं रखने का अधिकार न हो ।

अध्यात्म में—(प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः) उत्तम ज्ञान से सम्पन्न होकर उस परमब्रह्म में विचरती हुई (सु-प्रपाणे शुद्धाः अपः पिबन्तीः) उत्तम आनन्द रससे भरे ब्रह्मधाम में ही शुद्ध स्वच्छ, निर्मल, अपःअमृत जलों का पान करती हुई विचरें । (स्तेनः अघशंसः मा ईशत) चोर

[७५] १–(प्र०) 'प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः' (च०) 'परि वो रुद्रस्य हेती वृन्याः ।' इति ऋ० ॥ अस्या ऋग्वेदे भारद्वाजो वार्हस्पत्य ऋषिः ॥

अतपस्वी और पापी इनको नहीं पावें । और (रुद्रस्य हेतिः वः परि वृणक्तु) रुद्र की आघातकारिणी शक्ति तुम पर आघात न करे । प्रत्युत रक्षा करे ।

पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः ।
उप मा देवीर्देवेभिरेत । इमं गोष्ठमिदं सदो ।
घृतेनास्मान्त्समुक्षत ॥ २ ॥

भा०—हे (रमतयः) सर्वत्र आनन्द प्रसन्न रहने हारी गौओ ! तुम (पद-ज्ञाः स्थ) अपने निवासस्थान को जानने वाली हो । और तुम (विश्व-नाम्नीः) विश्व—बहुत से नामोंवाली (सं-हिताः) एक ही स्थान पर रहती हुई (देवीः) दिव्य गुणों से युक्त होकर अथवा इधर उधर नित्य क्रीड़ा करती, विचरण करती हुई (देवेभिः) खेलते हुए अपने बछड़ों सहित (मा) मेरे पास (उप एत) आओ । (इमं) इस (गो-स्थम्) गोशाला में निवास करो (इदं सदः) यह घर है । इसमें रहो और (घृतेन) घी दूध मक्खन से (अस्मान्) हमें (सम् उक्षत) अच्छी प्रकार सेचन करो, प्रदान करो ।

गौओं के विश्वनाम—"चित् असि, मनासि, धीरसि रन्तीरमतिः सूनुः सूनरी इत्युच्चैरुपह्वये सप्त मनुष्यगवीः । आप० ४ । १० । ४ ॥ इडेरन्तेऽदिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुते इत्येतानि ते अघ्न्ये नामानि । तै० सं० ७ । १ । ८ ॥ इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योते ऽदिति सरस्वति महि विश्रुति इति ते अघ्न्ये (देवत्रा) नामानि ॥ श० ४ । ५ । ८ । १० ॥ उक्त आपस्तम्ब और शतपथ के वचनानुसार गौओं के दृष्टान्त से पुरुष देहों की चिति शक्तियों का वर्णन प्रतीत होता है । अध्यात्म में— (रमतयः) सर्वत्र विषयों में अथवा भीतरी आत्मा में ज्योतिष्मती प्रज्ञा रूपसे रमण करने वाली चितिशक्तियो ! तुम (पदज्ञाः स्थ) परमपद, आनन्द धामको जानती हो । तुम (विश्वनाम्नीः) विश्व=परमेश्वर को

प्राप्त होने वाली (सं-हिताः) भली प्रकार उससे संगत हो जाती हो। तुम (देवेभिः) इन्द्रियों में प्रविष्ट प्राणों के साथ स्वतः (देवीः) प्रकाशमान होकर (मा उप आ इत) मुझ साधक को भी प्राप्त होओ। (इमं गोष्ठं इदं सदः) इस गौओं, इन्द्रियों के आश्रयभूत मुझ आत्मा में आओ इस आश्रय स्थान आत्मा में विराजो। और (अस्मान् घृतेन उक्षत) हमें तेजोमय रससे आप्लावित करो।



[७६ (८०, ८१)] गण्डमाला की चिकित्सा और सुसाध्य के लक्षण।

अथर्वा ऋषिः। अपचित्-भिषग् देवता। १ विराड् अनुष्टुप्। ३,४ अनुष्टुप्। २ परा उष्णिक्। ५ भुरिग् अनुष्टुप्। ६ त्रिष्टुप्। षडर्चं सूक्तम्॥

आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः।
सेहोररसतरा लवणाद् विक्लेदीयसीः॥ १॥

भा०—(असतीभ्यः) बुरी से भी (असत्-तराः) बुरी बिगड़ी हुई अपची या गण्डमाला की फ़ोड़ियां यदि (सु-स्रसः) अच्छी प्रकार बह रहीं हैं तो (आ सु-स्रसः)[१] वे शीघ्र ही सुगम रीति से विनष्ट होजाती हैं। और

[७६] १–(प्र०, द्वि०) 'नामन्नसं स्वयंस्रसंन्नसतीभ्योऽसत्तराः।' इति पैप्प० सं०॥ 'आसुसस: सुसस्तराः' इति ह्विट्निकामितः पाठः। 'आऽसुसस'- इति सायणाभिमतः पदच्छेदः पदपाठविरुद्धः। 'आसुस्रसो सुस्रस्तरा' इति ब्लूमफील्डकामितः पाठः। 'आसिस्रसः' इति 'हेनरी'कामितः पाठः।

१. 'मन्त्रोषधिप्रयोगेण निशेषं स्रवणेन विनश्यन्तु' इति सायणः॥ इदं सूक्तं चतुर्ऋचं 'विद्मैव' इत्यादि त्र्यृचं सूक्तमित्यनुक्रमणिका।

यदि (सेहोः) वे शुष्क पदार्थ से भी अधिक (अरस-तरा) रसहीन, सूखी हैं तो वे (लवणात्) नमक छिड़ककर मलने से (वि-क्लेदीयसीः) विशेष रूप से जल छोड़ने लग जाती हैं ।

नमक का प्रयोग हम पूर्व लिख आये हैं। रस छोड़ती हुई गण्ड-मालाएं शीघ्र आराम होजाती हैं यह वैद्यक का सिद्धान्त है । 'सु-स्रसः' पदको विदेशियों ने बहुत बदलने की चेष्टा की है, वह मन्त्रका तात्पर्य न समझने के कारण है ।

या ग्रैव्या अपचितोथो या उपपक्ष्य/ः ।
विजाम्नि या अपचितः स्वयंस्रसः ॥ २ ॥

भा०—(याः) जो (अप-चितः) अपची या गण्डमाला फ़ोड़ियां (ग्रैव्याः) गर्दन पर हों (अथो) और (याः) जो (उप-पक्ष्याः) कन्धों, पीठ और बगलों में हो और (याः) जो (अप-चितः) फोड़ियां (वि-जाम्नि) पेट या नाभि के नीचे पेडू पर हों वे भी (स्वयं-स्रसः) अपने आप जल बहाने वाली होकर (आ-सु-स्रसः) शीघ्र ही सुख से दूर हो जाती हैं ।

विजामन्=पेट । अंग्रज़ी में 'विजामन' शब्द अपभ्रष्ट होकर (Ab, domen) 'एब-डोमन्' कहलाता है।

स्त्री भोग से प्राप्त राजयक्ष्मा का उपाय ।

यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति ।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥३॥

उपलब्धसंहितासु उभयं संभूय षडर्चं पठ्यते । अर्थभेदात् विनियोगभेदाच्च आद्ययोरेकं सूक्तम्, ततस्तिसृणामेकम्, तत एकस्या-एकमिति विवेकः ॥

३–(च०) 'कश्चित् ककुधि श्रितः ।' (द्वि०) 'तलीम्य [द्य] म्' इति

भा०—(यः) जो रोग (कीकसाः) पसुलियों को (प्र-श्रृणाति) तोड़ डालता है। और (तलीद्यम्) समीप के फैफड़ों में जाकर (अव-तिष्ठति) जा बैठता है । और (यः कः च) जो कोई रोग (ककुदि) गर्दन के नीचे कन्धों और पीठ के बीच में भी (श्रितः) जमजाता है (तं सर्वं) उस सब (जायान्यं) स्त्री द्वारा प्राप्त होने वाले राजयक्ष्मा के रोगको (निर्-हाः) शरीर से प्राण के बल से निकाल दो ।

'यज्जायान्योऽविन्दत् तज्जायेन्यस्य' इति (तै० सं० २ । ३ । ५ ॥)

पक्षी जायान्यः पतति स आ विंशति पूरुषम् ।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च ॥ ४ ॥

भा०—(जायान्यः) स्त्रियों के अतिभोग से प्राप्त होनेवाला क्षय, शोष आदि रोग (पक्षी) पक्षी के समान (पतति) एक शरीर से दूसरे शरीर में संचार कर जाता है । (सः) वही (पूरुषम्) भोग के समय पुरुष के शरीर में (आ विशति) पहले थोड़ी मात्रा में ही या शनैः प्रवेश कर जाता है । (तत्) वह निम्नलिखित उपचार (अक्षितस्य) १ म अभी जिसने चिरकाल से जड़ न पकड़ा हो और (सु-क्षतस्य=सु-क्षितस्य) २ य, जिसने खूब जड़ पकड़ भी ली हो (उभयोः) दोनों की (भेषजम्) उत्तम चिकित्सा है । अथवा (अक्षतस्य उभयोः भेषजम्) अक्षत—जिसमें छाती

पैप्प सं० ॥ 'निरास्थं' इति लडविगकामितः पाठः । 'तलीम्यां' इति रोथकामितः पाठः । 'उपतिष्ठति' इत्येपि रोथकामितः पाठः। (प्र०) 'प्रसृणाति' इति सायणाभिमतः पाठः। 'निरास्त', 'निः-अस्तं' इति च क्वचित् पाठः ॥

४–सुक्षितस्येति सायणसम्मतः पाठः । (द्वि०) 'याविशति पौरुषम्' इति पैप्प० सं० ॥ अक्षतस्य...सुक्षतस्येति वा केचित् । 'अक्षतस्ये- ति कौशिक स० ॥

का खून न आता हो, दूसरा जिसमें छाती से कट कट कर खून आने लग गया हो, दोनों की वही चिकित्सा है। अर्थात् शरीर में प्रवेश होनेवाले विषैले कीड़ों का दूर भगा देना ही इस रोग से बचने का उत्तम उपाय है।

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे ॥ ५ ॥

भा०—हे (जायान्य) क्षय रोग ! (ते जानं) तेरे उत्पन्न होने के विषय में (विद्म वै) हम निश्चय से जानते हैं कि तू हे (जायान्य) क्षय ! (यतः) जहां से (जायसे) उत्पन्न होता है । (त्वं) तू (तत्र) वहां (कथं) किस प्रकार (हनः) हानि कर सकता है (यस्य) जिसके (गृहे) घर में हम विद्वान् लोग (हविः) नाना ओषधियों से या रोग नाशक हवि या चरु को बनाकर उससे (कृण्मः) अग्निहोत्र करते हैं अर्थात् रोग नाशक हवि=चरु या अन्न द्वारा इस क्षय रोग को निकाल डालने पर सब प्रकार से क्षय दूर हो जाते हैं।

धृषत् पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम्।
माध्यंन्दिने सवन आ वृषस्व रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि ॥६॥
ऋ० ६ । ४७ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) बलवान् जीव ! तू (कलशे) अपने देह के कलश भाग अर्थात् ग्रीवा से लेकर नाभि तक के भाग में (धृषत्) बाह्य रोगों को विनाशकारी बल से युक्त होकर (वसूनाम्) देह में बसनेवाले प्राणों के (सम्-अरे) संग्राम में (वृत्र-हा) जीवन के विघ्नभूत रोग

५—(तृ० च०) 'कथं ह तत्र त्वं हन्यात् यत्र कुर्यान्महम् हविः' इति पैप्प० सं० ॥
६—'रयि स्थानो' इति पाठः, ऋ० ॥

भा०—हे (मरुतः) वीर तुरुषो ! वायु के समान तीव्र गतिवाले प्रजागणो ! और हे (वसवः) राष्ट्र के, देह के प्राण रूप या जीवन के हेतु रूप वसुगणो ! देशवासियो ! (नः) हममें से भी (यः) जो (मर्त्तः) अज्ञानी पुरुष (दुः-हृणायुः) दुष्ट, दुःसाध्य क्रोध के वश होकर (तिरः) कुटिलता से (नः) हमारे (चित्तानि) चित्तों को या सत्य मनोरथों या धर्मों को (जिघांसति) आघात पहुँचाना चाहता है (सः) वह (द्रुहः) द्रोही के योग्य (पाशान्) राजदण्ड रूप पाशों को (प्रति मुञ्चतम्) प्राप्त हो, उनमें बांधा जाय और (तम्) उसको (तपिष्ठेन) अति कष्टदायी (तपसा) यन्त्रणा से (हन्तन) मारो ।

संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः ।
ते अस्मत् पाशान् प्र मुञ्चन्त्वेनसः सांतपना मत्सरा मादयिष्णवः ॥ ३ ॥

भा०—(सं-वत्सरीणाः) एक एक वर्ष के लिये नियुक्त हुए (सु-अर्काः) उत्तम ज्ञानवान्, पूज्य, मननशील, श्रेष्ठ (उरु-क्षयाः) बड़े बड़े महलों में या भवनों में निवास करनेवाले (स-गणाः) अपने सहायकारी साथियों सहित (मानुषासः) मननशील विचारवान (मरुतः) जो देश के प्राण स्वरूप विद्वान् धनाढ्य पुरुष हैं (ते) वे (अस्मत्) हमारे (एनसः)

समुचीष्टे','तपिष्ठेन हन्मना हन्तना तम्' इति ऋ० ॥ योनो मर्त्ते वसवो दुर्हृणायुस्तिरः सत्यानि मरुतोजिघन्सात् ॥' इति तै० सं० । तस्मिन् तान् पाशान् प्रतिमुञ्चत यूयम् तपिष्ठेन तपसामश्विना शम् । इति पैप्प० सं० ।

(द्वि०) 'सगणा मानुषेषु' (तृ० च०) 'तेऽस्मत्पाशान् प्रमुञ्चन्त्वंहसः सान्तपनाः मदिराः मादयिष्णवः' इति तै० सं० । (तृ०) पाशान् प्रतिमुञ्चन्तु सर्वान्' इति पैप्प० सं० ॥

पाप के (पाशान्) पाशों को (प्र मुञ्चन्तु) उत्तम रीति से दूर करें। वे ही उस पापकारी पुरुष के (सांतपनाः) अच्छी प्रकार तपानेवाले, उसको दण्ड करनेवाले होने से (मत्सराः) स्वयं प्रसन्न होते और (मादयिष्णवः) दूसरों को भी हर्षित किया करते हैं। गर्भाधान से लेकर उपनयन, विवाह अग्निहोत्र, व्रताचार आदि करनेवाले गृहस्थ लोग 'सांतपन अग्नि' कहाते हैं। वे देश में अपनी व्यवस्था उक्त रूप से रखें और प्रतिवर्ष अपनी व्यवस्था को सुधार लिया करें।



[७८ (८३)] मुक्ति-साधना ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । १ परोष्णिग् । २ त्रिष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

वि ते मुञ्चामि रशनां वि योक्त्रं वि नियोजनम् ।
इहैव त्वमजस्र एध्यग्ने ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) जीव ज्ञानवन्, आत्मन् ! मैं परमात्मा या आचार्य (ते) तेरी (रशनाम्) बन्धन की रस्सी कर्म-परम्परा को (मुञ्चामि) छोड़ता हूँ, तुझे मुक्त करता हूँ। और (योक्त्रम्) तुझे बांधनेवाले देह को भी (वि) तुझ से दूर करता हूँ। और (नि योजनम्) तुझे बांधनेवाले कर्मफल को भी तुझ से (वि) पृथक् करता हूँ। (त्वम्) तू अब (अजस्रः) [१] अहिंसित, अविनाशी स्वरूप होकर (इह एव) इस मुझ परम पद ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप में ही (एधि) रह।

'अग्निरजस्रः' (आत्मा पुरुषविधः) श० ६ । ७ । ४ । ३ ॥

[७८] १—'वि ते मुञ्चामि रशनां विरश्मीन् वियोक्त्रा (णि) यानि परिचर्त्तनानि।' इति मै० सं० (तृ०) 'इहैव त्वमजस्रेध्यग्ने' इति पैप्प० सं० ॥

अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनज्मि त्वा ब्रह्मणा दैव्येन ।
दीदिह्य१स्मभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वोचो हविर्दा देवतासु ॥ २ ॥

भा०—हे (अग्ने) प्राणरूप अग्ने ! (अस्मै) इस आत्मा के निमित्त ही (क्षत्राणि) समस्त वीर्यों को (धारयन्तम्) धारण करते हुए (त्वा) तुझको (दैव्येन) देव, आत्मसम्बन्धी (ब्रह्मणा) ब्रह्म बलसे (युनज्मि) युक्त करता हूँ, उसमें समाहित करता हूँ। तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (इह) इस लोक में ही (द्रविणा) नाना ज्ञानों और बलों और विभूतियों को (दीदिहि) प्रदान कर । और (इमम्) इस आत्मा को वह प्राण (देवतासु) इन इंद्रियगणों में (भद्रम्) सुखकारी (हविर्दाम्) अन्न और बलशक्ति तथा उनके भोग्य शक्ति को देनेवाला (प्रवोचः) उपदेश किया जाता है । पुरोहित राजा के प्रति भी (अस्मै) इस राष्ट्र के लिये (क्षत्राणि धारयन्तम् हे अग्ने त्वा दैव्येन ब्रह्मणा युनज्मि) क्षत्र बलों को धारण करनेवाले तुझ परंतप राजा को ईश्वरीय वेदज्ञान से युक्त करता हूँ। (इह अस्मभ्यं द्रविणा दीदिहि) इस राष्ट्र में हमें श्रेष्ठ धन प्राप्त करा और (देवतासु इमं भद्रं हविर्दाम् प्रवोचः) विद्वान्, उत्तम देवसदृश पुरुषों में इस पुरुषको सुखकारी उत्तम अन्नदाता होनेका उपदेश कर ।



[७९ (८४)] स्त्री के कर्त्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता अमावास्या देवता । १ जगती । २,४ त्रिष्टुभः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

२–'धत्तादस्मासु द्रविणं यच्च भद्रं प्राणो ब्रूताद् भागधान् देवतासु । इति तै० सं० ॥ 'धत्तादस्मभ्यम् द्रविणेह भद्रं' इति तैत्तरीय पाठाद् विशेषः। मै० सं० ॥ प्रथम द्वितीययो पादयोर्विपर्ययः। पैप्प० सं० ॥

यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा ।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥१॥

भा०—हे (अमा-वास्ये) सहवास करनेहारी स्त्री ! (ते महित्वा) तेरे महत्व या गौरव या आदरभाव के कारण (सं-वसन्तः) एकत्र एक देश में निवास करनेवाले (देवाः) विद्वान् लोग (यत्) जो (भाग-धेयम्) भाग, अधिकार (ते) तेरे निमित्त (अकृण्वन्) नियत कर देते हैं (तेन) उसीसे तू (नः) हमारे (यज्ञं) यज्ञ, गृहस्थ यज्ञ, जो परस्पर-संगत रहने से हो रहा है उसको (पिपृहि) पूर्ण कर, पालन कर । और हे (विश्व-वारे) सबके वरण करने योग्य अनवद्याङ्गि ! पत्नि ! और (सु-भगे) सौभाग्यवति ! तू ही (नः) हमें (सु-वीरं) उत्तम बलवान् पुत्ररूप (रयिम्) धन को (धेहि) प्रदान कर या धारण कर ।

अध्यात्म पक्ष में—(अमावास्ये) एकत्र सबको आवास देनेहारी ब्रह्म शक्ते ! तेरी महिमा से देव-विद्वान् ज्ञानी पुरुषों ने जो तेरा भाग नियत किया है उससे इस यश आत्मा को पूर्ण कर । हे विश्ववारे ! सर्व वरणीये, सर्वोत्तमे ! तू हममें सुवीर रयि आत्मस्वरूप या ब्रह्म ज्ञान प्रदान कर ।

अहमेवास्म्यमावास्या३ मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे ।
मयि देवा उभये साध्याश्चेन्द्रज्येष्ठाः समगच्छन्त सर्वे ॥ २ ॥

भा०—स्त्री कहती है–(अहम्) मैं (एव) ही (अमा-वास्या) अमावास्या (अस्मि) हूँ । (माम्) मुझे लक्ष्य करके ही (इमे) ये (सु-कृतः) उत्तम पुण्यचरित्र पुरुष (मयि) मेरा आश्रय लेकर ही

[७९] १–(प्र०) 'यत् ते देवा अदधुः' (तृ०) 'सा नो यज्ञं ।' इति तै० सं० ॥ (प्र०) 'देवा कृण्वन्' (द्वि०) 'संवदन्तो महित्वा' (तृ०) 'सं इमं यज्ञं' इति पैप्प० सं० ॥

(आ वसन्ति) निवास करते हैं। (इन्द्र-ज्येष्ठाः) इन्द्र ईश्वर को ही सर्वश्रेष्ठ माननेहारे (देवाः) विद्वान्गण और (साध्याः) साधना करनेवाले (उभे) ये दोनों ज्ञानी और कर्मवान् दोनों (मयि) मेरे आश्रय पर ही (सर्वे) सब (सम् अगच्छन्त) एकत्र होते हैं। इससे गृहस्थ आश्रम की ज्येष्ठता दर्शायी गयी है।

अध्यात्म पक्ष में—मैं ब्रह्मशक्ति ही अमावास्या हूँ। मुझको लक्ष्य करके ही सब पुण्यात्म जन मेरे आश्रय पर एकत्र निवास करते हैं (देवाः) मुक्त पुरुष और (साध्याः) मुक्तिपथ के अभ्यासी साधक लोग सब एकत्र होते हैं।

आगन् रात्री संगमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्वावेशयन्ती।
अमावास्यायै हविषा विधेमोर्जं दुहाना पयसा न आगन् ॥ ३ ॥

भा०—(वसूनां) वास करने हारे गृह के प्राणियों को (सं-गमनी) एकत्र मिलाकर रखनेवाली (पुष्टम्) पुष्टिकारक (ऊर्जम्) अन्नरस को और (वसु) धन को और (आ वेशयन्ती) प्रदान करती हुई (रात्री) रमण, आनन्द हर्ष को प्रदान करने वाली गृहपत्नी (आअन्) आती है। उस (अमा-वास्यायै) सहवास करनेहारी गृहपत्नी के निमित्त हम (हविषा) अन्न आदि उत्तम पदार्थों से उसको (विधेम) प्रसन्न करें। वह (ऊर्जं दुहाना) अन्नरस को प्रदान करती हुई (पयसा) दूध के पुष्टिकारक पदार्थों के साथ (नः) हमें (आ गन्) प्राप्त हो।

अध्यात्म पक्षमें—योगियों को रमण करानेवाली (वसूनां संगमनी) मुक्त जीवों को एकत्र वास देनेवाली; मुक्तिरूप रात्रि सब (ऊर्जम्) रस रूप धन का प्रदान करती हुई प्राप्त होती है। उस अमावास्या को जिसमें जीव और ब्रह्म एकत्र वास करते हैं अपने ज्ञान हवि से परिचर्या कर (पयसा) ब्रह्मज्ञान के साथ (ऊर्जम्) ब्रह्मरस प्रदान करती हुई प्राप्त होती है।

अमावास्ये न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ रू॒पाणि॑ परि॒भूर्ज॑जान ।
यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम् ॥४॥

ऋ० १० । १२१ । १० ॥ यजु० १० । २० ॥

भा०—हे (अमा-वास्ये) सहवासशीले गृहपत्नि ! (त्वद्) तुझसे (अन्यः) दूसरा कोई (एतानि) इन (विश्वा रूपाणि) समस्त पुत्र आदि पदार्थों को (परि-भूः) शक्तिमती होकर (न) नहीं (जजान) पैदा करता । (यत्कामा) जो कामना रख कर हम (जुहुमः) वीर्य आदि का त्याग करते हैं । हे परमशक्ते ! (तत् नः) वह पुत्र आदि हमें (अस्तु) प्राप्त हो । और (वयं) हम (रयीणाम्) समस्त धन सम्पत्तियों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों ।

परम ब्रह्मशक्ति के पक्ष में—हे अमावास्ये ! सब के साथ विद्यमान (न त्वद् अन्यः एतानि विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान) तेरे से अतिरिक्त कोई भी दूसरी शक्ति सर्वव्यापक हो कर इन समस्त नाना लोकों को उत्पन्न नहीं करती । (यत्कामाः ते जुहुमः तत् नः अस्तु) जिस मोक्ष पद के लाभ की आकांक्षा करके तेरे प्रति हम आत्मत्याग करते हैं वह हमारी अभिलाषा पूर्ण हो । (वयं स्याम पतयो रयीणाम्) हम रयि—वीर्य, बल और धनों के स्वामी हों ।



[८० (८५)] परमपूर्ण ब्रह्मशक्ति ।

अथर्वा ऋषिः । पौर्णमासी प्रजापतिर्देवता । १, ३, ४ त्रिष्टुप् । ४ अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

४–(प्र०) 'प्रजापते' (द्वि०) 'विश्वा जातानि परिता बभूव' इति ऋ० । 'नहि त्वत् तानि' (तृ०) 'यस्मै कामास्ते' इति मै० सं० ॥ अग्रिमे सूक्ते तृतीयाऽपि 'प्रजापते' इति पदेन विभिद्यते ॥

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय ।
तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम ॥१॥

भा०—वह ब्रह्मशक्ति (पश्चात्) इस संसार के प्रलय के अनन्तर भी (पूर्णा) पूर्ण ही है और (पुरस्तात्) संसार के बनने के पूर्व भी वह (पूर्णा) पूर्ण ही थी और (मध्यतः) इन दोनों कालों के बीच के संसार के रचना काल में भी वह (पौर्णमासी) पूर्णरूप से समस्त जगत् को अपने भीतर मापने या बनाने वाली, महती शक्ति (उत् जिगाय) सब से अधिक उच्चता पर विराजमान है । (तस्यां) उसमें (देवैः) विद्वान् मुक्तात्माओं सहित (सं-वसन्तः) निवास करते हुए (महित्वा) हम लोग अपनी शक्ति और उसकी महिमा से (नाकस्य) सर्वथा दुःखरहित, परम सुखमय मोक्ष के (पृष्ठे) धाम में (इषा) अपनी इच्छा के अनुसार (सं मदेम) आनन्द का उपभोग करें ।

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे ।
स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ॥२॥

भा०—(पौर्णमासम्) समस्त संसार के रचयिता (वाजिनम्) सर्व शक्तिमान् (वृषभम्) सब सुखों के वर्षक प्रभु परमेश्वर की (वयं) हम (यजामहे) उपासना करते हैं । (सः) वह (नः) हमें (अनु-पदस्वतीम्) कभी किसी के प्रयत्न से भी न क्षीण होनेवाली और स्वयं भी (अक्षिताम्) अक्षय (रयिम्) शक्ति को (ददातु) प्रदान करे ।

---

[८०] १–(तृ० च०) 'तस्यां देवा अधि संवसन्त उत्तमे नाक अधि मादयन्ताम् । तै० ब्रा० । (द्वि०) 'पौर्णमासी मध्यतो जिगाय' इति पैप्प० सं० ॥—
२–(प्र०) 'ऋषभं'...(द्वि०) 'पूर्णमास' (तृ० च०) 'स नो देहि तां सुवीर्य रायस्पोषं सहस्रिणम्' इति तै० ब्रा० । (तृ०) 'दधात्वक्षितां' इति सायणाभिमतः पाठः ।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥३॥

भा०—हे (प्रजापते) समस्त प्रजाओं के परिपालक प्रभो ! (त्वत्) तुझ से (अन्यः) दूसरा कोई (एतानि) इन (विश्वा रूपाणि) समस्त प्रकाशमान् कान्तिमान् नाना रूपवान् लोकों और पदार्थों को (परि-भूः) सर्वव्यापक सर्वसामर्थ्यवान् होकर (न) नहीं (जजान) उत्पन्न करता, प्रत्युत तू ही सब का पालक, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सबको उत्पन्न करने हारा है। हम लोग (यत्कामाः) जिस कामना से प्रेरित होकर भी (ते) तेरे निमित्त (जुहुमः) आत्म त्याग करते हैं (तत् नः अस्तु) भगवन् ! वह हमें प्राप्त हो। और (वयं) हम (रयीणाम्) सब धनों के (पतयः) पालक (स्याम) हों। इसी मन्त्रलिंग से पौर्णमासी आदि शब्द परमेश्वर के वाचक हैं, प्रसिद्ध पौर्णमासी या पूनम आदि पदार्थ प्रस्तुत होनेसे 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार से ब्रह्मका ही वर्णन किया जाता है।

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु ।
ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः ॥ ४ ॥

भा०—(पौर्णमासी) पूर्ण ब्रह्म की सर्वव्यापिनी और सबकी उत्पादिका शक्ति (प्रथमा) सबसे पूर्ण और सबसे अधिक श्रेष्ठ (यज्ञिया) यज्ञ परमात्मा की वह शक्ति (आसीत्) है जो (अह्नम्) दिनों और (रात्रीणाम्) रातों के समय में (अतिशर्वरेषु) और शर्वरी=महाप्रलय कालों को भी अति क्रमण करके वर्तमान रहती है। हे (यज्ञिये) यज्ञ में,

४–(तृ०) 'अर्दयन्त्यमी' इति सायणाभिमतः पाठः ॥ (द्वि०) 'रात्रीणामुत शर्वरेषु' (च०) 'अमी ते नाक सुकृतं परेताः' इति पैप्प० सं० ॥

परमेश्वर की उत्पादक शक्ते ! (ये) जो (त्वां) तुझको (यज्ञैः) यज्ञों, प्रजापति के नाना शक्तियों के अनुकरणों द्वारा (अर्धयन्ति) समृद्ध करते, ब्रह्म की ही महिमा को बढ़ाते हैं (ते) वे (सुकृतः) पुण्यात्मा लोग (नाके) परम सुखमय लोक में (प्रविष्टाः) प्रविष्ट होते हैं। ईश्वर के गुणों को अपने भीतर धारण कर अपने आत्मा को उन्नत करके परोपकार के कार्य करनेवाले महात्मा लोग उस उत्पादक प्रभु का साक्षात् करते और मुक्ति लाभ करते हैं।



[८१ (८६)] सूर्य और चन्द्र।

अथर्वा ऋषिः। सावित्री सूर्याचन्द्रमसौ च देवताः। १,६ त्रिष्टुप्। २ सम्राट्। ३ अनुष्टुप्। ४,५ आस्तार पंक्तिः। षड्टृचं सूक्तम् ॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥ १ ॥

ऋ० १० । ८५ । १८ ॥

भा०—(एतौ) ये दोनों सूर्य और चन्द्र (क्रीडन्तौ) खेलते हुए शिशू दो बालकों के समान (मायया) उस प्रभु की निर्माण शक्ति से प्रेरित होकर (पूर्वापरम्) एक दूसरे के आगे पीछे (चरतः) विचरते हैं और (अर्णवम्) इस महान् अन्तरिक्ष को (परि यातः) पार करते हैं। (अन्यः) उनमें से एक सूर्य (विश्वा) समस्त (भुवना) लोकों को (वि चष्टे) प्रकाशित करता है और हे चन्द्र ! (अन्यः) दूसरा है जो (ऋतून्) ऋतुओं को (विदधत्) उत्पन्न करता हुआ (नवः) नये रूप से (जायसे) प्रकट हुआ करता है।

---

[८१] १–(द्वि०) 'यातोऽध्वरम्' (तृ०) 'विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टे', 'विदधज्जायते' इति पाठभेदाः ऋ० ॥ 'विदधज्जायते' इति सायणाभिमतः पाठः। (तृ०) 'विचष्टे' इति मै० सं० ॥

नवोनवो भवसि जायमानोह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥२॥
ऋ० १० । ८५ । १९ ॥

भा०—चन्द्र का वर्णन करते हैं। (जायमानः) प्रकट होता हुआ तू हे चन्द्र! सदा (नवः नवः) नया ही नया (भवसि) हो जाता है। प्रतिदिन कला के घटने या बढ़ने से प्रतिदिन चन्द्रबिम्ब में नवीनपन ही दीखता है। और (अह्लाम्) दिनों का तू (केतुः) ज्ञापक है। चन्द्रमाकी कलाओं के अनुसार दिनों की गणना की जाती है, प्रथमा, द्वितीया, तृतीया इत्यादि। हे चन्द्र तू (उषसाम्) रात्रियों के समाप्ति और सूर्योदय कालों के (अग्रम्) पूर्व काल में ही (एषि) आया करता है। और (आयन्) आता हुआ ही (देवेभ्यः) देवगण पृथिवी, जल, समुद्र, वायु इनको और इन्द्रियों को (भागम्) इन २ का विशेष भाग (वि दधासि) विशेष रूप से प्रदान करता है। चन्द्रोदय के अवसर पर समुद्र वेला, आदि आना नाना प्रकार के वायु परिवर्त्तन, ओषधियों का पोषण, ओस आदि का पड़ना आदि क्रियाएं होती हैं। और इस प्रकार हे (चन्द्रमः) चन्द्रमः! आल्हादकारी शक्तिवाले! तू (दीर्घम्) लम्बा (आयुः) जीवन (तिरसे) प्रदान करता है।

सोमस्यांशो युधां पतेनूनो नाम वा असि ।
अनूनं दर्श मा कृधि प्रजया च धनेन च ॥ ३ ॥

भा०—सूर्य और चन्द्र का वर्णन हो चुका अब चन्द्र की उपमा लेकर राजा और ईश्वर का वर्णन करते हैं। हे (युधां पते) समस्त योद्धा सैनिकों क्षत्रियों के स्वामिन् सेनापते! तथा योगियों के पालक प्रभो! हे (सोमस्य) सबके प्रेरक, आल्हादक, अनुरंजक बल के (अंशो) व्यापक भण्डार तू भी (अनूनः नाम असि) 'अनून' नामवाला है। तू

२–(द्वि०) 'उषसामेष्यग्रे' (च०) 'तिराति दीर्घमायुः' इति क्वचित् ।

किसी प्रकार कम नहीं है। हे (दर्शः) दर्शनीय ! अथवा सर्व प्रजा के द्रष्टः ! आप (मा) मुझको (प्रजया) प्रजा और (धनेन) धन से (च) भी (अनूनं) पूर्ण (कृधि) कर।

दुर्शो॑ऽसि दर्शतो॑ऽसि सम॑ग्रोऽसि सम॑न्तः।
सम॑ग्रः सम॑न्तो भूयासं गोभि॑रश्वैः प्रजया॑ पशुभि॑र्गृहैर्धने॑न ॥४॥

भा०—पूर्व मन्त्र में 'दर्श' से कहे पदार्थ की व्याख्या करते हैं। हे दर्श ! (दर्शः) तू दर्श है अर्थात् (दर्शतः) तू दर्शत=दर्शनीय है और भक्ति और योग द्वारा साक्षात् करने योग्य है। आप (सम्-अग्रः) सब प्रकार से और सब कामों में सब पदार्थों के आगे, सबके पूर्व विद्यमान, सबके कारणस्वरूप, और सबके अग्रणी नेतास्वरूप (असि) हो। और (सम्-अन्तः) सब प्रकार से समस्त संसार के अन्त अर्थात् प्रलय-काल में सबको अपने भीतर प्रलीन करने हारे हो। हे प्रभो मैं भी (गोभिः) गौओं, (अश्वैः) अश्वों, (प्रजया) प्रजा और (पशुभिः) पशुओं (गृहैः) गृहों, और (धनेन) धन सम्पत्तियों से (सम्-अग्रः) सबका अग्रणी और (सम्-अन्तः) सब से पिछला अर्थात् सब से उत्कृष्ट (भूयासम्) होऊँ। "अहमादिर्हि भूतानां प्रभवः प्रलयस्तथा।" गीता।

यो॒३॑स्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मस्तस्य॒ त्वं प्रा॒णेना प्या॑यस्व।
आ व॒यं प्या॑सिषीमहि॒ गोभि॒रश्वैः प्रजया॑ पशुभि॑र्गृहैर्धने॑न ॥ ५ ॥

भा०—हे प्रभो ! (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) द्वेष

५-(तृ०) 'प्याशिषीमहि', 'प्यायिषीमहि' इति च शं० पा०। बहुविधादर्शपुस्तकेषु 'प्याशिषीमहि' इति पाठः। वाजसनेये, तैत्तिरीये, शांखायने श्रौतगृह्यसूत्रयोश्च 'प्यासिषीमहि' इत्येव पाठः। आपस्तम्ब श्रौतसूत्रे च 'प्यायिषीमहि' इति, सायणसम्मतश्च 'प्यासिषीमहि' इति पाठः। स एवास्माभिरादृतः।

करता है, प्रेम का व्यवहार नहीं करता और (यं चः) जिसको (वयं द्विष्मः) हम भी स्नेह से नहीं देखते, (तस्य) उसके (प्राणेन) प्राण= जीवन के साधनों से हमें (प्यायस्व) बढ़ा और (वयं) हम (गोभिः, अश्वैः, प्रजया, पशुभिः, गृहैः धनेन) गौओं, घोड़ों, प्रजाओं, पशुओं, गृहों और धनों से (आ प्यासिषीमहि) सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हों ।

यं देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति ।
तेनास्मानिन्द्रो वरुणो बृहस्पतिराप्याययन्तु भुवनस्य गोपाः ॥६॥

भा०—(यं) जिस (अंशुम्) व्यापक प्रभु की (देवाः) देव गण, तेजोमय सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि लोक और दिव्य गुणी, विद्वान् लोग (आप्याययन्ति) महिमा को बढ़ाते हैं अथवा (यं अंशुम् [प्राप्य] देवाः [आत्मानं] आप्याययन्ति) जिस व्यापक प्रभुकी शरण लेकर विद्वान्, शक्तिमान् लोग अपने आपको पुष्ट करते और बढ़ाते हैं । और (यम्) जिस (अक्षितम्) अविनाशी, रसरूप प्रभुको या उसकी दी हुई समृद्धि को (अक्षितः) अविनाशी जीव (भक्षयन्ति) अन्न, जल वायु और आनन्द रूप में उपभोग करते हैं । (तेन) उस ब्रह्मज्ञान से ही (इन्द्रः) ज्ञानवान्, अज्ञाननाशक, (वरुणः) दुःखों का और पापों का निवारक, (बृहस्पतिः) वेद वाणी का पालक, आचार्य, राजा और अन्य विशाल विद्वान् लोग (भुवनस्य गोपाः) इस संसार के रक्षक होकर (अस्मान्) हमें भी (आप्याययन्तु) पुष्ट करें, बढ़ावें । आचार्य, राजा, पुरोहित आदि सभी लोग परब्रह्म की समस्त उपकारक शक्तियों से प्रजा को पुष्ट करें ।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तान्यष्टौ, ऋचश्चैकत्रिंशत्]

६–(प्र०) 'यमादित्याः अंश' इति (तै० सं०) ॥ 'यथादित्या' (द्वि०) 'यथाक्षितिम् क्षितयः पिबन्ति' (तृ०) 'एवास्मान्' इति मै० सं० ॥ (तृ०) 'तेन नो राजा वरुणो' इति तै० सं० ॥

[८२ (८७)] ईश्वर से बलों की याचना ।

सम्पत्कामः शौनक ऋषिः । अग्निर्देवता । १, ४, ५, ६ त्रिष्टुप्,
२ ककुम्मती बृहती, ३ जगती । षड्ऋचं सूक्तम् ॥

अभ्य/र्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त ।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ताम् ॥ १ ॥
ऋ० ४ । ५८ । १० ॥ यजु० २७ । ६८ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (सु-स्तुतिं) उत्तम स्तुति करने योग्य (गव्यम्) गौ, गतिशील आत्मा, जीवों के लिये हितकारी अथवा इन्द्रियगण के लिये प्राप्त करने योग्य (आजिम्) अन्तिम लक्ष्य, परम आत्म रूप का (अभि अर्चत) साक्षात् करके उसका यथार्थ वर्णन करो । और (अस्मासु) हम मनुष्यों के बीच (भद्रा) सुख और कल्याणकारी (द्रविणानि) ज्ञान और धन सम्पत्तियों को (धत्त) अपने पास रखो अर्थात् उन सम्पत्तियों को अपने जन-समाज में मत रखो जिससे परस्पर हानि, कलह और कष्ट उत्पन्न हो । (नः) हमारे (इयम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ या आत्मा को (देवता) देव भाव को (नयत) प्राप्त कराओ । और सर्वत्र (घृतस्य) तेजोमय, प्रकाशमय ज्ञान या स्नेह की (मधुमत्) आनन्दरस से युक्त या मधुर (धाराः) धरायें, शक्तियें (पवन्ताम्) बहें ।

मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।
मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥ २ ॥

[८२] १-(प्र०) 'अभ्यर्षत सुष्टुति', (च०) 'मधुमत्पवन्ते' इति ऋ०, य० ॥ (तृ०) 'नयत देवताः' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः ।

२-" स्वाहामय्यग्निः " इति पैप्प० सं० ॥ मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निं सह प्रजया वर्चसा बलेन । मयि क्षत्रं मयि रायो दधामि स्वामय्याग्निम्' इति पैप्प० सं० ॥

भा०—(अग्रे) प्रथम मैं (मयि) अपने आत्मा में (अग्निम्) उस प्रकाशस्वरूप अग्नि, तेजस्वी आत्मा को (क्षत्रेण) वीर्य, (वर्चसा) तेज और (बलेन) बल के धारण करने के (सह) साथ २ (गृह्णामि) धारण करता हूँ। मैं (मयि) अपने में (प्रजां) प्रजाको और (मयि) अपने में (आयुः) और दीर्घ जीवन को (दधामि) धारण करता हूँ। (स्वाहा) सबसे अच्छे रूप में, यों कहना ही उत्तम है कि मैं (मयि) अपने में (अग्निम्) 'अग्नि' को धारण करता हूँ। अर्थात् 'अग्नि' को धारण करने का तात्पर्य वेद के वचनानुसार अपने में क्षत्र=वीर्य, वर्च, तेज और बल=शारीरिक शक्ति को ज्ञान के साथ धारण करना और प्रजाओं के साथ दीर्घ जीवन को धारण करना ही है।

इ॒हैवाग्ने॒ अधि॑ धारया र॒यिं मा त्वा॒ नि क्र॑न् पूर्व॑चित्ता निका॒रिणः॑।
क्ष॒त्रेणा॑ग्ने सु॒यम॑मस्तु॒ तुभ्य॑मुपस॒त्ता व॑र्धतां ते॒ अनि॑ष्टृतः ॥ ३ ॥

यजु० २७ । ४ ।

भा०—हे (अग्ने) अग्नि या सूर्य या विद्युत् के समान तेजस्वी नेतः ! राजन् ! तू (इह एव) इस राष्ट्र में ही (रयिं) धन सम्पत्ति को (अधिधारय) धारण कर (पूर्व-चित्ताः) पूर्व राजाओं के कार्यों को जानने वाले, (नि-कारिणः) तुझे गद्दी से उतार देने में समर्थ, अथवा तुझसे अपमानित या तिरस्कृत लोग (त्वा) तुझको (मा निक्रन्) तुझे तेरे पद से नीचे न करें या तेरा अपमान न करें। हे (अग्ने) राजन् ! सभापते यह राष्ट्र (तुभ्यम्) तेरे लिये (क्षत्रेण) क्षात्रबल से (सु-यमम्) सुखपूर्वक व्यवस्था करने योग्य (अस्तु) रहे। (उप-सत्ता) तेरी आश्रय लेने वाली प्रजा (अनि-स्तृतः) कभी मारी न जाकर सदा (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो।

३–द्वि० 'पूर्वचित्तो निकारिणः' (तृ०) 'क्षत्रमग्नेसुयम' इति यजु०।
अत्र यजुर्वेदे अग्निः प्रजापतिर्ऋषिः।

निकारिणः=ज्ञान कर्म समुच्चय से नाना जन्मों को नीचे करने वाले नितरां यज्ञ करणशील, इत्यादि अर्थ संगत नहीं क्योंकि स्वयं वेद 'मा निक्रन्' इस प्रयोग में 'नि' पूर्वक 'कृ' धातु को पद से नीचे उतार देने अर्थ में प्रयोग करता है। नये पदाधिष्ठित राजा को चाहिये कि वह १. सब रयि (कोष, सम्पत्ति) को अपने वश कर ले जिसे 'निकारी' लोग जो राजा को उसके राजपद से च्युत करने में सशक्त हों और पूर्व राजाओं के राज्य कार्यों से पूर्ण परिचित या पूर्व राजाओं के पक्षकर्त्ता हों और उसके नवीन राज्य के संचालन में बाधा उपस्थित कर सकें, वे भी उसको राज पद से नीचा न कर सकें। २. फिर वह क्षत्र-बल या सेना-बल से राज्य को अपने वश करे। ३. वह अपने आश्रित लोगों की रक्षा करे कि उनको दूसरे विरोधी पक्ष को लोग न मार सकें।

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥४॥
यजु० ११ । १७ ॥

भा०—(अग्निः) जो प्रकाशमान, प्रजापति (उषसाम्) उषा-कालों के भी (अग्रम्) पूर्व भाग को (अनु अख्यत्) क्रम से प्रकाशित करता है। और वही (जातवेदाः) समस्त पदार्थों का ज्ञाता और सर्वज्ञ प्रभु (प्रथमः) सबसे प्रथम, सबका आदि मूल (अनु) पश्चात् भी (अहानि) सब दिनों (अख्यत्) प्रकाश किया करता है। वही (सूर्य अनु) सूर्य को प्रकाशित करता। वही (उषसः अनु) उषा-कालों को प्रकाशित करता और (रश्मीन् अनु) समस्त ज्योतिर्मय प्रकाशमान तारों को प्रकाशित करता है और वही (द्यावा पृथिवी अनु) द्यौ और पृथिवी इन दोनों लोकों में भी (आविवेश) सर्वत्र व्यापक है।

४—पुरोधा ऋषिर्यजुर्वेदे। (तृ० च०) "अनू सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननुद्यावा पृथिवी आततन्थ" इति यजु० ॥

प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥५॥

ऋ० ४। १३। १३ त्यत्र प्रथमः पादः।

भा०—(अग्निः) वही प्रकाशक प्रभु (उषसाम् अग्रम्) उषाओं के मुख भाग को (प्रति अख्यत्) प्रति बार प्रकाशित करता है। वही (प्रथमः) सब का आदिमूल (जातवेदाः) सर्वज्ञ (अहानि प्रति अख्यत्) सब दिनों को प्रकाशित करता है (सूर्यस्य प्रति) सूर्य की (रश्मीन् च) रश्मियों को भी वही (पुरुधा) नाना प्रकार से (प्रति अख्यत्) प्रकाशित करता है (द्यावापृथिवी प्रति आततान) और वही द्यौ और पृथिवी ज़मीन और आकाश दोनों के प्रत्येक पदार्थ में व्यापक है।

घृतं ते अग्ने दिव्ये सधस्थे घृतेन त्वां मनुरद्या समिन्धे।
घृतं ते देवीर्नप्त्य१ आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अग्ने ॥६॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! प्रकाशस्वरूप आत्मन्! (ते) तेरा (घृतम्) परम तेज (दिव्ये) दिव्य तेजोमय या इन्द्रियों के (सधस्थे) सह-स्थान इस शरीर में विद्यमान है। और (मनुः) मननशील मन या मननाभ्यासी साधक (त्वां) तुझको (घृतेन) तेजोरूप से ही (अद्य) सदा, काल (सम्-इन्धे) भली प्रकार प्रकाशित करता है अर्थात् अपने भीतरी आत्मा में तेरे ज्योतिर्मय रूप को ही प्रज्वलित कर उसका साक्षात्कार करता है। (ते) तुझे (देवीः) दिव्यगुणों से सम्पन्न कान्तिमती (नप्त्यः) सम्बन्ध करनेवाली, अर्थगामिनी ज्ञानेन्द्रियाँ (ते) तेरे लिये ही (घृतम्) ज्ञानमय घृत को (आवहन्तु) धारण करें। और हे (अग्ने) आत्मन्! (गावः) गमनशील इन्द्रियगण (तुभ्यम्) तेरे लिये ही (घृतम्) सुखरूप घृत को (दुहतम्) प्रदान करें। यज्ञाग्नि के पक्ष में स्पष्ट है।

[८३] बन्धन-मोचन की प्रार्थना ।

शुनःशेप ऋषिः । वरुणो देवता । १ अनुष्टुप्, २ पथ्यापंक्तिः, ३ त्रिष्टुप्, ४ बृहतीगर्भो त्रिष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः ।
ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥ १ ॥

भा०—हे (वरुण) वरुण ! सर्वश्रेष्ठ, सब पापों के निवारक, सब के वरण करने योग्य परमात्मन् ! (राजन्) राजा के समान सर्वोपरि (ते) तेरा (गृहः) सबको ग्रहण करनेवाला, सब देहों का शासक धाम, (अप्सु) जीवों में समस्त लोकों में (हिरण्ययः) सुवर्ण के समान तेजोमय (मिथः=मितः) जाना गया है । (ततः) वहां ही विराजमान (धृत-व्रतः) समस्त ज्ञान और कर्म्मों को धारण करनेहारा (राजा) प्रकाशस्वरूप राजा के समान सब का अनुरंजनकारी तू (सर्वा धामानि=दामानि) बन्धनों को (मुञ्चतु) छुड़ा । वरुण वही परमात्मा ब्रह्म है जिसके "मित हिरण्ययगृह" की तुलना उपनिषद् के तत्वज्ञों को उपनिषत् के निम्नलिखित स्थलों से करनी चाहिये ।

"ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयं सरः । तदश्वत्थः सोमसवनः । तदपराजिता पूःब्रह्मणः । प्रभु विमितं हिरण्मयम् । इति छान्दो०उप०।५।३॥

---

[८३] १–(द्वि०) 'हिरण्ययो मितः' (च०) 'सर्वथा दामानि' इति क्वाचित्को ह्विटनिकामितश्च । द्वीपे राज्ञो वरुणस्यगृहो मितोहिरण्ययः । सनो धृतव्रतो राजा धाम्नोधाम्ना इहमुञ्चतु इति । आश्व० श्रौ० सू० ॥ (द्वि०) 'हिरण्ययो मितः' (च०) 'धामानिनोमुञ्चे' इति च० पैप्प० सं० ॥

धाम्नो॑ धाम्नो राजन्नि॒तो व॑रुण मुञ्च नः ।
यदापो॑ अघ्न्या इति॒ वरु॒णेति॒ यदू॒चि॒म ततो॑ वरुण मुञ्च नः ॥२॥

भा०—हे (राजन्) राजन् ! हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! आप (धाम्नः धाम्नः) प्रत्येक बन्धन से (इतः) इस लोक में (नः) हमें (मुञ्च) मुक्त कर । (यद्) जब हम (ऊचिम) कहें कि (आपः) ये जल या आप्त हैं, (अघ्न्या इति) ये गौओं के समान पवित्र, न मारने योग्य हैं, (वरुण इति) यह सर्वश्रेष्ठ राजा है, ये हमारे कार्य के साक्षी है, (ततः) तब हे (वरुण) राजन् हे प्रभो ! हमें (मुञ्च) मुक्त कर। अर्थात् अपराध के निमित्त जल, गौ और ईश्वर का नाम लेकर प्रायश्चित्त करने वाले को राजा दण्ड से मुक्त करे । आप, अघ्न्या और वरुण अर्थात् जल, गौ और ईश्वर इनके नामस्मरण और आराधन से प्रायश्चित्त करने वाले के प्राण नष्ट न हों ।

यही मन्त्र राजा के पक्ष में भी लगता है । इसी मन्त्र के मूल आशय को लेकर अब तक भी गंगाजल, गौ और ईश्वर के नाम पर शपथें लेकर सत्य प्रमाणित करने की रीति प्रचलित है ।

उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मं श्र॑थाय ।
अधा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ अदि॑तये स्याम ॥३॥

ऋ० १ । २४ । १५ ॥ यजु० १२ । १२ ॥

२–(प्र०) 'धाम्नो धाम्नो' (द्वि० तृ०) 'वरुण नो मुञ्च' इति पैप्प० सं० ॥ (प्र०) 'धाम्नो धाम्नो राजंस्ततो वरुण नो मुञ्च । यदाहुरघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च ॥' इति यजुषि तैत्तिरीये, आश्व०, शां०, लाट्या० श्रौतसूत्रेषु च ॥ यजुर्वेदेऽस्य दीर्घतमा ऋषिः ॥ 'दाम्नो दाम्न' इति ह्विटनिकामितः काश्चित्कश्च पाठः ॥

३–(तृ०) 'अथा वयमा' इति ऋ० ॥ (च०) 'व्रते वयमना-' इति मै० ब्रा० ॥

भा०—हे (वरुण) वरुण ! सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! (उत्तमं) उत्तम, उत्कृष्ट, दृढ़ (पाशम्) फांसे को (उत् श्रथाय) मुक्त कर (अधमं पाशम् अव श्रथाय) अधम निकृष्ट वन्धन को भी दूर करऔर (मध्यमं वि श्रथाय) दोनों के मध्य के बंधन को भी दूर कर अथवा शरीर, मन, वाणी तीनों प्रकार के कर्मों से प्राप्त तीनों प्रकार के बंधनों से हमें मुक्त कर । अथवा शरीर के ऊपर के भाग के बंधन को, मध्य के बंधन को और अधोभाग के बंधन को भी दूर कर (अधा) और (वयम्) हम हे (आदित्य) सूर्य के समान तेजस्विन् ! (तव) तेरे उपदिष्ट (व्रते) सत्य आचरण आदि वैदिक नियमों में अथवा प्रजाके हितार्थ बनाये राजनियमों में विचरण करते हुए (अदितये) तेरे अखण्ड नियमव्यवस्था के निमित्त, अथवा तेरे अखण्ड सुख प्राप्त करने के लिये हम (अनागसः) निष्पाप, निरपराध (स्याम) रहें ।

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तमा अधमा वारुणा ये ।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (वरुण) सर्वपापनिवारक प्रभो ! (अस्मत्) हमसे (ये) जो (उत्तमाः) ऊंचे २ बड़े, कठोर २ (अधमाः) नीचे और (ये वारुणाः) जो वरुण परमात्मा के दैवी या राजा के मानुषी वन्धन है उन (सर्वान् पाशान्) समस्त बंधनों को (प्र मुञ्च) भली प्रकार छुड़ा, दूर कर । और (दुरितं) दुष्टाचरण और (दुःस्वप्न्यं) मन के उस दुष्ट संस्कार को जो हमारे स्वप्न काल में बुरे रूप में प्रकट होता हो (अस्मत्) हमसे (निः स्व=निः सुव) दूर कर (अथ) और हम लोग (सु-कृतस्य) पुण्य चरित्र से प्राप्त होने योग्य (लोकम्) लोक या जन्म को (गच्छेम) प्राप्त हों ।

'दुरित दुःस्वप्न्य' के दूर होने की प्रार्थना से ऐहिक दुष्टाचरण और शरीर के छोड़ने के अनन्तर आत्मा की दुःखमय स्वप्नावस्था के समान जो

दशा है उससे भी मुक्ति पाने की प्रार्थना की गयी है । 'यथा स्वप्नलोके तथा पितृलोके' इस उपनिषत् सिद्धान्त के अनुसार शरीर से पृथक् जीव की दशा स्वप्न-कालकी स्थिति के समान होती है.।



[८४] राजा के कर्त्तव्य ।

भृगुर्ऋषिः । १ जातवेदा अग्निर्देवता । २, ३ इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । जगती । तृचं सूक्तम् ।

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह । विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिरद्य परिपाहि नो गयम् ॥ १ ॥ यजु० २७ । ७ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी ! अग्नि के समान शत्रुओं को पीड़ा करनेहारे राजन् ! तू (जातवेदाः) धन सम्पत्ति प्राप्त करके (अनाधृष्यः) किसी से भी पराजित न होकर (अमर्त्यः) अविनाशी, अमरणधर्मा (विराट्) सर्वोपरि राजा और (क्षत्र-भृद्) क्षत्र बलको पुष्ट करके (इह) इस राष्ट्र में (दीदिहीह) प्रकाशित हो । और (विश्वाः) समस्त (अमीवाः) रोगों को प्रजासे (प्र मुञ्चन्) दूर करके (मानुषीभिः) मनुष्यों के हितकारी, (शिवाभिः) कल्याणकारी रक्षा के उपायों से (नः) हमारे (गयम्) गृह और प्राणों की (अद्य) आज सदा काल (परि पाहि) रक्षा कर ।

---

[८४] १–(प्र०) 'जातवेदा अनिष्टृतो' (तृ०) 'विश्वा आशा प्रमुञ्चन् मानुषीभिर्यः शिवेभिरद्य परिपाहि नो वृधे ।' इति याजुषः । 'तत्रा-स्या ऋच अग्निः प्रजापतिर्ऋषिः । (प्र०) 'जातवेदा अनिष्टतः' (च०) 'नो गयैः' (तृ०) 'मनुष्येभ्यः शिवेभिः' इति पैप्प० सं० ॥ (तृ०) 'वि अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषाणाम् शिवेभिः' इति मै० सं० ॥

इन्द्रं क्षत्रमभि वाममोजोजायथा वृषभ चर्षणीनाम् ।
अपानुदो जनममित्रायन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम् ॥ २ ॥

ऋ० १६ । १८० । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यशील राजन ! और (चर्षणीनाम्) समस्त प्रजा के मनुष्यों में से (वृषभ) सर्वश्रेष्ठ ! नरर्षभ ! तू (क्षत्रम्) समस्त क्षत्रियबल और (वामम्) सुन्दर, दर्शनीय (ओजः अभि) तेज पराक्रम को स्वयं प्राप्त करके (अजायथाः) राजारूप में प्रकट हुआ है। इसलिये अपने पराक्रम और क्षत्रबल से (अमित्रायन्तं) शत्रु के समान आचरण करने वाले (जनम्) लोगों को (अप नुदः) दूर मार भगा। और (उरु) इस विस्तृत (लोकम्) लोक को (देवेभ्यः) विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों के लिये (उ) ही (अकृणोः) रहने योग्य बना।

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात् परस्याः ।
सृकं संशायं पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताढि वि मृधो नुदस्व ॥३॥

ऋ० १० । १८० । २ ॥ यजु० १८ । ७१ ॥

भा०—(भीमः) भयंकर (गिरि-स्थाः) पर्वतनिवासी (भीमः) भयानक (मृगः न) पशु, सिंह जिस प्रकार वीरता से अपने शिकार पर टूटता है उसी प्रकार इन्द्र शत्रुओं पर (परस्याः परावतः) दूरसे भी दूर से (आ जगम्यात्) आ टूटता है। हे (इन्द्र) इन्द्र राजन् ! तू अपने (सृकं) दूर तक जाने वाले, प्रसंरणशील (पविम्) वज्रको (सं-शाय) खूब तीक्ष्ण करके उस (तिग्मं) तीक्ष्ण शस्त्र से (शत्रून्) शत्रुओं को (वि ताढि) खूब अच्छी तरह मार और (मृधः) संग्रामकारी लोगों को (वि नुदस्व) विनाश कर।



२–(तृ०) 'जनमामित्रयन्तम्' इति ऋ० । तत्रास्या ऋषिर्जयः ।

[८५ (९०)] ईश्वर का स्मरण ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । तार्क्ष्यो देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥१॥

ऋ० १० । १७८ । १ ॥

भा०—(त्यम्) उस ही (वाजिनं) ज्ञान, वेग, बलसे युक्त (देव-जूतम्)[1] विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों से पूजित, सेवित (सहःवानम्) सर्वशक्तिमान्, (रथानाम्) रथरूप देहों या आत्माओं के रमण-स्थान इन लोकों में (तरुतारम्) व्यापक, प्रेरक (अरिष्ट-नेमिम्) सबको शुभ मार्ग में झुकाने वाले (पृतना-जिम्) समस्त मनुष्य आदि प्रजाओं के भीतर उत्कृष्ट रूपसे विद्यमान, उनके विजेता, उनको अपने वश करने हारे (आशुम्) व्यापक (तार्क्ष्यम्) बलवान् परमात्मा को हम लोग अपने (स्वस्तये) कल्याण के लिये (आ हुवेम) स्मरण करते हैं, पुकारते हैं ।



[८६ (९१)] इन्द्र, ईश्वरका स्मरण ।

स्वस्त्यनकामोऽथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवान् कृणोतु ॥१॥

साम० प्र० ४ । ५ १ ॥ ऋ० ६ । ४७ । ११ ॥ यजु० २० । ५० ॥

---

[८५] १—अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्य ऋषिर्ऋग्वेदे ॥ (द्वि०) 'सहावानं' (तृ०) 'पृतनाजमाशुं' इति ऋ० । 'पृतनाजमाशुं' इति सायणाभिमतः पाठः ।

२—(तृ०) 'ह्वयामि शक्रं' (च०) 'स्वस्तिनो मघवा धात्विन्द्रः' इति पाठः यजु० ऋ० । वेत्विन्द्रः इति साम० । ऋग्वेदेऽस्या ऋचो गर्ग ऋषिः । यजुर्वेदे च प्रजापतिर्ऋषिः, भरद्वाज इत्यपि क्वचित् ।

भा०—मैं (इन्द्रम्) इन्द्र को (हुवे) बुलाता हूँ। (अवितारम् इन्द्रम्) रक्षाकारी शत्रुओं से बचाने वाले (इन्द्रं) इन्द्र को (हुवे) बुलाता हूं। (हवे-हवे) प्रत्येक यज्ञ में या जब २ बुलाया जाय तब २ (सु-हवं) सुखपूर्व स्मरण करने योग्य, स्वयमेव सहायतार्थ उपस्थित होने वाले (शूरं) शूरवीर (इन्द्रं हुवे) इन्द्र को बुलाता हूं। (नु) और (शक्रं) शक्तिमान् (पुरु-हूतं) इन्द्रियों से पूजित आत्मा और प्रजाओं से सत्कृत राजा (इन्द्रं) इन्द्र को मैं बुलाता हूं। (इन्द्रः) वह इन्द्र (मघवान्) धन ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न होकर (नः) हमारा (स्वस्ति) कल्याण (कृणोतु) करे।



[८७ (९२)] रुद्र, ईश्वर का स्मरण।

अथर्वा ऋषिः। रुद्रो देवता। जगती छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्व१न्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥१॥

भा०—(यः) जो (रुद्रः) रोदनकारी, तीक्ष्ण शक्ति (अग्नौ) अग्नि में प्रविष्ट है और (यः) जो (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर है और (यः) जो (ओषधीः) ओषधियों और (वीरुधः) लताओं में (आ-विवेश) प्रविष्ट है। और (यः) जो (इमाः) इन (विश्वा) समस्त (भुवनानि) भुवनों को (चाक्लृपे) बनाता है। उस (अग्नये) अग्निस्वरूप (रुद्राय) रुद्र के लिये (नमः) हमारा नमस्कार और आदरभाव है। अर्थात् जिस प्रभु की शक्तियां अग्नि में तेजोरूप से जल में

---

[८७] १–'यो रुद्रो अग्नौ, यो अप्सु य ओषधीषु यो रुद्रो विश्वा भुवना विवेश तस्मै रुद्राय नमोऽस्तु।' इत्येव तै० सं०। (प्र०) 'यो रुद्रो अग्नौ' (च०) 'नमो अस्त्वद्य' इति पैप्प० सं०।

स्नेहरूपसे ओषधियों में रस और पुष्टिरूपसे, और लता वनस्पतियों में रोग दूर करने की शक्तिरूपसे विद्यमान है और जो समस्त भुवनों को नाना रूप और सामर्थ्यों से युक्त बनाता है हम उस प्रभु को सदा स्मरण करें ।



[८८ (९३)] सर्पविष की चिकित्सा ।

गरुत्मान् ऋषिः । तक्षको देवता । त्र्यवसाना बृहती छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अपेह्यरिरस्यरिर्वा असि । विषे विषमपृक्था विषमिद् वा अपृक्थाः । अहिमेवाभ्यपेहि तं जहि ॥ १ ॥

भा०—हे सर्प ! तू (अप इहि) दूर चला जा । क्योंकि तू (अरिः असि) शत्रु है । तू सबको कष्ट देता है । (वा) निश्चय से तू (अरिः असि) दुःखकारी शत्रु है। हे पुरुष ! यदि सर्प परे न जाय और काट ही ले तो उसकी चिकित्सा के लिये (विषे) विष के ऊपर (विषम्) विष को ही (अपृक्थाः) लगाओ । विष को दूर करने के लिये विष का ही प्रयोग करो (वा) अथवा (विषम् इत्) उसी सर्प के विष को (अपृक्थाः) पुनः ओषधि रूप से प्रयोग करो । अथवा (अहिम्) उसी सांप के पास (एव) ही (अभि-अप-इहि) फिर पहुंचो और (तं जहि) उसको मारो । और उसीका विष लेकर उससे पूर्व विष को शान्त करो ।

प्रसिद्ध भारतीय वैद्य विद्या के विद्वान् वाग्भट ने अष्टांग हृदय में सर्प के काटने पर उसकी चिकित्सा के लिये पुनः उसी सर्प को पकड़ कर काटने का उपदेश किया । इसका यही रहस्य है कि सर्प का विष ही सर्प के विष का उत्तम उपाय है । और तिस पर भी उसी जाति के सर्प का विष सर्प विष की नाचूक दवा है । "डा० वैडल तथा अन्य विद्वानों ने

२–'अरिर्वासि' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'अहिमेवाभ्युपेहि' इति सायणाभिमतः पाठः ।

चिरकाल तक परिश्रम करके यह जाना है कि विषधर सर्प जब किसी को काटता है तो उसका विष जख़म के भीतर तो जाता ही है परन्तु थोड़ा-सा विष का भाग उस सर्प के पेट में भी जाता है। इससे उस सर्प के शरीर में विष के सहन करने की शक्ति उत्पन्न होती है। सर्प से कटा आदमी यदि पुनः उस सर्प को दातों से काट ले तो सर्प की विष-सहिष्णुता शक्ति से उसके शरीर में चढ़ा विष शान्त हो जाता है। अब भी सरकारी हस्पतालों में सर्प-चिकित्सा के लिये ८० प्रति शतक फणधर सर्प के विष के साथ २० प्रतिशत अन्य सर्पों का विष मिला कर सीरम तैयार करते हैं। वेद ने संक्षेप में उसी सिद्धान्त को स्पष्ट शब्दों में दर्शाया है।



[८९ (९४)] ब्रह्मचर्यपालन।

सिन्धुद्वीप ऋषिः । अग्निर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

आपो दिव्या अचायिषम् रसेन समपृक्ष्महि।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १ ॥

ऋ० १ । २३ । २३ ॥

भा०—मैं (दिव्याः) दिव्य, प्रकाशमय, ज्ञानमय, ईश्वरीय (अपः) कर्म और ज्ञान कणों को (सम् अचायिषम्) संग्रह करूं; और उनके (रसेन) सारभूत बल से अपने को (सम् अपृक्ष्महि) संयुक्त करें। हे (अग्ने) ज्ञानवन् प्रभो! इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञानक्रम से मैं (पयस्वान्) 'पयस्वान', ज्ञानवान् और कर्मवान् होकर (आगमम्) प्राप्त हुआ हूं

[८९] १–'आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगंस्महि। पयस्वानग्न आगहि तं मां संसृज वर्चसा।' इति ऋ०। ऋग्वेदेऽस्य सूक्तस्य काण्वो मेधातिथिर्ऋषिः। (द्वि०) 'रसेन समसृक्ष्महि' (च०) 'वर्चसा प्रजया च धनेन च' इति ऋग्वेदाद्विशिष्टः पाठभेदो यजु० ॥

(तम् मा) उस मुझको (वर्चसा) ब्रह्मतेज से (संमृज) युक्त कर। जिस प्रकार मेघ (दिव्यः) दिव्य जलों को संग्रह करके विद्युत् अग्नि से मिल कर प्रकाशवान् भी हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान और कर्म में निष्ठ होकर शरीर में हृष्ट पुष्ट होकर आचार्य और ईश्वर की साक्षिता में ब्रह्मचर्य का पालन करे।

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥ २ ॥
अथर्व० ६ । १ १५ ॥ १० । ५ । ४७ ॥ ऋ० १ । २३ । २४ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् गुरो ! (मा) मुझे (वर्चसा) तेज से (सं सृज) युक्त कर (प्रजया सं) प्रजा से युक्त कर (आयुषा सं) दीर्घ आयु से युक्त कर। (अस्य) इस प्रकार के तेज और आयु से सम्पन्न इस (मे) मुझको (देवाः) ज्ञानवान् विद्वान् पुरुष (विद्युः) जानें और (ऋषिभिः) मन्त्र द्रष्टाओं, वेद के विद्वान् योगियों सहित (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् प्रभु भी (विद्यात्) मुझे वैसा जाने। अर्थात् विद्वानों, अधिकारियों, ऋषियों और ईश्वर के साक्षिता में गुरु के अधीन ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का पालन करें।

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् ।
यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् ॥ ३ ॥
ऋ० १ । २३ । २२ ॥ यजु० ६ । १७ ॥

भा०—जिस प्रकार जलों से मल धोकर बहा दिया जाता है उसी प्रकार हे (आपः) उत्तम ज्ञान और कर्मनिष्ठ आप्तपुरुषो ! आप लोग (इदं) यह (अवद्यम्) निन्दायोग्य मेरे अन्तःकरण के नीच भाव और (मलं च) मैल,

३–'इदमापः प्रवहत यत्किञ्च दुरितं मयि । यद्वाहमभि दुद्रोह यद्वा शेपे उतानृतम्' । इति ऋ० ॥

मलिन विचारों को (प्रवहत) बहा डालो और अन्तःकरण को स्वच्छ कर दो । मेरे मन का अवद्य=निन्दनीय और मलिन कार्य यही है कि (यत्) जो मैं (च) प्रायः (अभि-दुद्रोह) दूसरों के प्रति द्वेष और द्रोह किया करता हूं और (अनृतम्) असत्य भाषण करता हूं और (यत् च) जो कुछ मैं (अभीरुणम्)[1] निर्भय, निरपराधी पुरुष को (शेपे) कठोर वचन कहता हूं अथवा निर्भय होकर मैं स्वयं दूसरों को बुरा भला कहता हूं उस मल को (आपः) आप्त वचन और आप्त पुरुष दूर करें ।

एधोस्येधिषीय समिदसि समेधिषीय ।
तेजोसि तेजो मयि धेहि ॥ ४ ॥ यजु० ३८ । २५ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (एधः असि) प्रकाशस्वरूप हो और मैं भी (एधिषीय) प्रकाशित होऊँ । हे परमेश्वर आप (सम्-इत् असि) अच्छी प्रकार दीप्तिमान् तेजस्वी हो और मैं भी (सम् इधिषीय) दीप्तिमान तेजस्वी होऊँ । हे भगवन् (तेजः असि) आप तेजस्वरूप हो आप कृपा करके (मयि) मुझमें (तेजः) तेज को (धेहि) धारण कराइये ।



[९० (९५)] नीच पुरुषों का दमन ।

अंगिरा ऋषिः । मन्त्रोक्ताः देवताः । १ गायत्री । २ विराट् पुरस्माद् बृहती । ३ त्र्यवसाना षट्पदाभुरिग् जगती । तृचं सूक्तम् ॥

---

१. 'उत्तमर्णाय देयं वस्तु ऋणमित्युच्यते तद् ऋणमभिप्राप्य' इति सायणः । 'अभीरुण मनपराधिनं, अनपराधी हि न बिभेति । यद्वा अभिलुनाति छिनत्ति कर्माणि, यदुच्चरितं सत् तदभीरुणम्' इति उव्वटः । निर्भयः' इति सन्दिग्धो ह्विटनिः । 'निर्भयः' इति दयानन्दः ।

४—'समेधिषीय' इति पदं यजुषि नास्ति । 'एधोऽस्येधिषीमहि' इति यजु० ॥ अस्या ऋचो यजुर्वेदे प्रजापति दीर्घतमाश्च ऋषी ।

अपि॑ वृश्च पुराण॒वद् व्रत॑तेरिव गुष्पि॒तम् ।
ओजो॑ दा॒सस्य॑ दम्भय ॥ १ ॥ ऋ० ७ । ४० । ६ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे राजन् अग्ने ! (व्रततेः इव) जिस प्रकार लताओं के (पुराण-वत्) पुराने (गुष्पितं) झाड़ झंकाड़ बने हुए सूखी डालियों को माली खोज २ कर काट डालता है उसी प्रकार तू (दासस्य) सदाचार और सत्पुरुषों और सभी साध्वी स्त्रियों का नाश करने वाले दुष्ट पुरुष के अंग को (अपि वृश्च) काट डाल या उसके (ओजः) बल या वीर्य का (दम्भय) विनाश कर । उसको नपुंसक कर डाल ।

व॒यं तद॑स्य॒ संभृ॑तं॒ वस्विन्द्रे॑ण॒ वि भ॑जामहै ।
म्ला॒पया॑मि भ्र॒जः शि॒भ्रं वरु॑णस्य व्र॒तेन॑ ते ॥ २ ॥

भा०—(वयम्) हम राष्ट्रवासी प्रजाजन (अस्य) इस दुष्ट पुरुष के (सं-भृतम्) इकट्ठे किये (वसु) धन को (इन्द्रेण) राजा के साथ मिल कर (वि भजामहे) विशेष रूप से बांट ले । हे दुष्ट पुरुष ! मैं (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ राजा के (व्रतेन) बनाई शासनव्यवस्था के अनुसार (ते) तेरे (भ्रजः) चमचमाते धन सम्पत्ति के (शिभ्रम्) गर्व को अभी (म्लापयामि) विनष्ट किये देता हूँ । जो दुष्ट पुरुष अपनी धन के गर्व से दूसरों पर अत्याचार करे और औरों के परिवारों की इज़्ज़त ले राजा अपने क़ानून से उसका धन हर ले उसके सम्पत्ति का एक भाग राजा अपने कोष में ले और एक भाग समाज के हितकारी कार्य में लगाये ।

[६०] २– वस्विन्द्रेण वि भजेमहि नभन्तामन्यके समे' इति विशिष्टः पाठभेदः ऋ० । प्रथमद्वितीययोर्ऋचो ऋग्वेदे ना[illegible] ६: । कारण्व ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते ।

यथा शेपो अपायातै स्त्रीषु चासदनावयाः ।
अवस्थस्य क्नदीवतः शाङ्कुरस्य नितोदिनः ।
यदाततमव तत्तनु यदुत्ततं नि तत्तनु ॥ ३ ॥

भा०—हे राजन् ! (अवस्थस्य) नीचे दर्जे के (क्नदीवतः) गंवारों की तरह बकने और सब को कलह और लड़ाई, दंगा, फ़साद के लिये ललकारने वाले; (शाङ्कुरस्य) कील के समान सब के दिल में चुभनेवाले और (नि-तोदिनः) सब को हर प्रकार से पीड़ा या व्यथा देनेवाले का (यत्) जो धन, मकान आदि सम्पत्ति अथवा बल (आ-ततम्) फैला हो, (तत्) उसको (अव तनु) घटा दो, और (यत् उत्-ततम्) जो पद या मान उन्नत अवस्था तक पहुंचा हो उसको (नि तनु) नीचा कर दे । जिससे उसका (शेपः) काम सम्बन्धी मद, दुराचार करने का बल (अप-अयातै) दूर हो जाय और वह (स्त्रीषु) जनसमाज में रहने वाली स्त्रियों तक (अनावयाः असत्) न पहुंच सके और उनको प्रलोभन में फांस कर या बल, पद या अधिकार से दबाकर स्त्रियों की इज़्ज़त न ले सके । जो पुरुष दुराचारी अपने दुराचार से स्त्रियों पर बलात्कार करे और आचार में हीन, लोगों से कलहकारी होकर और लोगों को अपने दुराचार के कारण कष्ट देता है उसकी धन सम्पत्ति छीन ली ज़ाय, उसका मान, पद, अधिकार घटा दिया जाय और समाज से बाहर कर दिया जाय जिससे उसके हाथों स्त्रियों का मान नष्ट न हो । ग्रीफिथ ने तीसरा मन्त्र अश्लील जानकर छोड़ दिया है । कारण, सायण ने इस सूक्त को कौशिक सूत्र का विनियोग देखकर व्यभिचारी 'जार' के पक्ष में बड़ी निर्लज्जता से लगाया है । ह्विटनी भी उसी प्रवाह में बह गया है । कौशिक ने केवल यह लिखा है कि इस सूक्त से 'बाधकं धनुर्विष्यति आशयेऽश्मानं प्रहरति ।' व्यभिचारी को न आने देने के लिये धनुष से बाण फेंके या उसके संकेत स्थान पर पत्थरों से ठोके । कदाचित् कौशिक का यह अभिप्राय

है कि व्यभिचारी आदमी को वेद के इस मन्त्रकी रूह से धनुष बाण से मारने और पत्थरों से उसको 'संगसार' करने का दण्ड देना चाहिये। यह उचित भी जान पड़ता है। मनु ने स्त्रीसंग्रह प्रकरण में—[मनु० २ । ३५२-३७२] दुराचारी स्त्री-व्यसनी पुरुष के कठोर दमन का विधान लिखा है।

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि नव, ऋचश्च चतुर्विंशतिः]

[९१ (९६)] राजा के कर्त्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्रमाः (राजा) देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः ।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ १ ॥

— ऋ० ६ । ४७ । १२ ॥ १० । १३१ । ६ ॥ यजु० २० । ५१ ॥

भा०—(सु-त्रामा) प्रजा की उत्तम रीति से रक्षा करने हारा (इन्द्रः) राजा भी (अवोभिः) रक्षा करने के नाना उपायों से ही (सु-अवान्)[1]

इतः परसुधियः प्रमाणम् ॥

[९१] १. 'स्वऽवान्' इति पादपाठः। तत्र स्ववान् धनवानिति सायणादयः 'बहवः स्वे विद्यन्ते यस्य सः' इति दयानन्दः। परन्तु 'सुत्रामा, सुमृडीक, सुवीर्यस्य इति सर्वत्र 'सु' प्रयोगे स्वपात् इत्यत्रापि 'सुऽअवान्' इत्येव सन्धिच्छेदः साधीयान्। तथाच ह्विटनि 'इन्द्रः सुत्रामा स्ववान्'='well saving, well aiding' इत्यादि। 'सु' उपपदादवतेर्बहुशः प्रयोगाः। यथा—'सुशर्माणं स्ववसं जरद्विषम्' इति ऋग्वेदे (५ । ८ । २) अग्नेर्विशेषणम्। 'ईळेऽग्निं स्ववसं नमोभिः' (ऋ० ५ । ६० । १ ।) 'स्वायुधं स्ववसं

प्रजा की उत्तम रीति से रक्षा करने में समर्थ होता है । अथवा (अवोभिः) रक्षा के साधनों से (स्वऽवान्) राजा स्व=धन सम्पत्ति और राष्ट्र से सम्पन्न हो जाता है अथवा रक्षा के उपायों से ही बहुत से जन उसके अपने हो जाते हैं । (विश्व-वेदाः) और वह समस्त प्रकारों के धनसञ्चय कर के राष्ट्र के लिये (सु-मृडीकः) उत्तम रीति से सुखकारी (भवतु) हो । राजा (द्वेषः) आपस में द्वेषकारी, अप्रीति करने या प्रेम का नाश करनेवाले कलहकारी लोगों को (बाधताम्) पीड़ित या दण्डित करे । और (नः) हमें (अभयं) समस्त राष्ट्रों में भय रहित (कृणोतु) कर दे जिससे हम निर्भय विचरते और व्यापार करते हुए भी (सु-वीर्यस्य) उत्तम बल सामर्थ्य के (पतयः) पति, स्वामी, (स्याम) बने रहे । परमात्मपक्ष में स्पष्ट है ।



[९२ (९७)] उत्तम राष्ट्रपालक राजा ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्रमाः (राजा) देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु ।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ १ ॥

ऋ० ६ । ४७ । १३ ॥ १० । १३१ । ७ ॥ यजु० २० ॥

भा०—(सः) वह (सु-त्रामा) राष्ट्रका उत्तम रक्षक, (सु-अवान्,

सुनीथं' इति (ऋ० १० । ४७ । २ ॥) इन्द्र विशेषणम् । तत्र सूपपदादवतेरसुन्नौणादिकः इति 'स्ववान्' अन्यच्च, 'अवोभिः' स्ववान् इत्यत्र 'सु-अवान्' इत्येव पदच्छेदः सूपयोगः । अस्याः ऋग्वेदे सुकीर्त्तिः काक्षीवत ऋषिः ॥

[९२] १–ऋग्वेदेऽस्याऋचः पूर्वार्धपरार्धयोर्विपर्ययेण पाठः । अस्या ऋग्वेदे सुकीर्त्तिः काक्षीवत ऋषिः ॥

स्व-वान्) उत्तम रक्षा साधनों से सम्पन्न अर्थशक्ति से सम्पन्न या बहुत से सहायकों से युक्त होकर (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, प्रतापी राजा (द्वेषः) हमारे शत्रुओं को (अस्मत्) हम से (आरात्) दूर से (चित्) ही (सनुतः) गुप्त अप्रत्यक्ष, साम, दाम, भेद आदि सुगूढ़ उपायों द्वारा (युयोत) भेद डाले। (तस्य) ऐसे गुणवान् बुद्धिमान् (यज्ञियस्य) यज्ञ=पूजा और सत्कार के योग्य राजा के (सु-मतौ) उत्तम शासन या सन्मति में रहते हुए हम (भद्रे) कल्याण और सुखकारी (सौमनसे) शुभ-मनोभाव में (स्याम) रहें अर्थात् उसके प्रति सदा अच्छा मनोभाव बनाये रक्खें। यदि राजा शत्रुओं से प्रजा की रक्षा न करके उनसे प्रजा को नाश करता और निर्धन करता है या प्रजा को व्यर्थ शत्रु से युद्ध कलह करके नाश कराता है तो प्रजा तंग आकर राजा का सत्कार नहीं करती और उसके प्रति दुर्भाव से रहती और द्रोह करती है।



[९३ (९९)] राजा के पराक्रम से शत्रुओं का बिजय।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः । एकर्च सूक्तम् ॥

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः। घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ॥१॥

भा०—(मन्युना) ज्ञान दीप्ति और विवेक और असह्य तेज या प्रताप से युक्त मन्युस्वरूप (इन्द्रेण) इन्द्र राजा के साथ (वयम्) हम (पृतन्यतः) सेना से युद्ध करनेहारे शत्रुओं को और (वृत्राणि) सब प्रकार के विघ्नों और उपद्रवों को (अप्रति) सर्वथा, निःशेष रूप से (घ्नन्तः) विनाश करते हुए (अभि ष्याम) जीत लें।



[९३] १–'इन्द्रेण सयुजो वयं सासह्याम' इति तै० सं० । 'मन्युना युजा वयमवबाधे पृतन्यतः घ्नता वृत्रण्यप्रति' इति मै० सं० ॥

[९४ (९८)] राजा का कर्त्तव्य, प्रजाओं में प्रेम उत्पन्न करना ।

अथर्वा ऋषिः । सोमो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि ।
यथा न इन्द्रः केवलीर्विशः संमनसस्करत् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १७३ । ६ यजु० ७ । २५ ॥

भा०—हम लोग (ध्रुवेण) ध्रुव, स्थिर (हविषा) अन्न आदि के अंश से (ध्रुवम्) स्थिर, दृढ़ (सोमम्) प्रजा के सन्मार्ग में प्रेरक शासक को (अव नयामसि) अपने अधीन करते या स्वीकार करते हैं, अपनाते हैं। (यथा) जिससे (नः) हमारा (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, दर्शनीय, विघ्न-नाशक राजा (केवलीः) अपनी अनन्य साधारण (विशः) प्रजाओं को (सं-मनसः) अपने साथ मनोयोग देनेवाली, एकचित्त, समानचित्त परस्पर का प्रेमी (करत्) बनावे, उनको संगठित और सुदृढ़ करे ।



[९५ (१००)] जीव के आत्मा और मनका वर्णन ।

कापिञ्जल ऋषिः । गृध्रौ देवते । अनुष्टुप् छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः ।
उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः ॥ १ ॥

भा०—(अस्य) इस जीव के (विथुरौ) व्यथादायी या व्यथित

[९४] १–'ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि । अथा न इन्द्र इद्विशोऽस-पत्नाः समनस्करत्' । इति पाठभेदाः, यजु० । (द्वि०) अभिसोमं-मृशामसि । 'अथोत इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत् इति पाठः ऋ० । तत्र यजुर्वेदे भरद्वाज ऋषिः । ऋग्वेदेऽस्याः ध्रुव ऋषिः । राज्ञः स्तुतिर्देवता ।

(गृध्रौ) लोकान्तर की आकांक्षा करनेवाले आत्मा और मन अथवा आत्मा और प्राण (श्यावौ गृध्रौ इव) दो श्यामरंग के गीध जिस प्रकार (द्याम्) आकाश में उड़ते हैं उस प्रकार अत्यन्त गतिशील, तीव्र वेगवान् होकर (उत् पेततुः) ऊपर उठते हैं । दोनों उस समय उसके (हृदः) हृदय को अपने तीव्रवेग और ताप से (उत्-शोचनौ) अति अधिक कान्ति देने वाले होते हैं इसलिये उनका नाम भी (उच्छोचन-प्रशोचनौ) उत्शोचन और प्रशोचन हैं । वे दोनों उस समय हृदय के अग्रभाग को प्रदीप्त करते हैं । और शरीर को संतप्त करते हैं ।

"तस्यहैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति । चक्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति। प्राणमनु उत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति इत्यादि।" बृहदारण्यकोपनिषत् ४ । ४ । २ ॥

देहावसानकालमें आत्मा की समस्त शक्तियां आत्मा में लीन होकर एक हो जाती हैं । और तब हृदय का अग्रभाग प्रकाशित होता है । वह आत्मपुंज हृदय या आंख या ब्रह्माण्ड भाग से निकल जाता है । और आत्मा के साथ इन्द्रिय गण भी शरीर को छोड़ देते हैं । बृहदारण्यक का वह स्थल विशेष दर्शनीय है ।

अहमेनावुदतिष्ठिपं गावौ श्रान्तसदाविव ।
कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव ॥ २ ॥

भा०—(श्रान्त सदौ गावौ इव) थककर या हारकर बैठे हुए बैलों को जिस प्रकार उनका गाड़ीवान पुनः उनकी पूंछ मरोड़कर फिर उठाता है और जिस प्रकार (कूजन्तौ) गुर्राते हुए (कुर्कुरौ-इव) कुत्ते ऊपर को उछलते हैं और जिस प्रकार (उत्-अवन्तौ) ऊपर को झपटते हुए

(वृकौ-इव) भेड़िये उछलते हैं उसी प्रकार (अहं) मैं परमात्मा शरीर के जीर्ण हो जाने पर (एनौ) इन दोनों जीव और मन को (उत्-अतिष्ठिपम्) ऊपर को खैंच लेता हूं ।

आतोदिनौ नितोदिनावथो संतोदिनावुत ।
अपि नह्याम्यस्य मेढ्रं य इतः स्त्री पुमान् जभार ॥३॥

भा०—ये दोनों मरण काल में शरीर से निकलते समय इस शरीर में (आ-तोदिनौ) सर्वत्र व्यथा उत्पन्न करते हैं । (नि-तोदिनौ) खूब ही तीव्र वेदना उत्पन्न करते हैं, (सं-तोदिनौ) समस्त अंगों में व्यथा उत्पन्न किया करते हैं । (यः) जो भी जीव (स्त्री) चाहे वह स्त्री हो और (पुमान्) चाहे वह पुरुष हो तो भी (इतः) इस लोक से (जभार[1]) दूसरे लोक में जाता है । मैं मृत्यु रूप व्यवस्थापक ईश्वर (अस्य) इस शरीरधारी प्राणि के (मेढ्रम्) लिंग भाग को (अपि नह्यामि) बांध देता हूं । मरणासन्न जीव को पाखाना तो आ जाता है, पर मूत्र जीवन के अन्तिम दो दिनों में नहीं आता ।

'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः इदं च परलोकस्थानं च। सन्ध्यं तृतीयं स्थानं तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने पश्यति' इत्यादि बृहदारण्यक प० ४ । ३ । ९ ॥ कौशिक सूत्रकारने मण्डूक का शिर काटने में इस मन्त्र का विनियोग किया है । ठीक है । मनोविज्ञान और जीवनविज्ञान के जानने के लिये मेंडक का शिर काट कर नाड़ी और प्राणों की गति के उत्तम निरीक्षण करने की विधि वर्तमान के वैज्ञानिकों के अनुसार प्राचीन काल में थी । जिसको सायणादि ने नहीं समझा ।



३–'स्त्रीम्' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (सच तस्याज्ञानविलासः ।)
१. हृगतौ इत्यस्या 'जभार' गच्छामीत्यर्थः ॥

[९६ (१०१)] जीव की शरीरप्राप्तिका वर्णन ।

कपिंजल ऋषिः । वयो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

असदन् गावः सदनेपप्तद् वसतिं वयः ।
आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

भा०—(गावः) जिस प्रकार गौवें अपने (सदने) घर में (असदन्) आकर बैठती हैं उसी प्रकार (गावः) इन्द्रिय गण (सदने) अपने आयतन, भोगाश्रय शरीर में (असदन्) आकर बैठ जाती हैं । और जिस प्रकार (वयः) पक्षी (वसतिम्) अपने घोंसले में आकर बैठता है उसी प्रकार यह जीवात्मा अपने (वसतिम्) वासस्थान देह को (उपपप्तत्) प्राप्त कर लेता है । और उस देह में (पर्वताः) पोरु वाले अंगों में स्थित हड्डियां भी (आ-स्थाने) ठीक २ स्थान पर (तस्थुः) स्थिर हो जाती हैं और (स्थाम्नि) ठीक २ स्थान पर मैं परमेश्वर जीव के शरीर में (वृक्कौ) गुर्दे आदि अंगों को (अतिष्ठिपम्) स्थापित करता हूँ ।

गर्भाशय में प्रथम इन्द्रियें फिर जीव आता है और फिर हड्डियों और उसके पश्चात् गुर्दे और फेफड़े आदि बनते हैं ।



[९७ (१०२)] ऋत्विजों का वरण ।

यज्ञसम्पूर्णकामोऽथर्वा ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । १–४ त्रिष्टुभः । ५ त्रिपदार्षी भुरिग् गायत्री । त्रिपात् प्राजापत्या बृहती, ७ त्रिपदा साम्नी भुरिक् जगती । ८ उपरिष्टाद् बृहती । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

---

[९६] १–'वृकावतिष्ठिपम्' इति सायणाभिमतः पाठः । तत्र सायणकृतोऽर्थो हास्यजनकः ।

यदद्य त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन् होतश्चिकित्वन्नवृणीमहीह ।
ध्रुवमयो ध्रुवमुता शविष्ठ प्रविद्वान् यज्ञमुप याहि सोमम् ॥१॥
ऋ० ३ । २६ । १६ ॥ यजु० ८ । २० ॥

भा०—हे (चिकित्वन्) ज्ञानवान्, विद्वान्, ब्रह्मन् ! हे (होतः) ज्ञान प्रदान करने हारे देव, विद्वान् पुरुषों को उपदेश करने और उनको अपने उपदेशों के प्रति आकर्षण करने में समर्थ ! (यत्) क्योंकि हम यजमान लोग (इह) इस अवसर पर (अद्य) आज (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ के (प्रयति) प्रारम्भ होने के समय (अवृणीमहि) ऋत्विक् रूप से वरण करते हैं । इसलिये आप (ध्रुवम्) निश्चय पूर्वक (अयः) यज्ञ करें या यज्ञ में आवें (उत) और, हे (शविष्ठ) शक्तिमन् ! आप (प्र-विद्वान्) उत्तम कोटि के विद्वान् होकर (सोमम् यज्ञम) सोम यज्ञ में (ध्रुवम्) अवश्य (आ उप याहि) आइये, पधारिये । अथवा (हे शविष्ठ ! यज्ञं प्रविद्वान् ध्रुवं सोमम् उपयाहि) हे शक्तिमन् ! आप यज्ञ को भली प्रकार जानते हुए सोम यज्ञ में पधारें । अथवा सोम-रस का पान अवश्य करें ।

अध्यात्म पक्ष में; परमात्मा के प्रति सम्बोधन करके लगता है ।

समिन्द्र नो मनसा नेष गोभिः सं सूरिभिर्हरिवन्त्सं स्वस्त्या ।
सं ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानाम् ॥ २ ॥

[६७] १–(तृ०) 'ध्रुवमयो ध्रुवमशमिष्ठाः प्रविद्वान्' इति सायणाभिमतः पाठः । (द्वि०, तृ०) 'चिकित्वोऽवृणीमहीह । ध्रुवमया ध्रुवमुता शमिष्ठाः' इति ऋग्वेदे पाठभेदः । 'वयं हित्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह । ऋधगया ऋधगुता शमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान्॥ इति याजुषः पाठः । (तृ०) ऋधगयाट्' (च०) विद्वान् प्रजानन्नुपयाहि यज्ञम् । ऋग्वेदेऽस्या विश्वामित्र ऋषिः ।

२–(प्र०) 'समिन्द्र णो' (द्वि०) 'सं सूरिभिर्वः सं स्वस्ति' (च०) 'सुमत्या

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! परमेश्वर ! (नः) हमें (मनसा) मननशील चित्त और (गोभिः) इन्द्रियों सहित या वेदवाणियों द्वारा (सं नेष) समान रूप से उत्तम मार्ग में ले चल। हे इन्द्र ! राजन् ! हमें (सूरिभिः) ज्ञानी विद्वानों के साथ (सं नेष) मिला, हे (हरिवन्) दुःखहारी ज्ञान और कर्मनिष्ठ विद्वन् ! हमें (स्वस्त्या) कल्याणमय उत्तम फल से (सं नेप) युक्त कर। और (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेद, ज्ञान द्वारा (यत्) जो कुछ (देवहितं) विद्वानों और शिल्पज्ञ श्रेष्ठ पुरुषों को हितकारी या देव=दिव्य पदार्थों में स्थित गुण या ज्ञानी पुरुषों में विद्यमान ज्ञान और तप है उसको भी हमें (सं नेप) प्राप्त करा और (यज्ञियानां) यज्ञ के योग्य, यज्ञशील (देवानाम्) देव विद्वान् पुरुषों के (सु-मतौ) शुभ सम्मति में हमें (सं नेप) चला। गौण रूप से धनैश्वर्य्य आदि सम्पन्न विद्वान् सत्तावान् गृहस्थ के प्रति प्रजाओं का यह वचन भी उपयुक्त है।

यानावंह उशतो दे॑व दे॒वांस्तान् प्रेर॑य॒ स्वे अ॑ग्ने स॒धस्थे॑।
ज॒क्षि॒वांसः॑ पपि॒वांसो॒ मधू॒न्य॒स्मै ध॑त्त वसवो॒ वसू॑नि ॥३॥

यजु० ८ । १९ ॥

भा०—हे अग्ने ! अग्नि के समान दुष्टों के संतापक (देव) राजन् ! तू (यान्) जिनको (उशतः) नाना पदार्थों धन, गौ, आजीविका, दान दक्षिणा आदि के अभिलाषा करने वाले (देवान्) विद्वान् शिल्पी और

यज्ञियानाम्' इति ऋग्वेदीयः पाठभेदः। (प्र०) 'समिन्द्र णो', (द्वि०) संसूरिभिर्मघवन्' (तृ०) 'सं ब्रह्मणा देवकृतं' (च०) 'यज्ञियानां स्वाहा' इति याजुषाः पाठभेदाः ऋग्वेदेऽस्या अत्रिर्ऋषिः ॥

३–(प्र०) 'याँ आवह' (द्वि० तृ०) 'पपिवांसश्च विश्वेऽसुंघर्मं स्वरातिष्ठताऽनु' इति यजु० ॥ (द्वि०) 'प्रेरय पुनरग्ने स्वे सधस्थे' इति पैप्प० सं० ॥

गुणी विज्ञ पुरुषों को (आ-अवहः) स्वयं अपने समीप या अपने राज्य में बुलाता है (तान्) उनको (स्वे) अपने २ (सधस्थे) संघों में रहने की (प्रेरय) प्रेरणा कर । हे (वसवः) राष्ट्र में निवास करने हारे विद्वान् शिल्पी गुणी विज्ञ पुरुषो ! तुम लोग इस राजा के राष्ट्र में (जक्षि-वांसः) उत्तम अन्नों को खाते हुए और (मधूनि) मधुर दुग्ध आदि पदार्थों का (पपि-वांसः) पान करते हुए (वसूनि) नाना प्रकार के वासयोग्य धन, रत्न, सुवर्ण और मकान आदि को (धत्त) स्वयं धारण करो और राजा को भी प्रदान करो ।

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा जुषाणाः ।
वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं घर्मं दिवमा रोहतानु ॥४॥
यजु० ८ । १८ ॥

भा०—राजा का विद्वान् गुणज्ञों के प्रति वचन । हे (देवाः) विद्वान् गुणज्ञ पुरुषो ! (वः) आप लोगों के लिये (सुगा) सुख से प्राप्त करने, एवं निवास करने योग्य (सदना) घर (अकर्म) बना देते हैं । (ये) जो आप लोग (जुषाणाः) प्रेम से युक्त होकर (सदने) इस राष्ट्रमय यज्ञ या मेरी प्रेरणा में आप लोग (आ-जग्म) आते हैं वे आप लोग (स्वा) अपने २ योग्य (वसूनि) वास करने के निमित्त उचित वेतन आदि धनों को (भरमाणाः) लेते हुए (वसु) अपने विज्ञान और शिल्प रूप (घर्मम्) प्रकाशमान (दिवम्) हुनर को (अनु आ रोहत) मेरे राष्ट्र के अनुकूल या आवश्यकतानुकूल प्रादुर्भाव करो । अथवा (वसु घर्मं दिवं आ रोहत अनु) वास योग्य, प्रकाश से युक्त स्वर्ग समान उत्तम पद पर आरूढ़

४–'य आजग्मेदं सवनं जुषाणाः' (तृ०) 'वहमाना हवींष्यस्मे धत्त-वसवो वसूनि स्वाहा' इति यजु० । (प्र०) 'स्वगा वै देवा सदनं कृणोमि' इति तै० सं० । 'कृणोमि य आचष्टेदं सवनंजुषाण', 'दुघास्त्वं घर्म तमु तिष्ठतानु' इति पैप्प० सं० ॥

एष ते॑ य॒ज्ञो य॑ज्ञपते स॒हसू॑क्तवाकः । सु॒वीर्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

यजु० ८ । २२ ॥

भा०—हे (यज्ञ-पते) समस्त यज्ञों के स्वामिन्! (एष) यह भी महान् (यज्ञः) ब्रह्माण्ड और यह देह और यह आत्मा जिसमें इन्द्रिय मन प्राण आदि संगत है अथवा यह यज्ञ जो समाधि काल में तेरा संग लाभ हुआ है यह (ते) तेरा ही है। यही स्वतः (सह-सूक्तवाकः) सुन्दर २ स्तुति वचनों, मन्त्रों द्वारा वर्णन किया जाता है और (सु-वीर्यः) यही बड़ा बल आत्मबलशाली दृढ़ आत्मा है। (स्वाहा) बस, इसमें यह आत्मा हे परमात्मन्! तेरे भीतर अपने को लीन कर देता है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ गीता ॥

दोनों मन्त्रों का याज्ञिक पक्ष स्पष्ट है।

वष॑ड्ढु॒तेभ्यो॒ वष॒डहु॑तेभ्यः ।
देवा॑ गातुविदो गा॒तुं वि॒त्त्वा गा॒तुमि॑त ॥ ७ ॥

यजु० २ । २० । अस्या उत्तरार्धः यजु० ८ । २१ । अस्या० पूर्वार्धः ॥

भा०—यज्ञ में (हुतेभ्यः) हवन करने हारे विद्वानों को (वषट्) दान दिया जाय और (अहुतेभ्यः) जो विद्वान् होता न भी बनें उनको भी सत्कारार्थ (वषट्) दान किया जाय। और इसके पश्चात् यजमान कहे—हे (देवाः) विद्वान पुरुषो ! आप लोग (गातुविदः) सब मार्गों को जानते हैं। आप लोग (गातुं) मार्ग को (वित्वा) भली प्रकार

६—'सुवीरः स्वाहा' इति तै० सं० । सुवीरस्तेन सम्भव भ्राजं गच्छ इति मै० सं० । 'सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा' इति यजु० । 'एष ते यज्ञो यजमानः स्वाहा सूक्तनमो वाकः सुवीरः स्वाहा' इति पैप्प सं० ॥

७—५, ६, ७ एषां त्रयाणां मन्त्राणामत्रिर्मनसस्पतिर्वा ऋषिः । यजु० ।

जानकर (गातुम् इत) अपने घरके मार्ग में पधारो। अर्थात् यज्ञ में आये विद्वानों को दान दक्षिणा देकर यजमान आदर पूर्वक उनको उत्तम मार्ग बतलाकर मार्ग की सुविधाएं करके उनको विदा करे।

अध्यात्म पक्ष में—हुत और अहुत दोनों प्रकार के साधकों के लिये 'वषट्' वही आत्मसमर्पण का मार्ग है। हे (देवाः) विद्वान योगिजनों ! आप लोग (गातुविदः) गन्तव्य परमपद को जानने हारे हो, इसलिये (गातुं वित्वा) उस गन्तव्य मोक्ष पद को जानकर (गातुम् इत) उस परम गन्तव्य मोक्ष पद को प्राप्त करो। अध्वा, मार्ग, गातु, सेतु इत्यादि सब शब्द परम देवमार्ग परायण; मोक्ष ब्रह्मके वाचक हैं।

मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम् ।
स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा वाते धां स्वाहा ॥८॥

यजु० ८ । २१ उत्तरार्धः ॥

भा०—(मनसस्पते) हे मननशील आत्मा और चित्त के स्वामिन् परमात्मन् ! अन्तर्यामिन् ! मैंने (देवेषु) देव इन्द्रियगणों में व्यापक (इमं यज्ञम्) इस यज्ञस्वरूप आत्मा के (दिवि) तेजस्वरूप परम मोक्षपद में (धां) धर दिया, उसी में अर्पित कर दिया। यह उसी (दिवि) परम तेजोमय ब्रह्म में (स्वाहा) अच्छी प्रकार आहुत (स्वाहा) लीन हो जाय (पृथिव्यां स्वाहा) उस सर्वाधार महान् ब्रह्म में यह आत्मा (स्वाहा) स्वयं लीन हो (अन्तरिक्षे) सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक परब्रह्म में (स्वाहा) यह स्वयं लीन हो (वाते) सर्व प्राणरूप सर्वाधार प्रभु में (स्वाहा) यह आत्मा लीन हो।

८—'मनसस्पते इमं देव यज्ञं स्वाहा वाते धाः' इति याजुषः पाठः। 'मनसस्पते देवा देवेषु यज्ञं स्वाहा वाचि स्वाहा वातेधाः' इति तै० सं०। 'मनसस्पते सुधात्विमं यज्ञं दिवि देवेषु वातेधाः स्वाहा' इति मै० सं० ॥

[९८ (१०४)] अध्यात्म यज्ञ ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता बर्हिर्देवता । विराट् त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

सं ब॒र्हिर॒क्तं ह॒विषा॑ घृ॒तेन॒ समिन्द्रे॑ण॒ वसु॑ना॒ सं म॒रुद्भिः॑ ।
सं दे॒वैर्वि॒श्वदे॑वेभिर॒क्तमिन्द्रं॑ गच्छतु ह॒विः स्वाहा॑ ॥ १ ॥

यजु० २ । २२ ॥

भा०—(हविषा) ज्ञान और (घृतेन) तेज से (सम् अक्तं) सम्पन्न होगया है, तेजोमय या प्रकाशित होगया है। वह (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् मुख्य (वसुना) प्राण और (मरुद्भिः) अन्य गौण प्राणों से भी (सम् अक्तं) सम्पन्न होगया है। वह (देवैः विश्वदेवेभिः) देव विद्वानों और समस्त दिव्य शक्ति और समस्त कामनाओं से (सम् अक्तम्) सम्पन्न होकर यज्ञ में आहुति के निमित्त (बर्हिः) धान्य के समान बीजभूत मूल एवं शमदम आदि से वृद्धिशील आत्मा (हविः) स्वयं ज्ञानमय हवि होकर (इन्द्रम्) उस ऐश्वर्यमय परमेश्वर को (गच्छतु) प्राप्त हो। (स्वाहा) यह आत्मा स्वयं अपने प्रति इस प्रकार कहता है या यही सबसे उत्तम आहुति है।



[९९ (१०५)] गृहस्थ को उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । जाभिभूता वेदिर्मन्त्रोक्ता देवता । उत्तरा भुरिक् त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

---

[९८] १–(प्र०) 'संबर्हिरङ्क्तां' (द्वि०) 'समादित्यैर्वसुभिः सं:' (तृ०) समिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्तां (च०) दिव्यं नभो गच्छतु स्वाहा'' इति याजुषाः पाठभेदाः ।

परि॑ स्तृणीहि॒ परि॑ धेहि॒ वेदि॒॑ मा जा॒मिं मो॑षीरमु॒या शया॑नाम् ।
हो॒तृ॒षद॑नं॒ हरि॑तं हि॒र॒ण्ययं॑ नि॒ष्का ए॒ते यज॑मानस्य लो॒के ॥ १ ॥

भा०—हे यजमान गृहस्थ ! जिस प्रकार यज्ञकी वेदि को कुशाओं से आच्छादित किया जाता है उसी प्रकार (वेदिम्) पुत्र आदि सन्मान प्राप्त करने के साधन स्वरूप इस स्त्री को (परि स्तृणीहि) सब प्रकार से आच्छादित कर और (परि धेहि) सब प्रकार से उसे धारण और पोषण कर। (अमुया[1]) इस (शयानां) सोती हुई (जामिं) सन्तान उत्पन्न करने हारी स्त्री को (मा मोषीः) कभी मत छल, उससे कुछ मत छिपा, उससे चोरी करके कुछ मत कर। (होतृ-सदनं) होता, सब के देने वाले परमेश्वर या प्रजापति का सदन, स्थान (हरितम्) बड़ा मनोहर, हरियाले धान्यों से पूर्ण और (हिरण्यम्) सुवर्ण से भरपूर है। और (यजमानस्य) यज्ञ करने हारे, गृहस्थ सम्पादन करने वाले पुरुष के (लोके) स्थान में भी (एते) ये नाना प्रकार के (निष्काः) सुवर्ण के सिक्के हैं। जब सब धन धान्य संपूर्ण और सुवर्ण से भर पूर ईश्वर के ख़ज़ाने हैं और गृहस्थ के घर में भी नाना धन हैं तो उसे चाहिये कि अपनी स्त्री को अच्छे वस्त्र पहनावे और उत्तम भोजन खिलावे, पुष्ट करे।

'योषा वै वेदिः वृषा अग्निः' श० १ । २ । ५ । १२ ॥



[१०० (१०५)] दुःस्वप्न का नाश करना ।

यम ऋषिः । दुःस्वप्ननाशनो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

[९९] १–(प्र०) 'अभिस्तृणीहि' (द्वि०) 'जामि' माहिंसीरमुया शयाना' (तृ०) होतृषदना हरितः सुवर्णा निष्काइमे यजमानस्य ब्रध्ने । इति तै० ब्रा० ॥

१. अमुया इत्यत्र द्वितीयायाः स्थाने 'याच्' आदेशः इति सायणः ।

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥ १ ॥

भा०—मैं (दुःस्वप्न्यात्) बुरे स्वप्न से उत्पन्न हुए (पापात्) पाप से (परि आवर्त्ते) परे रहूँ । और (अभूत्याः) अनिष्ट के (स्वप्न्यात्) स्वप्न से उत्पन्न (पापात्) पाप से भी परे रहूँ । (अहम्) मैं (अन्तरं) पाप और अपने बीच में (ब्रह्म) पवित्र ईश्वर के नाम स्मरण या पवित्र मन्त्र को (कृण्वे) पाप का बाधक बना लेता हूँ इससे (स्वप्न-मुखाः) स्वप्न से उत्पन्न होने वाली (शुचः) हृदय की संतापजनक प्रवृत्तियाँ (परा कृण्वे) दूर कर दूं । अथवा उस पवित्र संकल्प द्वारा (स्वप्न-मुखा) स्वप्न के उत्पन्नकारी (शुचः) दुर्विचारों को (परा) दूर कर दूं ।



[१०१ (१०६)] दुःस्वप्न को दूर करने का उपाय ।

यम ऋषिः । स्वप्ननाशनो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

यत् स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते ।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा ॥ १ ॥

भा०—(यत्) जो कुछ (स्वप्ने) स्वप्न में मैं (अन्नम्) अन्न आदि पदार्थ (अश्नामि) भोग करता हूँ, खाता हूँ वह (प्रातः) सबेरे उठ कर (न अधि-गम्यते) सत्य नहीं पाया जाता । इसलिये मैं संकल्प करता हूँ कि (तत् सर्वं) वह सब जो मैं स्वप्न में भी देखूं या करूँ (मे) मेरे लिये (शिवं) कल्याणकारी (अस्तु) हो, क्योंकि (तत्) वह

[१००] १–(प्र०) 'दुःस्वप्नात्' (च०) 'स्वप्नमुखा सुव' इति पैप्प० सं० । 'पापः स्वप्नादभूत्यै', 'ब्रह्माहमन्तरं करवे पराः स्वप्नमुखा कृधि' इति का० श्रौ० सू० ॥

स्वप्न का देखा या किया (दिवा) जागने पर दिन के समय (नहि दृश्यते) दीखता भी नहीं । इसलिये व्यर्थ स्वप्न के देखे सुने पर शोक न करे, प्रत्युत अपने चित्त को दृढ़ करके और उसे 'असत्' समझे ।



[१०२ (१०७)] विचार पूर्वक उन्नति का संकल्प ।

प्रजापतिर्ऋषिः । द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं मृत्युश्च देवताः । विराट् पुरस्ताद् बृहती । एकर्चं सूक्तम् ॥

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे ।
मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन् मा मां हिंसिषुरीश्वराः ॥ १ ॥

भा०—(द्यावापृथिवीभ्याम्) द्यौ और पृथिवी माता और पिता, इनको (नमः-स्कृत्य) नमस्कार करके और (अन्तरिक्षाय) अन्तर्यामी परमेश्वर और (मृत्यवे) सब के संहारक परमेश्वर को (नमस्कृत्य) नमस्कार करके (ऊर्ध्वः) ऊँचे, सीधा (तिष्ठन्) खड़ा होकर (मेक्षामि) चलूँ । (ईश्वराः) ये मेरे ईश्वर, मेरे स्वामी (मा) मुझको (मा हिंसिषुः) विनाश न करें ।

ह्विटनी की सम्मति में—(मेक्ष्यामि ऊर्ध्वः तिष्ठन्) "मैं ऊँचे खड़ा रह कर मूतता हूँ ।" उनके सम्पादक चार्लस राकवेल लैन्मन् के विचार में "अभी तक भारतवर्षी खड़े होकर मूतते हैं ।" यह कैसा भद्दा, उलटा और अश्लील अर्थ लिया है । अथवा प्रजापति ऋषि हैं अतः पर्जन्य प्रजापति कहता है—(द्यावापृथिवीभ्यां) द्यौ और पृथिवी इनको (नमःकृत्य) अपने वश करके अथवा इनके अनुकूल होकर (अन्तरिक्षाय) द्यौ अन्तरिक्ष को भी (नमः) अर्थात् उनके भीतर

[१०२] १–'मेष्यामि' इति सायणसम्मतः पाठः । मेक्ष्यामि, मेष्यामि इत्यादि पाठौ क्वचित् । मेक्ष्यामि इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

स्थित सूर्य्य, पृथिवी और वायु तीनों को अपने में अनुकूल करके (मृत्यवे) प्राणियों को मृत्यु से बचाने के लिए (ऊर्ध्वः) सब से ऊपर (तिष्ठन्) होकर (मेक्ष्यामि) जल सेचन करता हूँ, वर्षा करता हूँ। जिससे (ईश्वराः) सामर्थ्यवान् सूर्य्य; जलवायु; पृथिवी आदि शक्तियाँ (मा) मुझको (मा हिंसिषुः) विनाश न करें।

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वादश सूक्तानि, ऋचश्चैकविंशतिः]



[१०३ (१०८)] प्रजापति ईश्वर का वर्णन।

ब्रह्मा ऋषिः । आत्मा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

को अस्या नो द्रुहो/वद्यवंत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्यं इच्छन्।
को यज्ञकांमः क उ पूर्तिकामः को देवेषुं वनुते दीर्घमायुः ॥ १ ॥

भा०—(कः) प्रजापति राजा और परमेश्वर के कौन (क्षत्रियः) क्षत्रिय, बलवान् (वस्यः)[1] उत्तम फल की (इच्छत्) अभिलाषा करता हुआ (नः) हमें (अस्याः) इस अद्भुत (अवद्यवत्याः) निन्दा योग्य, घृणित (द्रुहः) पारस्परिक द्रोह से हमें (उत्नेष्यति) ऊपर उठाएगा। ईश्वर या प्रजापति के सिवाय कौन दूसरा (यज्ञकामः) इस महान् यज्ञ को जिसमें लक्षों जीव परस्पर संगति किये जी रहे हैं चलाने की इच्छा करता है और इस महा प्रभु के सिवाय (कः) कौन दूसरा है जो (पूर्त्तिकामः) इस समस्त संसाररूप यज्ञ को पूर्ण करने की अभिलाषा रखता है और (कः) प्रजापति ईश्वर के सिवाय और कौन है

[१०३] १–(च०) 'वनते दीर्घमायुः' इति सायणाभिमतः पाठः। (प्र०) 'कोनोऽस्य द्रुहो' (तृ०) 'कः पूर्त्तिकामः को यज्ञकाम' इति पैप्प० सं० ॥

१. 'वस्यःवसीयः प्रशस्तं फलम्' इति सायणः।

जो (देवेषु) सूर्य चन्द्र आदि दिव्य तेजोमय पदार्थों में विद्वान् तपस्वी पुरुषों में (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) जीवन को (वनुते) प्रदान करता है। इस प्रकार समस्त जीवों में प्रेमभाव उत्पन्न करके परस्पर के घात प्रतिघात को मिटाने वाला, जीव संसार को हिंसा-प्रतिहिंसा से उन्नत करने वाला, संसार को चलाने हारा, पूर्ण करनेहारा और दीर्घ जीवन का दाता विश्व का आत्मा वही प्रभु है। इसी प्रकार प्रजाओं में परस्पर के झगड़े मिटाने वाला, एक दूसरे की प्रतिहिंसा के भाव से उन्नत करनेवाला राष्ट्रयज्ञके चलाने और पूर्ण करने वाला राष्ट्र का आत्मा राजा प्रजापति है। शरीर में वीर्यवान् आत्मा ही वैसा प्रजापति है।



[१०४ (१०९)] प्रजापति ईश्वर।

ब्रह्मा ऋषिः । आत्मा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम् ।
बृहस्पतिना सख्यं/जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ १ ॥

भा०—(कः) प्रजापति के सिवाय और कौन है जो (पृश्निम्) श्वेत वर्ण, उज्ज्वल अथवा ब्रह्मानन्द के भीतरी रस का आस्वादन करने वाली (वरुणेन) सर्व विघ्ननिवारक परम राजा प्रभु ईश्वर की (अथर्वणे) ज्ञानवान्, अहिंसित नित्य आत्मा को (दत्ताम्) प्रदान की हुई दुधारी सुशील गाय के समान (सु-दुघाम्) आत्म-सुख प्रदान करने और (धेनुम्) रसपान करनेवाली (नित्यवत्सां) नित्य मनोरूप वत्स के साथ जुड़ी हुई अथवा (नित्य-वत्सां) नित्य निवास करनेहारी अविनाशिनी शक्ति को (बृहस्पतिना) बृहती वाणी के पालक प्राण के साथ

[१०४] १—(प्र०) 'कं पृश्निं', 'सुदुघां धेनुमेताम्' (तृ०) 'तां बृहस्पत्या सख्या' इति पाठः पैप्प० सं० ॥

(सख्यम्) मैत्रीभाव को (जुषाणः) रखता हुआ या परस्पर प्रजा के साथ उस शक्ति से प्रेम ममत्व का सम्बन्ध कराता हुआ, (यथा-वशम्) अभिलाषा या इच्छा के अनुसार (तन्वः) इस शरीर के भीतर (कल्पयाति) सामर्थ्यवान् बनाती है। अर्थात् इस शरीर में नित्य चेतनाशक्ति को प्राण के साथ जोड़ कर शरीर के भीतर इच्छानुसार कार्य करने को समर्थ कौन बनाता है? वह प्रभु ही बनाता है। वरुण देवने अथर्वा को गाय दी इत्यादि कथा प्ररोचनामात्र है।



[१०५ (११०)] वेद के शासनों पर आचरण करो।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता आत्मा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ १ ॥

भा०—(पौरुषेयाद्) पुरुषों या सामान्य लोगों की स्तुति और निन्दा की कथाओं से (अपक्रामन्) परे रहते हुए हे ज्ञानवान् साधक तुम (दैव्यं) देव परमेश्वर की (वचः) पवित्र वाणी वेद को (वृणानः) सबसे उत्कृष्ट रूप में स्वीकार कर अपने।(विश्वेभिः) समस्त (सखिभिः) मित्रों सहित (प्रणीतीः) वेद के प्रतिपादित, उत्तम न्यायानुकूल मार्गों और सत् शिक्षाओं पर और वेद के आदेशों पर (अभि-आवर्त्तस्व) आचरण करो। गुरु उपनयन और समावर्त्तन के अवसरों पर अपने शिष्यों का इस मन्त्र का उपदेश किया करते थे।



[१०५] १-(द्वि० तृ०, च०) 'वृणोनो दैव्यं सह,' 'प्रणीतिरभ्यावर्त्तस्व देवा देवानां सख्यं जुषाणः' इति पैप्प० सं० ॥

[१०६ (१११)] ज्ञानवान् विद्वान् और ईश्वर से अपनी भूल चूक पर रक्षा की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता अग्निर्जातवेदा वरुणश्च देवते । बृहती गर्भा त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

यदस्मृति चकृम किं चिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः ।
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः ॥१॥

भा०—हे अग्ने ! ज्ञानवान् ! विद्वन् ! अपराधियों को अग्नि के समान पीड़क राजन् ! हम (यद्) जो कुछ (अस्मृति) विना विचारे, विना जाने भूल चूक से (किंचित्) कुछ भी (चकृम) कर जायं और हे (जात-वेदः) वेदज्ञान के जानने और अन्यों को जनानेहारे विद्वन् ! और राजन् ! और जो कुछ (चरणे) सत् आचरण में (अस्मृति) विना विचारे, भूलचूक से (उपारिम) चूक जायं, सत् आचरण न कर सकें, हे (प्रचेतः) सब से उत्कृष्ट ज्ञान से सम्पन्न प्रभो विद्वन् ! (त्वं) तू (ततः) उससे होनेवाले अनर्थ से (नः) हमें (पाहि) बचा । और (शुभे) शुभ, कल्याणकारी, मनुष्य को शोभा देनेवाले और परम निश्रेयस पद में प्राप्त होकर (नः) हमें और हमारे (सखिभ्यः) समान अन्य मित्र बन्धुजनों को भी (अमृतत्वम्) हमारे संग अमृत, मोक्षपद, परमानन्द का (अस्तु) लाभ हो ।



[१०७ (११२)] सूर्य की किरणों का कार्य ।

भृगुर्ऋषिः । सूर्य आपश्च देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः ।
आपः समुद्रिया धारास्तास्ते शल्यमसिस्रसन् ॥ १ ॥

[१०६]—१(तृ०) 'तस्मात् पाहि', (च०) 'सखे सखिभ्यो' इति पैप्प० सं० ॥

भा०—(दिवः) द्योतमान प्रकाशस्वरूप (सूर्यस्य) सूर्य के (सप्त) सात प्रकार के (रश्मयः) किरण (समुद्रियाः) समुद्र के या अन्तरिक्ष या मेघ के (आपः) जलों को (धाराः) धारारूप में (अवतारयन्ति) नीचे भूमि पर लाते हैं। (ताः) वे धाराएं ही, हे पुरुष ! (ते) तेरे (शल्यं) सब कष्टों को (असिस्रसन्) सदा नाश किया करती हैं। समुद्र का जल सूर्य की किरणों से मेघ रूप होकर जल रूप से बरसता है उससे समस्त प्राणी अन्न प्राप्त कर सुखी होते हैं और कष्टों को भुला देते हैं।

त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वंज्योतिषांपतिः ॥ ९ ॥
यदा त्वमभिवर्षसि अथेमाः प्राणते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायाऽन्नं भविष्यति ॥१०॥

प्रश्नोप० २ । १० ॥



[१०८ (११३)] हत्याकारी अपराधियों को दण्ड ।

भृगुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । १ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप् । २ त्रिष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

यो न॑स्तायद् दिप्स॑ति॒ यो न॑ आ॒विः स्वो वि॒द्वानर॑णो वा नो अग्ने।
प्र॒तीच्ये॒त्वर॑णी द॒त्वती॒ तान् मैषा॑मग्ने॒ वास्तु॑ भून्मो अप॑त्यम् ॥१॥

भा०—(यः) जो (नः) हममें से (तायत्) छुपकर चोर के समान (दिप्सति) दूसरे की हत्या करना चाहता है और (यः) जो (नः) हममें से कोई (आविः) प्रत्यक्ष रूप में दूसरे को मारना चाहता है वह (स्वः) चाहे अपना बन्धु हो या (विद्वान्) ज्ञानवान् भारी पण्डित हो, यदि वह (नः) हममें से, हमारे जनसमुदाय के लिये (अरणः) दुःखदायी है तो (दत्वती) दांतोंवाली (अरणिः) [1] कष्टदायिनी, उसे

[१०८] १–अरणि=आर्तिकारिणी, कष्टदायिनी बेड़ियां। सम्भवतः लोहे की

खा जानेवाली पीड़ा या पीड़ाकर यन्त्रणा (प्रतीची) जो उसके इच्छा के प्रतिकूल हो वह (तान्) उनको (एतु) अवश्य प्राप्त हो। हे अग्ने! शत्रुसंतापक राजन्! (एषां) ऐसे हत्याकारी षड्यन्त्री घातक लोगों के पास (वास्तु) निवास के लिये अपना स्वतन्त्र घर न हो प्रत्युत वे सरकार की क़ैद में रहें और (मा उ अपत्यम् भूत्) ऐसे नीच हिंसक लोगों का कोई सन्तान भी न हो। यदि ऐसे पुरुषों की सन्तान उनकी ही दायाभागिनी समझी जायंगी तो उनका हत्या द्वारा धन प्राप्त करने का पेशा परम्परा से फैलेगा। इसलिये ऐसा हत्याकारी पुरुष सन्तान का पिता के होने का हकदार नहीं। और न वे पुत्र अपने हत्याकारी पिता के हत्या से प्राप्त धन के उत्तराधिकारी बन सकते हैं।

यो नः सुप्तान् जाग्रतो वाभिदासात् तिष्ठतो वा चरतो जातवेदः।
वैश्वानरेण सयुजा सजोषास्तान् प्रतीचो निर्दह जातवेदः ॥२॥

भा०—(यः) जो मनुष्य या प्राणी (नः) हमें (सुप्तान्) सोते हुओं को या (जाग्रतः) जागते हुओं को (तिष्ठतः) खड़े हुओं को या (चरतः) चलते हुओं को (अभि-दासात्) विनाश करे या आक्रमण करे तो हे (जात-वेदः) प्रज्ञावान् विद्वान् न्यायाधीश आप (वैश्वानरेण) समस्त प्रजाओं के नेता या उनके हितकारी राजा को (स-युजा) साथ लेकर (स-जोषाः) प्रजा के प्रति प्रेमभाव से उन (प्रतीचः) प्रतिकूल चलने वालों को (निः-दह) सर्वथा अग्नि में भस्म कर डाल, उनका विनाश कर।



शृंखला को अरणि कहा जाता हो और अंग्रेजी का Iron=आयरन शब्द इसी का अपभ्रंश हो।

२—'नः सुप्तम्' इति क्वचित्। 'वैवस्वतेन सयुजा' इति लड्विग्कामितः।

[१०९ (११४)] ब्रह्मचारी का इन्द्रियजय और राजा का अपने चरों पर वशीकरण ।

बादरायणिर्ऋषिः । अग्निर्मन्त्रोक्ताश्च देवताः । १ विराट् पुरस्ताद्बृहती अनुष्टुप्, ४, ७ अनुष्टुभौ, २, ३, ५, ६ त्रिष्टुप् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी ।
घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥१॥

भा०—(उग्राय) तीव्र बलवान् (बभ्रवे) बभ्रु, सब के भरण-पोषण करनेवाले ब्रह्मचारी और राजा को (इदं नमः) यह आदर भाव प्राप्त हो (यः) जो कि (अक्षेषु) अपने इन्द्रियों पर और जो राजा अपने चरों पर (तनू-वशी) अपने शरीर में स्थित उन पर वश करने में समर्थ है । मैं ब्रह्मचारी (घृतेन) प्रकाशमय ज्ञान या स्नेहमय घृतसे (कलिं) अपने ज्ञान करनेवाले मन को (शिक्षामि) सधा लेता हूं, और (सः) वह (नः) हमें (ईदृशे) इस रूप में (मृडाति) सुखी करता है । जो राजा स्नेह से अपने लोगों सधाता है वह सुखी रहता है ।

घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च ।
यथाभागं हव्यदातिं जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥२॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान् तेजस्विन् ! तपस्विन् ! (त्वम्) तू (अप्सराभ्यः) ज्ञान मार्गों में सरण करनेहारी इन्द्रियों के लिये (घृतम्) घृत पुष्टिकारक घृत और प्रकाशस्वरूप ज्ञान को (वह)

[१०९] १–(द्वि०) 'योऽक्षेषु' (तृ०) 'घृतं न कल्यं' इति पैप्प० सं० ॥
२–(प्र० द्वि०) अप्सरोभ्यो वह त्वमग्ने घृतम् पांसूनक्षेभ्यः' (तृ०) 'यथाभागः हव्यदातिं जुषाणः, 'मदन्तु' इति पैप्प० सं० । 'पांशून' इति क्वचित् ।

प्राप्त कर और (अक्षेभ्यः) क्रीड़ाशील कर्मेन्द्रियों के लिये (पांसून्) भूमि प्रदेश, (सिकताः) सेचनद्रव्य या बालू के समान रूक्ष पदार्थ और (अपः च) शोधन पदार्थ, जल को प्राप्त कर। इस प्रकार (देवाः) शरीर में क्रीड़ा करनेहारे, हर्षशील या गतिशील इन्द्रियगण (यथा-भागम्) अपने सेवन शक्ति के अनुसार (हव्यदातिम्) भोग्य अन्न के भाग को (जुषाणाः) प्राप्त करते हुए (उभयानि) वनस्पतियों से उत्पन्न अन्न, और पशुओं से उत्पन्न घृत, दूध आदि दोनों प्रकार के, (हव्या) हव्य=भोग योग्य अन्न पदार्थों को प्राप्त कर (मदन्ति) प्रसन्न रहते हैं। अर्थात् ज्ञानशील पदार्थों को घृत आदि स्निग्ध पदार्थ कर्मेन्द्रियों को धूलि, मिट्टी, रेता और जल स्पर्श से कठोर पुष्ट और शुद्ध द्वन्द्वसहिष्णु बनाना चाहिये।

राजा के पक्ष में—राजा (अप्सराभ्यः) प्रजाओं को घृत आदि स्निग्ध एवं पुष्टिकारक पदार्थ अनायास प्राप्त करावे। और अक्ष=अपने चर पुरुषों को भूमि के स्थलों में, मरुओं में और जल प्रदेशों में कार्य के लिये भेजे। इस प्रकार समस्त राष्ट्रवासी लोग देवतुल्य रहकर अपने अधिकार के सदृश अपना वेतन भोगते हुए आनन्द प्रसन्न रहें।

अ॒प्स॒रसः॑ सध॒मादं॑ मदन्ति ह॒वि॒र्धान॑मन्त॒रा सूर्यं॑ च ॥
ता मे॒ हस्तौ॒ सं सृ॑जन्तु घृ॒तेन॑ स॒पत्नं॑ मे कित॒वं र॑न्धयन्तु ॥३॥

भा०—(हविर्धानम्) हविर्धान अन्न का आगार यह लोक (च) और (सूर्यम्) सूर्य इन दोनों के (अन्तरा) बीच में (अप्सरसः) इन्द्रिय (सध-मादं) अपने साथ साथ हर्षित होनेवाले आत्मा को (मदन्ति) हर्षित करती हैं। वे ही (ये) मुझ ब्रह्मचारी के (हस्तौ)

३—(प्र०) 'याप्सरसः सधमादं', (द्वि०) 'अन्तरा हविर्धानं', (तृ०) 'ता नो हस्तौ क्तेन संसृजन्तु', (च०) 'सपत्नः कितवं मे रन्धयन्तु' इति पैप्प० सं०।

हाथों को, क्रियाशक्ति को (घृतेन) ज्ञान से (सं सृजन्तु) युक्त करें और (मे) मुझ आत्मा के (सपत्नम्) शत्रु, काम, क्रोध आदि (कितवं) जो मुझको (तेरा क्या) २ इस प्रकार तुच्छ करना चाहता है उसको (रन्धयन्तु) विनाश करें ।

राजा पक्ष में—(अप्सरसः) प्रजाएं एकत्र होकर आनन्द उत्सव करें । राजा के हाथों को वे (घृत) पुष्टिकारक कोष और सेना द्वारा पुष्ट करें और राजा के (सपत्नं कितवं) भूमि पर समान अधिकार का दावा करनेवाले, उसको ललकारने वाले शत्रु को विनाश करें ।

आ॒दि॒न॒वं प्र॑ति॒दीव्ने॑ घृ॒तेना॒स्माँ अ॒भि क्ष॑र ।
वृ॒क्षमि॑वा॒शन्या॑ जहि॒ यो अ॒स्मान् प्र॑ति॒दीव्य॑ति ॥४॥

भा०—(प्रतिदीव्ने) प्रतिपक्षी होकर मुझे विजय करनेवाले अपने शत्रु के लिये मैं योद्धा ((आदिनवम्) आगे आकर विजय करता हूं और युद्ध करता हूं । हे ब्रह्मन् परमेश्वर ! राजन् ! (अस्मान्) हम वीर भटों को (घृतेन) तेजोमय द्रव्य से (अभिक्षर) युक्त कर और (यः) जो (अस्मान्) हमारे विरुद्ध (प्रतिदीव्यति) प्रतिपक्षी होकर युद्ध करे उसको (अशन्या वृक्षम् इव) जैसे बिजली वृक्ष पर पड़ कर उसको मार डालती है उस प्रकार (जहि) विनाश कर ।

यो नो॑ द्यु॒वे धन॑मि॒दं च॒कार॒ यो अ॒क्षाणां॒ ग्लह॑नं॒ शेष॑णं च ।
स नो॑ दे॒वो ह॒विरि॒दं जु॑षा॒णो ग॑न्ध॒र्वेभि॑: सध॒मादं॑ मदेम ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो (नः) हममें से (देवः) देव विद्वान् ब्रह्मचारी (द्युवे) दिव्य व्रत, ब्रह्मचर्य के पालक के निमित्त (इदं) इस प्रकार के

४–'आदिऽनवम्' इत्यपि क्वचित्‌ः पदपाठः ।

५–यो नो देवा धनमिदं दिदेश योऽक्षाणां ग्रहणं श [शे] षणं च ।
सनोऽवतु हविरिदं जुषाणो गन्धर्वैः सधमादं मदेम' इति पैप्प० सं०।

अक्षय (धनं) धन, बल, सामर्थ्य को (चकार) उत्पन्न करता है और (यः) जो (अक्षाणां) इन्द्रियों का (गहनं) ग्रहण और (शेषणं) वशीकरण (च) भी करता है वह (नः) हममें से (देवः) विद्वान् इन्द्रियविजयी पुरुष (इदं हविः) इस उत्तम उपादेय सुख, ज्ञान और अन्न को (जुषाणः) स्वीकार करता है । ऐसे (गन्धर्वेभिः) गौ-वेदवाणी के धारणशील या गौ-इन्द्रियों के वशीकर्त्ता जितेन्द्रियों के सहित (सधमादं) आनन्द प्रसन्न होकर हम (मदेम) अपने जीवन को सुखी करें ।

राजा के पक्ष में—जो हमारे योद्धा को भरणपोषण का धन देता है, और जो चरों और भटों को वश करता है और उनको अन्यों से अतिरिक्त मानपद प्रदान करता है वह हमारा देव=राजा इस हवि मानपद और बलिभूत कर को प्राप्त करे और ऐसे (गन्धर्वों) गौ-पृथिवी के स्वामी राजाओं के संग हम प्रजावासी सुखी रहें ।

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्य१क्षाः ।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥

भा०—हे (अक्षाः) राजा के आंख स्वरूप चर लोगों, सुभटो ! (वः) तुम्हारा (नामधेयम्) नाम (सं-वसवः) 'सं-वसु' है, तुम एकत्र, सेना और संस्था बनाकर, संगठित होकर छावनियों या सेनादलों या संस्थाओं में रहने से 'संवसु' कहाते हो । तुम (राष्ट्र-भृतः) राष्ट्र को धारण करनेवाले राजा के (उग्रं-पश्याः) उग्रतासे शत्रु पर देखनेवाले, या देखने में भयानक (अक्षाः) 'अक्ष' राजा के इन्द्रियरूप हो । हे (इन्दवः) तेजस्वी पुरुषो ! हम (तेभ्यः) उन (वः) आप लोगों का (हविषा) अन्न आदि द्रव्यों से (विधेम) सत्कार करें और आपके राष्ट्ररक्षा के सम्पादन करने के कारण (वयं) हम प्रजागण (रयीणाम्) धनों और बलों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों ।

६—(तृ०) 'तस्मै त इन्दो' इति पैप्प० सं ॥

देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।
अक्षान् यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥ ७ ॥

भा०—(यत्) जो (मैं) राष्ट्रपति (नाथितः) तपस्या करके (देवान्) देव, विद्वान् पुरुषों को (हुवे) अपने समीप बुलाता हूं । और हम सब मिलकर राष्ट्र की रक्षा के लिये (यत्) जो (बभ्रून्) बभ्रु, भूरे-लाल मिले, ख़ाकी रंग की पोशाक पहने (अक्षान्) तीव्र गतिशील योद्धाओं को (आ-हुवे) प्राप्त करता हूं (ते) वे (नः) हम सब राजा प्रजाओं को (ईदृशे) ऐसे विजय लाभ के अवसर पर (मृडन्तु) सुखी करें ।

ब्रह्मचारी के पक्ष में—हम जो तपस्यापूर्वक विद्वानों की सेवा करते हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं और तीव्र वेगवान् इन्द्रियों पर वश करते हैं तब ऐसे मोक्षपद में ये प्राण हमें सुख प्राप्त कराते हैं । अन्यथा ये ही नाना सांसारिक दुःखों का कारण होते हैं ।



[११० (११५)] राजा और सेनापति का लक्षण ।

अग्न इन्द्रश्च दाशुषे हतो वृत्राण्यप्रति । उभा हि वृत्रहन्तमा ॥१॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! और (इन्द्रः च) इन्द्र सेनापति ये दोनों ही (दाशुषे) कर आदि देनेवाले प्रजाजन के लिये (अप्रति) अपने मुकाबले में किसी को न ठहरने देकर (वृत्राणि) कार्य में विघ्न डालने वाले समस्त शत्रुओं को (हतः) विनाश करते हैं । इसलिये (उभा हि) दोनों ही (वृहन्तमा) वृत्रों को नाश करनेवालों में श्रेष्ठ है ।

७–'यद् देवान्नाधितो' इति पैप्प० सं० ।

[११०] १–'हथो वृत्राणि' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (प्र०) इन्द्रश्चमेदिना' (तृ०) 'युवेहि' इति तै० ब्रा० । 'हथो वृत्राण्यप्रति ।' 'उग्राय वृत्र'–इति पैप्प० सं० । अग्ना 'इन्द्रश्च दाशुषो' इति मैं० सं० ।

याभ्यामजयन्त्स्व१रग्र एव यावातस्थतुर्भुवनानि विश्वा ।
प्रचर्षणी वृषणा वज्रबाहू अग्निमिन्द्रं वृत्रहणा हुवेहम् ॥ २ ॥

भा०—(याभ्याम्) जिन दोनों के बल से (अग्रे एव) पहले ही (स्वः) स्वर्गलोक, प्रकाशमय परमपद को (अजयन्) देव=विद्वानों ने प्राप्त किया । और (यौ) जो दोनों (विश्वा) समस्त (भुवनानि) लोकों और प्राणियों को (आतस्थतुः) अपने वश किये हुए हैं उन (प्र-चर्षणी) उत्कृष्ट द्रष्टा, अतएव उत्कृष्ट कोटि के पुरुषपुंगव (वृषणा) सुखों के वर्षक, बलवान्, (वज्र-बाहू) अपने हाथों में तलवार लिये हुए, (वृत्र-हणौ) राष्ट्र को घेरनेवाले राजा के विघ्नरूप शत्रुओं को नाश करने वाले दोनों को (अग्निम् इन्द्रम्) अग्नि और इंद्र नाम से (अहम्) मैं (हुवे) स्मरण करता हूं । अध्यात्म में अग्नि और इन्द्र ईश्वर और जीव हैं ।

उप त्वा देवो अग्रभीच्चमसेन बृहस्पतिः ।
इन्द्र गीर्भिर्न आ विश यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! (त्वा) तुझको (बृहस्पतिः) वेद ज्ञानका स्वामी अथवा बड़े २ लोकों का पालक (देवः) देव विद्वान् पुरोहित (त्वा) तुझे (चमसेन) चमसरूप से (उप-अग्रभीत्) तेरा आदर करता है, सोमपात्र तुझे प्रदान करता है । तू (सुन्वते)

२–(प्र०) 'याभ्यां स्वरजयनयन्', (द्वि०) 'भुवनस्य मध्ये' (च०) 'अग्नीन्द्रा वृत्रहणा हुवे वाम्' इति तै० ब्रा० ॥ (प्र०) 'याभ्यां-स्वरियत्यग्रे यावतस्थ', (च०)–'हणा हुवेम' इति पैप्प० सं० ॥ (प्र०) 'आभ्यां स्वरजनन्' मै० सं० ॥

३–(प्र०) 'उपेनं देवाः', 'सर्वतं रीरधासि नः' इति पञ्चमः पादोऽधिकः पैप्प० सं० ॥

सोमसवन करनेवाले (यजमानाय) यजमान, तेरी संगति करनेहारे पुरुष के निमित्त (गीर्भिः) स्तुति, वाणियों सहित (नः) हम प्रजाओं के भीतर (आ-विश) आ, प्रवेश कर ।

अध्यात्म में—बृहस्पति प्रभु ने इस आत्मा को शीर्ष कपाल में सोम रस पान करने का सौभाग्य दिया है जो साधक उसकी साधना करे उसके लिये ही वहइन्द्र आत्मा (नः) हम इन्द्रिय रूप प्रजाओं के भीतर अध्यात्म स्तुतियों सहित प्रवेश करे ।



[१११ (११६)] वीर्यवान् युवा पुरुष को उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । वृषभो देवता । पराबृहती त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रस्य कुक्षिरसि सोमधानं आत्मा देवानामुत मानुषाणाम् ।
इह प्रजा जनय यास्त आसु या अन्यत्रेह तास्ते रमन्ताम् ॥१॥

भा०—हे युवा पुरुष ! तू (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील, सर्वोत्पादक परमेश्वर का (कुक्षिः) सृष्टि उत्पादन करने का कोष खज़ाना है। तू (सोम-धानः) सोम, उत्पादक वीर्य को धारण करनेवाला (देवानाम्) देव विद्वान् जनों और (मानुषाणाम्) साधारण मनुष्यों के बीच में (आत्मा) प्रेरक आत्मा के समान है । तू नर श्रेष्ठ हे नरपुंगव ! (इह) इस गृहस्थ आश्रम में रह कर (प्रजाः जनय) प्रजाओं को उत्पन्न कर । (याः) जो प्रजाएं (ते) तेरी (आसु) इन भूमियों में निवास करती हों और (याः) जो (अन्यत्र) अन्य देशों में भी हों (ताः) वे सब (ते) तेरी प्रजाएं (रमन्ताम्) सुखपूर्वक जीवन यापन करें ।



[१११] १–(प्र०) 'सोमधानात्मा' (द्वि०) 'देवानामस्य विश्वरूपः' (च०) 'ताम्ते स्वधितो गृणन्तु' ॥

[११२ (११७)] पाप से मुक्त होने की प्रार्थना ।

ब्रह्माऋषिः । आपः वरुणश्चदेवताः । १ भुरिक् । २ अनुष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ।

शुम्भ॑नी द्यावा॑पृथि॒वी अन्ति॑सुम्ने म॒हिव्र॑ते ।
आपः॑ स॒प्त सु॑स्रुवुर्दे॒वीस्ता नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ १ ॥

भा०—(शुम्भनी) शोभादायक विराजमान (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, दोनों (महि-व्रते) विशाल कार्य को करनेवाली और (अन्ति-सुम्ने) भीतरी सुख उत्पन्न करती हैं । उनके बीच में (सप्त) सर्पणशील, निरन्तर गति करनेहारे (देवीः) तेजोमय, प्रकाशमय, ज्ञानस्वभाव, (आपः) प्राप्त करने योग्य ज्ञानधारायें जलधाराओं के समान (सुस्रुवुः) स्रवण करती हैं, वहा करती हैं । (ताः) वे ईश्वर की परम दिव्य शक्तियां (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ।

अध्यात्म में—द्यौ और पृथिवी प्राण और अपान शरीर में महाकार्य करनेवाले सुखप्राप्ति के साधन हैं । उनके आश्रय पर सात (देवीः आपः) ज्ञानधाराएं, सात शीर्षण्य प्राण विचरते हैं वे सन्मार्ग में रह कर हमें पाप से मुक्त करें ।

मु॒ञ्चन्तु॑ मा शप॒थ्या॒३॒॑दथो॑ वरु॒ण्या॑दु॒त ।
अथो॑ य॒मस्य॒ पड्वी॑शाद् विश्व॑स्माद् देवकिल्बि॒षात् ॥ २ ॥

भा०—व्याख्या देखो (का० ६ सू० ९६ । २ ॥) वे ही पूर्वोक्त दिव्य प्राणधाराएं (मा) मुझको (शपथ्यात्) परनिन्दा से उत्पन्न और (अथो वारुण्यात्) वरुण ईश्वर के प्रति दुर्विचार आदि से उत्पन्न पाप से (मुञ्चन्तु) दूर करें (अथो) और वे ही (यमस्य पड्वीशात्)

[११२] १–'अन्तः स्वप्ने' इति सायणाभिमतः ॥

यम मृत्यु की बेड़ियों से और (विश्वस्मात्) सब प्रकार के (देव-किल्विषात्) विद्वानों के प्रति किये अपराध अथवा इन्द्रियों के बुरे आचरण से उत्पन्न पापसे मुक्त करें ।



[११३ (११८) स्त्री पुरुषों में कलह के कारण ।

भार्गव ऋषिः । तृष्टिका देवता । १ विराट् अनुष्टुप् । शङ्कुमती, चतुष्पदा भुरिक् उष्णिक् । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमूं छिन्धि तृष्टिके ।
यथा कृतद्विष्टासोऽमुष्मै शेप्यावते ॥ १ ॥

भा०—हे (तृष्टिके)[1] कामतृष्णा से आतुर स्त्री ! हे (तृष्ट-वन्दने) कामातुर, तृष्णातुर पुरुषों की चाहनेवाली, पुनः हे (तृष्टिके) बुरी धन-तृष्णातुर स्त्रि ! (यथा) जिस प्रकार से (शेप्यावते) भोग साधन युक्त वीर्यवान् अपने (अमुष्मै) अमुक=पति के लिये तू (कृत-द्विष्टा) द्वेष किये (असः) बैठी है । तू अपनी तृष्णा के कारण ही (अमूं) अमुक पति पुरुष को (छिन्धि) विनाश कर रही है । अर्थात् स्त्री पुरुषों में काम तृष्णा और धन तृष्णा से ही परस्पर कलह उत्पन्न होते हैं ।

तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यसि ।
परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव ॥ २ ॥

भा०—हे कामातुर तृष्णालु स्त्रि ! तू (तृष्टा) तृष्णावाली हो

---

[११३] १–(प्र०) 'तृष्टि वन्दने' (तृ०, च०) 'अधाप्रदष्ट यद्यमस्तमस्मै शेप्यावतः' इति पैप्प० सं० ॥

१. 'कुत्सिता तृष्टा तृष्टिका' इति सायणः ॥

२–'तृष्टासि तृष्टकासि वृषा वृषातकसि' इति पैप्प० सं० ॥

कर ही (तृष्टिका असि) कुत्सित तृष्णावाली हो जाती है । तू (विषा) विषैली वेल के समान ही (विषातकी) अपने हृदय के द्वेष के विष से पति को ऐसी आतंक या दुःख देनेवाली (असि) हो जाती है कि (यथा) जिससे (वशा इव) जिस प्रकार वन्ध्या गौ (वृषभस्य) सन्तानोत्पादक वीर्यवान् महा सांड के भी छोड़ने योग्य होती है उसी प्रकार तू भी (परि-वृक्ता) वीर्यवान् पुत्रोत्पादन में समर्थ पति के भी (परि-वृक्ता) छोड़ने योग्य (असि) हो जाती है । अर्थात् जो स्त्री काम तृष्णा में फंस जाती है वह तृष्णा के कारण ही वदनाम हो जाती है ।



[११४ (११९)

भार्गव ऋषिः । अग्नीषोमौ देवते । अनुष्टुप् छन्दः । त्र्यृचं सूक्तम् ॥

आ ते॑ ददे व॒क्षणा॑भ्य॒ आ ते॒ऽहं हृद॑याद् ददे ।
आ ते॒ मुख॑स्य॒ संका॑शा॒त् सर्वं॑ ते॒ वर्च॒ आ द॑दे ॥ १ ॥

भा०—हे द्वेषकारिणि अधम नारि ! (ते वक्षणाभ्यः) तेरे कटि और कुक्षि के भागों से (वर्चः) उस परम पातिव्रत्य रूप तेज को (आददे) मैं ले लेता हूं और (अहं) मैं (ते हृदयात्) तेरे हृदय से भी (वर्चं आददे) उस तेज को हर लेता हूं । (ते मुखस्य सं-काशात्) तेरे मुख से भी उस तेज को हर लेता हूं । (ते सर्वं वर्चं आ ददे) तेरा समस्त सौभाग्य, मैं (आ ददे) स्वयं लेता हूं । अर्थात् दुराचारिणी कामातुरा स्त्री का सोम=सौम्य स्वभाव वाला पति उसके शरीर से अपने दिये समस्त सौभाग्य के चिह्न अलंकार आदि उतार ले, यदि वह दुराचार से बाज़ न आवे । इस मन्त्र का पूर्व सूक्त से सम्बन्ध है ।

[११४] १-(द्वि०) 'आददे हृदयादधि' (तृ०, च०) 'आते मुखस्य यद्वर्च आशां मा अभ्यतृप्सासि' इति पैप्प० सं० ॥

प्रेतो यन्तु व्या/ध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः ।
अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः ॥ २ ॥

भा०—(व्याध्यः) नाना प्रकार की पीड़ाएं (इतः) इस हमारे घर से (प्र यन्तु) दूर हो जायँ । (प्र अनुध्याः) और उनके पीछे आने वाले दुष्परिणाम भी दूर हों और उनके कारण होनेवाली (अशस्तयः) निन्दायें भी (प्रउ) दूर हों । (अग्निः) अग्नि के स्वभाव का होकर पुरुष (रक्षस्विनीः) कार्य में विघ्न करने वाली दुष्टाचारिणी स्त्रियों का (हन्तु) दमन करे और (सोमः) सौम्यभाव का पुरुष (दुरस्यतीः) और दूसरों का बुरा चाहनेवाली दुष्ट प्रवृत्तियों को भी विनाश करे। अपने घरों में इस प्रकार के बुरे रोग, बुरे विचार, उनसे उत्पन्न होने वाले कुपरिणाम, निन्दाएं, परकार्य में विघ्न डालने और दूसरों का बुरा चाहने की सब बुरी आदतों को पुरुष अग्नि के समान तीक्ष्ण और चन्द्र के समान प्रेममय होकर न आने दे। और बुरी आदतों वालों को भय दिखावे और प्रेम से समझावे ।



[११५ (१२०)] पापी लक्ष्मी को दूर करना ।

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत ।
अयस्मयेनाङ्केन द्विषते त्वा सजामसि ॥ १ ॥

भा०—हे (पापि) पापकारिणि (लक्ष्मि) कलङ्कदायिनि ! दुष्टाचारिणि ! तू (इतः) इस घर से (प्र-पत) परे भाग, (इतः) यहां से (नश्य) भाग जा, (अमुतः) उस दूर देश से भी (प्र पत) परे

[११५] १–(प्र०) 'प्रपतेतः पापलक्ष्मि', 'यं द्विष्मस्तस्मिन् त्वा सज्जामः ।' इति पैप्प० सं० ॥

चली जा । (त्वा) तुझ कुलक्षणा को (अयस्मयेन) तपे लोहे के (अङ्केन) दाग़ से दाग़ कर (द्विपते) अपने से द्वेष करने वाले के लिये (सजामसि) छोड़ते हैं । जा शत्रु के पास ही रह ।

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम् ।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥२॥

भा०—(या) जो (लक्ष्मीः) लक्ष्मी घर की लक्ष्मी होकर भी (पतयालूः) नीचे दुराचार में गिरने वाली (अजुष्टा) प्रेम से रहित होकर (मा) मुझे (अभि-चस्कन्द) ऐसे चिपटे हुई है जैसे (वृक्षम्) वृक्ष को (वन्दनः[1] इव) वन्दन नामक विष बेल चिपट जाती है और उस पर छाकर वृक्षको सुखा डालती है और उसको बढ़ने नहीं देती । हे (सवितः) सबके प्रेरक राजन् ! न्यायकरिन् ! (ताम्) उस ऐसी नागिन के समान लक्ष्मी को भी (इतः अन्यत्र) यहां से दूसरे स्थान पर (अस्मत्) हमसे पृथक् (धाः) रख । और (हिरण्यहस्तः) सुवर्णादि धनों से सम्पन्न तू (नः) हमें (वसु) उत्तम धन (रराणः) प्रदान कर ।

एकंशतं लक्ष्म्यो३ मर्त्यस्य साकं तन्वा/जनुषोधि जाताः ।
तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो
नि यच्छ ॥ ३ ॥

भा०—(एक-शतं) १०१ एक सौ एक (लक्ष्म्यः) मनुष्य के स्वरूप को दर्शाने वाली मानस वृत्तियां (मर्त्यस्य) इस मरणधर्मा प्राणी के (तन्वा) शरीर के (साकं) साथ (जनुषः अधिः) जन्मते ही (जाताः) उत्पन्न होती है । (तासां) उनमें से (पापिष्ठाः) पाप से

२—१. 'वन्दनःऽइव' इति पदपाठोऽपि बहुश उपलभ्यते, प्रातिशाख्यानुसारी च । सायणस्तु 'वन्दनाइव' इति पदच्छेदं चकार तथैव च शंकरपाण्डुरंगः ॥

युक्त प्रवृत्तियों को (इतः) इस मनुष्य से (निः प्र हिण्मः) सर्वथा हम प्रयत्न पूर्वक दूर करें और हे (जातवेदः) विज्ञान सम्पन्न गुरो ! और आदि गुरो परमात्मन या गृहपते ! (शिवाः) कल्याणकारिणी लक्ष्मियों, शुभ मानसवृत्तियों को (अस्मभ्यम्) हमें (नि यच्छ) प्रदान कर । हमें उनकी शिक्षा कर ।

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव ।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ॥ ४ ॥

भा०—(खिले) वाड़े में (विष्ठिताः) एकत्र बैठी हुई (गाः) गौओं को (इव) जिस प्रकार गवाला अलग २ पहचानता है उसी प्रकार मैं भी (एताः) अपने भीतर बैठी हुई इन २ (एना) नाना प्रकार की मानस वृत्तियों को (वि-आकरम्) पृथक् २ कार्य-कारण रूप से विवेक पूर्वक जाचूँ । (याः) जो (पुण्याः) पुण्य पवित्र (लक्ष्मीः) लक्ष्मियां या मेरे स्वभाव को दर्शाने वाली उत्तम प्रवृत्तियां हैं वे मेरे जीवन में (रमन्ताम्) बार २ प्रकट हों और (याः) जो (पापीः) पापजनक, बुरी प्रवृत्तियां हैं (ताः) उनको अपने में से (अनीनशम्) निकाल कर दूर कर दूं ।



[११६ (१२१)] ज्वर निदान ।

अथर्वांगिरा ऋषिः । चन्द्रमाः देवता । १ परा उष्णिक् । २ एकावसाना-द्विपदा आर्ची अनुष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

नमो रूराय च्यवनाय नोदनाय धृष्णवे ।
नमः शीताय पूर्वकामकृत्वने ॥ १ ॥

भा०—(रूराय) रोगी को तड़पाने वाले (च्यवनाय) बल वीर्य

४–'अनीनशम्' इति सायणाभिमतः पाठः ॥

के नाशक, (नोदनाय) धक्का लगाने वाले (धृष्णवे) मनुष्य को निराश करने वाले (पूर्वकाम-कृत्वने) मनुष्य की पूर्व की अभिलाषाओं या पूर्णकार्य, वीर्य, बलको काट डालनेवाले (शीताय) शीतज्वर के (नमः नमः) उपाय करो ।

यो अ॒न्ये॒द्युरु॒भय॒द्युर॒भ्येती॒मं म॒ण्डूक॑म॒भ्ये॒/त्वव्रतः ॥ २ ॥

भा०—और (यः) जो (अन्येद्युः) एक दिन छोड़कर अगले दिन आवे, (उभयेद्युः) दो दिन छोड़कर (अभ्येति) आवे या दो दिन आकर एक दिन छोड़े और (अव्रतः) जो विना किसी नियम के आवे वह सब ज्वर (इमं) मण्डूकम्) इस मेंढक पर (अभि-एति) आता है और निर्बल हो जाता है ।

दल दलकी जगहों में उत्पन्न ज्वर आदि रोगों को सहन करने की क्षमता दल दलकी ओषधियों और जीवों को है । इसलिये उनके शरीर का भीतरी विष अवश्य ज्वर के विष का शमनकारी होगा इस सिद्धान्त से ज्वर के लिये मेंडक का प्रयोग बतलाया गया है । ऐसा ही प्रयोग सर्प काटे का भी पूर्व लिख आये हैं। ज्वर प्रकरण देखो (का० १ सू० २६)



[११७ (१२२)] सेनापति का कर्त्तव्य ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । इन्द्रो देवता । पथ्या बृहती । एकर्चं सूक्तम् ॥

आ म॒न्द्रैरि॑न्द्र॒ हरि॑भि॒र्याहि॑ म॒यूर॑रोमभिः ।
मा त्वा॒ के चि॒द् वि य॑म॒न् विं न पा॒शिनो॒ऽति॒ धन्वे॑व॒ ताँ इ॑हि ॥१॥

ऋ० ३ । ४५ । १ ॥ साम० पू० सं० २२६ ॥ यजु० २० । ५३ ॥

[११७] १–(तृ०) 'मा त्वा केचिन्नियेमुरिन्न पाशिनो' इति साम० । तत्र विश्वामित्र ऋषिः ।

भा०—हे (इन्द्र) राजन् सेनापते ! (मन्द्रैः) उत्तम (मयूर-रोमभिः) मोर के समान नीले २ बालों वाले (हरिभिः) तेज़ घोड़ों से तू (आयाहि) शत्रु पर चढ़ाई कर । (त्वा) तुझको (केचित्) कोई भी विरोधी लोग (पाशिनः विं न) पक्षीको जालियों के समान (मा वि यमन्) न पकड़ सकें । यदि वे मुकाबले पर भी आवें तो भी (धन्व इव) वीर धनुर्धारी के समान (तान्) उनको (अति इहि) अतिक्रमण करके अपने देश को चला आ ।

सायण आदि ने इस स्थल पर 'धन्व इव तान् इहि' इसका अर्थ किता है, मरुस्थल के समान उनको पारकर आ । इस अर्थ में कोई प्रासंगिकता और इन्द्र के बल पराक्रम का पोषक भी नहीं है । ईश्वर पक्षमें—देखो सामवेद पूर्वार्ध सं० २२६ ।



[११८ (१२३)] कवचधारण ।

अथर्वाऽगिरा ऋषिः । बहव उत चन्द्रमा देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम् ।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥ १ ॥

ऋ० ६ । ७५ । १८ ॥ यजु० २७ । ४९ ॥

भा०—हे जयाभिलाषिन् राजन् ! (ते मर्माणि) तेरे मर्म स्थानों को मैं (वर्मणा) कवच से (छादयामि) ढकता हूं । (सोमः) सबका

१. अतिधन्व इव महेश्वासा इव इति दयानन्दो यजुर्भाष्ये । तत्र पद-पाठः अति धन्वेति अतिऽधन्व इति । धन्व इति शस्त्र विशेषः। इति दयानन्द ऋग्भाष्ये । उपचाराच्च धनुर्धरे धन्व इति प्रयोगो द्रष्टव्यः ।

[११८] १–(प्र०) 'वर्मभिः छादयामि' (तृ०) 'वरोवरीयो वरिवसेऽस्तु' इति तै० सं० ॥

प्रेरक (राजा) सबका स्वामी (त्वा) तुझे (अमृतेन) अमर शक्ति से (अनु वस्ताम्) आच्छादित करे । (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (उरो) बड़े से भी (वरीयः) बड़ा राज्य और जीवन (कृणोतु) करे और (त्वां) तुझको (जयन्तम्) विजय करते हुए देखकर (देवाः) देव, विद्वान् लोग (अनु मदन्तु) खूब प्रसन्न हों और तुझे उत्साहित करें ।

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि षोडश, ऋचश्च चतुर्विंशतिः]

॥ इति सप्तमं काण्डं समाप्तम् ॥

दशानुवाका अष्टौ च दश चैव शतोत्तरम् ।
सूक्तानि सप्तमेऽथर्वेः षडशीति शतद्वयम् ।

वेदवस्वङ्कचन्द्रेऽब्दे पौषशुक्ले द्वितीयके ।
वासरेऽथविधौ काण्डं सप्तमं च समाप्यते ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभित श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये सप्तमं काण्डं समाप्तम् ।



ओ३म्

अथर्ववेदसंहिता

अथाष्टमं काण्डम्

[१] दीर्घजीवन-विद्या

ब्रह्मा ऋषिः । आयुर्देवता । १,५,६,१०,११ त्रिष्टुभः । २,३,१७,२१ अनुष्टुभः । ४,९,१५,१६ प्रस्तारपंक्तयः । त्रिपाद् विराड् गायत्री । ८ विराट् पथ्याबृहती । १२ त्र्यवसाना पञ्चपदा जगती । १३ त्रिपाद् भुरिक् महाबृहती । १४ एकावसाना द्विपदा साम्नी भुरिग् बृहती ।

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम् ।
इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके॥१॥

भा०—मृत्यु का उपाय बतलाते हैं । (अन्तकाय) शरीर का अन्त करने और (मृत्यवे) देह को आत्मा से जुदा करने वाले कारण को (नमः) दूर करने का उपाय करो । इससे हे पुरुष ! (ते) तेरे (प्राणाः) प्राण और (अपानाः) अपान (इह) इस शरीर में (रमन्ताम्) सुखपूर्वक आवें और जावें । (अयम्) यह (पुरुषः) देहपुरी में बसनेवाला जीव (इह) इस देह में (असुना सह) जीवन के बाधक विघ्नों को परे फेंकने वाले प्राण के साथ (सूर्यस्य) सब के प्रेरक सूर्य के (भागे) सेवनीय अंश भूत (अमृतस्य लोके) अमृत, नित्य, अविनाशी, पूर्ण आयु के जीवन में (अस्तु) विद्यमान रहे ।

---

[१] १–द्वितीयचतुर्थयोः पादयोर्विपर्ययः पैप्पलादसंहितायां विशेषः ।

बाहर आने वाला श्वास प्राण और भीतर जाने वाले उच्छ्वास अपान कहाता है। दक्षिण नासा का प्राण सूर्य और वाम नासा का प्राण अमृत कहाता है अथवा ब्रह्मचर्य से वीर्यरक्षा करना सूर्य का भाग है और प्रजा का वीर्य द्वारा उत्पन्न करना, गृहस्थ करना यह अमृत का लोक है।

'प्रजाम् अनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम्'। तै० ब्रा० १।५।५।६॥

अथवा (सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके इह पुरुषः अस्तु) सूर्य, समस्त प्राणों के प्रेरक आत्मा के सेवन करने और अमृत=जीव के लोक=निवास-स्थान इस देह में यह जीव रहे।

अमृतम्=अमृतात् मृत्युर्निवर्त्तते। श० १०।२।६।१७॥ एतद्वै मनुष्यस्यामृतम् यत् सर्वमायुरेति ॥ श० ९।५।१।१०॥ य एवं शतं वर्षाणि यो वा भूयांसि जीवति सहैवैतदमृतमाप्नोति ॥श० १०।२।६।८॥एते उ वाव लोकाः यदहोरात्राणि अर्धमासाः मासाः ऋतवः संवत्सरः। १०।२।६।७ ॥ अमृतम् उ वै प्राणाः॥ श० ९।२।३।१३॥ प्रजापतिर्वा अमृतः। श० ६।३।१।१७॥ ते देवा होचुर्नातो ऽपरः कश्चन सह शरीरेणामृतोऽसद्। यदैव त्वमेतं भागं हरासा अथ व्यावृत्य शरीरेण अमृतोऽसद्। योऽमृतोऽसद् विद्यया वा कर्मणा वा ॥

अमृत से मृत्यु दूर होती है। समस्त आयु का भोगना अमृत प्राप्त करना है। १०० वर्ष तक का जीवन प्राप्त करना अमृत है। दिन, रात्र, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष ये अमृत के लोक हैं और सूर्य की परिक्रमा के भाग हैं। प्राण अमृत है। प्रजापति होना अमृत है। देव विद्वानों ने देखा कि शरीर के साथ कोई अमर नहीं, तो भी यह आत्मा अपने शरीर को पलट कर अमृत रहता है। वह नित्य अमृत, विद्या और कर्म से होता है।

उदे॑नं॒ भगो॑ अग्रभी॒दुदे॑नं॒ सोमो॑ अंशु॒मान्।
उदे॑नं म॒रुतो॑ दे॒वा उदि॑न्द्रा॒ग्नी स्व॒स्तये॑ ॥ २ ॥

भा०—मनुष्य के जीवन के आधार बतलाते हैं। (एनं) इस पुरुष

को (भगः) भजन या सेवन करने योग्य भक्त=अन्न में (उत् अग्रभीत्) शरीर के रूप में ग्रहण किया है (एनं) और इसको (अंशुमान्) व्यापन शक्ति या रस से युक्त (सोमः) जल ने (उत्) ग्रहण किया है । (एनम्) और इसको (देवाः) गतिशील (मरुतः) प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, कृकल, देवदत्त, नाग, कूर्म, धनंजय नामक वायुरूप जीवन के साधन प्राणों ने इसे (उत्) ग्रहण किया है और (इन्द्राग्नी) इन्द्र मुख्यप्राण और अग्नि–जाठर अग्नि, वैश्वानर इन्होंने इस देहमय पुरुष को (उत्) धारण किया है । क्यों ? (स्वस्तये) जिस से यह जीव शरीर में सुखपूर्वक जीवन सत्ता का उपभोग करे ।

इह तेसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः ।
उत् त्वां निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि ॥ ३ ॥

भा०—मृत्यु से दूर होने का उपाय । हे पुरुष ! (इह) इस शरीर में (ते) तेरे (असुः) जीवन के बाधक कारणों को दूर करने की भी शक्ति विद्यमान है और (इह प्राणः) और इसी शरीर में उत्कृष्ट रूप से प्राण लेने की शक्ति भी है और (इह आयुः) इसी में तेरी आयु-दीर्घ जीवन है, (इह ते मनः) और यही तेरा मननशील अन्तःकरण विद्यमान है । तो सब जीवन के साधन यहाँ ही इस शरीर में विद्यमान हैं तो फिर केवल अज्ञान से तू उन साधनों का उपयोग नहीं करता इस-लिए (त्वा) तुझ पुरुष को हम विद्वान् लोग (दैव्या वाचा) देव परमेश्वर की ज्ञानमय वाणी से, वेदोपदेश से (निर्ऋत्याः) सर्वथा दुःख देने वाली तामस प्रवृत्ति या मृत्यु या अज्ञान या अविद्या के (पाशेभ्यः) फांसों से (उत् भरामसि) ऊपर उठाते हैं ।

उत् क्रामातः पुरुष मावं पत्था मृत्योः पड्वींशमवमुञ्चमानः ।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः ॥ ४ ॥

४–'पड्वीशम्' इति सायणाभिमतः पाठः ।

भा०—हे (पुरुष) इस देहरूप पुरी में वास करनेवाले जीव! (अतः) इस अविद्या के पाश से तू (उत्क्राम) ऊपर उठ (मा अवपत्थाः) नीचे मत गिर। (मृत्योः) मृत्यु की (पड्वीशम्) पैरों में बँधी बेड़ियों को (अवमुञ्चमानः) छुड़ाता हुआ भी (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक या जीवन से (मा छित्थाः) सम्बन्ध मत तोड़, जीवन से वियुक्त मत हो और (अग्नेः) अग्नि, आचार्य और (सूर्यस्य चः) सूर्य, सब के प्रेरक परमेश्वर की शक्तियों का (संदृशः) भली प्रकार दर्शन कर।

तुभ्यं वार्तः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः।
सूर्यस्ते तन्वे३ शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः ॥ ५ ॥

भा०—हे जीव! (तुभ्यं) तेरे लिये (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में गति करने वाला (वातः) वायु (पवताम्) सदा बहता रहै, तू सदा स्वच्छ वायु का सेवन कर। और (तुभ्यम्) तेरे लिये (आपः) जल (अमृतानि) अमृत, जीवन के प्राणरूप सूक्ष्म अंशों को (वर्षन्तु) बरसावें, प्रदान करें। तू स्वच्छ जीवन की वृद्धि करने वाले जलों का पान कर (ते तन्वम्) तेरे शरीर के लिये (सूर्यः) यह सूर्य सब सौर-जगत् का और प्रणियों का प्रेरक (शम्) कल्याणकारी होकर (तपाति) तपे। और (मृत्युः) मृत्यु शरीर से जीव को पृथक् करने वाली शक्ति भी इस प्रकार (त्वां) तेरी (दयता) रक्षा करे और तू (मा प्र मेष्ठाः) मत मर, चिरजीवन धारण कर।

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ ६ ॥

भा०—हे (पुरुष) जीव! मनुष्य! (ते) तेरी (उद्यानम्) ऊपर

६—'रथमार्जिर्वि' इति सायणाभिमतः पाठः। ऋग्वेदेषु 'जिव्रि' शब्द उपलभ्यते। 'तौग्र्यो न जिविः' [ऋ० ११८० । ५]

की गति हो, तू अपने जीवन में ऊपर को उठ (न अवयानम्) नीचे को मत गिर । (ते) तेरे (जीवातुम्) जीवन को भी मैं (दक्षतातिम्) बल से युक्त करता हूँ । तू (इमम्) इस (अमृतम्) अमृतरूप सौ वर्ष के जीवन से युक्त (रथम्) रमण साधन, भोगों के आयतन रूप इस देह को (सुखम्) सुखपूर्वक (हि) निश्चय से (अरोह) धारण कर और तू (जिर्विः) जीर्ण होकर बुढ़ापे में भी (विदथम्) अपने जीवन के ज्ञानमय अनुभव को (आवदासि) सर्वत्र उपदेश कर ।

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्र मदो मानु गाः पितॄन्।
विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह ॥ ७ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते मनः) तेरा चित्त (तत्र) उस निषिद्ध कर्म में (मा गात्) न जाय । (मा तिरः भूत्) तेरा चित्त तिरछा, कुपथ में भी न हो । (जीवेभ्यः) जीवों के हित के लिए (मा प्रमदः) तू प्रमाद मत कर । (पितॄन्) अपने बूढ़े पालकों के पीछे २ मृत्यु के मुख में (मा अनुगाः) मत जा । प्रत्युत (त्वा) तुझ को (विश्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान् गण और हृष्ट पुष्ट इन्द्रियें (इह) यहां, इस शरीर में चिरकाल तक (अभि रक्षन्तु) सब प्रकार से सुरक्षित रखें ।

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम् ।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे ॥ ८ ॥

भा०—हे पुरुष ! (गतानाम्) गये गुजरे, शरीर को छोड़ कर जाने वाले उन लोगों के लिए (मा आदीधीथाः) विलाप मत कर (ये) जो (परावतम्) दूसरे लोक में या दूसरे शरीर में (नयन्ति) पहुँच जाते हैं अथवा तुझ को या तेरी मनोवृत्ति को दूसरे लोक में ले जाते हैं तू

८-(तृ०) 'उदारोहत्तमसो' । (च०) 'हस्तं रभामहे' इति पैप्प० सं० ।
'ज्योतिरेहि ते' इति ह्विटनिकामित: पाठः ।

(तमसः) मृत्यु रूप या पापरूप तम अन्धकार से निकल कर (ज्योतिः) अमृत पुण्यरूप प्रकाश की तरफ (आरोह) चढ़ । हम विद्वान् लोग (ते हस्तौ) तेरे हाथों को (रभामहे) पकड़ते हैं। तू हमारे हाथों का सहारा लेकर अन्धकार के गढ़े से निकल कर ऊपर आजा ।

मृत्युर्वै तमः । गो० ३० । २५ । १ ॥ पाप्मा वै तमः ॥ श० १२ । ९ । २ । ८ ॥ ज्योतिरमृतम् ॥ श० १४ । ४ । १ । ३२ ॥ प्राणो वै ज्योतिः ॥ श० ८ । ३ । २ । १४ ॥

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ ।
अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठ पराङ्मनाः ॥ ९ ॥

भा०—(श्यामः च) श्याम और (शबलः) शबल, रात और दिन ये दोनों (यमस्य) सर्वनियन्ता परमेश्वर के (प्रेषितौ) भेजे हुए (पथिरक्षौ) जीवन मार्ग की या काल की रक्षा करने वाले (श्वानौ) सदा गतिशील हैं । तू (अर्वाङ्) सामने आगे की ओर (एहि) बढ़ (मा विदीध्यः) विलाप और पछतावा मत कर । (अत्र) इस लोक में (पराङ्मनाः) पूर्व के गुज़रे हुए की चिन्ता करते हुए (मा तिष्ठः) मत बैठ । अहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः । कौ० २।९॥

मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि ।
तम एतत् पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक् ॥१०॥

भा०—हे मोहवश अपने मरों के साथ ममता करके उनके साथ मरने की इच्छा करने वाले मूढ़ पुरुष ! (एतम्) इस (पन्थानम्) मार्ग

९—(तृ०) 'मा त्रि दीध्यो' इति पैप्प० सं० । 'शबलश्च यमस्य' इति सायणाभिमतः पाठः । 'प्रेषितो' इति सायणभाष्ये पदं नोपलभ्यते ।
१०—(च०) 'पुरस्ताद्' इति सायणाभिमतः पाठः । (तृ०) 'तम् एतत्' इति पैप्प० सं० ।

का (मा अनु गाः) अनुसरण मत कर । (भीमः, एषः) यह मार्ग बहुत भयपूर्ण है। (येन) जिस मार्ग से (पूर्वम्) नियत समय से पूर्व तुम कभी (न इयथ) नहीं चले (तम्) उस अज्ञान मार्ग के विषय में मैं (ब्रवीमि) तुम्हें उपदेश करता हूँ कि (एतत्) वह मार्ग (तमः) अन्धकारमय मृत्यु है । हे (पुरुष) पुरुष ! उसकी तरफ़ (मा प्र पत्थाः) तू मत जा, क्योंकि (परस्तात्) उसके परे अतीत काल में जाने से (भयम्) भय है कि भटक जाय । (ते) तेरे लिए तो (अर्वाक्) आगे बढ़ना ही (अभयम्) भय रहित है ।

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्व१न्ता रक्षतु त्वा मनुष्या३ यमिन्धते ।
वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग् विद्युता सह ॥११॥

भा०—हे पुरुष ! (ये) जो (अप्सु अन्तः) प्रजाओं में या लोकों में रहने वाले (अग्नयः) अग्नि, प्रकाशमान सूर्य चन्द्र, तारे अथवा प्रजाओं में रहने वाले विद्वान् गण हैं (त्वा रक्षन्तु) वे तेरी रक्षा करें । और (यम्) जिसको (मनुष्याः) मननशील पुरुष (इन्धते) प्रदीप्त करते हैं वह अग्नि भी (त्वा रक्षतु) तेरी रक्षा करे । और (जातवेदाः) सब प्राणियों में व्यापक या सर्वज्ञ (वैश्वानरः) सब का हितकारक, जाठर अग्नि या ईश्वर भी (रक्षतु) तेरी रक्षा करे (दिव्यः) दिव्य आकाश में उत्पन्न होने वाला अग्नि भी (विद्युता सह) विद्युत् के सहित तुझे (मा प्र धाग्) न जलावे।

मा त्वा क्रव्यादभि मंस्तारात् संकसुकाच्चर ।
रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च ।
अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः ॥ १२ ॥

११–(च०) 'मा धाग्' इति ह्विटनिप्रकाशितपुस्तकगतः प्रामादिकः पाठः । 'मा प्र दहात्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पुरुष ! (त्वा) तुझ को (क्रव्यात्) कच्चा माँस खाने वाला जन्तु (मा अभिमंस्त) न आ दवोचे । (संकसुकात्) नाश करने वाले, लोभी जीव से तू (आरात्) दूर रह कर (चर) चल । (द्यौः) आकाश (त्वा) तेरी (रक्षतु) रक्षा करे । (पृथिवी रक्षतु) पृथिवी तेरी रक्षा करे । (सूर्यः च चन्द्रमाः च) सूर्य और चन्द्रमा (त्वा रक्षताम्) तेरी रक्षा करें । और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, वायुमण्डल तेरी (देवहेत्याः) दैवी आघातकारी पदार्थ से (रक्षतु) रक्षा करें ।

बोधश्च॑ त्वा प्रतीबोधश्च॑ रक्षतामस्वप्नश्च॑ त्वानवद्राणश्च॑ रक्षताम् । गोपायँश्च॑ त्वा जागृ॑विश्च रक्षताम् ॥ १३ ॥

भा०—(बोधः) तुझे ज्ञान का बोध कराने वाला तेरा गुरु और (प्रतिबोधः) प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान कराने वाला उपदेशक ये दोनों (त्वा रक्षताम्) तेरी रक्षा करें । (अस्वप्नः) न सोने वाला, पहरेदार और (अनवद्राणः) कभी कुत्सित आचरण न करने वाला सदाचारी आचार्य (गोपायन्) तेरा रक्षक, और (जागृविः) तेरी रक्षा में सदा जागरणशील सन्तरी ये सब तेरी रक्षा करें । या तेरे रक्षक लोग ज्ञानी, दूसरों के ज्ञानदाता, अप्रमादी, सदाचारी, रक्षक सदा सावधान होकर तेरी रक्षा करें ।

ते त्वा॑ रक्षन्तु ते त्वा॑ गोपायन्तु तेभ्यो॒ नम॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥१४॥

भा०—(ते) ऊपर कहे पदार्थ या उपरोक्त गुण के रक्षक पुरुष

१२–(द्वि०) 'संकुसुकाच्चर' इति सायणाभिमतः पाठः । प्रथमद्वितीययो स्तृतीयचतुर्थाभ्यां पादाभ्यां स्थानविपर्ययः पैप्प० सं० ।

१३–(द्वि०) 'त्वा अनवद्राणिश्च' इति पैप्प० सं० । 'अस्वप्नस्त्वानवद्राण' इति राकत्रेललेन्मनकामितः पाठः ।

१४–(द्वि०) गोपायन्तु ते त्वां हसस्सायतु तेभ्यो' इति पैप्प० सं० ।

(त्वा रक्षन्तु) तेरी रक्षा करें (ते त्वा गोपायन्तु) वे तेरी पहरेदारी करें (तेभ्यो नमः) उनका आदर करो या उनको अन्न दो और (तेभ्यः स्वाहा) उनको उत्तम आदर के वचन कहो ।

जीवेभ्यस्त्वा समुदे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाणः ।
मा त्वा प्राणो बलं हासीदसुं तेनु ह्वयामसि ॥ १५ ॥

भा०—(धाता) पालक, पोषक और (त्रायमाणः) रक्षक और (सविता) उत्पादक (वायुः) सबका प्रेरक या सर्वव्यापक (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा (त्वा) तुझको (जीवेभ्यः) अन्य तेरे आश्रय पर जीने वाले प्राणियों के लिये (समुदे)[1] और सबके साथ आनन्द प्रसन्न रहने के लिये (त्वा दधातु) तेरा पोषण करे । (प्राणः) प्राण और (बलम्) बल (त्वा) तुझे (मा हासीत्) न छोड़े । (ते असुम्) तेरे प्राण बल को हम (अनु) अनुकूल रूप से (ह्वयामसि) बुलाते हैं ।

मा त्वा जम्भः संहनुर्मा तमो विदन्मा
जिह्वा बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः ।
उत त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥ १६ ॥

भा०—(त्वा) तुझे (जम्भः) अंगों को जकड़ने वाला, (संहनुः) जबाड़ों को पकड़ने वाला दांत लगने का रोग (मा विदत्) कभी न पकड़े । और (तमः) आँखों के आगे अन्धेरा सा ला देने वाला शिरोरोग या तमक रोग भी तुझे न पकड़े और (जिह्वा) जीभ भी कभी तुझे रोग में न आ पकड़े । तू (बर्हिः) सदा वृद्धिशील रह कर

---

[१५] १–'सम्ऽउदे' इति पदपाठः

१६–'कथा स्याः' इत्यन्ताः पञ्चदशीऋग् सायणाभिमता । (द्वि०) जिह्वा-बर्हप्रमयुः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'माजिह्वाचर्य प्रमयुः कथा स्थ' इति पैप्प० सं० ।

(कथा) किस प्रकार (प्रमयुः) मरणोन्मुख (स्याः) हो सकता है ? और (त्वा) तुझ को (आदित्याः) ज्ञानयोगी, बाल ब्रह्मचारी, (वसवः) वसु ब्रह्मचारी और (इन्द्राग्नी) राजा और आचार्य ये (स्वस्तये) कल्याण के लिये (त्वा) तुझ को (उद् भरन्तु) मृत्यु से उन्नति के पथ पर ले जावें ।

उत् त्वा द्यौरुत् पृथिव्युत् प्रजापतिरग्रभीत् ।
उत् त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन् ॥ १७ ॥

भा०—(द्यौः) यह महान् आकाश या सूर्य (त्वा) तुझ को (मृत्योः) मृत्यु से (उद् अग्रभीत्) ऊपर उठाये रहे, बचावे । (पृथिवी उत् अग्रभीत्) यह पृथिवी तुझे मृत्यु से बचावे । (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी, परमेश्वर (त्वा उत् अग्रभीत्) तुझ को बचावे । और (ओषधयः) वे ओषधियां (सोमराज्ञीः) जिनका राजा सोम है अर्थात् जिन में सब से अधिक गुणकारी ओषधि सोमलता है ये भी (त्वा मृत्योः) तुझ को मृत्यु से (उत् अपीपरन्) ऊपर उठावें, बचावें ।

अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः ।
इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत् पारयामसि ॥ १८ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (अयम्) यह पुरुष (इह एव अस्तु) इस देह में ही पूर्ण आयु तक रहे । (इतः) इस देह को छोड़ कर वह (अमुत्र) दूसरे लोक में (मा गात्) शत वर्ष के पूर्व न जावे । हम विद्वान् लोग (सहस्रवीर्येण) हज़ारों उपायों से, अपरिमित सामर्थ्यप्रद विधियों से, (सहस्रवीर्येण) बलयुक्त, सहनशील वीर्य-रक्षा ब्रह्मचर्य के उपाय से इस पुरुष को (मृत्योः) मृत्यु से (उत् पारयामसि) ऊंचा उठावें, मृत्यु से बचावें ।

सहस्रं सहस्वद् इति निरुक्तम् ।

उत् त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः ।
मा त्वा व्यस्तकेश्यो मा त्वाघरुदो रुदन् ॥ १९ ॥

भा०—हे पुरुष ! मैं विद्वान् या ईश्वर (मृत्योः) मृत्यु के पाश से (त्वा) तुझ को (उत् अपोपरम्) ऊपर करता हूँ । (वयोधसः) अन्न, आयु का धारण और प्रदान करने वाले लोग तुझ को पुष्ट करें । (व्यस्तकेश्यः) स्त्रियें बाल खोल २ कर तेरे लिये (मा रुदन्) न रोया करें और (अघरुदः) बुरी तरह से रोने वाले बन्धुजन भी (त्वा) तेरे लिये (मा रुदन्) न रोवें । अर्थात् तू पूर्ण आयु होकर वृद्ध दशा में शरीर छोड़ । इससे किसी के विलाप दुःख का तू कारण न होगा ।

आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः ।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेविदम् ॥ २० ॥
ऋ० १० । १६१ । ५ ॥

भा०—हे पुरुष ! जीव ! (अहार्षम्) मैं परमेश्वर तुझ को इस शरीर में प्राप्त कराता हूँ । और (त्वा अविदम्) और तुझ को स्वयं लिये रहता हूँ या तेरी खबर रखता हूँ । तू इस शरीर में (पुनः आगाः) बार २ आता है । और (पुनः नवः) पुनः २ नया होता है । हे (सर्वाङ्ग) समस्त अंगों से युक्त पुरुष ! (ते) तेरी (सर्वम्) सब (चक्षुः) देखने या ज्ञान करने की इन्द्रियें और (सर्वम्) समस्त (आयुः च) आयु (ते) तुझे (अविदम्) प्राप्त कराता हूं । ईश्वर हमें इस देह में लाता हमारी खबर रखता है । जीवन के योग्य सब पदार्थ देता है, हम सदा नये होकर उत्पन्न होते हैं और शरीर को भी प्रतिदिन वह नया बनाये रखता है, हमें इन्द्रियें ज्ञान करने के लिये देता है और वह दीर्घ जीवन का प्रदान करता है ।

२०–(द्वि०) 'पुनर्नवं' इति सायणाभिमतः पाठः । (प्र०) 'आहार्षं त्वाविदं त्वा पुनरागाः पुनर्नवः' इति ऋ० ।

व्य/वात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत्।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि ॥ २१ ॥ (२)

भा०—(ते) तेरे लिये (ज्योतिः) जीवन का प्रकाश प्रति दिन सूर्य रूप से और आत्मा में ज्ञान रूप से (व्यवात्) विशेष रूपसे प्रकट होता हुआ (अभूत्) आता है। और (त्वत्) तुझ से (तमः) अन्धकार और मृत्यु (अप अक्रमीत्) दूर हो जाता है। और हम भी (त्वत्) तुझ से (निर्ऋतिम् मृत्युम्) पाप और पाप से होने वाली निःशेष दुःखकारी मृत्यु को (अप निदध्मसि) दूर करते हैं और (यक्ष्मम्) यक्ष्म नामक तपेदिक रोग को भी (अप नि दध्मसि) दूर करते हैं।



[२] दीर्घ जीवन का उपदेश।

ब्रह्मा ऋषिः। आयुर्देवता। १,२,७ भुरिजः। ३,२६ आस्तार पंक्तिः, ४। प्रस्तार पंक्तिः, ६-१५ पथ्या पंक्तिः। ८ पुरस्ताज्ज्योतिष्मती जगती। ९ पञ्चपदा जगती। ११ विष्टारपंक्तिः। १२,२२,२८ पुरस्ताद् बृहत्यः। १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, १९ उपरिष्टाद् बृहती, २१ सतः पंक्तिः। ५,१०,१६-१८,२०,२३-२५,२७ अनुष्टुभः। १७ त्रिपाद् ॥

आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते।
असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः ॥१॥

भा०—हे पुरुष! (इमाम्) इस (अमृतस्य) अमृत, पूर्ण १०० वर्ष की के आयु (श्नुष्टिम्)[1] भोग प्राप्त करने का (आरभस्व) उद्योग कर। (ते) तेरी (जरदष्टिः) जरा अवस्था तक की जीवन यात्रा, और

[२] १–'स्नुष्टिरिति' क्वचित् पाठः।

१. श्नुष्टिः, श्नुसु अदने आदान इत्येके।

जीवन पर्यन्त उपभोग करने के निमित्त अन्न आदि सामग्री सदा (अविच्छिद्यमाना) बिना विच्छेद के निरन्तर जुटी (अस्तु) रहे। (ते) तेरे (असुम्) असु, प्राण को और (आयुः) दीर्घ जीवन को (पुनः) फिर (आभरामि) प्रदान करता हूं। हे पुरुष ! तू (रजः तमः) राजस और तामस भोगों और विलासों में (मा उप गाः) मत जा और इस प्रकार (मा प्रमेष्ठाः) तू मृत्यु को प्राप्त न हो। अर्थात् सात्विक वृत्ति से जीवन निर्वाह करने से दीर्घजीवन प्राप्त होता है।

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय।
अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि ॥२॥

भा०—हे पुरुष ! तू (जीवताम्) प्राण धारण करने वाले जीते जागते लोगों की (ज्योतिः) ज्योति, प्रकाश या कान्ति को (अर्वाङ्) साक्षात् (अभि-एहि) प्राप्त कर। (त्वा) तुझको मैं ईश्वर (शत शारदाय) सौ वर्ष की आयु भोगने के लिये इस जीव लोक में (आहरामि) पुनः लाता हूं। और (मृत्यु-पाशान्) मृत्यु के बन्धनों को और (अशस्तिम्) निन्दाजनक अपकीर्ति या अप्रशंसनीय निन्दनीय गति को (अव-मुञ्चन्) दूर करता हुआ (ते) तुझे (प्र-तरं) उत्कृष्ट, (द्राघीयः) दीर्घ (आयुः) आयु (दधामि) प्रदान करता हूँ।

वातात् ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव।
यत् ते मनस्त्वयि तद् धारयामि सं वित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन् ॥३॥

भा०—(ते) तेरे लिये (प्राणम्) प्राण को हे पुरुष ! मैं (वातात्) इस वायु से (अविदम्) उत्पन्न करता हूँ। और (अहम्)

२–'तृतीयचतुर्थचरणयोर्विपर्ययः पैप्पलाद' । 'ज्योतिरभ्येहि लोकम्' इति पैप्प० सं० ।

३–(च०) 'विश्वाङ्गैर्वद जिह्वयाऽऽलपन्' इति सायणाभिमतः पाठः ।

मैं प्रजापति (तव) तेरी (चक्षुः) दर्शनशक्ति को (सूर्यात्) सूर्य से उत्पन्न करता हूँ। और (यत्) जो (ते) तेरा (मनः) संकल्प-कारी अन्तःकरण है उसको (त्वयि) तेरे भीतर (धारयामि) स्थापित करता हूं। (अंगैः) अपने सब अंगों से या इन्द्रियों या ज्ञानेन्द्रियों से (संवित्स्व) भली प्रकार ज्ञान कर और (जिह्वया) जीभ या वाणी से (लपन्) स्पष्ट वाणी का उच्चारण करता हुआ (वद) बोल।

प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं धमामि ।
नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेकरम् ॥ ४ ॥

भा०—हे पुरुष ! जीवात्मन् ! (अग्निम् इव) जिस प्रकार आग को फूँक लगा कर या वायु द्वारा पंखे से जिया लिया जाता है। उसी प्रकार (द्विपदाम्) दोपाये मनुष्य-शरीर और पक्षि शरीरों में और (चतुष्पदाम्) चौपायों में (जातम्) उत्पन्न होकर शरीर धारण किये हुए तुझको मैं ईश्वर (प्राणेन) प्राण द्वारा (अभि सं धमामि) स्वयं प्रत्यक्षरूप में तुझे चैतन्य किये रहता हूँ। उत्तर में जीव कहता है। हे भगवन् ! (मृत्यो) सब प्राणियों को देह से पृथक् करने वाले मृत्यो ! (ते चक्षुषे) तेरे प्रदान किये चक्षु आदि इन्द्रिय साधनों के लिये (नमः) उनका भोग्य विषय और (ते प्राणाय) तेरे दिये प्राण के लिये भी मैं (नमः) अन्न (अकरम्) उत्पन्न करूँ। अशनाया वै मृत्युः। भूख और अपान मृत्यु है।

अयं जीवतु मा मृतेमं समीरयामसि ।
कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः ॥ ५ ॥

भा०—(अयम्) यह पुरुष (जीवतु) जीवे, सदा जीवे, (मा मृत) कभी न मरे। हम विद्वान्गण इसको (सम् ईरयामः) उत्तम रीति से जीवन गति प्रदान करते हैं। मैं (अस्मै) इस पुरुष के लिये (भेषजं

कृणोमि) सब दुःख दूर करने का उपाय करता हूँ। हे (मृत्यो) मौत! तू (पुरुषम्) पुरुष को (मा वधीः) मत मार। उत्तम रूप से प्राण शक्ति को प्रेरित करने से और रोग की तुरन्त चिकित्सा कर लेने से शरीर मृत्यु के भय से बच जाता है।

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ ६ ॥

भा०—(अहम्) मैं परमेश्वर (अस्मै) इस पुरुष के लिये (जीवलाम्) जीवनप्रद, प्राणप्रद (नघरिषाम्) कभी प्राण पर आघात न करने वाली (जीवन्तीम्) जीवन्ती नामक, ओषधि को, (त्रायमाणाम्) त्रायमाणा ओषधि को और (सहस्वतीम्) सब रोगों के आक्रमणों को दबाने वाली (सहमानाम्) बलवती, रोगनाशक पापनाशक ओषधि या सहदेवी ओषधि को (अरिष्टतातये) नीरोग होने के लिये (हुवे) जीवों को प्रदान करता हूँ।

अधि ब्रूहि मा रभथाः सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु।
भवाशर्वौ मृडतं शर्म यच्छतमपसिध्य दुरितं धत्तमायुः ॥ ७ ॥

भा०—हे मृत्यो ! (अधि ब्रूहि) तू ही इस जीव को जीवन प्राप्त करने का उपदेश कर। (मा रभथाः) इस को मार मत। बल्कि (इमं सृज) इस पुरुष को उत्पन्न कर, रच और आगे बढ़ा। यह पुरुष (तव एव) तेरा ही (सन्) होकर (इह) इस लोक में (सर्वहायाः) समस्त जीवन के शतवर्ष पर्यन्त (अस्तु) रहे। (भवाशर्वौ) हे भव और शर्व ! सर्वोत्पादक और सर्वविनाशक शक्तियो ! तुम दोनों अपने २

६—'नघरुषां' इति सायणाभिमतः पाठः। (प्र०) 'नघारिषं' (च०) 'सहस्वतीमरुन्धतीम् ह्वये' इति पैप्प० सं०।

७—'सं। सर्वहाया' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः।

अवसर पर इस जीव को (मृडतम्) सुखी करो और (शर्म यच्छतम्) सुखमय कल्याण प्रदान करो। इस पुरुष के (दुरितम्) दुष्कर्म, पाप, दुष्ट आरचण को (अपसिध्य) दूर करके (आयुः धत्तम्) दीर्घ जीवन प्रदान करो।

उत्पत्ति काल में जीव में दुश्चेष्टाओं को दूर करने और वार्धक काल में तपस्या करने से भी दीर्घ जीवन प्राप्त होता और जीवन में सुख होता है। नहीं तो बाल्यकाल के कुसंग और वार्धक काल की भोगतृष्णा ही जीवन को रोगमय और जीर्ण कर देती है।

अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहीमं दयस्वोदितो३ऽयमेतु ।
अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम् ॥८॥

भा०—हे (मृत्यो) मृत्यो ! (अस्मै) इस जीव को (अधि-ब्रूहि) तू उपदेश कर ! (इमम्) इस पुरुष को (दयस्व) पालन कर। (उदितः) यह दुखों से ऊपर उठ कर, अभ्युदय को प्राप्त करके (अयम्) यह पुरुष (एतु) जीवनपथ में आवे। और (अरिष्टः) किसी प्रकार भी पीड़ित न होकर, मंगलमय होकर, (सर्वांगः) सब अंगों से पूर्ण, हृष्ट पुष्ट (सुश्रुत्) उत्तम श्रवण शक्ति से युक्त रह कर (जरसा) बुढ़ापे में (शतहायनः) सौ वर्ष पूर्ण करके (आत्मना) अपने देह से (भुजम्) अपने भोग्य, कर्म फल को (अश्नुताम्) भोग करे।

देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजस उत् त्वा मृत्योरपीपरम् ।
आराद्ग्निं क्रव्यादं निरूहं जीवातवे ते परिधिं दधामि ॥ ९ ॥

८–(द्वि०) 'दयस्वोदितोहि मे तु' (च०) 'शतहायनात्मना' इति पैप्प० सं० ।

९–'क्रव्यादं निरौहं' इति सायणाभिमतः पाठः ।

भा०—(देवानाम्) दिव्य पदार्थ अग्नि, वायु, विद्युत्, वर्षा, उल्का आदि पदार्थों का और राष्ट्र के शासक, विद्वान् और शक्तिशाली अधिकारी पुरुषों का (हेतिः) आघातकारी शस्त्र या दण्ड (त्वा) तुझे (परिवृणक्तु) आघात न करे, अपने आघात से बचाये रखे। मैं (त्वा) तुझ जीव को (रजसः) रजसः या राजस प्रलोभनों से (पारयामि) पार करता हूँ। (त्वा) तुझको (मृत्योः) मृत्यु से (उत् अपीपरम्) ऊपर उठाता हूँ। (क्रव्यादम्) मांस खाने वाले पशु को और प्राणनाशक (अग्निम्) अग्नि को अथवा (कव्यादम् अग्निम्) नर शरीर के मांस को स्वीकार करने वाले शवाग्नि को (आरात्) दूर (निरूहम्) करता हूँ। और (ते) तेरे (जीवातवे) जीवन के लिये (परिधिम्) उत्तम सुरक्षा (दधामि) स्थापन करता हूँ।

यत् ते॑ नि॒याने॑ रज॒सं मृत्यो॑ अनवध॒र्ष्य॑म् ।
प॒थ इ॒मं तस्मा॒द् रक्ष॑न्तो॒ ब्रह्मा॑स्मै॒ वर्म॑ कृण्मसि ॥ १० ॥

भा०—हे (मृत्यो) मृत्यो ! आत्मा को शरीर से पृथक् करने हारे तमःस्वरूप मृत्यो ! (यत्) जो (ते) तेरा (अनवधर्ष्यम्) असह्य और अजेय (रजसं=राजसम्) रजो गुण का बना हुआ (नियानम्) नीचे जाने का मार्ग है। (तस्मात्) उस (पथः) मार्ग से (रक्षन्तः) इस जीव की रक्षा करते हुए हम (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान या वेदोपदिष्ट ज्ञान को (अस्मै) इस जीव की रक्षा के लिये (वर्म) आवरणकारी कवच (कृण्मसि) करें। राजस कार्य और विचार मनुष्य को नीचे गिराते हैं। वे मौत की तरफ़ ले जाते हैं, उनसे बचने के लिये सात्विक मार्ग, वेदोपदिष्ट ब्रह्मज्ञान एक भारी कवच है।

१०–(द्वि०) 'अनवधृष्यम्' इति सायणाभिमतः पाठः। (प्र०) 'यत् ते नियानं रजसो मृत्योनव' इति पैप्प० सं०।

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोप सेधामि सर्वान् ॥११॥

भा०—(ते प्राणापानौ) हे पुरुष ! तेरे प्राण और अपान, भीतर से बाहर और बाहर से भीतर चलने वाले श्वासों को (कृणोमि) उचित रूप से सुधार देता हूँ । और इस प्रकार (जराम्) बुढ़ापे और (मृत्युम्) मौत दोनों को (अपसेधामि) दूर कर देता हूँ । इस प्रकार (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) जीवन (स्वस्ति) तेरे लिये कल्याणकारी सुखजनक और अविनाशी हो । इसी प्राण और अपान की उचित गति से (वैवस्वतेन) विवस्वान सूर्य से उत्पन्न काल के (प्रहितान्) भेजे (चरतः) निरन्तर गतिशील, परिवर्त्तनशील (यम-दूतान्) यम के दूत रूप काल के खण्ड, दिन, मास, पक्ष, ऋतु वर्ष आदि (सर्वान्) सब को (अपसेधामि) जीवन विनाश करने के कार्य से दूर करता हूँ ।

आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् ।
रक्षो यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तम इवाप हन्मसि ॥ १२ ॥

भा०—(तमः इव) जिस प्रकार प्रकाश द्वारा अन्धकार को दूर कर दिया जाता है उसी प्रकार हम (निर्ऋतिम्) अविद्यामय पाप की प्रवृत्ति को, (अरातिम्) दान न देने वाली, कंजूसी, कृपणता को, (ग्राहिम्) हाथ पैर जकड़ देने वाली अथवा सब की सुख संम्पत् चाट जाने वाली लोभवृत्ति को (क्रव्यादः) मांसाहारी जन्तुओं को और (पिशाचान्) घृणित शव मांस के खाने वाले पिशाचों को और (रक्षः) धर्म कार्य से परे हटाये रखने वाले, विघ्नकारी पुरुषों को और (यत्) जो कुछ

११–(द्वि०) 'जरामृत्युं' (च०) 'चरतारान् (द्) अप' इति पैप्प० सं० ।
१२–(द्वि०) 'पुरोग्राहिं' (च०) 'तम एवाप' इति सायणाभिमतः पाठः । 'तवैवाप' इति पैप्प० सं० ।

भी (दुर्भूतम्) दुष्ट या दुःखकारी पदार्थ है (तत्) उस सब को (परः) परे (अरात्) दूर ही (अप हन्मसि) मार भगावें ।

अ॒ग्नेष्टे॑ प्रा॒णम॒मृता॒दायु॑ष्मतो वन्वे जा॒तवे॑दसः ।
यथा॒ न रिष्या॑ अ॒मृतः॑ स॒जूरस॒स्तत् ते॑ कृणोमि॒ तदु॑ ते॒ सम॑ृध्यताम् ॥ १३ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण को (अग्नेः) प्रकाशस्वरूप (अमृतात्) अमृतमय, अमर (आयुष्मतः) दीर्घ आयु से सम्पन्न (जातवेदसः) वेद, ज्ञानमय, सर्वज्ञ प्रभु या सूर्य से (वन्वे) ऐसे प्राप्त करता हूँ । (यथा) जिससे तू भी (अमृतः) अमृतमय होकर (न रिष्याः) विनाश को प्राप्त न हो । (सजूः असः) तू उस अमृतमय के साथ प्रेम करता रह । (तत्) उस परमपद का (ते) तेरा ब्रह्मज्ञान तेरे लिये (समृध्यताम्) समृद्धिकारक, सर्वफलप्रद हो ।

शि॒वे ते॑ स्तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॑संता॒पे अ॑भि॒श्रियौ॑ ।
शं ते॒ सूर्य॒ आ त॑पतु॒ शं वातो॑ वातु ते हृ॒दे ।
शि॒वा अ॒भि क्ष॑रन्तु॒ त्वापो॑ दि॒व्याः पय॑स्वतीः ॥ १४ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरे लिये (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, (अभिश्रियौ) सब तरफ़ से शोभायमान या सब तरफ से आश्रय देनेवाली, (असन्तापे) संताप, क्लेश से रहित, सुखकारी (शिवे) शुभ, कल्याणकारी (स्ताम्) हों । हे पुरुष ! (ते) तेरे लिये (सूर्यः) सूर्य (शम्) कल्याण, सुखकारीरूप में (आ तपतु) तपे, प्रकाशित हो, और पृथ्वी को संतप्त करे । और (ते हृदे) तेरे हृदय के अनुकूल

१३–(तृ०) 'यथा न ऋष्या' इति क्वचित् पाठः । (द्वि०) 'वनेव जातवेदसः' इति पैप्प० सं० ।

१४–(तृ०) 'सूर्या तपतु' (ष०) 'अभि चरन्ति', 'त्वा शिवास्ते सन्त्वोषधीः' इति पैप्प० सं० । 'असंतापे अधिश्रियौ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

(वातः) वायु भी (शम्) कल्याण और सुखकारी होकर (वातु) बहे। (शिवाः) शुभ, सुखकारी (दिव्याः) आकाश से उत्पन्न, दिव्य, गुणकारी, (पयस्वतीः) पुष्टिकारक अन्नों से समृद्ध (आपः) वर्षा की जलधाराएँ (त्वा) तेरे देश के प्रति (अभि क्षरन्तु) सब ओर से आवें और भूमि पर पड़ें और भूमियों को सींचे।

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत् त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा ॥ १५ ॥

भा०—(ते) तेरे लिये (ओषधयः) ओषधियाँ (शिवाः) कल्याणकारी (सन्तु) हों। मैं तुझ रोगी एवं अस्वस्थ पुरुष को स्वस्थ और रोग रहित करने के लिये (अधरस्याः) नीची और हीनगुणवाली भूमि से (उत्तरां पृथिवीम् अभि) उत्कृष्ट गुणवाली ऊँची, स्वच्छ वायु से पूर्ण पर्वत की भूमि में (उत् अहार्षम्) ऊपर ले जाऊँ। (तत्र) वहाँ (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा दोनों (आदित्यौ) प्रकाशमय पुञ्ज, अदिति=अखण्ड सामर्थ्यवान् शक्ति के पुञ्ज (उभौ) दोनों ही (त्वा) तेरी (रक्षताम्) रक्षा करें। तेरे जीवन को दीर्घ करें। ओषधि का सेवन और ऊँचे स्थल पर सूर्य और चन्द्र के प्रकाश का सेवन दीर्घ जीवन का कारण है।

यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम्।
शिवं ते तन्वे३ तत् कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते ॥१६॥

भा०—हे पुरुष ! (यत् ते) जो तेरा (परिधानम्) शरीर को ढाँपने का ऊपरी (वासः) वस्त्र है और (याम्) जिसको तू (नीविम्)

१५–(प्र०) 'उत्त्वा हारिषम्' (द्वि०) 'पृथिवीमति' (च०) 'चन्द्रमसा उभा' इति पैप्प० सं०।

१६–'अद्रूक्ष्णमश्नुत' इति सायणाभिमतः पाठः। 'अरूक्ष्णम्', 'अद्रूक्ष्ण' 'अद्रूक्ष्ण' इति क्वचित्दस्पष्टो लेखः।

शरीर के कटिभाग में धोती या पाजामा या लंगोटी (कृणुषे) बना कर तेड़ लगा लेता है (तत्) उस वस्त्र को भी हम (ते तन्वे) तेरे शरीर के लिये (शिवम्) सुखकारी कल्याणकारी (कृण्मः) करें। जिससे वह वस्त्र (ते) तेरे लिये (संस्पर्शे) स्पर्श में (अद्रूक्षणम्) रूखा और कठोर, क्लेशकारी न (अस्तु) हो, प्रत्युत सुखकारी, कोमल हो जो शरीर में न चुभे।

यत् क्षुरेण॑ म॒र्चय॑ता सु॒ते॒जसा॒ वप्ता॒ वप॑सि केशश्म॒श्रु ।
शु॒भं मुखं॒ मा न॒ आयुः॒ प्र मो॑षीः ॥ १७ ॥

भा०—हे पुरुषो ! तुम लोग (यत्) चाहे (सुतेजसा) खूब चमकते, तेज़ धार वाले तीक्ष्ण (क्षुरेण) छुरा से (मर्चयत) बालों को साफ़ करा दो, क्षौर कर्म करा दो। हे नापित पुरुष ? तू (वप्ता) केशों को काटनेवाला नाई होकर (केशश्मश्रु) शिर के बालों और मुख पर के मूँछ आदि बालों को भी (वपसि) मूंड़ डाल। हे पुरुष ! (तव) तेरा (मुखम्) मुख (शुभम्) सुन्दर, शोभायुक्त हो। इस अवसर पर हे नापित ! तू (नः) हमारे (आयुः) जीवन को (मा) मत (प्रमोषीः) नाश कर। अर्थात् हे लोगो ! तीक्ष्ण धार वाले छुरे से बाल बनवाओ, सिर के और मुख के बाल साफ़ कराओ, सुन्दर मुख से रहो, परन्तु नाई असावधानी से किसी के प्राण न ले, उस्तरे निर्विष हों और उनको सावधानी से प्रयोग करे।

१७–(प्र०) 'मर्चयन्ता सुतेजसा' (तृ०) 'शुभन् मुखं' इति च ह्विटनेकामितौ पाठौ। (द्वि०) 'केशश्मश्रू' (तृ०) 'मैनमायुः' इति पैप्प० सं०। 'मर्चमता सुपेशसा' प्रा० गृ० सू०, हि० गृ० सू०, आ० गृ० सू०। 'वप्तर्वपसि' इति हि० गृ० सू०। 'वप्ता वपति केशान्' पा० गृ० सू०। (तृ०) 'शुन्धि शिरोमा' इति पा० गृ० सू०। 'वर्चमा मुखं' इति हि० गृ० सू०। 'मास्य आयुः' पा० गृ० सू०।

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥ १८ ॥

भा०—हे पुरुष ! (व्रीहियवौ) धान्य और जौ दोनों (ते) तेरे लिये (शिवौ) शिव, कल्याणकारी, सुखकारी (स्ताम्) हों । वे दोनों तेरे (अबलासौ) बल के विनाशक या कफकारी न हों और वे दोनों (अदोमधौ) खाने में सुखकारी, मधुर प्रतीत हों । (एतौ) ये दोनों (यक्ष्मम्) राजयक्ष्मा और अन्य रोगों को (वि बाधेते) नाना प्रकार से नाश करें (एतौ) वे दोनों (अंहसः) मानस और शरीर के पाप और पीड़ाओं से भी पुरुष को (मुञ्चतः) छुड़ाते हैं ।

यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः ।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥ १९ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (यत्) जिस (धान्यम्) धान्य, अन्न को (कृष्याः) कृषि, खेती से उत्पन्न करके (अश्नासि) खाता है और (यत्) जिस (पयः) पुष्टिकारक दूध और जल का (पिबसि) पान करता है और (यत्) जो पदार्थ भी (आद्यम्) खाने योग्य है और (यद् अनाद्यम्) जो पदार्थ खाने योग्य नहीं भी है उस (सर्वम्) सब (अन्नम्) अन्न को (ते) तेरे लिये (अविषं कृणोमि) विष रहित करता हूं ।

अह्ने च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि ।
अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत ॥ २० ॥

१८–(द्वि०) 'अदोमधू' इति सायणाभिमतः पाठः । 'अधोमधो' इति पैप्प० सं० ।

१९–(द्वि०) 'धान्यं कृच्छ्रात् पयः' इति सायणाभिमतः पाठः ।

२०–'परिदद्मसि' इति सायणाभिमतः पाठः । (द्वि०) 'परिदद्मसि' (तृ०) 'रायेभ्यः' (च०) 'इमं नः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पुरुष ! (त्वा) तुझे मैं (अह्ने) दिन के समय और (रात्रये च) और रात्रि के समय (उभाभ्याम्) दोनों के सुखपूर्वक उपभोग के लिये (परि दद्मसि) हम स्वतन्त्रता देते हैं। और हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (मे) मेरे (इमम्) इस शरीर और धन की (अरायेभ्यः) निर्धन और (जिघत्सुभ्यः) भुक्खड़ों से (परि रक्षत) रक्षा करो।

प्रत्येक व्यक्ति को दिन और रात विचरने की स्वतन्त्रता है। और राजकर्मचारी लोग प्रजाजन की 'अराय' अर्थात् निर्धन, बिना सम्पत्ति के जरायमपेशा डाकुओं से और जिघत्सु अर्थात् दूसरों को खा जाने वाले हिंसक जन्तुओं से रक्षा करें।

शतं तेयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ २१ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरी आयु के (शतं हायनान्) सौ वर्षों को हम बढ़ा कर (अयुतं हायनान्) एक सहस्र वर्ष तक बढ़ादें। और (द्वे युगे) दो युगों के जीवन को (त्रीणि चत्वारि) तीन और चार युगों तक का लम्बा जीवन (कृण्मः) करते हैं। (इन्द्राग्नी) इन्द्र परमेश्वर और अग्नि, ज्ञानी पुरुष और (विश्वे देवाः) समस्त देव विद्वान् लोग (अहृणीयमानाः) विना संकोच, लज्जा और रोष के (ते) तेरी इतनी लम्बी आयु को (अनु मन्यन्ताम्) स्वीकार करें।

शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः ॥ २२ ॥

भा०—हे रुष ! हम (शरदे) शरद् (हेमन्ताय) हेमन्त (वसन्ताय) वसन्त (ग्रीष्माय) और ग्रीष्म ऋतु के उपभोग के लिये

२१–(द्वि०) 'चत्वारि सन्तु' (तृ०) 'विश्वे देवा अनु' इति पैप्प० सं०।
२२–(द्वि०) 'परिदध्मसि' इति पैप्प० सं०।

(त्वा) तुझको (परिदद्मसि) सब प्रकार से स्वतन्त्र करते हैं । और (येषु) जिन कालों में (ओषधीः) ओषधियां (वर्धन्ते) बढ़ती हैं सर्वत्र हरियाली ही हरियाली छा जाती हैं वे (वर्षाणि) वर्षा काल के दृश्य भी (तुभ्यम्) तेरे लिये (स्योनानि) सुखकारी हों ।

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम् ।
तस्मात् त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः ॥ २३ ॥

भा०—(मृत्युः) मृत्यु (द्विपदाम्) दुपायों पर भी (ईशे) बलशाली है और (मृत्युः) मृत्यु (चतुष्पदाम् ईशे) चौपायों पर भी बलशाली है, उन पर भी वह शासन करता है । इसलिये हे पुरुष ! (गोपतेः) पशुओं के और उनके समान भयातुर अज्ञानी प्राणियों के स्वामी (तस्मात्) उस (मृत्योः) मृत्यु के पाश से मैं (त्वा) तुझे (उद्-भरामि) ऊपर उठाता हूँ । (सः) वह तू ज्ञानवान् होकर मृत्यु से (मा बिभेः) मत डर ।

सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः ।
न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ॥ २४ ॥

भा०—हे (अरिष्ट) हिंसा से मुक्त अविनाशी आत्मन् ! पुरुष ! (सः) तू वह, इस शरीर से सर्वथा पृथक्, चैतन्य आत्मा है । तू (न मरिष्यसि) कभी नहीं मरेगा । (न मरिष्यसि) तू निश्चय से कभी न मरेगा । अतः (मा बिभेः) तू भय मत कर । (तत्र) उस परम पद चैतन्य रूप में प्राप्त होकर ज्ञानी मुक्त पुरुष (न वै म्रियन्ते) निश्चय से नहीं मरते (नो) और न (अधमं तमः) अधम, नीचे के अन्धकारमय नरक लोक को ही (यन्ति) जाते हैं ।

२३–(च०) 'उद्भरामि स मा मृताः [थाः]' इति पैप्प० सं० ।
२४–'न वै प्र म्रियन्ते' इति पैप्प० सं० ।

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः ।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥ २५ ॥

भा०—(यत्र) जिस देश और जिस काल में (इदम्) यह (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान (जीवनाय) जीवन की रक्षा के लिये (परिधिः) अपना प्रकोट या दुर्ग के समान (क्रियते) बना लिया जाता है (तत्र) वहां (वै) निश्चय से (गौः अश्वः पुरुषः पशुः) गौ, अश्व, मनुष्य और पशु सब जीव (जीवति) जीते रहते हैं ।

परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सबन्धुभ्यः ।
अमम्रिर्भवामृतोऽतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरम् ॥ २६ ॥

भा०—हे पुरुष ! पूर्व मन्त्र में कहा हुआ ब्रह्मज्ञानमय दुर्ग (त्वा) तुझको (समानेभ्यः) तेरे समान बल, विद्या और आयु वाले पुरुषों और (सबन्धुभ्यः) साथ रहने वाले बन्धुजनों की ओर से होने वाले (अभिचारात्) आक्रमण से (परि पातु) रक्षा करे । तू (अमम्रिः) कभी न मरनेवाला अविनाशी (अमृतः वा) और अमृत, अमर जीवात्मा है तू (अतिजीवः) अन्य सामान्य जीवों की दशा को अपने ज्ञानबल से पार कर लेता है अतः (ते शरीरम्) तेरे शरीर को (असवः) प्राण (मा हासिषुः) कभी परित्याग न करें ।

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः ।
मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि ॥ २७ ॥

भा०—(ये) जो (एक-शतम्) एक सौ एक (मृत्यवः) मृत्युएं हैं और (याः) जो (अति-तार्याः) पार करने योग्य (नाष्ट्राः) नाशकारिणी

२६–(द्वि०) सुगन्तुभ्यः' इति पैप्प० सं० ।

२७–(द्वि०) 'नाष्ट्रात्ता' (तु–) जीव्याः' इति पैप्प० सं० ।

अविद्या ग्रन्थियां हैं (वैश्वानरात्) समस्त जीवों के भीतर व्यापक (अग्नेः) प्रकाशमय प्रभु के (अधि) बल पर या उसकी तरफ से प्रतिनिधि होकर (देवाः) ज्ञानी पुरुष (त्वा) तुझे (तस्मात्) उनसे (मुञ्चन्तु) छुड़ावें।

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा ।
अथो अमीवचातनः पूतुद्रुर्नाम भेषजम् ॥ २८ ॥ [५]

भा०—हे ब्रह्मन्! या हे आत्मन्! पुरुष! तू स्वयं (अग्नेः) उस ज्ञानमय आत्मा का (शरीरम् असि) शरीर है। तू स्वयं (पारयिष्णु) इस क्लेशमय संसार के पार करने में समर्थ, (रक्षोहा) समस्त विघ्नों और विघ्नकारी दुष्टों का नाशक और (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक (असि) है (अथो) और तू (अमीव-चातनः) समस्त रोगों, क्लेशों का नाशक है। तू ही (पूतुद्रुः) इस शरीर रूप वृक्ष को सदा पवित्र करनेवाला (भेषजम्) सब भव रोगों का परम औषध है।

ब्रह्म के विषय में—(पूतुद्रुः) इस महान् ब्रह्माण्डमय वृक्ष को पवित्र करने वाला है। अथवा 'ऊर्ध्व मूलो अवाक्शाखः एषोऽश्वत्थः सनातनः,' इत्यादि प्रतिपादित पवित्र वृक्षस्वरूप ब्रह्म ही भवरोग का परम औषध है।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वे सूक्ते, एकोनपञ्चाशदृचः]



[३] प्रजा-पीड़कों का दमन ।

चातन ऋषिः । अग्निर्देवता, रक्षोहणन् सूक्तम् । १,६,८,१३,१५,१६,१८,२०, २४ जगत्यः, ७,१४,१७,२१,१२ भुरिक्, २५ बृहतीगर्भा जगती । २२,२३ अनुष्टुभौ । २६ गायत्री । षड्विंशर्चं सूक्तम् ॥

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुपयामि शर्म ।
शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु
नक्तम् ॥ १ ॥ ऋ० १० । ८७ । १ ॥

भा०—मैं (वाजिनम्) बलवान् (रक्षोहणम्) राक्षस, विघ्नकारी पुरुषों के नाशक पुरुष को (आजिघर्मि) और भी अधिक प्रबल करता हूँ । और (प्रथिष्ठम्) उस महान् से भी महान् (मित्रम्) मरणसे बचाने वाले प्रजा के पालक, प्रजा के मित्र राजा की (शर्म) शरण को (उपयामि) प्राप्त होता हूँ । वह (अग्निः) अग्नि के समान शत्रु का तापक परंतप, (शिशानः) निरन्तर तीक्ष्ण स्वभाव का होकर (क्रतुभिः) अपने कर्मों द्वारा (समिद्धः) प्रदीप्त, उज्ज्वल, कीर्त्तिमान् होकर (सः) वह (नः) हमें (रिषः) हिंसक पुरुष से (दिवा नक्तम्) दिन और रात (पातु) रक्षा करे ।

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः ।
आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि धत्स्वासन् ॥२॥
ऋ० १० । ८७ । ८ ॥

भा०—हे (जातवेदः) समस्त प्रजाजनों के जानने हारे अग्नि के समान राजन् ! तू (समिद्धः) भड़कती आग के समान राज्य आदि ऐश्वर्य और उसके उचित तेज और सामर्थ्य से प्रदीप्त होकर (अयोदंष्ट्रः) अपनी लोहों की दाढ़ों से, शस्त्रों से सुसज्जित होकर (अर्चिषा) अपने तेज से (यातु-धानान्) प्रजा के पीड़क एवं दण्डनीय पुरुषों को (उपस्पृश) छू, उनको ही ज्वाला से जला और (मूरदेवान्) मूढ़ अज्ञानी विषय भोगों

[२] १–ऋग्वेदेऽस्य सूक्तस्य पायुर्ऋषिः । अग्नी रक्षोहा देवता ।
२–(च०) 'क्रव्यादो वृक्त्व्यपिधत्स्वासन्' इति ऋ०। 'क्रव्यादो धृष्ट्वा' इति सायणाभिमतः पाठः । (च०) 'आपिदत्स्वासन्' इति पैप्प० सं० ॥

के व्यसनी लोगों या जुआखोर लोगों को (जिह्वया) पकड़ने वाली शक्ति से या लोभ भरी जीभ के रस से (आरभस्व) उनको फांस, अपने वश कर और (क्रव्यादः) कच्चा मांस खा जाने वाले हिंसक, पुरुषों और पशुओं के (आसनि) मुखों पर (वृष्ट्वा)[1] बांधकर (अपि-धत्स्व) उनको कैदखाने में बन्द करके रख ।

मूरदेवाः—मारकव्यापाराः राक्षसाः इति सायण ऋ० भाष्ये। मूलेन औषधेन दीव्यन्ति परेषां हननाय क्रीडन्ति अथवा मूढाः कार्याकार्यविभाग-बुद्धिशून्याः सन्तो ये दीव्यन्ति इति सायणोऽथर्वभाष्ये। अर्थात् हिंसक राक्षस या विष औषधों से दूसरों को मार के मज़ा लूटने वाले या कार्याकार्य को न जानकर विवेक रहित होकर जूआ खेलने वाले। ग्रीफ़िथ के मत में 'Foolish Gods' adorers' मूर्ख देवों के पूजने वाले। वस्तुतः—'मूरदेवान् क्रव्यादः जिह्वया आरभस्व' और 'आसन् वृष्ट्वा अपिधत्स्व' अर्थात् मूढ़ होकर व्यसनों में खेलने वाले जीवों को जिह्वा के रस से फांस ले और जब वे मांस पर लपकें तब उनका मुख बांधकर कटघरे में बंद करदे। इसी विधि से शेर आदि मांसखोर जन्तु पकड़े जाते हैं। इसी विधि से लोभी क्रूर लोगों को वश करना चाहिये। अन्य भाष्यकारों ने जिह्वा और मुख का सम्बन्ध अग्नि से माना है सो असंगत है।

ऋग्वेद में—'वृक्त्वी अपिधत्स्व आसन्' पाठ है अर्थात् उनके मुख में छेद करके उनको बांध ले। जैसे पशुओं को हरा घास दिखाकर नाक छेद लिया जाता या रीछ को काबू किया जाता है।

उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोवरं परं च ।
उतान्तरिक्षे परि याह्यग्ने जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान् ॥ ३ ॥
ऋ० १० । ८७ । ३ ॥

१. वृष शक्तिबन्धने (चुरादिः) ।

३–(प्र०) 'उपधेहि दंष्ट्रा' (तृ०) 'परिपाहि राजन्' इति ऋ० । (प्र०)

भा०—हे अग्ने ! राजन् ! हे (उभयाविन्) अच्छे और बुरे, उत्तम और अधम सबकी प्रजा रूप से रक्षा करनेहारे राजन् ! तू स्वयं (हिंस्रः) दुष्टों का हिंसक होकर (शिशानः) अति तीक्ष्ण स्वभाव होकर उस दुष्ट पुरुष के (वरं परं च) नीचे और ऊपर के (उभा) दोनों (दंष्ट्रौ) दाढ़ों को (उपधेहि) अपने वश कर (उत) और (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (परि याहि) विचरण कर और (यातुधानान्) पोड़ाकारी दुष्ट पुरुषों को (जम्भैः) हननकारी, पीड़क या उनको फांस लेने वाले उपायों से (अभि संधेहि) पकड़, अपने वश कर ।

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम् ।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात् क्रविष्णुर्वि चिनोत्वेनम् ॥४॥
ऋ० १० । ८७ । ५ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! शत्रुनाशक राजन् ! तू (यातुधानस्य) प्रजा को पीड़ा देने वाले दुष्ट डाकू पुरुष की (त्वचम्) खाल को (भिन्धि) शरीर से कटवा २ कर छिलवा दे । (हिंस्राशनिः) उसको मार डालने वाली विद्युत् (हरसा) प्राण हरण करने वाले धक्कों से (एनं हन्तु) उसको मार डाले । और उसके (पर्वाणि) पोरु २ को हे (जातवेदः) प्रज्ञावन् राजन् ! (शृणीहि) कटवा डाल । और (क्रविष्णुः) मांस का भूखा (क्रव्यात्) मांसाहारी जन्तु (एनम्) दुष्ट पुरुष को (विचिनोतु) नाना प्रकार से नोच २ कर खा जाय ।

प्रजापीड़कों को राजा विचित्र दण्ड दे जैसे—उसकी खाल छिलवा दे, विजली के धक्कों से मरवा दे, पोरू २ कटवादे या भूखे शेर चीतों से फड़वा दे । जिससे उसको अपने किये अत्याचारों का प्रतिफल मिले और अपने से पीड़ितों के कष्टों का भी ज्ञान हो ।

'उपदेहि' (च०) 'अपि यातु' इति पैप्प० सं० ।
४–(प्र०) 'विचिनोतु वृक्णम्' इति ऋ० ।

यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम् ।
उतान्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः ॥ ५ ॥

ऋ० १० । ८७ । ६ ॥

भा०—हे (जातवेदः) विद्वान् राजन्! (यत्र इदानीम्) जहाँ कहीं भी और जब कभी भी (तिष्ठन्तम्) खड़े हुए, (चरन्तम्) विचरते हुए (उत) और (अन्तरिक्षे पतन्तम्) अन्तरिक्ष में, आकाश मार्ग से जाते हुए (यातुधानम्) पीड़ाकारी दुष्ट पुरुष को (पश्यसि) देखे, तभी और उसी स्थान पर तू (शिशानः) अतितीक्ष्ण (अस्ता) शरों के फेंकने में सावधान और (शर्वा) हिंसक, घातक अस्त्र, बाण या गोली से (तम्) उसको (विध्य) वेध डाल, मार डाल, यदि किसी प्रकार वश में न आता हो और छिपता फिरता हो तो जहाँ भी मिले वहां ही उसको गोली का शिकार किया जाय । राजा स्वयं तो क्या करेगा? वह (अस्ता) धनुर्धर बाण फेंकने और गोली चलाने वाले पुरुषों या (शर्वा, शिशानः) तीक्ष्ण हिंसक पुरुषों को लगा कर उनसे मरवा डाले ।

यज्ञैरिषूः संनममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः ।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान् प्रतीचो बाहून् प्रति भङ्ध्येषाम् ॥ ६ ॥

ऋ० १० । ८७ । ४ ॥

भा०—यदि दुष्ट पुरुष बहुत से मिल कर गिरोह बना कर प्रजा का पीड़न करें तो हे (अग्ने) अग्नि के समान शत्रुपीड़क राजन्! तू भी (यज्ञैः) संगति करके एकत्र हुए सैनिकों द्वारा (इषूः) बाणों को (संनममानः) उन पर फेंकता हुआ और (वाचा) अपनी वाणी से या

५–(तृ०) 'यद् वान्तरिक्षेपथिभिः पतन्त' इति ऋ० । (च०) 'त्रिद्धि-शर्वा' इति पैप्प० सं० ।

६–(द्वि०) 'शल्यम् अश' इति पैप्प० सं० ।

हुक्म से (शल्यान्) तीक्ष्ण शल्य, कांटों, कीलों और लोहे के तीखे टुकड़ों को (अशनिभिः) बिजली के समान बल से फूटने वाले अशनि नाम आग्नेयास्त्र या बाम्ब के गोलों द्वारा (दिहानः) खूब प्रबल, वेगवान करके (ताभिः) उन से (प्रतीचः) अपने विरुद्ध युद्ध में आये (यातुधानान्) दुष्ट राक्षस पुरुषों को (हृदये विध्य) उनके छाती में वेध डाल । और (एषाम्) उनके (बाहून्) हाथों और बाजुओं को (प्रति भङ्ग्धि) तोड़ डाल ।

उतारब्धान्स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणाँ ऋष्टिभिर्यातुधानान् ।
अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमादः क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनीः ॥७॥

ऋ० १० । ८७ । ७ ॥

भा०—हे (जातवेदः) अग्ने ! प्रजाजनों के जानने हारे विद्वान् राजन् ! (उत) और तू (आरब्धान्) पकड़े हुए (उत) और (आरेभाणान्) सर्वत्र कोलाहल करते हुए (यातुधाना) प्रजापीड़क पुरुषों को (ऋष्टिभिः) ऋष्टि नामक तीक्ष्ण धार वाले शस्त्रों द्वारा, संगीन-धारी सिपाहियों की रखवाली में (स्पृणुहि) उनको रख । और हे (अग्ने) अग्नि के समान दुष्टपीड़क ! (पूर्वः) सब से श्रेष्ठ तू (शोशुचानः) अपनी दीप्ति से प्रकाशमान होकर उन प्रजापीड़कों को (नि जहि) सर्वथा मार डाल । और या (आमादः) कच्चा मांस खाने वाली (एनीः) लाल काली (क्ष्विङ्काः) चीलें (एनम्) इसको (अदन्तु) खाजाएं । राजा दुष्टों को संगीनों के पहरे में रक्खे, या उन को तुरन्त ही विनाश करे या चीलों से नुचवा डाले ।

७–(प्र०, द्वि०) 'उतालब्धं स्पृणुहि' 'जातवेद आलेभानादृष्टिभिर्यातुधानात्' इति ऋग्वेदे ॥ (च०) 'श्वङ्कास्तम' इति सायणाभिमतः पाठः । (प्र०) 'उतालब्धान्' (द्वि०) 'जातवेद आरेभाणान्' इति पैप्प० सं० ।

इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यातुधानो य इदं कृणोति ।
तमा रभस्व समिधा यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम् ॥ ८ ॥
ऋ० १० । ८७ । ८ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (यः) जो भी (यातुधानः) प्रजा को पीड़ा पहुँचाने वाला पुरुष (इदम्) इस प्रकार का पीड़ाजनक कार्य (कृणोति) करे तू (इह) इस राष्ट्र में (प्र ब्रूहि) भली प्रकार सब को जनादे कि (यतमः सः) वह अमुक दुष्ट पुरुष है । जिससे लोग उसके बुरे काम को जान कर उससे सावधान रहें और वह लोगों के सामने अपने बुरे काम के लिये लज्जित हो । और (तम्) उसको (आरभस्व) पकड़ ले । (समिधा) और हे बलशालिन् ! तू अपने अति प्रदीप्त अग्नि की ज्वाला के समान तेज से और (नृचक्षसः) सब मनुष्यों के ऊपर देखने वाले न्यायशील राजा की (चक्षुषा) दृष्टि से प्रजा पर उसके अत्याचारों को तोल कर प्रजा के हित के लिये (एनम्) उस दुष्ट पुरुष को (रन्धय) विनाश कर, दण्ड दे, जला डाल ।

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः ।
हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन् यातुधाना नृचक्षः ॥ ९ ॥
ऋ० १० । ८७ । ९ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! तू अपने (तीक्ष्णेन) तीखी (चक्षुषा) आँख से अपने तीक्ष्ण निरीक्षण से (यज्ञम्) इस यज्ञ को जिसमें लक्षों करोड़ों प्राणी संगठित रूप में रहते हैं उसकी (रक्ष) रक्षा कर, और हे (प्रचेतः) उत्कृष्ट ज्ञानसम्पन्न राजन् ! (वसुभ्यः) इसमें बसनेवाली प्रजाओं के

८–(द्वि०) 'य इदं कृणोषि' (तृ०) 'समिधायविष्ठ्य' इति सायणाभिमतौ पाठौ । (द्वि०) 'यो यातुधानो' इति ऋ० पैप्प० सं० ।
९–(तृ०) 'हिंस्रा रक्षांसि' इति पैप्प० सं० ।

लिये (प्राञ्चम्) उत्कृष्ट, उत्तम श्रेणी का राष्ट्र (प्र णय) बना अथवा इस यज्ञमय राष्ट्र को या राज्यव्यवस्था को (प्राञ्चम् प्रणय) उन्नत दशा पर, ज्ञानमय मार्ग पर ले चल। (हिंस्रम्) हिंसक, प्रजा के प्राण घातक पुरुषों और (रक्षांसि) प्रजा के कार्यों में और प्रजाओं को उत्तम फल प्राप्त करने में विघ्नकारी लोगों को (अभि शोशुचानम्) सब प्रकार से संताप देते हुए (त्वा) तुझको हे (नृचक्षः) प्रजा के निरीक्षक! राजन्! (यातुधानाः) वे पीड़ाजनक दुष्ट लोग (मा दभन्) विनाश न करें।

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा।
तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च॥१०॥(८)

ऋ० १० । ८७ । १० ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन्! परन्तप! तू (नृचक्षाः) प्रजा के हित पर निरन्तर दृष्टि रखता हुआ (विक्षु) अपनी प्रजा में विचरते हुए (रक्षः) प्रजा के सुख और उन्नति के कार्य में विघ्न डालने और प्रजा को पीड़ा देनेवाले दुष्ट पुरुष को अवश्य (परि पश्य) देख, उस पर सदा चक्षु रख। और (तस्य त्रीणि अग्रा) उसके तीन अग्रगामी लोगों को (प्रति शृणीहि) विनाश कर। हे (अग्ने) राजन्! और (तस्याः) उसके पीठ की पृष्टीः पसुलियों को अर्थात् उसके पास के सहयोगी जो सदा उसके पक्ष पोषक हैं उनको (हरसा) अपने हरण सामर्थ्य से अर्थात् कैद में डालनेवाले पोलिस विभाग से भयभीत करके या पकड़ कर (शृणीहि) विनाश कर। और इसी प्रकार (यातुधानस्य) प्रजापीड़क लोगों के (त्रेधा) तीन प्रकार के (मूलम्) मूल को, अड्डे को (त्रेधा) तीन प्रकार से ही (वृश्च) काट डाल।

पीड़ादायी दुष्ट आदमी के तीन अग्र–शक्ति, धन और जन।

११–(च०) 'मृणते नितृन्धि' इति ऋ०; सायणाभिमतश्च।

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति।
तमर्चिषा स्फूर्जयन् जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि युङ्ग्धि ॥११॥
ऋ० १०। ८७। १०॥

भा०—हे (अग्ने) राजन्! (यः) जो दुष्ट पुरुष (अनृतेन) असत्य से (ऋतम्) सत्य को (हन्ति) मारता है वह (यातुधानः) प्रजा का पीड़क दुष्ट पुरुष 'यातुधान', राक्षस है। वह (ते) तेरे (प्रसितिम्) बन्धन में (त्रिः) तीनों प्रकार से या तीन बार (एतु) आवे यदि फिर भी बाज न आवे तो हे (जातवेदः) अग्ने ज्ञानवान् राजन्! (तम्) उसको (अर्चिषा) आग से (स्फूर्जयन्) तड़पाता हुआ, (समक्षम्) सबके सामने (एनम्) उसको (गृणते) अपनी पीड़ा प्रकट करनेवाले प्रजाजन के हित के लिये (नि युङ्धि) दण्ड दे, उसका निग्रह कर।

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद् वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः।
मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान् ॥१२॥
ऋ० १०। ८७। १३॥

भा०—हे (अग्ने) राजन्! (यत् अद्य) जब कभी (मिथुना) दोनों स्त्री पुरुष, गृहस्थ लोग (शपातः) दुःखित होकर किसी को गालियाँ देवें, बुरा भला कहें, रोवें चीखें और (यत्) जब (रेभाः) विद्वान् लोग भी (वाचः) वाणी का (तृष्टम्) कटु रूप (जनयन्त) उत्पन्न करें अर्थात् तीखी हृदयवेधी वाणियें बोलें तब उन गृहस्थों और विद्वान् पुरुषों की दयनीय दुःखवेदना देखकर हे राजन्! (या) जो (मन्योः) मन्यु रूप तेरे (मनसः) मन से जो (शरव्या) तीव्र बाण के समान क्रोध की ज्वाला (जायते) प्रकट होती है (तया) उससे (यातुधानम्) प्रजा के पीड़क पुरुषों को (विध्य) विनाश कर।

१२–(च०) 'तया विद्धि' इति पैप्प० सं०।

राज्य में गृहस्थ, नरनारी और विद्वान् पुरुषों के आर्त्तनाद पर राजा ध्यान दे और उनको दुःख देनेवाले दुष्ट लोगों को पकड़ कर मनमाना दण्ड दे।

परा॑ शृणीहि॒ तप॑सा यातु॒धाना॒न् परा॑ग्ने॒ रक्षो॒ हर॑सा शृणीहि।
परा॒र्चिषा॒ मूर॑देवान् छृणीहि॒ परा॑सु॒तृपः॒ शोशु॑चतः शृणीहि ॥१३॥
ऋ० १० । ८७ । १४ ॥

भा०—हे अग्ने ! राजन् ! (यातुधानान्) प्रजापीड़क पुरुषों को (तपसा) अपने संतापकारी तेज या शस्त्र से (परा शृणीहि) अच्छी प्रकार विनाश कर और (हरसा) विनाशक वज्र से (रक्षः) राक्षस, दुष्ट पुरुष को (परा शृणीहि) अच्छी प्रकार विनाश कर। और (मूर-देवान्) मूढ़ देवों को माननेवाले, प्रतिमापूजक, पाखण्डी, या दूसरों को मारने के व्यसनी अथवा मूढ होकर व्यसनों में मजा लेनेवाले लोगों को (अर्चिषा) आग की ज्वाला से (परा शृणीहि) अच्छी प्रकार विनाश कर और (असु-तृपः) दूसरों का प्राण लेकर अपना पेट भरनेवाले प्राणघातक डाकुओं को (शोशुचतः) शोक विलाप करते हुए भी (पराशृणीहि) खूब अच्छी प्रकार विनाश कर कि वे फिर अपनी दुष्टता न करें। अथवा 'अर्चिः' 'हरः' और 'तपः' ये तीन प्रकार के शस्त्र, अस्त्र हैं जिनसे दूर से ही प्रहार कर दिया जाता है उन तीनों प्रकार के अस्त्रों से उनको (परा-शृणीहि) इतना अधिक दण्ड दिया जाय कि 'परा' अर्थात् हद हो जाय और वे फिर भी दुष्टता को त्याग कर सन्मार्ग पर लौट आवें।

परा॒द्य दे॒वा वृ॑जि॒नं शृ॑णन्तु प्र॒त्यगे॑नं श॒पथा॑ यन्तु सृ॒ष्टाः।
वा॒चास्ते॑नं॒ शर॑व ऋच्छन्तु म॒र्मन् विश्व॑स्यैतु॒ प्रसि॑तिं यातु॒धानः॑ ॥१४॥
ऋ० १० । ८७ । १५ ॥

१३–(च०) 'परासुतृपो अभिशोशुचानः' इति ऋ०।

१४–'तृष्टाः' इति सायणाभिमतः।

भा०—(अद्य) आज सदा ही (देवाः) विद्वान्, अधिकारीगण या राजा लोग (वृजिनम्) पाप और पापी प्राणघातक और सत्कार्य-विनाशक राक्षस को (परा शृणन्तु) अच्छी प्रकार मारें । और (सृष्टाः) किये गये अथवा (तृष्टाः) तीखे (शपथाः) निन्दावचन (एनम्) उस दुष्ट (प्रत्यग्) पर ही (यन्तु) जाएँ। और (वाचा स्तेनं) वाणी द्वारा छल कर चोरी करनेवाले को (शरवः) हिंसक बाण (मर्मन्) उस के मर्मस्थानों में ऋच्छन्तु) लगें, मारे जावें। और (यातुधानः) प्रजापीड़क आदमी (विश्वस्य) सबके (प्रसितिम्) बन्धन को (एतु) प्राप्त हो अर्थात् ऐसे पुरुष को सब कोई बाँध लें ।

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः ।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥१५॥
ऋ० १० । ८७ । १६ ॥

भा०—(यः) जो आदमी (पौरुषेयेण) आदमी के (क्रविषा) माँस से (सम् अङ्क्ते) अपने को पुष्ट करता है, और (यः) जो (यातु-धान) पीड़ादायक पुरुष (अश्व्येन) घोड़े आदि पशु के माँस से या (पशुना) पशु के माँस से अपने को पुष्ट करता है । और (यः) जो (अघ्न्यायाः) न मारने योग्य गाय के (क्षीरम्) दूध को (भरति) चुरा लेता है ऐसे २ (तेषाम्) उन प्रजापीड़क लोगों के (शीर्षाणि) सिरों को (हरसा) अपने हरणशील शस्त्र या क्रोध से (अपि वृश्च) काट ले ।

विषं गवां यातुधाना भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः ।
परैणान् देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम् ॥१६
ऋ० १० । ८७ । १८ ॥

१५–'अघ्न्याया भरत' इति पैप्प० सं० ।
१६–'यातुधानाः पिबन्तु' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'वृश्च्यन्तां' (तृ०)

भा०—यदि (यातुधानाः) प्रजापीड़क लोग (गवाम्) गौ आदि पशुओं को (विषम्) विष (भरन्ताम्) दें और उनको मार डालें और यदि (दुरेवाः) दुष्ट चालचलन के लोग (अदितये) गाय को (आ वृश्चन्ताम्) काटें तब (देवः) राजा (सविता) सबका प्रेरक (एनान्) इनको (परा ददातु) राज्य से दूर करे या इनका सर्वस्व हर ले और वे (ओषधीनाम्) अन्न आदि और रोगनाशक ओषधियों के (भागम्) भाग जीवनोपयोगी अंश को भी (परा जयन्ताम्) न पा सकें। अर्थात् पशुनाशक लोगों का सर्वस्व लेकर राजा देश से निकाल दे और वे अन्न और औषध न पा सकें और रोगों से मरें।

संवत्सरीणं पयं उस्रियायास्तस्य माशीद् यातुधानो नृचक्षः।
पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात् तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मणि ॥१७॥

ऋ० १० । ८७ । १७ ॥

भा०—हे (नृचक्षः) समस्त प्रजाओं के ऊपर अपनी कृपादृष्टि से देखने हारे राजन् ! (यातुधानः) प्रजापीड़क आदमी (उस्रियायाः) गाय का (संवत्सरीणम्) वर्ष भर में उत्पन्न होनेवाला जितना (पयः) ध है (तस्य) उसके किसी अंश को भी (मा आशीत्) वह न खा सके। हे (अग्ने) राजन् ! और (यतमः) दुष्ट पुरुषों में से कोई भी (पीयूषम्) गोदुग्ध रूप अमृत को (तितृप्सात्) भरपेट पावे तो (तम्) उसको (प्रत्यञ्चम्) सबके सामने (अर्चिषा) अग्नि की जलती लपट से (मर्मणि विध्य) उसके मर्मस्थान में मार, उसको तपे लोहे के छड़ों से मर्म स्थानों में मारा जाय।

'परैनान्देवः' इति० ऋ० । (द्वि०) 'मृद्व्यन्ताम्' इति पैप्प० सं०।
१७–(च०) 'विध्य मर्मन्' इति ऋ० । विधि (द्वि) मर्मन् इति पैप्प० सं०।

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
सहमूराननु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ १८ ॥

ऋ० १० । ८७ । १९ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! तू (यातुधानान्) प्रजापीड़कों को (सनात्) सदा से ही (मृणसि) विनाश करता आता है (त्वा) तुझे (रक्षांसि) राक्षस लोग (पृतनासु) संग्रामों में भी (न जिग्युः) न जीत पावें । (क्रव्यादः) मांसखोर (सहमूरान्) मूढ़ लोगों, घातक अज्ञानी लोगों के साथ ही (अनु दह) अपने वश में करके भस्म कर डाल (ते दैव्यायाः) तेरे दिव्य गुणयुक्त और राजकीय (हेत्याः) दण्डकारी शस्त्र से (ते) वे दुष्ट पुरुष (मा मुक्षत) बचने न पावें ।

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात् ।
प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु ॥ १९ ॥

ऋ० १० । ८७ । २० ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (त्वम्) तू (नः) हमें (अधरात्) नीचे से, (उदक्तः) ऊपर से, (पश्चात्) पीछे से (उत) और (पुरस्तात्) आगे से (रक्ष) रक्षा कर । (ते) तेरे (त्ये) वे नाना प्रकार के (शोशुचतः) अति दीप्त, चमचमाते, प्रकाशमान (अजरासः) कभी क्षीण न होने वाले (तपिष्ठाः) संतापकारी अस्त्र शस्त्र (अघशंसम्) पाप की बात कहने वाले निन्दक, पापप्रचारक पुरुष को (प्रति दहन्तु) जला डालें ।

१८–(तृ०) 'अनुदह सहमूरान्' इति ऋ० ।

१९–(प्र०) 'अधरादुदक्तात्' (तृ०) 'प्रति ते ते' इति ऋ० ।

पश्चात् पुरस्तादधरादुतोत्तरात् कविः काव्येन परि पाह्यग्ने ।
सखा सखायमजरो जरिम्णे अग्ने मर्त्ताँ अमर्त्यस्त्वं नः ॥२०॥ (७)

ऋ० १० । ८७ । २१ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (काव्येन) विद्वान्, क्रान्तदर्शी पुरुष या परमेश्वर के बताये ज्ञान के व्यवस्थापुस्तक या दण्डविधान के कानून ग्रन्थ से स्वयं (कविः) क्रान्तदर्शी विद्वान् होकर (पश्चात्) पीछे से, (पुरस्तात्) आगे से, (अधरात् उत उत्तरात्) नीचे और ऊपर से (परिपाहि) हमारी रक्षा कर । तू समस्त प्रजा का (सखा) मित्र होकर हे (अग्ने) राजन् ! (जरिम्णे) अति वृद्धावस्था के काल तक (सखायम्) अपने मित्र रूप प्रजाजन को (पाहि) बचा। और (अमर्त्यः) अविनाशी होकर तू (नः) हम (मर्त्तान्) मरणधर्मा मनुष्यों को (परि पाहि) सब प्रकार से परिपालन कर ।

तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजो येन पश्यसि यातुधानान् ।
अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष ॥२१॥

भा०—हे (अग्ने) हे अग्ने ! राजन् ! तू (येन) जिससे (शफारुजः=शपारुजः) प्रजाजन को गालियों और निन्दाजनक वचनों से पीड़ित करनेवाले (यातुधानान्) दुष्ट प्रजापीड़क पुरुषों को (पश्यसि) देखता है । (रेभे) व्यर्थ कोलाहल करनेवाले बकवादी, पागल के समान बकने वाले पुरुष पर भी (तत्) वही (चक्षुः) सूक्ष्मदर्शी आँख (प्रतिधेहि) रख । और तू (अथर्ववत्) अहिंसक रक्षक प्रजापति के समान (दैव्येन ज्योतिषा) दैव्य, दिव्य विद्वानों के ज्ञानमय ज्योति या तेज से (सत्यम्)

२०–(प्र०) 'अधरादुदक्तात्', (द्वि०) 'परिपाहिराजन्' (तृ०) 'सखे सखाय' (च०) 'जरिम्णेऽग्ने' इति ऋ० ।

२१–(द्वि०) शफारुं जयेन' इति ऋ० ।

ठीक २ यथार्थ रूप से (अचितम्) अपुष्ट, निर्बल या मूर्ख, ज्ञानरहित (धूर्वन्तम्) धूर्त्तता करनेवाले, छली, कपटी, असत्यवादी या हिंसक पुरुष को (नि ओप) सब प्रकार से जला, संतप्त कर ।

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्रं॑ सहस्य धीमहि ।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑तः ॥ २२ ॥
ऋ० १० । ८७ । २२॥

भा०—हे (अग्ने) शत्रुसंतापक ! हे (सहस्य) शत्रु को या दुष्टों को दमन करनेवाले बल से उत्पन्न राजन् ! (वयम्) हम लोग (पुरम्) सबके पालक (विप्रम्) मेधावी, ज्ञानवान्, (धृपद्वर्णम्) प्रगल्भ, उन्नत वर्ण या पदपर अधिष्ठित शत्रु के धर्पक, (भंगुरावतः) प्रजा के पीड़क लोगों के (हन्तारम्) विनाशक (त्वा) तुझको (दिवे दिवे) प्रति दिन (परिधीमहि) घेरे रहें, आश्रय करें । [देखो का० ७ । ७१ । १]

वि॒षेण॑ भङ्गु॒राव॑तः॒ प्रति॑ स्म र॒क्षसो॑ जहि ।
अग्ने॑ ति॒ग्मेन॑ शो॒चिषा॒ तपु॑रग्राभिर॒र्चिभि॑ः ॥ २३ ॥
ऋ० १० । ८७ । २३ ॥

भा०—(विपेण) विप से (भंगुरावतः) प्रजा को पीड़न करने वाले (रक्षसः) दुष्ट पुरुषों को, हे (अग्ने) राजन् ! अपने (तिग्मेन) तीक्ष्ण (शोचिषा) तेज से स्वयं (तपुरग्राभिः) अग्नि से संतप्त अगले फलों वाले, अति भयंकर (अर्चिभिः) दीप्त ज्वालाओं से (प्रति जहि स्म) विनाश कर । (भंगुरावतः विपेण प्रतिजहि स्म) दुष्ट पुरुषों को विषसे मार ।

२२–'भंगुरावताम्' इति ऋ०, पैप्प० सं० । विशेषा पाठभेदा अथर्व० ७ । ७१।१ 'अस्याष्टिप्पण्यां द्रष्टव्याः ।

२३–(द्वि०) 'प्रति ष्म रक्षसो दह,–'ग्राभिर्ऋष्टिभिः' इति ऋ० । 'अग्ने शुक्रेण' इति पैप्प० सं० ।

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा ।
प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षोभ्यो विनिक्षे ॥२४॥
ऋ० ५ । २ । ९ ॥

भा०—(अग्निः) प्रकाशमान सूर्य जिस प्रकार (बृहता) बड़े विशाल (ज्योतिषा) तेज से (विभाति) विविध रूप से प्रकाशमान होता है और (महित्वा) अपने महान् सामर्थ्य से (विश्वानि) संसार के समस्त पदार्थों को (आविः कृणुते) प्रकाश से प्रकाशित करता और प्रकट करता है और जिस प्रकार परमेश्वर अपने बड़े भारी तेज से नाना सूर्यों में प्रकाशमान है और सब पदार्थों को अपने सामर्थ्य से प्रकट करता है उसी प्रकार यह (अग्निः) राजा भी अपने (बृहता ज्योतिषा) बड़े भारी तेज से (विभाति) नाना प्रकार से प्रकाशित होता है और (महित्वा) अपने बड़े सामर्थ्य से सब प्रकार के प्रजा के हितकारी कार्यों को (आविः कृणुते) प्रकट करता है । और (अदेवीः) देवों से विपरीत असुरों की (दुरेवाः) दुःखदायिनी या दुःसाध्य (मायाः) मायाओं को (प्रसहते) वश करता है और (रक्षोभ्यः) राक्षसों के (विनिक्षे) विनाश के लिये (शृङ्गे) अपने सींग के समान तीखे हिंसा के साधन शस्त्र और अस्त्रों को (शिशीते) सदा तेज़, तीखे बनाये रहता है ।

ये ते शृङ्गे अजरे जातवेदस्तिग्महेती ब्रह्मसंशिते ।
ताभ्यां दुर्हार्दमभिदासन्तं किमीदिनं प्रत्यञ्चमर्चिषा जातवेदो
वि निक्ष्व ॥ २५ ॥

भा०—हे (जातवेदः) विद्वान् राजन् ! (ये) जो (ते) तेरे (अजरे) अविनाशी (ब्रह्मसंशिते) ब्रह्म वेद के ज्ञान से तीक्ष्ण हुए

२४–(च०) 'रक्षसे विनिक्षे' इति ऋ० । तत्रास्याः वृषो जार ऋषिः ।
२५–(च०) 'प्रत्यञ्चं यातुधान जातवेदो नृचक्षः ।' इति पैप्प० सं० ।

(तिग्महेती) दो प्रकार के शस्त्र और अस्त्र, तीखे हथियार हैं (ताभ्याम्) उनसे (दुर्हार्दम्) दुष्ट हृदयवाले (किमीदिनम्) दूसरों के जान और माल को तुच्छ समझने वाले (अभिदासन्तम्) विनाशकारी (प्रत्यञ्चम्) अपने से विपरीतकारी पुरुष को (अर्चिषा) तीव्र ज्वाला से हे (जातवेदः) अग्नि के समान प्रतापी राजन् ! (वि निक्ष्व) विनाश कर ।

अग्नी रक्षांसि सेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः ।
शुचिः पावक ईड्यः ॥ २६ ॥ (८)		ऋ० ७ । १५ । १० ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि के समान शत्रु का तापक (शुक्रशोचिः) शुद्ध, प्रदीप्त कान्ति से युक्त (अमर्त्यः) अविनाशी, ध्रुव, कभी न मरने वाला, सदा प्रतिष्ठित होकर (रक्षांसि) प्रजापीड़क दुष्ट पुरुषों को (सेधति) निवारण करता है, विनाश करता है । वह (शुचिः) काम, अर्थ और धर्म कार्यों में शुद्ध, हृदय, ईमानदार (पावकः) प्रजा के पापों को दूर कर उनको पवित्र करनेवाला होकर (ईड्यः) स्तुति के योग्य होता है ।



[४] दुष्ट प्रजाओं का दमन ।

चातन ऋषिः । इन्द्रासोमौ देवते । रक्षोहणं सूक्तम् । १–३,५,७, ८, २१, ४ विराट् जगती, ८–१७, १६, २२, २४ त्रिष्टुभः २०, २३, भुरिजौ, २५, अनुष्टुप् । पञ्चविंशर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः ।
परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्रिणः ॥१॥
ऋ० ७ । १०४ । १ ॥

[४] १–अस्य सूक्तस्य ऋग्वेदे वसिष्ठऋषिः इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ देवते ।

भा०—हे (इन्द्रासोमा) इन्द्र और सोम ! सेनापते और राजन् ! (रक्षः) राक्षसों को (तपतम्) संतप्त और पीड़ित करो (उब्जतम्) और मारो। हे (वृषणा) शत्रुओं की शक्ति को बांधने में समर्थ आप दोनों (तमोवृधः) अन्धकार में शक्ति से बढ़ने वाले और माया, छल कपट से अपनी शक्ति को बढ़ाने वाले अथवा 'तमः' तामस नीच कामों से बढ़ने वाले लोगों को (नि अर्पयतम्) नीचे गिरा दो। और (अचितः) चेतना रहित, चित्त रहित, निर्दय लोगों को (परा शृणीतम्) अच्छी प्रकार विनाश करो, (नि ओषतम्) सर्वथा मूल सहित जला दो, (हतम्) मारो (नुदेथाम्) और परे भगादो। और (अत्रिणः) दूसरों का माल मार खा जाने वालों को (नि शिशीतम्) सर्वथा क्षीण, निर्बल करदो।

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य१घं तपुर्ययस्तु चरुरग्निमाँ इव।
ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने ॥२॥

ऋ० ७ । १०४ । २ ॥

भा०—(इन्द्रासोमा) हे इन्द्र और सोम ! (अघशंसम्) पाप का उपदेश करने वाले, पाप की कथा कहने वाले (अघम्) पाप का या पापी का (सम् अधि) अच्छी प्रकार मुकाबला करो। (अग्निमान् चरुः इव) आग पर चढ़े हुए हाण्डी के समान वह पाप और पापी (तपुः ययस्तु) संताप को प्राप्त हो और पीड़ा अनुभव करे। और (घोरचक्षसे) घोर चक्षुवाले, क्रूर (ब्रह्मद्विषे) ब्रह्म वेद को जानने वाले विद्वान् ब्राह्मणों के द्वेषी (क्रव्यादे) मांसभोजी और (किमीदिने) दूसरों के जान माल को तुच्छ समझने वाले या 'अब क्या, अब क्या'

२–(द्वि०) 'चरुरग्निवाँ इव' इति ऋ०।

इस प्रकार काल को मूर्खता से व्यसनों में लगाने वाले के (अनवायम्) निरन्तर (द्वेषः धत्तम्) अप्रेम, उपेक्षा करो, उसको कभी मत चाहो ।

'परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि' अथर्व० ६।४५।१॥

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम् ।
यतो नैषां पुनरेकश्चनोदयत् तद् वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः ॥३॥

ऋ० ७ । १०४ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्रासोमा) इन्द्र और सोम सेनापते ! और राजन् ! (दुष्कृतान्) दूसरों के लिये दुःखदायी कार्य करने वाले दुष्टाचारियों को (अनारम्भणे) वे सहारे के, अनाश्रय, घोर (तमसि) अन्धकार के (अन्तः) भीतर (वव्रे) बन्द करदो और (प्र विध्यतम्) अच्छी प्रकार उनकी ताड़ना कर, उन्हें दण्ड दो । (यतः) जिससे (एषाम्) उन में से (एकः चन) एक भी (न उत् अयत्) फिर ऊपर न उठे । (वाम्) तुम दोनों का (शवः) वह प्रसिद्ध सामर्थ्य, बल (तत् सहसे) उनको दबाने के लिये सदा (मन्युमत्) क्रोध या विवेक से पूर्ण (अस्तु) हो ।

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम् ।
उत् तक्षतं स्वर्यं१पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः ॥ ४ ॥

ऋ० ७ । १०४ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्रासोमा) इन्द्र और सोम ! आप दोनों (अघशंसाय) पाप की कथा वार्त्ता कहने वाले पुरुष के लिये (दिवः) द्यौलोक, या आकाश से और (पृथिव्याः) पृथिवी से भी (तर्हणम्) विनाशक (वधम्) शस्त्र को (सं वर्त्तयतम्) चलाओ । और (पर्वतेभ्यः) पर्वत

३-(तृ०) 'यथा नातः पुन' इति ऋ० ।
४-(प्र०) 'इन्द्रा सोमा प्रहरतं दिवो' इति पैप्प० सं० ।

अर्थात् मेघों या पर्वतों से चमकने वाले वज्र के समान (स्वर्यम्) गड़ गड़ाते हुए, या अति तीव्र उपतापक विद्युत् दल को तुम दोनों (उत् तक्षतम्) स्वयं उत्पन्न करो । (येन) जिससे (वावृधानं रक्षः) बल और शक्ति से बराबर बढ़ते हुए (रक्षः) प्रजा के पीड़क राक्षसों को (निजूर्वथः) विनाश करो।

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः ।
तपुर्वधेभिरजरेभिरत्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम् ॥५॥

ऋ० ७ । १०४ । ५ ॥

भा०— हे (इन्द्रासोमा) पूर्वोक्त इन्द्र और सोम ! (युवम्) आप दोनों (दिवः) आकाश की ओर से (अग्नितप्तेभिः) आग में तपे हुए, चमचमाते, बिजुली के समान प्रज्वलित (अश्महन्मभिः) अश्मा-लोहसार, फौलाद के आघातकारी गोलियों, फलों से युक्त शस्त्रों से (अत्रिणः) राष्ट्र के प्रजाओं को हड़पने वालों को (परिवर्त्तयतम्) घेर लो । और (अजरेभिः) कभी विनाश न होने वाले, सदा तय्यार (तपुर्वधेभिः) संतापकारी, आग्नेय बाणों से (पर्शाने) उन दुष्टों के पासों पर, कोखों में, ऐसे (विध्यतम्) मारो कि वे (निस्वरम्) बहुत अधिक पीड़ा, वेदना (यन्तु) प्राप्त करें अथवा (निस्वरं यन्तुम्) वे चीखने भी न पायें ।

इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना ।
यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपती इव जिन्वतम् ॥६॥

ऋ० ७ । १०४ । ६ ॥

५-(द्वि०) 'तप्तेभिर्दिवो अश्महन्मभिः' इति पैप्प० सं० । (च०) 'निःऽस्वरम्' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः ।

६-(च०) 'नृपतीव जिन्वतम्' इति ऋ०, पैप्प० सं० । 'नृपतीऽइव' इति पदपाठः । (तृ०) 'होत्रां प्रहिणोमि' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (इन्द्रासोमा) पूर्वोक्त इन्द्र और सोम ! (वाजिना) बलवान् (अश्वा) दोनों घोड़ों को जिस प्रकार (कक्ष्या इव) साज की चमड़े की पट्टियां शोभा देती हैं और उनको नियम में रखती हैं उसी प्रकार (इयम्) यह (मतिः) मनन करने योग्य (वाम्) तुम को (परि भूतु) शोभा दे और राष्ट्र व्यवस्था के कार्य में नियम में रक्खे। मैं राज-पुरोहित या ईश्वर, मुख्य मन्त्री (वाम्) तुम दोनों के लिये (मेधया) परम विवेक बुद्धि से (यां होत्राम्) जिस वाणी को प्रेरित करता हूँ तुम दोनों (ब्रह्माणि) उन वेदवचनों को (नृपती इव) प्रजापालक नरेशों के समान ही (आ जिन्वतम्) प्रेम से स्वीकार करो और पालन करो।

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः ।
इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद् यो मा कदाचिदभिदासति द्रुहुः ॥७॥
ऋ० ७ । १०४ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्रासोमा) पूर्वोक्त इन्द्र और सोम ! आप दोनों (तुजयद्भिः) बलवान्, तीव्र (एवैः) गति साधनों, रथों से (प्रति-स्मरेथां, दुष्टों के मुकाबले पर आ जाओ। (भङ्गुरावतः) प्रजापीड़क, या तुम्हारी आज्ञा के भंग करने वाले या राष्ट्रव्यवस्था के विनाशक (द्रुहः-रक्षसः) द्रोही प्रजापीड़क लोगों को (हतम्) विनाश करो। (यः) जो कोई भी (कदाचित्) कभी भी (मा द्रुहः) मेरा द्रोह करता है वह (दुष्कृते) अपने इस दुष्ट कार्य के निमित्त (सुगम्) कभी सुख या सुगम उपाय को (मा भूत्) प्राप्त न हो।

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः ।
आप इव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ॥ ८ ॥
ऋ० ७ । १०४ । ८ ॥

७–(च०) 'यो नः कदा', 'द्रुहा' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र राजन्! (यः) जो (पाकेन) परिपक्क, सत्य (मनसा) मन से (चरन्तम्) आचरण करते हुए (मा) मुझको भी (अनृतैः) असत्य (वचोभिः) वाक्यों से (अभिचष्टे) आक्षेप करता है, (काशिना) मुट्ठी में (संगृभीताः) पकड़े हुए (आपः, इव) जलों के समान वह (असतः) असत्य का (वक्ता) कहने वाला मिथ्यावादी स्वयं (असन् अस्तु) आप से आप मिट जाय, शून्य होजाय। जिस प्रकार मुट्ठी में लिया पानी आप से आप निकल कर गिर जाता है उस प्रकार असत्य-वादी स्वयं नाश को प्राप्त हो।

ये पा॑कशं॒सं वि॒हर॑न्त॒ एवै॒र्यै वा॑ भ॒द्रं दू॒षय॑न्ति स्व॒धाभि॑ः।
अह॑ये वा॒ तान् प्र॒ददा॑तु॒ सोम॒ आ वा॑ दधातु॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्थे॑ ॥ ९ ॥
ऋ० ७ । १०४ । ९ ॥

भा०—(एवैः) अभिलपित अभिप्रायों से (विहरतः) विचरते हुए (ये) जो लोग (पाकशंसम्) परिपक्क सत्य, यथार्थ बात के उप-देश करने वाले पुरुष को (दूषयन्ति) बदनाम करते या उस पर दोषा-रोप करते हैं और (ये) जो लोग (भद्रम्) अन्यों के कल्याणकारी साधु पुरुष को (स्वधाभिः) अपने स्वार्थों से प्रेरित होकर (दूषयन्ति) निन्दा करते हैं (सोमः) सौम्यगुण युक्त राजा या शान्तस्वभाव का व्यवस्थापक धर्माधिकारी (तान्) उन असत्य दोषारोपकों को (अहये) सांप के या सांप के समान क्रूर स्वभाव वाले जल्लाद, दण्डकारी को (प्रददातु) सौंप दे। (वा) या (निर्ऋतेः) निर्ऋति (मृत्यु दण्ड-कारी विभाग) के (उप एत्य) वश में (आ दधातु) कर दें।

यो नो॒ रसं॒ दिप्स॑ति पि॒त्वो अ॑ग्ने॒ अश्वा॑नां॒ गवां॒ यस्त॒नूना॑म्।
रि॒पु स्ते॒न स्ते॑य॒कृद् द॒भ्रमे॑तु॒ नि ष ही॑यतां त॒न्वा॒३॒ तना॑ च ॥ १० ॥ (९)
ऋ० ७ । १०४ । १० ।

१०—'यो अश्वानां यो गवां' इति ऋ०, सायणाभिमतश्च । 'ये अश्वानां ये

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान शत्रु के तापकारिन् राजन् ! (यः) जो पुरुष (नः) हमारे (रसम्) जल को और (पित्वः) अन्न के अंश को (दिप्सति) हम से छीन लेना चाहता है और जो (अश्वानाम्) अश्वों, (गवाम्) गौओं और (तनूनाम्) हमारे शरीरों को हम से काट लेना चाहता है, चुरा या छीन लेना चाहता है (स्तेयकृत्) चोरी करने वाला (तेन) उपरोक्त दुष्ट कार्य से ही (रिपुः) पापी, अपराधी हो जाता है । वह भी (दभ्रम्) दण्ड को (एतु) प्राप्त हो और (सः) वह (तन्वा) अपने शरीर से और (तना) अपने पुत्र आदि से (नि-हीयताम्) वियुक्त किया जाय, वञ्चित किया जाय ।

पुरः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः ।
प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो मा दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥११॥
ऋ० ७ । १०४ । ११ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! धर्माधिकारियो या शासन-कारो और राजसभासदो ! या प्रजाजनो ! (यः) जो पुरुष (मा) मुझ प्रजा पुरुष को (दिवा) दिन के समय में और (यः च) जो (नक्तम्) रात के समय में (दिप्सति) मारता है, घात करता है (सः) वह (तन्वा) अपने शरीर से और (तना च) पुत्र से भी (परः अस्तु) वियुक्त किया जाय । वह (विश्वा) समस्त प्रजाओं में (तिस्रः) तीन (पृथिवीः) पृथिविएँ तीन मंजिलें अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों से नीचे शूद्र रूप में (अधः अस्तु) उस निचले पद पर रहे अथवा तीन मंजिल गहरे तहखाने में क़ैद करके डाला जाय और (अस्य) उसका (यशः) मान और कीर्त्ति (प्रति शुष्यतु) उसके पाप के कारण सूख जाय । उसको नीचे गिरा कर अपमानित किया जाय ।

गवां' इत्यपि क्वचित् । (च०) वि ष हीयतां इति क्वचित् ।

११–(च०) 'यो नो दिवा' इति ऋ० ।

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥१२॥

ऋ० ७ । १०४ । १२ ॥

भा०—(सु-विज्ञानम्) उत्तम विशेष ज्ञान की (चिकितुषे) मीमांसा या विवेचना करने वाले, विवेकशील (जनाय) पुरुष के लिये (सत् च) सत्, सत्य वचन और (असत्) असत्, असत्य (वचसी) वचन (पस्पृधाते) परस्पर स्वयं स्पर्धा करते हैं आपस में एक दूसरे से कलह करते हैं । विवेकी पुरुष के समक्ष सत्य और असत्य दोनों एक दूसरे का खण्डन करते, एक दूसरे से विवाद करते और एक दूसरे से प्रबल होना चाहते हैं । तो भी (तयोः) उन दोनों में से (यत् सत्यम्) जो सत्य है और (यतरत्) उन दोनों में से जो (ऋजीयः) सरल और श्रेष्ठ, छलहीन है (सोमः) न्यायाधीश (तत् इत्) उसकी ही (अवति) रक्षा करता है वा उसकी ओर झुकता है और (असत्) असत्य को (हन्ति) विनाश करता है ।

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥१३॥

ऋ० ७ । १०४ । १३ ॥

भा०—(सोमः) सत्य का परिपालक राजा यथार्थ न्यायकारी (वृजिनम्) त्याग देने योग्य, पाप को या पापी को (नवा उ) कभी भी नहीं (हिनोति) समर्थन करता और (मिथुया) मिथ्या, झूठ के पक्ष को (धारयन्तम्) धारण करने वाले (क्षत्रियम्) बलवान् पुरुष का भी वह (न हिनोति) पक्ष नहीं करता । प्रत्युत वह (रक्षः) ऐसे दुष्ट-

१२–(द्वि०) 'पस्पृशाते' इति पैप्प० सं० ।

राक्षस को (हन्ति) मारता है और ऐसे (असत्) असत्य (वदन्तं) बोलने हारे को भी (हन्ति) मारता है । वे दोनों ही (इन्द्रस्य) इन्द्र राजा के (प्रसितौ) बन्धन में (शयाते) पड़ जाते हैं ।

यदि॑ वा॒हमनृ॑तदेवो॒ अस्मि॒ मोघं॑ वा दे॒वाँ अ॑प्यू॒हे अ॑ग्ने ।
किम॒स्मभ्यं॑ जातवेदो हृणीषे द्रो॒घवाच॑स्ते निर्ऋ॒थं स॑चन्ताम् ॥१४॥

ऋ० ७ । १०४ । १४ ॥

भा०—(यदि वा) यदि मैं (अनृतदेवः) असत्य को अपना इष्ट मानने वाला, असत्य का उपासक होऊं (अपि वा) और यदि (मोघम्) व्यर्थ ही (देवान्) नाना उपासकों की झूठ मूठ (ऊहे) कल्पना करूं तो हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! या पापियों के संतापक ! मैं अवश्य दण्ड का भागी हूँ। परन्तु हम वैसे नहीं हैं। अतः हे (जातवेदः) विद्वन् ! (अस्मभ्यम्) हमारे प्रति फिर (किम्) क्यों कर आप (हृणीषे) क्रोध करेंगे । प्रत्युत जो लोग (द्रोघवाचः) आप के शासन के विरुद्ध द्रोह की चर्चा करने वाले, द्रोही लोग हों (ते) वे (निर्ऋथम्) मृत्यु या दण्ड को (सचन्ताम्) प्राप्त हों ।

अ॒द्या मु॑रीय॒ यदि॑ यातु॒धानो॒ अस्मि॒ यदि॒ वायु॑स्त॒तप॒ पूरु॑षस्य ।
अधा॒ स वी॒रैर्द॒शभि॒र्वि यू॑या॒ यो मा॒ मोघं॒ यातु॑धा॒नेत्याह॑ ॥१५॥

ऋ० ७ । १०४ । १५ ॥

भा०—(यदि) यदि मैं (यातुधानः) प्रजा को पीड़ा देने वाला (अस्मि) होऊं और (यदि वा) यदि (पुरुषस्य) किसी पुरुष के (आयुः) जीवन को (ततप) पीड़ा दूँ तो (अद्या) आज ही, शीघ्र ही (मुरीय) मृत्यु का दण्ड भागी होऊँ । (अधा) और (यः) जो (मा) मुझे (मोघम्) व्यर्थ, विना कारण (यातुधान इति आह) प्रजा का

१४–(प्र०) 'देवा आस' इति ऋ० ।

पीड़क बतलाये (सः) वह (दशभिः वीरैः) दसों प्राणों से (वि यूयाः) वियुक्त किया जाय। अथवा (दशभिः वीरैः वि यूयाः) दसों पुत्रों से वियुक्त किया जाय।

प्राणा वै दशवीराः। श० १२।८।१।२२॥

यो मायांतुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट ॥ १६ ॥
ऋ० ७ । १०४ । १६ ॥

भा०—(यः) जो (माम्) मुझ को (अयातुम्) प्रजा पीड़क या अदण्ड्य न होते हुए भी (यातुधान इति आह) प्रजापीड़क दण्डनीय इस प्रकार बतलावे (वा) और (यः) जो (रक्षाः) स्वयं राक्षस प्रजा का पीड़क होकर भी अपने को (शुचिः अस्मि) मैं शुचि-निर्दोष हूँ (इति आह) ऐसा कहे (इन्द्रः) राजा (तम्) उसको (महता) बड़े भारी (वधेन) दण्ड से (हन्तु) दण्डित करे। और वह (विश्वस्य जन्तोः) समस्त प्राणियों से (अधम पदीष्ट) नीचा समझा जाय।

प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहुस्तन्वं१ गूहमाना।
वव्रमनन्तमव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः ॥१७॥
ऋ० ७ । १०४ । १६ ॥

भा०—अपराधिनी स्त्रियों को दण्ड। (या) जो स्त्री (खर्गला इव) उल्लुनी के समान (नक्तम्) रात को (तन्वम्) अपने शरीर को अन्धकार में (गूहमाना) छिपाती हुई (प्रजिगाति) घूमा करे या (द्रुहुः) अपने सम्बन्धियों से लड़ कर (अप जिगाति) घर छोड़ कर भाग जाय। (सा) वह स्त्री (अनन्तम्) अनन्त काल के लिये (वव्रम्) कैद, आवृत स्थान या गढ़े में (पदीष्ट) प्राप्त हो। और

१७–(द्वि०) 'नक्तमपद्रहातन्वं' (तृ०) 'वव्राँ अनन्ताँ अव, इति ऋ०।

यदि स्त्री न होकर पुरुष उपरोक्त दोष करें तो ऐसे (रक्षसः) दुष्टों को (ग्रावाणः) विद्वान् लोग (उपब्दैः) अपने वाक्-प्रहारों से या तीक्ष्ण दण्डाज्ञाओं से (घ्नन्तु) दण्डित करें। अथवा (ग्रावाणः) पत्थर (उपब्दैः) अपने घरघराते शब्दों सहित उन राक्षसों को विनाश करें।

सायण—(ग्रावाणः उपब्दैः घ्नन्तु) सोम कूटने के पत्थर राक्षसों को अपनी सोम कूटने की ध्वनियों से मारें। ग्रीफ़िथ—कूटने वाले पत्थर अपनी ऊँची ध्वनियों सहित राक्षसों को मारें।

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वी<u>१</u>च्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन ।
वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे ॥१८॥

ऋ० ७ । १०४ । १८ ॥

भा०—हे (मरुतः) विद्वान् पुरुषो ! या वेगवान् सिपाहियो ! आप लोग (विक्षु) प्रजाओं में (वि तिष्ठध्वं) विशेष २ रूपों में अधिकारी हो कर शासनपदों पर स्थिर होवो या स्थान २ पर पहरेदार रूप में खड़े रहो और (इच्छत) प्रजाओं का हित करने की इच्छा करो। (रक्षसः) राक्षसों को (गृभायत) पकड़ो और उनको (सं पिनष्टन) अच्छी प्रकार पीसदो, पीड़ित करो, दण्डित करो। (ये) जो राक्षस लोग (वयः) तीव्रगति वाले होकर (नक्तभिः) रातों में (पतयन्ति) घूमा करें और जो (देवे) देव=राजा के (अध्वरे) यज्ञ या राष्ट्र के प्रजापालन के कार्य में (रिपः) पाप कर्म, हिंसा आदि कार्य (दधिरे) करते हैं उन (रक्षसः) राक्षसों को (गृभायत) पकड़ो और (सं पिनष्टन) खूब दण्ड दो।

१८–(प्र०) 'विदिव<u>१</u>च्छत', (तृ०) 'वयो ये भूत्वी' इति ऋ०। 'विदिव<u>१</u>-च्छत', विद्वी <u>१</u>च्छत इत्यादयः पाठा अपि। विद्वी। ईच्छत इति शं० पा० ॥

प्र व॑र्त्तय दि॒वोऽश्मा॑नमिन्द्र॒ सोम॑शितं मघव॒न्त्सं शि॑शाधि ।
प्राक्तो॑ अ॑पा॒क्तो॑ अ॑ध॒रादु॑द॒क्तो॒३॑भि ज॑हि र॒क्षसः॒ पर्व॑तेन ॥ १९ ॥

ऋ० ७ । १०४ । १९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (दिवः) आकाश से जिस प्रकार बिजुली तीव्रता से नीचे आती है उसी प्रकार तू (अश्मानम्) अश्मा, लोहसार या फौलाद के बने तलवार या शस्त्र को (प्रवर्त्तय) भली प्रकार प्रयोग में ला । और हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (सोम-शितं) सोम—न्यायाधीश से तीक्ष्ण किये, दण्डनीय रूप से निर्धारित दण्डनीय पुरुष को (सं शिशाधि) अच्छी प्रकार से दण्डित कर । और (पर्वतेन) पोरुओं वाले वज्र से या धनुष् से (प्राक्तः) आगे से (अपाक्तः) पीछे से (अधराक्तः) नीचे और (उदक्तः) ऊपर से भी (रक्षसः) राक्षसों को (अभिजहि) विनाश कर ।

ए॒त उ॒ त्ये प॑तयन्ति॒ श्वया॑तव॒ इन्द्रं॑ दिप्सन्ति दि॒प्सवोऽदा॑भ्यम् ।
शिशी॑ते श॒क्रः पिशु॑नेभ्यो व॒धं नू॒नं सृ॑जद॒शनिं॑ यातु॒मद्भ्यः॑ ॥२०॥

ऋ० ७ । १०४ । २० ॥

भा० - (एते उ त्ये) ये वे (श्वयातवः) कुत्ते को साथ लिये या कुत्तों के समान चाल चलने वाले, टुकड़ेखोर, या पागल कुत्तों के समान प्रजा को फाड़ खाने वाले, प्रजा पीड़क या (अश्वयातवः) अश्वों पर चढ़ कर जाने वाले (दिप्सवः) हिंसक लुटेरे लोग (पतयन्ति) जारहे हैं, ये (अदाभ्यम्) अहिंसनीय बलवान् (इन्द्रम्) इन्द्र को (दिप्सन्ति) मारना चाहते हैं। ऐसे (पिशुनेभ्यः) कुक्कुरों के समान क्षुद्राचारी (यातुमदभ्यः) प्रजा पीड़कों के लिये (शक्रः) शक्तिमान् राजा (नूनम्) निश्चय से (अशनिं)

१९–'दिवो अश्मा', (तृ०) 'प्राक्तादपाक्तादधरादुदक्तादभि' इति ऋ० ।
२०–'दिप्सवो अदाभ्यम्' इति पैप्प० सं० ।

वज्र के समान तीव्र प्रहार करने हारे अशनि नाम महास्त्र को (सृजत) बनाओ और (शिशीते) उसको खूब तीव्र सदा काम आने योग्य बनावे। डाकुओं के गिरोहों से बचाने के लिये राजा सदा अशनि नामक अस्त्रों को तैयार रक्खे।

इन्द्रो॑ यातू॒नाम॑भवत् पराश॒रो ह॑वि॒र्मथी॑नाम॒भ्या३॑विवा॑सताम्।
अ॒भीदु॑ श॒क्रः प॑र॒शुर्यथा॑ व॒नं पात्रे॑व भि॒न्दन्त्स॒त ए॑तु र॒क्षसः ॥२१॥

ऋ० ७ । १०४ । २१ ॥

भा०— (इन्द्रः) इन्द्र, राजा (यातूनाम्) पीड़ाकारियों का और (अभि आविवासताम्) रण में अभिमुख होकर मुक़ाबले में लड़ने वाले (हविर्मथीनाम्) हविः—राजा की आज्ञा का मथन, विनाश करने वाले (यातूनाम्) प्रजापीड़िकों का (पराशरः) प्रबल विनाशक (अभवत्) है। (वनम्) वन को (यथा) जिस प्रकार (परशुः) कुल्हाड़ा काट डालता है और (पात्रा इव) मट्टी के वर्त्तनों को जिस प्रकार पत्थर फोड़ डालता है उसी प्रकार (सतः) देश पर चढ़ आये (रक्षसः) दुष्ट पुरुषों को (शक्रः) शक्तिमान् राजा (इत्) भी (अभि भिन्दन् एतु) काटता, फाटता हुआ पहुँचे।

उलू॑कयातुं शुशु॒लूक॑यातुं ज॒हि श्वया॑तुमु॒त कोक॑यातुम्।
सु॒प॒र्णया॑तुमु॒त गृध्र॑यातुं दृ॒षदे॑व॒ प्र मृ॑ण॒ रक्ष॑ इन्द्र ॥ २२ ॥

ऋ० ७ । १०४ । २२ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! (दृषदा) जिस प्रकार पत्थर से मिट्टी का वर्त्तन तोड़ डाला जाता है उसी प्रकार तू (उलूकयातुम्)

२१–(च०) 'सत एति' इति ऋ०

२२–'शिशुलूकयातु' इति ऋ० । 'शलूकयातुं' इति पैप्प० सं० ।

उल्लुओं के समान चाल चलनेवाले, रात के समय लोगों पर छापा मारने वाले (शुशुलूकयातुम्) छोटे उल्लू के समान चाल चलने वाले, अप्रत्यक्ष में कर्ण कटु बोलने वाले और जन्तुओं की आँखें निकालने वाले या उनकी आंखों में धूल झोंकने वाले, चुगलखोर, (श्वयातुम्) कुत्तों के समान चाल चलने वाले, कमज़ोरों पर गुर्रा २ कर उनको फाड़ खा जाने वाले (उत) और (कोकयातुम्) भेड़िये के समान चाल चलने वाले, पीछे से आक्रमण करके निर्दयता से लूटने पाटने वाले, (सुपर्णयातुम्) बाज के समान चाल चलनेवाले, अपने से कमज़ोरों पर टूटकर उनके बच्चों और जान माल को लूट खसोटने वाले और (गृध्रयातुम्) गीध के समान चाल चलने वाले, मरते सिसकतों की भी खाल खैंचने या उनपर अत्याचार करके उनका धनापहरण करने वालों को (प्र मृण) अच्छी प्रकार विनाश कर, उनको दण्ड दे और उनका बल तोड़ डाल ।

मा नो रक्षो अभि नड् यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना ये किमीदिनः ।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोन्तरिक्षं दिव्यात् पात्वस्मान् ॥२३॥

ऋ० ७ । १०४ । २३ ॥

भा०—(यातुमावत्) पीड़ादायक (रक्षः) दुष्ट पुरुष (नः) हम तक (मा) कभी न (अभि नट्) पहुँचे । (ये) जो (किमीदिनः) दूसरों के जान माल को कुछ भी न जानने वाले (मिथुना) स्त्री पुरुष हैं वे (अप उच्छन्तु) हमसे दूर रहें । (पार्थिवात् अंहसः) पृथिवी सम्बन्धी कष्ट से (पृथिवी) पृथिवी और (दिव्यात्) आकाश सम्बन्धी (अंहसः) कष्ट से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (अस्मान्) हमारी (पातु) रक्षा करे ।

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम् ।

२३–'यातुमावतामपोच्छतु मिथुना या किमीदिना' इति ऋ० ।

विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ २४ ॥

ऋ० ७ । १०४ । २४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (यातुधानम्) परपीड़ादायी (पुमांसम्) पुरुष को और (मायया) माया, छल कपट से (शाशदानाम्) दूसरों का विनाश करने वाली, अर्थलोलुपा (स्त्रियम्) स्त्री को भी (जहि) विनाश कर, उसको दण्ड दे। (मूरदेवाः) दूसरों के प्राणघात करके अपना विनोद करनेवाले लोग, (विग्रीवासः) गर्दन रहित या झुकी, विकृत गर्दनवाले होकर (ऋदन्तु) नाश को प्राप्त हों, कष्ट पावें कि (ते) वे (उत्-चरन्तम्) ऊपर उठते हुए सूर्य को भी (मा दृशन्) न देख सकें। उक्त प्रकार के दुष्ट स्त्री पुरुषों की गर्दनें मरोड़ कर ऐसी झुका दी जावें कि वे सूर्य को देख भी न सकें।

प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम्।
रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २५ ॥ (११)

भा०—हे इन्द्र और हे (सोम) सोम ! आप दोनों में से (इन्द्रः) इन्द्र राजा (प्रति चक्ष्व) सदा अपने प्रतिकूल पुरुषों का निरीक्षण करे और हे सोम ! आप (वि चक्ष्व) उनके नाना कार्यों की विवेचना किया करो। दोनों ही अपने २ कार्यों में (जागृतम्) जागृत, सावधान रहो। और (रक्षोभ्यः) राक्षस, दुष्ट पुरुषों के लिये (वधम्) वधकारी दण्ड (अस्यतम्) विधान किया करो और (यातुमद्भ्यः) पीड़ाकारी लोगों के लिये (अशनिम्) विद्युत् के समान घातक अस्त्रों का भी प्रयोग करो।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥



२४–(च०) 'मूरदेवा ऋजन्तु' इति पैप्प० सं० ।

[५] शत्रुनाशक सेनापति की नियुक्ति ।

शुक्र ऋषिः । कृत्यादूषणमुत मन्त्रोक्ता देवताः । १, ६ उपरिष्टाद् बृहती, २ त्रिपाद् विराड् गायत्री, ३ चतुष्पाद् भुरिग् जगती, ७,८ ककुम्मत्यौ, ५ संस्तारपंक्तिर्भुरिक्, ६ पुरस्कृतिर्जगती, १० त्रिष्टुप्, २१ विराट् त्रिष्टुप्, ११ पथ्या पंक्तिः, १२, १३, १६-१८ अनुष्टुप्, १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, १५ पुरस्ताद् बृहती, १६ जगतीगर्भा त्रिष्टुप्, २० विराड्गर्भा आस्तारपंक्तिः, २२ त्र्यवसाना सप्तपदा विराड्गर्भा भुरिक् शक्करी । द्वाविंशर्चं सूक्तम् ॥

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते ।
वीर्य/वान्त्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १ ॥

भा०—(अयं मणिः) [1]यह शिरोमणि या शत्रुओं को स्तम्भन करने वाला अपने समाज वा अलंकार भूत पुरुष (प्रतिसरः) शत्रु के प्रति वीरता से आक्रमण करने में कुशल और (वीरः) वीर है। इसी बात को दर्शाने वाला पदक भी उसी नाम से कहा गया कि वह (मणिः) मणि, पदक (वीराय) वीर्यवान् को ही (बध्यते) बाँधा जाता है। उसके लगानेवाले के ये गुण प्रकट होते हैं कि वह (वीर्यवान्) वीर्यवान्, सामर्थ्यवान्, (सपत्नहा) शत्रुओं को मारने वाला, (शूरवीरः) शूरवीर, या शौर्यसम्पन्न वीरों से घिरा हुआ उनका मुखिया, (परिपाणः) सब ओर से सुरक्षित, (सुमंगलः) शोभन राष्ट्र का मंगलकारी है। विशेष वीर सेनापतियों को विशेष पदकों से सुशोभित करना चाहिये जिससे उनके बल, सामर्थ्य, साहसगुण प्रकट हों। तुलना करो (अथर्व० २ । ११ । १-५) 'स्रक्त्योऽसि, प्रतिसरोऽसि, प्रत्यभिचरणोऽसि । अश्नुहि श्रेयांसमतिसमं क्राम ॥' इत्यादि ।

[५] १—पैप्पलादे द्वितीय पादो नास्ति । १. मन स्तम्भे इत्यतः ।

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः ।
प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥ २ ॥

भा०—सब अगले मन्त्रों में भी मणि शब्द से मणिवान् या शत्रु स्तम्भनकारी का बोध होता है। (अयं) यह (मणिः) शूरवीरता के पदक से सुशोभित सेनापति (सपत्नहा) अपने शत्रुओं का नाशक, (सुवीरः) स्वयं उत्तम वीर और उत्तम २ वीर पुरुषों को अपने शासन में रखने वाला, (सहस्वान्) बलवान्, भारी शत्रु बल को भी थामने वाला, (वाजी) वेगवान् अश्व के समान बलवान् , (सहमानः) शत्रुओं को दबाता हुआ, (उग्रः) रण में बड़ा भयकारी है। वही (वीरः) वीर (कृत्याः) शत्रुओं के गुप्त घातक प्रयोगों को, शत्रु की चालों को (दूषयन्) बेकार करता हुआ (एति) आता है।

सायण तथा ग्रीफ़िथ आदि विद्वानों ने यह सूक्त समस्त 'स्राक्त्यमणि' की स्तुति में लगा दिया है। परन्तु मणि या पदक पदार्थ जड़ होने से वे विशेषण उस में संगत नहीं हैं। प्रत्युत लक्षणा से उसके धारण करने वाले सेनापति में संगत होते हैं।

अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान् पराभावयन्मनीषी ।
अनेनाजयद् द्यावापृथिवी उभे इमे अनेना जयत् प्रदिशश्चतस्रः॥३॥

भा०—मणि से सुशोभित पुरुष का इस प्रकार परिचय दिया जाता है—(अनेन) इस (मणिना) पदक से विभूषित या शिरोमणि सेनापति के बल से (इन्द्रः) राजा (वृत्रम् अहन्) राष्ट्र के घेरने वाले शत्रु का नाश करता है (मनीषी) अपने मन्त्र या मनोबल से समस्त राष्ट्र को प्रेरित या संचालित करने वाला राजा (असुरान्) असुर, बलवान्, बल के गर्वी

२–(तृ० 'दूषयन्नेतु' इति पैप्प० सं० ।

३–(तृ०) 'अनेन द्यावापृथिवी उभे अजयत्' इति पैप्प० सं० ।

उपद्रवी लोगों को (परा अभावयत्) पराजित करता है । (अनेन) इस के बल से (इमे) इन (द्यावापृथिवी उभे) द्यौ और पृथिवी, भूमिपतियों और भूमियों दोनों को (अजयत्) विजय करता है और (अनेन) इस के बल से (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओं का (अजयत्) विजय करता है ।

अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः ।
ओजस्वान् विमृधो वशी सो अस्मान् पातु सर्वतः ॥ ४ ॥

भा०—(अयम्) वह (मणिः) मणि जिस प्रकार (स्राक्त्यः) स्रक्ति नामक तिलक वृक्ष से बना है, उसी प्रकार यह (मणिः) मणि को धारण करने वाला वीर भी (स्राक्त्यः) समस्त सेना के बीच तिलक के योग्य है । अथवा माला आदि से सुशोभित करने योग्य है । वही (प्रतीवर्त्तः) शत्रुओं के अभिमुख खड़ा होने वाला और (प्रतिसरः) शत्रुओं पर चढ़ाई करने में समर्थ है । वह (ओजस्वान्) ओजस्वी (विमृधः) नाना प्रकार से युद्ध करने में समर्थ (वशी) शत्रुओं पर और अपने सेनासमूह और अपने इन्द्रियगणों पर भी वशकारी होकर (सर्वतः) सब प्रकार से (अस्मान्) हमारी (पातु) रक्षा करे ।

तद॒ग्निरा॑ह॒ तदु॒ सोम॑ आह॒ बृह॒स्पतिः॑ सवि॒ता तदिन्द्रः॑ ।
ते मे॑ दे॒वाः पु॒रोहि॑ताः प्र॒तीचीः॑ कृ॒त्याः प्र॑तिस॒रैर॑जन्तु ॥ ५ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि (तत् आह) उसी बात का उपदेश करता है । (तत् उ) और उसी का उपदेश (सोमः आह) सोम न्यायशील राजा, करता है । (बृहस्पतिः) वेद के विद्वान् या सब वेदों के स्वामी (सविता) सब के प्रेरक (इन्द्रः) इन्द्र, महाराज भी वही बात कहता

४–(तृ०) 'विमृधोमणिः' इति पैप्प० सं० ।
५–(च०) 'प्रतिसरेणाजन्तु' इति पैप्प० सं० ।

है इसलिये (मे) मुझ शासक की आज्ञा में विद्यमान (ते) वे (पुरोहिताः) अगले मुख्य स्थान पर नियुक्त सेनानायक लोग अपने (प्रतिसरैः) शत्रु पर तीव्र आक्रमण करने वाले सुभटों द्वारा (कृत्याः) शत्रु से प्रयुक्त दुष्प्रयोगों को (प्रतीचीः) विपरीतगामी, निष्फल (अजन्तु) करदें ।

अन्तर्दधे द्यावापृथिवी उताहरुत सूर्यम् ।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥६॥

भा०—चाहे शत्रु का आक्रमणकारी उत्पात (द्यावा पृथिवी अन्तः दधे) आकाश और पृथिवी दोनों को घेरलें (उत अहः, उत सूर्यम्) और चाहे दिन और सूर्य को भी घेरलें । तो भी (मे) मेरे (ते देवाः) वे विद्वान् (पुरोहिताः) मुख्य स्थान पर नियुक्त सेनापति लोग (प्रतिसरैः) शत्रु के प्रतिकूल आगे आगे बढ़ने वाले साहसी वीर भटों के साथ आगे बढ़ते हुए (कृत्याः) शत्रु के कामों को (प्रतीचीः) विपरीत (अजन्तु) करदें ।

ये स्राक्त्यं मणिं जना वर्माणि कृण्वते ।
सूर्य इव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी ॥ ७ ॥

भा०—(ये जनाः) जो लोग (स्राक्त्यं मणिम्) स्राक्त्य मणिधारी पुरुष को (वर्माणि कृण्वते) अपना कवच, रक्षक बना लेते हैं वे (सूर्य इव) सूर्य जिस प्रकार (दिवम् आरुह्य) आकाश में सर्वोपरि विराजमान है उसी प्रकार वे भी उच्च पद को प्राप्त होकर (वशी) सब राष्ट्र को वश करके (कृत्याः) शत्रुओं की नाना चालों को (विबाधते) नाना प्रकार से नाश करते हैं ।

६–(च०) 'प्रतिसरेणाजन्तु' इति पैप्प० सं० ।
७–(तृ०) 'सूर्यो दिवमिवमा' इति पैप्प० सं० ।

स्राक्त्येन मणिन ऋषिणेव मनीषिणा ।
अजैषं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः ॥ ८ ॥

भा०— (स्राक्त्येन मणिना) स्राक्त्यमणि के धारण करने वाले (ऋषिणा इव) क्रान्तदर्शी योग्य मन्त्री के समान (मनीषिणा) बुद्धिमान् सुभट द्वारा (सर्वा पृतनाः) समस्त शत्रु सेनाओं को (अजेषम्) मैं राजा विजय करूँ और (रक्षसः) सब राक्षसों को भी (मृधः) सब युद्धों को भी (अजैषम्) जीतूँ ।

याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः कृत्याः
स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः ।
उभयीस्ताः परा यन्तु परावतो नवतिं नाव्या३ अति ॥९॥

भा०—(याः) जो (कृत्याः) जन संहारकारी क्रियाएं (आङ्गिरसीः) आङ्गिरस वेद, अथर्ववेद के विद्वान् वैज्ञानिकों द्वारा बतलाई जाती हैं और (याः कृत्याः आसुरीः) जो बलवन्, शक्तिशाली पुरुषों द्वारा संहारकारी क्रियाएं की जाती हैं (याः कृत्याः) जो हिंसाकारी कार्य (स्वयंकृताः) प्रजा अपने आप कर लेती है और (या उ) जो (अन्येभिः) अन्य, शत्रु लोगों द्वारा (आभृताः) लाई जाती हैं। (ताः) वे (उभयीः) दोनों प्रकार की दैवी और मानुषी विपत्तियां (परावतः) दूर (नवतिं नाव्याः अति) ९० नदियों को पार करके (परा यन्तु) दूर चली जावें ।

अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता रुद्रो अग्निः ।
प्रजापतिः परमेष्ठी विराड् वैश्वानर ऋषयश्च सर्वे ॥१०॥ (२२)

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र (विष्णुः) विष्णु (सविता) सविता (रुद्रः) रुद्र (अग्निः) अग्नि (प्रजापतिः) प्रजापति, (परमेष्ठी)

९–'या कृत्याङ्गिरसीर्याकृत्यासुरीरुत' (च०) 'नाव्याति' इति पैप्प० सं० ।

परमेष्ठी, (विराट्) विराट्, (वैश्वानरः) वैश्वानर ये सब (देवाः) राष्ट्र के बड़े २ अधिकारी लोग और (सर्वे) सब (ऋषयः च) क्रान्त-दर्शी ऋषिगण (अस्मै) इस महा शूरवीर पुरुष के शरीर पर (मणिम्) शोभाजनक पदक और (वर्म) कवच को उसकी प्रतिष्ठा के निमित्त (बध्नन्तु) बांधे ।

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव ।
यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम् ॥ ११ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू जो मणि को धारण करता है वह (ओषधीनाम्) रोग को नाश करने वाली दवाओं में उत्तम ओषधि के समान उत्तम (जगताम्) गति करने वाले पदार्थों में (अनड्वान् इव) उसको उठा ले चलने वाले वाहक शक्ति के समान मूल आधार और (श्वपदाम्) कुत्ते के से नखों वाले मांसाहारी जन्तुओं में से (व्याघ्र इव) वाघ के समान सब से अधिक वीर है । हम (यम्) जिस अभिलषित पुरुष को (ऐच्छाम) प्राप्त करना चाहें (तम्) उसको और (प्रतिस्पाशनम्) अपने बाधना करने वाले पीड़ाकारी को (अन्तितम्) अन्त हुआ या विनष्ट हुआ ही (अविदाम) देखें, प्राप्त करें ।

स इद् व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा ।
अथो सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १२ ॥

भा०—(यः) जो (इमम्) इस (मणिम्) मणि, प्रतिष्ठा और वीरता के सूचक चिह्न को (बिभर्त्ति) धारण करता है वह (सः) वह (व्याघ्रो भवति) व्याघ्र के समान शूरवीर (अथो सिंहः) और सिंह के समान पराक्रमी (अथो वृषा) बैल के समान प्रजा के भार को अपने

११—'प्रतिस्पाशिनम्' इति सायणाभिमतः पाठः । 'प्रतिस्पाशनम् ध्रुवम्' इति पैप्प० सं० ।

कन्धों पर उठाने वाला और (अथो सपत्न कर्शनः) अपने शत्रुओं को जीतने वाला होता है । अर्थात् इन गुणों के धारण करने वाले धीर, वीर पराक्रमी आश्रय पुरुष को उस मणि या पदक को धारण करने का अधिकार है ।

नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः ।
सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १३ ॥

भा०—(यः) जो (इमं) इस (मणिम्) मणि को (विभर्त्ति) धारण करता है वह इतना सामर्थ्यवान् होता है कि (एनम्) इस को (न) न (अप्सरसः) स्त्रियें अपने प्रलोभनों से (न गन्धर्वाः) और न भूमि को धारण करने वाले, भूमिपाल अपना कुटिल नीतियों से और (न मर्त्याः) न साधारण मनुष्य ही (घ्नन्ति) मारने में समर्थ होते हैं । बल्कि वह (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं में अपने यश और तेज से (विराजति) नाना प्रकार से सुशोभित होता है ।

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत् ।
अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे बिभ्रत् संश्रेषिणे/जयत् ।
मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत ॥ १४ ॥

भा०—(कश्यपः) सब प्रजाओं का द्रष्टा प्रजापति (त्वाम्) तुझ को हे वीर पुरुष ! (असृजत) बनाता है, उत्पन्न करता है, और (कश्यपः) सब का द्रष्टा ज्ञानी ही (त्वा) तुझ को (सम् ऐरयत्) भली प्रकार उत्तम मार्ग में प्रेरित करता है । (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् राजा (त्वा) तुझ को (अविभः) धारण करता है और विशेष रूप से भृति देकर नियुक्त करता है और तुझ को (बिभ्रत्) विशेष रूप से नियुक्त करके ही महाराजा (सं-श्रेषिणे) परस्पर संघात पूर्वक रहने

१४–'वर्म देवा अबघ्नत' इति पैप्प० सं० ।

वाले राष्ट्र को (अजयत्) जीतता है । ऐसे (सहस्र-वीर्यम्) अपरिमित सामर्थ्यवान् (मणिम्) पदकधारी शिरोमणि पुरुष को ही (देवाः) राष्ट्र के शासक लोग अथवा उच्च कोटि के पुरुष को अपना (वर्म) रक्षक कवच के समान (अकृण्वत) बना लेते हैं ।

यस्त्वा॑ कृत्याभि॒र्यस्त्वा॑ दी॒क्षाभि॑र्य॒ज्ञैर्यस्त्वा॑ जिघांसति ।
प्र॒त्यक् त्वमि॑न्द्र॒ तं ज॑हि॒ वज्रे॑ण श॒तप॑र्वणा ॥ १५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! (यः) जो पुरुष (त्वा) तुझ को (कृत्याभिः) अपनी दुष्ट चालों से और (यः त्वा दीक्षाभिः) और जो तुझे विशेष व्रत, नियम और नियन्त्रण व्यवस्थाओं से और (यः त्वा यज्ञैः) जो तुझे यज्ञों अर्थात् परस्पर संगठित संघों द्वारा (जिघांसति) मारता या पीड़ा देना चाहता है (त्वम्) तू हे इन्द्र ! (तम्) उसको (शतपर्वणा) सैकड़ों पर्वों वाले अपरिमित बल वाले अथवा सैकड़ों टुकड़ों वाले (वज्रेण) शत्रु बल के निवारक साधन, सेनाबल या वज्र=तलवार से (प्रत्यक् जहि) पीछे मार भगा ।

'तलवार से ले लिया' इस मुहावरे से जिस प्रकार तलवार सेना का प्रतिनिधि है उसी प्रकार 'वज्र' शब्द भी तलवार का वाचक होकर 'शतपर्वा वज्र' सैकड़ों शस्त्रों वाली सेना का वाचक है ।

अ॒यमिद् वै प्र॑तीव॒र्त ओज॑स्वान् संज॒यो म॒णिः ।
प्र॒जां धनं॑ च रक्षतु परि॒पाणः॑ सुम॒ङ्गलः॑ ॥ १६ ॥

भा०—(अयम्) यह ही (मणिः) मणि के समान पदक का धारण करने वाला, शिरोमणि पुरुष (प्रतीवर्त्तः) शत्रु का मुख फेर देने में समर्थ (ओजस्वान्) प्रभाव शाली होने के कारण (संजयः) जय लाभ करने में भली प्रकार समर्थ है । वह ही (परिपाणः) राष्ट्र की

१५–(प्र०) 'यस्त्वा' इति पदं ह्विटनि–अनभिमतम् ।

१६–'सहस्वान् संजयो मणिः' इति पैप्प० सं० ।

सब प्रकार से रक्षा करता हुआ या स्वयं चारों ओर से सुरक्षित रह कर और (सुमंगलः) उत्तम मंगलजनक अभिषेक और राजतिलक आदि राजोचित संस्कारों से सुशोभित होकर (प्रजा धनम् च) प्रजा और धन की (रक्षतु) रक्षा करे ।

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात् ।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥ १७ ॥

भा०—हमारे (अधरात्) नीचे से अर्थात् हम से नीचे के लोगों की ओर से (असपत्नम्) हमारे कोई विरोधी न उठें । (नः उत्तरात् असपत्नम्) हमारी अपेक्षा ऊंचे पद के लोगों में से भी हमारे शत्रु न रहें । हे (इन्द्र) राजन् ! (नः) हमारे (पश्चात्) पीछे की ओर से (असपत्नम्) हमारे शत्रु न हों और (पुरः) आगे की ओर से हमारे आगे (ज्योतिः कृधि) प्रकाश, ज्ञान और वेदमय आदेश को रख, जिस से हम अँधेरे में न भटकें और निर्भय होकर जीवन व्यतीत करें ।

यह राजा का कर्त्तव्य है कि प्रजा को सब ओर से निर्भय करके भी प्रजा को अन्धेरे में न रक्खे, प्रत्युत उनको ज्ञानमय उन्नत मार्ग की ओर आगे बढ़ावे, उनको अन्धेरे में या अज्ञानमय दशा में न रक्खे । यह वेद का उपदेश है ।

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः ।
वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥ १८ ॥

१७–(तृ०) 'इन्द्र पिशाचं नः पश्चात् ज्योतिः' इति पैप्प० सं० ।

१. मणिर्वा इन्द्र शब्देन उच्यते इति सायणवचनात्तन्मतेऽपि मणि शब्देन मणिभिन्नं वस्तु सूक्तेन वर्ण्यते इति मणिव्याजेन मणिधारिणो-राज्ञ एव वर्णनमिष्यते ।

१८–'वर्म इन्द्रश्चाग्निश्च' इति सायणाभिमतः ।

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ, आकाश और पृथिवी (मे वर्म दधातु) मेरे लिये आपत्तियों को वारण करनेवाला कवच या रक्षा-साधन प्रदान करें। (अहः वर्म) दिन का प्रकाशमय काल मुझे आपत्तियों से बचने का उपाय प्रदान करें। (सूर्यः वर्म दधातु) सूर्य, तेजःपुञ्ज अपने प्रखर तेज से मुझे रोगों से बचने का साधन दे। (इन्द्रः च वर्म) इन्द्र, विद्युत् या राजा मुझे वर्म ऐसा साधन दे। और (अग्निः च वर्म) अग्नि और अग्रणी, नेता, सेनापति मुझे रक्षा साधन दे और (धाता वर्म दधातु) सब का पालक पोषक परमात्मा मुझे सब विपत्तियों से बचने का प्रबल साधन प्रदान करे।

ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे देवा नाति विध्यन्ति सर्वे।
तन्मे तन्वं त्रायतां सर्वतो बृहदायुष्मां जरदष्टिर्यथासानि॥१९॥

भा०—(ऐन्द्राग्नम्) इन्द्र और अग्नि राजा और सेनापति का प्रदान किया हुआ (बहुलम्) नाना प्रकार का (यत्) जो (उग्रम्) अति भयंकर (वर्म) रक्षा साधन है उसको (विश्वे देवाः) सब देव, विद्वान् गण और अधिकारी लोग और (सर्वे) सब प्रजा के लोग भी (न अति विध्यन्ति) उसका भंग नहीं करते, उसको नहीं तोड़ते। (तत्) वह प्रबल रक्षा साधन (मे तन्वम्) मेरे शरीर को (सर्वतः) सब प्रकार से (त्रायताम्) रक्षा करे (यथा) जिससे मैं (बृहत्) बड़ा शक्तिमान् और (आयुष्मान्) दीर्घायु होकर (जरदष्टिः) निर्विघ्न बुढ़ापे तक जीवन का भोग करने में समर्थ (असानि) रहूँ।

आ मारुक्षद् देवमणिर्मह्या अरिष्टतातये।
इमं मेथिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे॥ २०॥

भा०—(देवमणिः) देव विद्वानों के बीच, शिरोमणि के समान

१९-(तृ०) 'तत्ते तन्वं' (च०) 'यथासत्' इति पैप्प० सं०।

शोभावान् वह राजा (मा) मुझ राष्ट्रवासी जन को (मह्यम्) बड़े भारी (अरिष्टतातये) विनाश से रक्षा करने के लिये (आरुक्षत्) राज्यसिंहा-सन पर आरूढ़ होता है। हे प्रजागणो ! (इमम्) इस (मेधिम्) शत्रुओं के विनाशक और दण्डकारी (तनूपानम्) सबके शरीरों की रक्षा करनेवाले (त्रि-वरूथम्) तीन प्रकार के सेनाबलों से सम्पन्न इस राजा को (ओजसे) इसके प्रभाव के कारण (अभि संविशध्वम्) शरण आओ; इसकी छत्रछाया में आओ।

अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृम्णमिमं देवासो अभिसंविशध्वम् ।
दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्मान् जरदष्टिर्यथासत् ॥ २१ ॥

भा०—(इन्द्रः) सबसे अधिक ऐश्वर्यशील परमात्मा (अस्मिन्) इस राजा में (नृम्णम्) सब मनुष्यों को अभिमत धन, बल, ऐश्वर्य और सुख (विदधातु) स्थापित करे । हे (देवासः) विद्वान् , शक्तियुक्त पुरुषो ! अधिकारियो ! (इमम्) इसके (अभि-संविशध्वम्) चारों ओर आकर विराजमान होओ। (यथा) जिससे यह राजा (शत-शारदाय) सौ वर्ष तक के (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु तक (आयुष्मान्) दीर्घजीवी (जरदष्टिः) जरावस्था तक स्थिर (असत्) रहे।

स्वस्तिदा विशांपतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
इन्द्रो बध्नातु ते मणिं जिगीवाँ अपराजितः सोमपा अभयंकरो वृषा ।
स त्वा रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः ॥ २२ ॥ (१३)

भा०—हे वीर पुरुष ! (स्वस्तिदाः) स्वस्ति, कल्याण, प्रजा को सुख शान्ति और समृद्धि देने वाला (विशांपतिः) प्रजाओं का राजा होता है। वही (वृत्रहा) प्रजा में से विघ्नकारी दुष्टों का नाश करने

२०–(प्र०) 'आत्वा रुक्षत्' (तृ०) 'इम मन्यम्' इति पैप्प० सं० ।
२२–(ष०) 'स त्वा रक्षतु सर्वदा' इति पैप्प० सं० ।

वाला (विमृधः) नाना प्रकार से उनको दण्ड देने वाला होकर समस्त प्रजा को (वशी) वश करने में समर्थ होता है। ऐसा ही तू बन। (इन्द्रः) इन्द्र सर्वैश्वर्यवान् , (जिगीवान्) सर्वत्र विजयशील (अपराजितः) कहीं भी पराजित न होने वाला (सोमपः) सोम, राष्ट्र का पालक (अभयंकरः) प्रजा को अभय-प्रदाता (वृषा) सब सुखों का वर्षण करने वाला या सब की शक्तियों का प्रतिबन्ध करने वाला वह (ते) तेरे शरीर पर (मणिम्) वीरताद्योतक मणि या पदक को (बध्नातु) बांधे। और (सः) वह (सर्वतः) सब प्रकार से (दिवा) दिन और (नक्तं च) रात (विश्वतः) सब से (त्वा) तेरी (रक्षतु) रक्षा करे।

[६] कन्या के लिये अयोग्य और वर्जनीय वर और स्त्रियों की रक्षा।

मातृनामा ऋषिः। मातृनामा देवता। उत मन्त्रोक्ता देवताः, १,३,४-६,१३, १८,२६ अनुष्टुभः, २ पुरस्ताद् बृहती, १० त्र्यवसाना षट्पदा जगती, ११, १२, १४, १६ पथ्यापंक्तयः, १५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी, १७ त्र्यवसाना सप्तपदा जगती ॥

यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ।
दुर्णामा तत्र मा गृधदलिंश उत वत्सपः ॥ १ ॥

भा०—हे वरवर्णिनि ! (जातायाः) विवाहयोग्य, शुभगुणमयी, निर्दोष रूप से गुणवती (ते) तुझ कन्या के लिये (पतिवेदनौ) पति के रूप में प्राप्त होने वाले (यौ) जिनको (माता) तेरी माता (उत्-ममाज)[1] पति होने से निषेध करदे, उन में से एक (अलिंशः)[2] अगम्य

[६] १–'अलींश' इति सायणाभिमतः पाठः।

१. 'उन्ममार्ज' परिहृतपती पत्युः परिग्रहाभे तिशेष इति सायणः।

२. 'अलिंशः' लिश अल्पीभावे (भ्वादिः) गतौ च (तुदादिः)

अस्पृश्य, त्वचागत संक्रामक दोष से युक्त (दुर्नामा)[3] कुष्ठी पापरोगी और दूसरा (वत्सपः) बच्चों का पालन करने वाला बड़ी उमर का दा या संवर्त्त रोग से पीड़ित है। वे दोनों ही (तत्र) कन्या के साथ विवाह करने के लिये (मा गृधत्) कभी अभिलाषा न करें।

जातः पुत्रोऽनुजातश्च अतिजातस्तथैव च,
अपजातश्च लोकेऽस्मिन् मन्तव्या शास्त्रवेदिभिः।
मातृतुल्यगुणो जातस्त्वनुजातः पितुः समः।
अतिजातोऽधिकस्तस्मात् अपजातोऽधमाधमः।

पद्म० १।४२६,४२७ ॥

जात, अनुजात, अतिजात और अपजात चार प्रकार की सन्तान होती हैं। माता के गुणों पर उत्पन्न सन्तान 'जात', पिता के गुणों पर अनुजात, उन दोनों से अधिक अतिजात और हीन 'अधम' कहाती हैं। संस्कृत साहित्य में पुत्र पुत्रियों को 'जात', 'जाता' शब्द से व्यवहार किया जाता है। माता पुत्रों के विवाह के समय कुष्ठादि रोगों से पीड़ित और बूढ़ों को कन्या पति कभी न वरे प्रत्युत इनकार करदे। और न ऐसे रोगियों और अधेड़ लोगों को विवाह की इच्छा करनी चाहिये।

पलालानुपलालौ शर्कुं कोकं मलिम्लुचं पलीजकम्।
आश्रेषं वव्रिवाससमृक्षग्रीवं प्रमीलिनम् ॥ २ ॥

भा०—कन्या की माता (पलालानुपलालौ) पलाल अर्थात् मांसभक्षी

३. 'दुर्नामा'–क्रिमिर्भवति पापनामा। क्रिमिः क्रव्ये मेद्यति। क्रमतेर्वा स्यात् सरणकर्मणः, क्रामतेर्वा।

२–'पलीचकं' इति सायणाभिमतः पाठः। (प्र०) शुल्कं कोकं मलीमृतं पलीतकं' (तृ०) आश्लेषं, वव्रिवाससमृक्षग्रीवं प्रमीलिनं मुष्कयोरप हन्मासि' इति पैप्प० सं०।

और अनु-पलाल मांसभक्षियों को सन्तानों की या हीन और हीनों के संगी लोगों को और (शर्कुं) हिंसक स्वभाव (कोकम्) उल्लू या भेड़िये के स्वभाव के छली या निर्दयी (मलीम्लुचम्) मलिन स्वभाव, चोर और (पलीजकम्) श्वेत बालों वाले या पलित रोगी, (अश्रेषम्) शीघ्र चिपट जाने वाले, संक्रामक रोग से पीड़ित अथवा गर्मी, सुजाक आदि दाहकारी रोग से पीड़ित, (वव्रिवाससम्) रूपविनाशक अथवा रूप या ऊपर के दिखावे के ही वस्त्रों से सजे हुए, (ऋक्ष-ग्रीवम्) रीछ के समान मोटी गर्दन वाले अति लोमश और (प्रमीलिनम्) सदा अपनी आँखें मिचमिचाने वाले, चून्धे आदमी को भी (माता उन्ममार्ज) कन्या की माता अपनी कन्या के विवाह के अवसर पर नकार दे ।

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षयामय्व्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥

(मनु० अ० ३ । ५,६ ॥)

दुराचारी, नीच, नपुंसक, वेदरहित, लोमश, ववासीर, क्षयी, मृगी, कोढ़ आदि के रोगी पुरुषों को विवाह के लिये छोड़ देना चाहिये, चाहे ये कुल बड़े सम्मृद्ध भी क्यों न हों । वेद के कथनानुसार मांसाहारी नीच, उनका संगी, हिंसक, चोर, वृक के समान दम्भी, पलितरोगी, सक्रामक रोगी, रीछ के समान लोभवान्, चूंधे आदमी को त्याग देना चाहिये चाहे वे उत्तम रूप वस्त्रादि पहन कर भी क्यों न आये हों । पैप्पलाद-शाखा में इस मन्त्र में 'मुष्कयोरपहन्मसि' अधिक पाठ है । अर्थात् ऐसे पुरुषों की सन्तान रोकने के लिये इनके अण्डकोश काट देने चाहियें जिन से ये सन्तान उत्पन्न ही न कर सकें ।

५

मा संवृतो मोप सृप ऊरू माव सृपोन्तरा ।
कृणोम्यस्यै भेषजं बजं दुर्णामचातनम् ॥ ३ ॥

भा०—हे दुर्नाम ! कुष्ठ रोगी पुरुष या कुष्ठ रोग (मा संवृतः) तू कभी वरण न किया जाय । और यदि भूल से किसी प्रकार कन्या के द्वारा वरण भी किया गया हो तो (ऊरू) कन्या के जंघा भागों के (मा उपसृप) समीप स्पर्श मत कर अर्थात् कन्या के साथ संग मत कर और (अन्तरा मा अवसृप) और मकान के भीतर भी मत रह । (अस्यै) इस कन्या के लिये (दुर्नाम-चातनम्) दुष्ट नाम वाले दुष्ट रोग से पीड़ित पुरुष के दूर करने वाले (बजं) अभिगमनीय, सुन्दर पुरुष को ही (भेषजम्) उत्तम उपाय (कृणोमि) करता हूं ।

दुष्ट रोगी पुरुष न वरे जायं और वे कन्याओं का संग न करें । कन्याएं ऐसे रोगियों के हाथ न जायं इसका सब से उत्तम उपाय उनके समक्ष उत्तम, शालीन वरों को स्थापित करना है ।

दुर्णामा च सुनामा चोभा संवृतमिच्छतः ।
अरायानप हन्मः सुनामा स्त्रैणमिच्छताम् ॥४॥

भा०—(दुर्नामा) दुष्ट रोग से बदनाम हुआ घृणित पुरुष और (सुनामा च) उत्तम रूप से युक्त सुन्दर, सुगुण पुरुष (उभा च) दोनों ही (संवृतम्) स्वयंवर के अवसर पर अपने को वरा जाना (इच्छतः) चाहते हैं । हम कन्या के सम्बन्धीगण (अरायान्) उत्तम गुण सम्पत्तियों से रहित निकृष्ट, अधम, कुलक्षणी लोगों को (अप हन्मः) दूर भगादें और (सुनामा) उत्तम गुण, रूप, यशवाला पुरुष (स्त्रैणम्)[1] कन्याओं को या स्त्री के शरीर को (इच्छताम्) प्राप्त करे उसका स्वामी बने ।

३–(च०) 'जवं दुर्णामचातनं' इति पैप्प० सं० ।

४–(द्वि०) 'संवृतामिच्छताम्' इति पैप्प० सं० ।

१–'स्त्रैणं' स्त्रियाः सम्बन्धि अङ्गं स्त्रीसमूहं वा इति सायणः ।

यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः ।

अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोप हन्मसि ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो (कृष्णः) अति काला या काले कर्मों वाला पापाचारी (केशी) लम्बे २ बालों वाला, असभ्य (असुरः) केवल प्राणपोषी, खाऊ पीऊ, उड़ाऊ; (स्तम्बजः) जंगली और (तुण्डिकः) नाक थोथने वाला, कुरूप वानर के मुख वाला पुरुष हो और भी इसी प्रकार (अरायान्) कुलक्षण वाले पुरुषों को हम (अस्याः मुष्काभ्याम्)[1] इस कन्या के भोगप्रद अंग तथा (भंससः) मूल भागों से (अप हन्मसि) परे रक्खें । अर्थात् ऐसे नीच वृत्ति के पुरुषों के दुर्व्यसनों से कन्या को यत्न से बचाना चाहिये कि कोई उस के कौमार व्रत को खण्डित न करे ।

अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम् ।

अरायाँछ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत् ॥ ६ ॥

भा०—(अनुजिघ्रम्) गन्ध लेकर (प्रमृशन्तम्) अपने विषय को पता लगाने वाले (उत) और (क्रव्यादम्) मांसखोर, (रेरिहम्) चाटने वाले या कुत्तों के समान जीभ से चाटने वाले नीच लोभी पुरुष को और (श्वकिष्किणः) कुत्तों की चाल चलने वाले, दूसरों की सेवा में लगे (अरायान्) निर्धन, दरिद्र कुलक्षणों और कुलक्षणियों को (बजः) उत्तम, गम्य, तेजस्वी (पिङ्गः)[1] वरण करने योग्य, सम्पन्न, भूमि

५—'आरायानस्या भंससो मुष्कयोरप हन्मसि' इति पैप्प० सं० ।

१—'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ।'

६—'अरायांश्च किष्किणो' इति सायणाभिमतः पाठः । रायश्चुकुष्किणम्' इति पैप्प० सं० ।

१. पिजि भाषार्थः, हिंसाबलादाननिकेतनेषु इति चुरादिः, पिजि वर्णे

मकान आदि से सुप्रतिष्ठित और उत्तम वाग्मी पुरुष (अनीनशत्) नाश कर देता है, परास्त कर देता है। अतः उनको त्याग कर उत्तम, सुप्रतिष्ठित एवं विद्वान् को कन्या का वर स्वीकार करना चाहिये।

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।
बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥ ७ ॥

भा०—हे वरवर्णिनि ! (यः) जो पुरुष (भ्राता) तेरे भाई (पिता इव च) और पिता का सा रूप बना कर (स्वप्ने) निद्रा के समय (निपद्यते) नीच भाव से तेरे समीप आता है (तान्) उन सब दुष्ट भाव से भरे (क्लीबरूपान्) नपुंसक और (तिरीटिनः) उन्मार्गगामी, टेढ़े रास्ते पर जाने वाले, कुपथगामी पुरुषों को (बजः) वह स्वयंवृत्त उत्तम तेजस्वी पुरुष (सहताम्) पराजित करे और कन्या को सुख से अपने संग विवाह ले।

यस्त्वां स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम् ।
छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत् ॥ ८ ॥

भा०—पुरुष हे वरवर्णिनि ! (यः) जो दुष्ट पुरुष (त्वा) तुझे स्वपन्तीम्) सोता हुआ जान कर (त्सरति) छल से भेष बदल कर तेरे पति के समान रूप बना कर तेरा सतीत्व नष्ट करना चाहता है और (यः) जो (त्वाम्) तुझ को (जाग्रतीम्) जागती हुई को (दिप्सति) मार पीट कर कष्ट देना चाहता है (छायाम् सूर्य इव) जिस प्रकार सूर्य

(अदादिः) इत्येतेभ्यः पचाद्यच् न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् निपातनात्।

७–(प्र०) 'यस्त्वा सुप्तां निप–' (तृ० च०) 'बजस्तान्सहतामितः क्लीबरूपं किरीटिनम्' इति पैप्प० सं०।

८–'यस्त्वां सुप्तां छिन्नयश्च दिप्सति' इति पैप्प० सं०। स्वपन्तीं चरति' इति सायणाभिमतः।

छाया या अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार दुष्टों का परितापक (परिक्रामन्) चारों तरफ़ पहरा देता हुआ रक्षक राजा (तान्) उनको (अनीनशत्) निरन्तर विनाश करे।

यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम्।
तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम् ॥ ९ ॥

भा०—(यः) जो दुष्ट पुरुष (इमाम्) इस (स्त्रियम्) स्त्री को (मृतवत्साम्) मरे बच्चे वाली और (अवतोकाम्) पतित गर्भ वाली (कृणोति) करे अर्थात् उसके बच्चों को मार दे या गर्भों को गिरा दे हे (ओषधे) दुष्टों के तापदायी राजन्! (त्वम्) तू (अस्याः) इस स्त्री के (तम्) उस (अञ्जिवम्) प्रकट कामी (कमलम्) जार को (नाशय) विनाश कर दण्ड दे।

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्रिमाः।
तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् वि नाशय ॥१०॥ (१४)

भा०—(ये) जो (शालाः) आवारागर्द, इधर उधर घूमने वाले या हिंसक (गर्दभनादिनः) गधों के समान खें खें करके हँसने और कोलाहल मचाने वाले (सायं) सायंकाल, रात्रि के प्रारम्भ में (परिनृत्यन्ति) इधर उधर नाचते हैं, अश्लील चेष्टायें करते हैं और (ये) जो

९–'यः कृणोत्यवतोकां मृतवत्सामिमां स्त्रियं' (च०) कमलवस्युवम्' इति पैप्प० सं०।

१०–'स्वरुगाःश्रुमाः', 'खरुमाःश्रमाः' इति वा सायणाभिमतः पाठः। कुकुधाः इत्यपि क्वचित्। (च०) 'स्रिमाः' इति क्वचित् पाठः। (तृ० च०) कुशूला यच्च कुचुला ककुभा स्वरसा [रमा] रुमा' इति पैप्प० सं०।

(कुसूलाः) कुत्सित रूप में दूसरों के साथ लगने, बिना मतलब दूसरों के सिर हो जाने वाले (कुक्षिलाः) बड़ी २ कोखों वाले, मोटे ताजे, (ककुभाः) कुत्सित, निन्द्य वस्त्र पहने, बदपोशाक, (करुमाः) कुत्सित शब्दों के प्रयोग करने वाले, गाली गलौच बकने वाले, (स्रिमाः) लफंगे, लुक छिपकर भागने वाले हैं हे (ओषधे) दुष्ट तापदायक राजन् ! दण्डकारिन् ! उन (विषीचीनान्) नाना प्रकार की पीड़ाएँ देने वाले दुष्ट पुरुषों को (त्वम्) तू (गन्धेन) अपने तीव्र पीड़ाकर दण्ड द्वारा, तीव्र ग्रन्ध वाली औषध जिस प्रकार अपने गन्ध से कीड़ों को नाश करती है उसी प्रकार (विनाशय) नाना प्रकार से नाश कर ।

'शालाः' शल गतौ इत्य स्मात् ण्यन्तादच् । शृणोतेर्वा घञ् छान्दसो लः । 'कुसलाः' कुसश्लेष इत्यतः उणादिरूलच् । 'ककुभाः' कुभि आच्छादने, कुत्सिताच्छादनशीलाः । 'करुमाः' रौतेर्भन् औणादिः । कुत्सितशब्दकारिणः । 'स्रिमाः' सरतेर्वामन् । सरणशीलाः । 'गन्धेन' गन्ध अर्दने चुरादिः । अर्दनम् पीड़ाकरणम् दण्डनमिति यावत् ।

ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति ।
क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि॥११॥

भा०—(ये) जो पुरुष (कुकुन्धाः) कुत्सित २ मांस, हड्डी आदि मलिन पदार्थों को धारण करने वाले (कुकूरभाः) कुत्सित २ पदार्थों को खोजने और गन्दे २ शब्द बोलने वाले और (कृत्तीः) पशुओं की खालों और (दूर्शानि) दुःखदायी जन्तुओं को (बिभ्रति) धारण करते हैं और जो (क्लीबा इव) नपुंसक हीजड़ों और कंजरों के समान (प्रनृत्य-

११–(प्र०) 'ये कुकन्धा कुकूरवाः' (द्वि०) 'कृत्यैर्दूष्याणि बिभ्रति' इति सायणाभिमतः पाठः । 'ये ककुन्धाः करूरभाः कृत्यै दुरिशानि बिभ्रति । क्लीवेव प्रनृत्यन्तो घोषं कुर्वते ,वन' इति पैप्प० सं० ।

न्तः) नाचते कूदते हुए (वने) जंगलों में (घोषम्) शोर (कुर्वते) मचाते हैं या (वने घोषं कुर्वते) वन में अपनी झोपड़ी बना कर रहते हैं। (तान्) उनको (इतः) इस राष्ट्र से (नाशयामसि) परे मार भगावें।

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः।
अरायान् वस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान् मककान् नाशयामसि ॥ १२ ॥

भा०— (ये) जो (दिवः) आकाश से (आतपन्तम्) सब ओर प्रकाश फेंकते हुए, तपते हुए (सूर्यम्) सूर्य के समान शत्रुओं को परिताप देने वाले (अमुम्) उस राजा के प्रताप को (न तितिक्षन्ते) नहीं सहन करते ऐसे (अरायान्) दरिद्र, नीच (वस्तवासिनः) चाम ओढ़ने वाले (दुर्गन्धीन्) दुर्गन्ध पदार्थों के सेवी (लोहितास्यान्) रुधिर से मुंह लाल किये (मककान्) हीनाचार वाले पुरुषों को हम (नाशयामसि) विनाश करें।

य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय बिभ्रति।
स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥ १३ ॥

भा०—(ये) जो (अतिमात्रम् आत्मानम्) अपने भारी रूप को (अंसे) अपने कन्धे पर (आधाय बिभ्रति) रक्खे हुए हैं अर्थात् बड़े डील डौल वाले और बनावटी मुँह बना कर अपने कन्धे पर पहने रहते हैं ऐसे छद्मवेशी लोग रात को (स्त्रीणां) स्त्रियों के संग (श्रोणि-प्रतोदिनः) दुर्व्यवहार करने वाले हैं, हे (इन्द्र) राजन्! (रक्षांसि) उन राक्षसों, कूट रूपधारी लोगों को (नाशय) विनाश कर।

१२–(तृ०) 'रायान् वस्तवासिनो' (पं०) 'मृशकान्' इति पैप्प० सं०।
१३–'आहिंमाधाय बिभ्रति' इति पैप्प० सं०।

ये पूर्वे वध्वोः यन्ति हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः ।
आपाकेष्ठाः प्रहासिनं स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशयामसि ॥ १४ ॥

भा०—(ये) जो दुष्ट, गुण्डे लोग (वध्वः पूर्वे) स्त्री के आगे, स्त्रियों के सामने (हस्ते) हाथ में (शृङ्गाणि) सींगों को या अपने गुह्यांगों को (बिभ्रतः) लिये हुए (यन्ति) आजायें ऐसे बेशर्म नीच गुण्डों को और जो (आपाकेष्ठाः) अकेले, टूटे फूटे, रद्दी भयंकर स्थानों में (प्रहासिनः) अट्टहास करें और (ये) जो ग्राम के लोगों को त्रास देने के लिये (स्तम्बे) झुण्ड में (ज्योतिः) प्रकाश या आग के शोले (कुर्वते) किया करें (तान्) उनको (इतः) यहां से (नाशयामसि) मार भगावें ।

येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा ।
खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मट्मटाः कुम्भमुष्का अयाशवः ।
तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेन नाशय ॥ १५ ॥

भा०—(येषाम्) जिन के (प्रपदानि) पंजे (पश्चात्) पीछे की ओर और (पार्ष्णीः) एड़ियां (पुरः आगे को और (मुखा पुरः) मुँह आगे हों ऐसे (खलजाः) गुण्डों के छोकरे, (शकधूमजाः) शक्तिमान्, तामस, बड़बड़ाने वाले (कुम्भमुष्काः) और घड़े के समान स्थूल

१४–(अ०) 'बध्वो यन्ति' इति क्वचित्‌ः ।

१. 'पाक' इति प्रशस्यनाम ततो विपरीतं 'अपाकम्' तदेव 'आपाकम्' तत्र तिष्ठन्ति निवसन्ति इति आपाकेष्ठाः, जीर्णभग्नचिरत्यक्तगृहकूपादिषु कृतावस्थानाः ।

१५–(तृ०) 'शाकधूमजा' (च०) 'ये च मय्यजाः' (पं०) 'कुम्भमुष्का याशवः' इति पैप्प० सं० । 'अरुण्डा ये च मुट्मुटाः' इति सायणाभिमतः पाठः ।

अण्डकोशों वाले, (अयाशवः) भोग करने में सर्वथा असमर्थ, निर्वीर्य आन्त्रवृद्धि के रोग से पीड़ित (तान्) उनको हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के ज्ञानी पुरुष तू (अस्याः) इस स्त्री के (प्रतिबोधेन) ज्ञान बल से (नाशय) नाश कर। अर्थात् पूर्वोक्त विकृत आकृति रूपवाले, दुष्टाचारी, हीन, रोगी, नपुंसक आदि लोगों के हाथ में स्त्रियें न पड़ जावें इसलिये स्त्रियों को उत्तम शिक्षा प्रदान करें जिससे वे उनके फंदों में न फसें। मूर्ख भोली भाली स्त्रियां उपरोक्त कुरंग और बदशकल लोगों को साधु करके पूजती हैं और फंस जाती हैं उनसे सावधान कर दिया जाय।

पर्यस्ताक्षा अप्रचङ्कशा अस्त्रैणाः सन्तु पण्डगाः।
अव भेषज पादय य इमां संविवृत्सत्यपतिः स्वपतिं स्त्रियम् ॥१६॥

भा०—(पर्यस्ताक्षाः) जिनकी आंखें फिरी हुई हों, जो सीधा न देख सकें, ऐसे टेढ़-अंखे आदमी और (अप्रचङ्कशाः) बिलकुल लंगड़े लूले या आँखों से लाचार (पण्डगाः) चूतड़ों के बल सरकने वाले, चूण्डे या नपुंसक लोग सदा (अस्त्रैणाः) स्त्रियों से रहित (सन्तु) रहें। ऐसे लोगों को कभी स्त्री प्राप्त करने का अधिकार न हो। और (यः) जो भी (इमाम्) इस वरवर्णिनी (स्वपतिम्) स्वयं अपना पति वरण करने हारी (स्त्रियम्) स्त्री को (अपतिः) स्वयं उसका पालन करने में समर्थ न होकर भी (संविवृत्सति) प्राप्त करना चाहता है उसको हे (भेषज) चिकित्सक राजवैद्य ! तू (अवपादय) उसको विवाह के अयोग्य ठहरा।

उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम्।
उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम्।
पदा प्र विध्य पार्ष्ण्या स्थालीं गौरिव स्पन्दना ॥ १७ ॥

१६–(पं०) 'स्वपतिं स्त्रियम्' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे स्त्री ! (स्यन्दना) दूध देने वाली (गौः इव) गौ कष्ट पाकर जिस प्रकार (स्थालीम्) दूध दुहने के बर्तन को (पदा) पैर से या (पार्ष्ण्या) एडी से ठुकरा देती है इसी प्रकार हे स्वय अपने पति को वरने वाली स्त्री ! तू भी (उद् हर्षिणम्) अति अधिक कामी, (मुनिकेशम्) मुनि के समान जटा वाले, (जम्भयन्तम्) हिंसक, शरीर को पीड़ा पहुँचाने वाले, (मरीमृशम्) बार २ गुह्यांगों को स्पर्श करने वाले, (उदुम्बलम्) अति अधिक भोगी (तुण्डेलम्) बन्दर के समान आगे को बढ़े हुए मुख वाले या बहुत तोंद वाले (उत) और (शालुडम्) लुच्चे, व्यभिचारी पुरुष को (पदा) पैरों से और (पार्ष्ण्या) एड़ियों से (प्र विध्य) खूब ठोकरें मार, ताड़ । स्त्री ऐसे नीच पुरुष को स्वयं दण्ड दे ।

यस्ते॒ गर्भं॑ प्रति॒मृशा॑ज्जा॒तं वा॑ मा॒रया॑ति ते ।

पि॒ङ्गस्तमु॒ग्रध॑न्वा कृ॒णोतु॑ हृदया॒विध॑म् ॥ १८ ॥

भा०—हे स्त्रि ! (यः) जो (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ को (प्रतिमृशात्) विनाश करने की चेष्टा करे या (ते जातं वा) तेरे उत्पन्न हुए बालक को (मारयाति) मारे (तम्) उसको (उग्रधन्वा) प्रबल धनुर्धारी शासक (पिंगः) वृत पति या बली राजा (हृदयाविधम्) हृदय में बाण प्रहार (कृणोतु) करे और मार डाले ।

यदि कोई दुष्ट पुरुष स्त्री को उसके वृत पति से जुदा करके उसके पूर्व धारित गर्भ को नाश करे या बालक को मारे तो ऐसे दुष्ट को हृदय में उसका पति बाण मार कर प्राण ले । राजा ऐसा विधान करे ।

१७–(तृ०) 'उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम्' । पदाप्रविध्यप्रास्यात् स्थालीं गौरिवस्यन्दनात् , इति सायणाभिमतः पाठः । 'तुण्डेलमुत-शालूढम् । पदा प्रवृद्धि' इति पैप्प० सं० ।

ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ।

स्त्रीभागान् पिङ्गो गन्धर्वान् वातो अभ्रमिवाजतु ॥ १६ ॥

भा०—(ये) जो दुष्ट, कामी लोग (अम्नः) एक साथ उत्पन्न या अचेत, अबोध, नन्हे, बेख़बर या मन के प्रतिकूल (जातान्) उत्पन्न हुए बच्चों को (मारयन्ति) मार डालते हैं और जो कामी लोग (सूतिकाः) नवप्रसूता स्त्रियों के साथ (अनुशेरते) संग करते हैं (तान्) उन (स्त्रीभागान्) स्त्रीसेवी व्यभिचारी (गन्धर्वान्) लुच्चों को (पिंगः) बलवान् राजा (वातः अभ्रम् इव) वायु जिस प्रकार बादलों को छिन्न भिन्न कर देता है उसी प्रकार (अजतु) धुन डाले, कठिन यातनाएं दे देकर उनको धुनवा डाले, उनकी बोटी २ कटवा डाले।

परिसृष्टं धारयतु यद्धितं मावं पादि तत् ।

गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ ॥ २० ॥ (१५)

भा०—स्त्री (परिसृष्टम्) सब प्रकार से परिपूर्ण गर्भ को अथवा अपने पति द्वारा गर्भ में आहित वीर्य को (धारयतु) धारण करे और (यत्) जो गर्भ में (हितम्) धारण करले (तत्) वह (मा अवपादि) कभी नीचे न गिरे, कभी गर्भ का पात न किया जाय। हे स्त्रि ! (ते गर्भम्) तेरे गर्भ को (उग्रौ) उग्र बलशाली (नीविभार्यौ) धन और स्त्री के गर्भ की रक्षा करने वाले राजा और पति दोनों (भेषजौ) दो ओषधियों के समान होकर (रक्षताम्) रक्षा करें।

१६–'येस्ता जातान्' (च०) 'गन्धर्वान् अभ्रे [र्] वाते [र्] वा रा [ए] जतु' इति पैप्प० सं० ।

२०–(प्र०) 'परिशिष्टं' सायणाभिमतः पाठः । (प्र० द्वि०) 'परिशिष्टं धारयतु युज्यतं मावपादि तत्' (च०) 'निवभार्ययौ' इति पैप्प०सं० ।

प॒वी॒न॒सात् त॑ङ्ग॒ल्वा॒३॒॑च्छाय॑कादु॒त नग्न॑कात् ।
प्र॒जायै॒ पत्ये॑ त्वा पि॒ङ्गः परि॑ पातु कि॒मीदि॑नः ॥ २१ ॥

भा०—हे स्त्री ! (पवीनसात्) पूति गन्ध से युक्त, सड़ी नाक वाले, (तङ्गल्वात्) फूले गालों वाले (छायकात्) मुंह से काटने वाले और (नग्नकात्) नंगे, निर्लज्ज इन (किमीदिनः) सब पदार्थों को तुच्छ देखने वाले, मूर्ख असभ्य गुण्डों से (पिंगः) बलवान् पुरुष (प्रजायै) तेरी प्रजा और (पत्यै) तेरे पति के सुख के लिये (त्वा परि पातु) तेरी रक्षा करे ।

द्व्या॒॑स्याच्चतुर॒क्षात् पञ्च॑पादादन॒ङ्गुरेः ।
वृन्ता॑द॒भि प्र॒सर्प॑तः परि॑ पाहि वरीवृ॒तात् ॥ २२ ॥

भा०—(द्व्यास्यात्) दोमुँहे (चतुरक्षात्) चार आँखों वाले, (पञ्चपादात्) पांच पैरों वाले (अनगुंरेः) बिना अंगुली वाले या (वरीवृतात्) गोल मठोल गांठ के समान उस बालक से जो (वृन्तात्) गर्भाधानी के मूल से (अभि प्रसर्पतः) आगे को उत्पन्न हो रहा है उस से स्त्री को हे वैद्य ! (परि पाहि) सुरक्षित कर । अर्थात् वैद्य उत्तम उपचार द्वारा स्त्री को दुष्ट पिण्ड के प्रसव से बचावे ।

य आ॒मं मां॒सम॒दन्ति॒ पौरु॑षेयं च॒ ये क्र॒विः ।
गर्भा॑न् खाद॑न्ति केश॒वास्तानि॒तो ना॑शयामसि ॥ २३ ॥

भा०—(ये) जो (आमम्) कच्चा (मांसम्) मांस (अदन्ति)

२१–'सायकादुत' इति सायणाभिमतः पाठः । 'पवैनसा तङ्गल्वा' इति पैप्प० सं० ।

२२–'पञ्चपादादनङ्गुलेः' 'वृन्द्धादभिप्रसर्पतः' इति पैप्प० सं० ।

२३–'यामं मांसं', 'केशवास्या', 'तस्य भंससो मुष्कयोरपहन्मसि' इति पैप्प० सं० ।

खाते हैं और (ये च) जो (पौरुषेयम्) पुरुष या मनुष्य का (क्रविः) मांस खाते हैं। और (केशवाः) लम्बे केश वाले, मायावी अघोरी जो लोग (गर्भान्) गर्भों को भी (खादन्ति) खा जाते हैं (तान्) उन दुष्ट प्राणियों को (इतः) यहां से (नाशयामसि) विनष्ट करें ।

ये सूर्यात् परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि ।
बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेधि नि विध्यताम् ॥ २४ ॥

भा०—(श्वशुराद् अधि) श्वशुर से (स्नुषा इव) जिस प्रकार पुत्रवधू या बहू लज्जायुक्त होकर छिप जाती है उसी प्रकार (ये) जो दुष्ट प्राणी (सूर्यात्) सूर्य के प्रकाश से परे भाग कर अन्धेरे में जा छिपते हैं (बजः च पिंगः च) गतिशील, पराक्रमी और बली पुरुष या ओषधि (तेषाम्) उनके (हृदये अधि) हृदय मर्म में (नि विध्यताम्) खूब प्रहार करे ।

पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन् ।
आण्डादो गर्भान्मा दभन् बाधस्वेतः किमीदिनः ॥ २५ ॥

भा०—हे (पिंग) बलवान् ओषधे तापकारिन् ! (जायमानम्) उत्पन्न होते हुए बालक को (रक्ष) रक्षा कर । (पुमांसम् स्त्रियम्) पुमान् बालक को या स्त्री बालक को भी (मा क्रन्) विक्षिप्त या दुखी न करें । (आण्डादः) स्त्री के या बालक के अण्डकोश भागों को काट कर खाजाने वाला रोगकीट (गर्भान्) गर्भ-गत बालकों को (मा दभन्) विनाश न करे, इसलिये हे वैद्य या ओषधे ! (तान्) उन (किमीदिनः) तुच्छ भुक्खड़ क्षुद्र प्राणियों को (इतः) यहां से (बाधस्व) विनाश कर ।

अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद् रोदमघमावयम् ।
वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत् ॥ २६ ॥ (१५)

२६–क्रनोऽत्र प्रातविधानमर्थः । (प्र० द्वि०) 'मार्त्तवत्समामाम्रोघमघसा

भा०—(अप्रजास्त्वम्) स्त्रियों को प्रजा न होना, (मार्तवत्सम्) मरा हुआ बालक होना, (आत्) और तिस पर भी बालक के होते समय (आवयम्) उत्पन्न होने वाली पीड़ाओं के कारण (रोदम्) बहुत अधिक पीड़ा से (अघम्) कष्ट या बुरे लक्षण दीखना (तत्) इन सब को (वृक्षात् स्रजम् इव) जिस प्रकार वृक्ष से फल तोड़ लिया जाता है उसी प्रकार सुगमता से स्त्री शरीर से (कृत्वा) दूर करके (अप्रिये) प्रिय न लगने वाले बुरे स्थान में (प्रतिमुञ्च) डाल दे ।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम् ऋचश्चाष्टाचत्वारिंशत्]



[७] ओषधि-विज्ञान ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ताः ओषधयो देवता । १,७,९,११,१३,१६,२४,२७ अनुष्टुभः । २ उपरिष्टाद् भुरिग् बृहती, ३ पुर उष्णिक् , ४ पञ्चपदा परा अनुष्टुप् अति जगती , ५,६,१०,२५ पथ्या पङ्क्तयः । १२ पञ्चपदा विराड् अतिशक्वरी । १४ उपरिष्टान्निचृद् बृहती । २६ निचृत् । २२भुरिक् । १५ त्रिष्टुप् । अष्टाविंशर्चं सूक्तम् ॥

या ब॒भ्रवो॒ याश्च॑ शु॒क्रा रोहि॑णीरु॒त पृश्न॑यः ।

असि॑क्नीः कृ॒ष्णा ओष॑धीः स॒र्वा अ॒च्छाव॑दामसि ॥ १ ॥

भा०— (या) जो ओषधियां (बभ्रवः) पुष्टिकारक, मांस बढ़ाने वाली (याः च) और जो (शुक्राः) शुक्र, वीर्यवर्धक (रोहणीः) रोहणी- अर्थात् क्षत आदि को भरने वाली, उत (पृश्नयः) रस पोषण करने वाली,

नयम्' इति पैप्प० सं० । 'सेदमघावयम्' इति सायणाभिमतः पाठः ।

(असिक्नीः) श्याम रंग की (कृष्णाः) कृष्ण वर्ण की या विलेखन करने वाली (ओषधीः) ओषधियें हैं (सर्वाः) उन सबको हम (अच्छा आवदामसि) भली प्रकार उपदेश करते हैं। अथवा (बभ्रवः) भूरे रंग की (शुक्राः) श्वेत रंग की (रोहणीः) पुष्टिकारी (पृश्नयः) चित्र वर्ण की (असिक्नीः) फलियों वाली (कृष्णाः) काली रंग की इत्यादि ओषधियों का हम उपदेश करते हैं ।

त्रायन्तामिमं पुरुषं यक्ष्माद् देवेषितादधि ।
यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ॥२॥

भा०—(यासाम्) जिन (वीरुधाम्) लताओं या वृक्ष वनस्पति आदि ओषधियों का (द्यौः) सूर्य (पिता) पालक है अर्थात् जिन की धूप लगने से रक्षा होती है, (पृथिवी माता) पृथिवी माता है अर्थात् पृथिवी से रस और पुष्टि प्राप्त करती हैं। और (समुद्रः) मेघ ही (मूलम्) उत्पन्न होने का कारण है अर्थात् वर्षाकाल में वर्षा के जल से उत्पन्न होती हैं वे ओषधियां (इमम्) इस (पुरुषम्) पुरुष को (देवेषितात्) विषय क्रीड़ा द्वारा प्राप्त हुए (यक्ष्मात्) रोग से या देव=मेघ या वर्षा काल में उत्पन्न (यक्ष्मात्) राजयक्ष्मा के रोग से (त्रायन्ताम्) रक्षा करें ।

आपो अग्रं दिव्या ओषधयः ।
तास्ते यक्ष्ममेनस्य१मङ्गादङ्गादनीनशन् ॥ ३ ॥

भा०—(अग्रम्) सब से प्रथम और सब से उत्कृष्ट (ओषधयः) ओषधि जो रोग और पाप को नाश करने में समर्थ हैं वे (दिव्याः) दिव्य गुणयुक्त (आपः) आपः=जलों के समान पवित्र और अन्यों को

३–(प्र०) 'आपो दिव्या ओषधयः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (तृ०) 'अनीनशम्' इति क्वचित् ।

पवित्र करने वाले आप्त विद्वान् पुरुष हैं। वे शीतल स्वभाव होकर पापों के लिये संतापकारी हैं (ताः) वे (ते) तेरे (एनस्यम्) पाप से उत्पन्न (यक्ष्मम्) राजरोग को (अंगात् अंगात्) शरीर के अंग अंग से (अनोनशन्) विनाश कर देते हैं। जिस प्रकार रोगों को दूर करने में दिव्य जल सब से उत्तम ओषधि हैं और वे विलासादि द्वारा उत्पन्न रोगों को सुलभतया विनाश कर देते हैं उसी प्रकार आप्त पुरुष भी हैं जो ज्ञानोपदेश से पापभावों को दूर करते हैं। समस्त रोग जलों द्वारा दूर करने के उपाय होमियोपैथी चिकित्सा और हाइड्रोपैथी (जल-चिकित्सा) द्वारा जानने चाहिये।

प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि।
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः ॥ ४ ॥

भा०—हे पुरुष! मैं परमेश्वर (ते) तुझे (प्रस्तृणतीः) अच्छी प्रकार फैलने वाली, (स्तम्बिनीः) झुण्डों वाली, (एकशुङ्गाः) एक सरपत वाली (प्रतन्वतीः) खूब बढ़ कर फैलने वाली, नाना प्रकार की ओषधि लताओं का (आवदामि) उपदेश करता हूँ। और (ते) तुझे (अंशुमतीः) बहुत कोपलों वाली या अंशु सोम के गुणों वाली, (काण्डिनीः) काण्ड या पोरुओं वाली और (या) जो (विशाखाः) शाखाओं से रहित या नाना प्रकार की शाखाओं वाली (वीरुधः) लताओं को जो (वैश्वदेवीः) समस्त विद्वान् पुरुषों के उपयोग की, (उग्राः) अपना प्रभाव करने में तीव्र, (पुरुषजीवनीः) पुरुष शरीर को जीवन प्रदान करने या प्राण धारण कराने में समर्थ हैं उनका (ह्वयामि) उपदेश करता हूँ।

४–(प्र० द्वि०) 'एकश्रृंगा प्रधन्वंती' इति पैप्प० सं०।

यद् वः सहः सहमाना वीर्यं१ यच्च वो बलम् ।
तेनेममस्माद् यक्ष्मात् पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम् ॥५॥

भा०—हे ओषधियो ! तुम (सहमानाः) रोगों को दूर करने में बलवती हो। (यद्) जो (वः) तुम में (सहः) रोग दूर करने का सामर्थ्य (यत् च) और जो (वः) तुम्हारा (वीर्यम्) पुष्टिकारक रस और (बलम्) बल है। (तेन) उससे (इमम्) इस (पुरुषम्) पुरुष को (अस्माद्) इस (यक्ष्माद्) राजयक्ष्मा आदि रोग से (मुञ्चत) छुड़ाओ। (अथो) और इस प्रकार ओषधियों के बल पर मैं (भेषजम्) रोगों को दूर करने का कार्य (कृणोमि) करता हूँ।

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेस्मा अरिष्टतातये ॥६॥

भा०—(अस्मै) इस रोगी पुरुष के (अरिष्टतातये) स्वास्थ्यलाभ कराने के लिये (अहम्) मैं वैद्य (जीवलाम्) आयुप्रद, (नघारिषाम्) किसी प्रकार की हानि न पहुँचानेवाली (जीवन्तीम् ओषधिम्) जीवन्ती नामक ओषधि को और (उन्नमन्तीम्) रोगी की दशा को उत्तम रूप में ला देनेवाली, उसकी दशा को सुधारनेवाली (अरुन्धतीम्) अरुन्धती नामक ओषधि को और (म मतीम्) मधुर रस वाली (पुष्पाम्) पुष्पा ओषधि को (हुवे) बतलाता हूँ, उसके सेवन का उपदेश करता हूँ, वैद्य रोगी के रोग दूर करने, पुष्ट करने और चित्त प्रसादन के लिये उचित ओषधियों का नुसखा बना कर रोगी को दे।

इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ ७ ॥

५—'मुञ्चतोषधीः' इत्यन्तः पाठः । पैप्प० सं० ।
६—अथर्व० [८ । २ । ६] इत्यत्रापि द्रष्टव्यम् ।

भा०—(इह) इस चिकित्सा के अवसर में (मम) मुझ (प्रचेतसः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् वैद्य के (वचसः) वाणी या उपदेश के अनुसार (मेदिनीः)[1] बुद्धिप्रद, रोगनाशक या स्निग्ध गुणयुक्त पौष्टिक ओषधियां (आ यन्तु) प्राप्त हों (यथा) जिनसे (इमम् पुरुषम्) इस पुरुष को (दुरिताद् अधि) दुःखप्रद अवस्था से (पारयामसि) पार कर सकें ।

अ॒ग्नेर्घा॒सो अ॒पां गर्भो॒ या रोह॑न्ति॒ पुन॑र्णवाः ।
ध्रु॒वाः स॒हस्र॑नाम्नीर्भेष॒जीः स॒न्त्वाभृ॑ताः ॥ ८ ॥

भा०—(अग्नेः) अग्नि को (घासः) अपने भीतर धारण करनेवाली, (अपां गर्भः) और जलों को अपने भीतर धारण करनेवाली, (याः) जो ओषधियाँ (पुनः नवाः) प्रति वर्ष बार २ नये सिरे से फूट पड़ती हैं ऐसी (ध्रुवाः) सदा स्थितिशील, कभी नाश न होने वाली (सहस्रनाम्नीः) सहस्रों नामवाली अथवा बलप्रद स्वरूप वाली (भेषजीः) रोगहारी ओषधियां (आभृताः) ला लाकर संग्रह की (सन्तु) जावें ।

अ॒वको॑ल्बा उ॒दका॑त्मान॒ ओष॑धयः । व्यृ॑षन्तु दुरि॒तं ती॑क्ष्णशृ॒ङ्ग्यः॑ ॥ ९ ॥

भा०—(अवका-उल्वाः) जलमें उतराने वाले सैवार के भीतर उत्पन्न होनेवाली (उदाकात्मानः) जलमय देहवाली, जल के बिना न जीनेवाली और (तीक्ष्ण-शृङ्ग्यः) तीखे सींग या कांटोंवाली ओषधियाँ भी (दुरितम्) दुःखदायी रोग को (वि ऋषन्तु) विशेष रूप से दूर करें ।

उ॒न्मु॒ञ्चन्ती॑र्विवरु॒णा उ॒ग्रा या वि॑ष॒दूष॑णीः ।
अथो॑ बला॒स॒नाश॑नीः कृत्या॒दूष॑णीश्च॒ यास्ता इ॒हाय॒न्त्वो॑षधीः ॥ १० ॥ (१७)

७–१. 'मद मध हिंसनयोः' (भ्वादिः), मिदि स्नेहने (चुरादिः), मिदा स्नेहने (दिवादिः), मिदा स्नेहने भ्वादिः ।

भा०—(उत्-मुञ्चन्तीः) रोग से मुक्त करने हारी (विवरुणाः) विशेष रूप से वरण करने योग्य या (विवरुणाः) वरुण से रहित, निर्जल, (उग्राः) अति बलवाली, (विष-दूषणीः) विषोंको नाशक (अथो) और (बलास-नाशनीः) कफ को या शरीर के बलनाशक रोगों को नाश करनेवाली (कृत्या-दूषणीः च) दुष्ट पुरुषों के दुष्ट अपचारों से उत्पन्न पीड़ाओं को नाश करनेवाली (ओषधीः) ओषधियाँ (याः) जो भी हैं (ताः) वे सब (इह) इस वैद्यशाला में (आ यन्तु) प्राप्त हों।

अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः ।
त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥११॥

भा०—(अपक्रीताः) दूर देश से द्रव्य के बदले प्राप्त की गईं, चीनी गईं, (सहीयसः) अतिबलशाली (वीरुधः) लताएँ, (याः) जिनकी (अभिष्टुताः) सब तरफ़ प्रशंसा सुनाई दे रही हो वे भी (अस्मिन्) हमारे इस ग्राम में (गाम्, अश्वम्, पशुम्, पुरुषम्) गौ, घोड़े आदि पशु और पुरुषों को भी (त्रायन्ताम्) रोगों से बचावें।

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव ।
मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षो
घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम् ॥ १२ ॥

भा०—(आसाम्) इन (वीरुधाम्) ओषधियों का (मूलम्) मूल (मधुमत्) मधु के समान मधुर रसयुक्त है (आसां अग्रं मधुमत्) इन ओषधियों का अग्रभाग, कोंपल मधुर रस से युक्त है। (आसां मध्यं मधुमत्) इन ओषधियों का मध्यभाग मधुर रस से युक्त (बभूव)

१०—(तृ० च०) 'बलासनाशिनीः रक्षोनाशिनीः कृत्यादूषणीश्च यत् ता' इति पैप्प० सं०।

१२—(द्वि०) वीरुधां बलेन' इति पैप्प० सं०।

होता है । इसी प्रकार (आसां पर्णं मधुमत्) इन ओषधियों का पत्ता मधुरस से युक्त होता है, (आसां पुष्पं मधुमत्) इनका फूल मधुरस से युक्त होता है, इस कारण से ये सब ओषधियें (मधोः संभक्ताः) मधु, अमृत से सिंची हुई हैं, इनमें मधु का अंश सर्वत्र व्यापक है । इससे ये अमृतमय ओषधियें (अमृतस्य भक्षः) अमृत के बने भोजन के समान दीर्घायुप्रद हैं । हे पुरुषो ये ओषधियां ही (गोपुरोगवम्) खाद्य पदार्थ (घृतम्) घी आदि (अन्नम्) अन्न को (दुह्रताम्) पूर्ण करतीं, बढ़ातीं और प्रदान करती हैं, जिन में (गोपुरोगवम्) गाय का दूध सब से मुख्य है । नाना प्रकार की ओषधियां हैं जिन में से किसी की जड़ मधुर, किसी की कोंपल, किसी का पत्ता, किसी का फूल, फलतः इन में मधु मानो नाना प्रकार से प्राप्त है । यही सब अमृत का भोजन है, घी, अन्न और दूध, जिन में दूध सब से मुख्य है । ये ओषधियां ही ये सब भोजन हम को प्राप्त करावें ।

यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः ।
ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥

भा०—(पृथव्याम्) पृथिवी पर (यावतीः) जितनी (कियतीः च) और कितनी भी (इमाः) ये (ओषधीः) ओषधियां हैं (ताः) वे सब (सहस्र-पर्ण्यः) हजारों प्रकार के पत्तों वाली (मा) मुझे (मृत्योः) मृत्यु के (अंहसः) दुःख से (मुञ्चन्तु) दूर करें, बचावें ।

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोभिशस्तिपाः ।
अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वाधि दूरमस्मत् ॥१४॥

भा०—(वीरुधाम्) ओषधियों के रसों से बनाया हुआ (वैयाघ्रः) नाना प्रकार के गन्ध देने वाला (मणिः) मणि, रोगस्तम्भन गुटिका (त्रायमाणः)

१४–(प्र०) 'व्याघ्रोमणि', (च०) 'दूरमस्मात्' इति पैप्प० सं० ।

रोगों से रक्षाकारी, (अभिशस्तिपाः) निन्दनीय पापमय रोगों से रक्षा करने वाला होता है । वह (सर्वाः) सब प्रकार के (अमीवाः) रोग-जन्तुओं को और (रक्षांसि) वाधक, जीवन के विघ्नकारी रोगादि पीड़ा के कारणों को (अस्मत् दूरम्) हम से दूर (अप अधि हन्तु) मार भगावे । ओषधियों के रस से तीव्र गन्ध की गोलियों या पुटिकाओं को बनावें जो सदा देह में रहने से रोगों और पीड़ाकारी कारणों को तीव्र गन्ध से नाश करें और रोगों से बचावें ।

"विविधं विशेषेण वा आघ्रीयते इति व्याघ्रः स एव वैयाघ्रः ।" सवासौ मणिश्चेति । तपेदिक्, सिरदर्द आदि रोगों में निरन्तर सूंघने के लिये विशेष ओषधि रसों की शीशी या फायों का प्रयोग और प्लेग आदि के समय फिनाइल आदि गोलियों को जेब में रखने आदि का प्रयोग किया जाता है । पूर्वकाल में ऐसी रोग-हर ओषधियों को कपड़े में बांध कर गले में या बाजू पर बांध लिया जाता था । और अब भी उनको तावीज़ आदि रूप में रक्खा जाता है ।

सिंहस्येव स्तनथोः सं विजन्तेऽग्नेरिव विजन्त आभृताभ्यः ।
गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या/एतु स्रोत्याः ॥१५॥

भा०—जिस प्रकार पशु (सिंहस्य) शेर के (स्तनथोः) गर्जन से (सं विजन्ते) खूब भयभीत हो जाते हैं और जिस प्रकार पशु (अग्नेः) अग्नि से (विजन्ते) व्याकुल हो जाते हैं उसी प्रकार (आभृताभ्यः) संग्रह की हुई ओषधियों से रोग के कीट भी कांपते हैं और भय व्याकुल हो जाते हैं । और इसीलिये (वीरुद्भिः) ओषधि लताओं से (अतिनुत्तः) पराजित हुआ हुआ (गवाम्) गौ आदि पशुओं और (मनुष्याणाम्) मनुष्यों का (यक्ष्मः) पीड़ाकारी रोग (नाव्याः) नावों से तरने योग्य (स्रोत्याः) नदियों से भी परे दूर (एतु) चला जाय ।

१५–(प्र०) 'स्तनथोः ओषधीनाम्' इति पैप्प० सं० ।

"९०, या ९९ बड़ी नदियों पार चला जाना" यह मुहावरा अति दूर चले जाने के अर्थ में प्रायः प्रयुक्त हुआ है। इसका प्रयोग भाषा में उसी प्रकार समझना चाहिये जैसे 'सात समुद्रों पार' का प्रयोग होता है। अथवा जीवन के वर्ष को एक २ 'नाव्य नदी' से उपमा दी गई है। '९९ नाव्य नदी' जीवन के ९९ वर्ष हैं। रोगादि हमारे ९९ वर्ष के जीवन से परे रहें।

मुमुचाना ओषधयोग्नेर्वैश्वानरादधि।
भूमिं संतन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः ॥ १६ ॥

भा०—हे ओषधि लताओ ! आप (यासां राजा) जिनका (राजा) राजा, रक्षक (वनस्पतिः) वनस्पति, वनपाल या बड़ा वृक्ष है वे (वैश्वानरात्) सर्व पुरुषों के हितकारी (अग्नेः) अग्नि से (मुमुचानाः) दूर सुरक्षित रह कर (भूमिम्) भूमि को (संतन्वतीः) आच्छादित करती हुई (इत) फैलती जाओ। राज्य में बनपाल ओषधियों की रक्षा करे। वन में ओषधियां खूब अधिक मात्रा में उत्पन्न हों। अग्नि से उन को बचाया जाय।

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च।
ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे ॥ १७ ॥

भा०—(याः) जो (आङ्गिरसीः) अंग या शरीर में रस को उत्पन्न करनेहारी, अंगिरा आयुर्वेद के विद्वानों की परिक्षित ओषधियां (पर्वतेषु) पर्वतों और (समेषु च) समस्थलों में (रोहन्ति) उगती हैं (ताः) वे (पयस्वतीः) पुष्टिकारक, वीर्य रसवाली (शिवाः) कल्याण और सुखकारी (ओषधीः) ओषधियां (नः) हमारे (हृदे) हृदय की (शं) शान्ति करने वाली (सन्तु) हों।

१७–'या रोहन्त्याङ्गिरसीर्विरुधो विश्वभेषजीः' 'ता नो मयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे' इति पैप्प० सं०।

याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा ।
अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम् ॥ १८ ॥
सर्वाः समग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ १९ ॥

भा०—(अहम्) मैं (याः वीरुधः) जिन लताओं को (वेद) जानता हूँ । और (याः च) जिन लताओं को (चक्षुषा पश्यामि) आंख से देखता हूँ और जो (अज्ञाताः) अभी तक नहीं जानी गयी हैं और (याः च जानीमः) जिन को हम सब प्रायः जाना करते हैं और (यासु) जिन में से (संभृतम्) संग्रह किये हुए भाग को (विद्मः) प्राप्त कर लेते हैं (सर्वाः समग्राः) उन सब, समस्त प्रकार की (ओषधीः) ओषधियों को (मम) मुझ आयुर्वेदज्ञ के (वचसः) वचन से (बोधन्तु) सब मनुष्य जानें, (यथा) कि किस प्रकार (इमं पुरुषम्) इस रोगी पुरुष को (दुरितात् अधि) दुखप्रद रोग से (पारयामसि) छुड़ावें, मुक्त करें ।

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः ।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ॥ २० ॥ (१८)

भा०—(अश्वत्थः) पीपल (दर्भः) दाभ, कुशा और (वीरुधाम्) ओषधियों का (राजा) राजा (सोमः) सोमलता और (हविः) अन्न (अमृतम्) अमृत स्वरूप, दीर्घायु प्रदान करने वाला (व्रीहिः यवः च) धान और जौ भी (भेषजौ) रोगों को दूर करने वाले (अमर्त्यौ) कभी विनाश न होने वाले (दिवः पुत्रौ) द्यौलोक से बरसे हुए मेघ के जल और ओस एवं सूर्य की धूप से उत्पन्न होने वाले हैं अथवा (दिवः) द्यौ लोक के रस और सूर्य के प्रकाश के बल से (पुत्रौ) पुत्र अर्थात्, पुरुषों की भी जीवन रक्षा करने में समर्थ हैं ।

२०–(तृ०) 'व्रीहिर्यवस्य भेषजो' इति पैप्प० सं० ।

व्रीहियव अमर्त्य=अर्थात् न मरने वाले किस प्रकार हैं ? क्योंकि धानों से बीज और बीजों से पुनः धान उत्पन्न होते हैं इस कारण वे कभी पृथ्वीतल से विनष्ट नहीं होते । इसी दृष्टान्त से जीव भी कभी नहीं मरता 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ।' कठोप० ।

उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः ।
यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति ॥ २१ ॥

भा०—हे (पृश्नि-मातरः) पृश्नि=रसों को अपने भीतर ले लेने में समर्थ, पृथ्वी माता से उत्पन्न (ओषधीः) ओषधियो ! (यदा) जब (पर्जन्यः) रसों, जलों को प्रदान करने वाला मेघ (स्तनयति) गरजता है; (अभिक्रन्दति) खूब ध्वनि करता है तब तुम (उत् जिहीध्वे) ऊपर उठती हो, प्रसन्न होती हो, पुलकित होती हो, उस समय वह तुम्हें (रेतसा) जल से (वः) तुम्हारी (अवति) रक्षा करता है ।

तस्यामृतस्येमं बलं पुरुषं पाययामसि ।
अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायनः ॥२२॥

भा०—(तस्य) उस (अमृतस्य) जल के (इमम्) परिवर्त्तित रूप इस ओषधि और अन्न के रूप में प्राप्त (बलम्) बल को हम लोग (पुरुषम्) इस पुरुष को (पाययामसि) पिला देते हैं । (अथो) और साथ ही (भेषजम्) रोग की निवृत्ति भी (कृणोमि) करते हैं (यथा) जिससे यह पुरुष (शतहायनः) सौ वर्ष तक जीवित (असत्) रहता है ।

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम् ।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २३ ॥

भा०—(वराहः) वराह, सूकर (वीरुधम्) नाना प्रकार की (याः)

२२–'पुरुषं पालयामसि' इति पैप्प० सं० ।

२३–'वेद वीरुधाम्' इति क्वचित् ।

ज़िन खाद्य और रोगहारी लताओं को (वेद) जानता है और (नकुलः) नेवला (भेषजीम्) रोग और विष दूर करने हारी जिन ओषधियों को (वेद) जानता है और (याः) जिन ओषधियों को (सर्पाः) सर्प, पृथिवी पर पेट के बल सरकने वाले प्राणी (विदुः) जानते हैं और (गन्धर्वाः) गन्ध से अपने खाद्य पदार्थों को प्राप्त करने वाले गौ, वानर आदि पशु लोग तथा गौओं को धारण पालन करने वाले पशुपाल लोग और विद्वान् लोग जिन ओषधियों को जानते हैं (ताः) उनको मैं उत्तम वैद्य (अस्मै) इस पुरुष की (अवसे) प्राणरक्षा के लिये (हुवे) प्राप्त करता हूं। पण्डित ग्रीफिथ ने इस मन्त्र पर टिप्पणी में लिखा है कि जंगली सूकर की खाद्य मूल कन्दों को खोजने और खोदने में असाधारण शक्ति होती है।

याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः ।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः ।
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २४ ॥

भा०—(याः) जिन (आंगिरसीः) अंगिरा, शरीर शास्त्र के वेत्ता ऋषि लोगों की उपदेश की हुई ओषधियों को (सुपर्णाः) उत्तम, विशाल पक्ष वाले या बड़ी उड़ान वाले बाज़, शिकरा, गरुड़, गीध आदि (विदुः) जानते हैं और (याः दिव्याः) जिन दिव्य गुणवाली ओषधियों को (रघटः) छोटी उड़ान वाले पक्षी या '[अ] रघट' अति वेग से चलने वाले पक्षी (विदुः) जानते हैं और जिन ओषधियों को (हंसाः) हंस जाति के (वयांसि) पक्षीगण जानते हैं और (सर्वे पतत्रिणः) सब पंखों वाले (याः च) जिन २ ओषधियों को जानते हैं और (याः) जिन (ओषधीः) ओषधियों को (मृगाः) मृग, आरण्य पशु, हस्ति व्याघ्र, गवय, मृग आदि (विदुः) जानते हैं (ताः) उन सबको (अस्मा अवसे) इस पुरुष की रक्षा के लिये (हुवे) प्राप्त करता हूँ, संग्रह करता हूं।

यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः ।
तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः ॥ २५ ॥

भा०—और (यावतीनाम्) जितनी (ओषधीनाम्) ओषधियों को (अघ्न्याः) कभी भी न मारने योग्य (गावः) गौएं (प्राश्नन्ति) खाती हैं और (यावतीनाम्) जितनी ओषधियों को (अजावयः) भेड़ बकरियें खाती हैं (तावतीः ओषधीः) उतनी सभी ओषधियां (अभृताः) संग्रह की जाकर (तुभ्यम्) तुझे (शर्म यच्छन्तु) सुख प्रदान करें ।

यावतीषु मनुष्या/ भेषजं भिषजो विदुः ।
तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि ॥ २६ ॥

भा०—(यावतीषु) जितनी ओषधियों में (भिषजः मनुष्याः) रोग दूर करने का कार्य करने वाले मनुष्य, वैद्य, डाक्टर लोग (भेषजम्) रोग दूर करने के गुण को (विदुः) जानते हैं (तावतीः) उतनी (विश्व-भेषजीः) सब रोगहारी ओषधियों को (त्वाम्) तेरे लिये हे पुरुष ! (आ भरामि) ले आता हूं ।

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत ।
संमातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये ॥ २७ ॥

भा०—(पुष्पवतीः) फूलों वाली (प्रसूमतीः) नवपल्लव, नयी शाखाओं, नयी जड़ों को उत्पन्न करने वाली (फलिनीः) फलों वाली (उत) और (अफलाः) फलरहित ओषधियों को (मातरः इव) सम्मान पद पर विराजमान माताओं या गौवों के समान (अस्मा) इस पुरुष के (अरिष्टतातये) कल्याण के लिये (दुह्राम्) दोह लूँ, प्राप्त करूं ।

२४–'सुपर्णाङ्गिरसीः' इति पैप्प० सं० ।

२५–(तृ० च०) तावतीस्तुभ्यमाभृताः शर्मयच्छन्तोषधीः' इति पैप्प० सं० ।

२६–(च०) 'त्वामिति' इति पैप्प० सं० ।

उत् त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्विषात् ॥२८॥(१९)

भा०—हे पुरुष ! (त्वा) तुझको मैं (पञ्चशलात्) तुझे संताप करने वाले शल या शर पीड़ाजनक रोग से अथवा पञ्चप्राणों (अथो उत) और (दशशलात्) तुझे काटने और चुभने एवं क्षीण करने वाले दुःखदायी रोग अथवा दश इन्द्रियों (अथा) और और (यमस्य) शरीर में बांधने वाले या यातना देने वाले कष्ट की (पड्वीशात्) बेड़ियों से और (विश्वस्मात्) सब प्रकार के (देवकिल्विषात्) देव, ईश्वर द्वारा पाप कर्मों के फलरूप में प्राप्त कष्टों से (उत् अहार्षम्) ऊपर ले आता हूं, तुझे मुक्त करता हूँ ।



[८] शत्रुनाशक उपाय ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । इन्द्रः वनस्पति सेना हननश्च देवताः । १, ३,५,१३, १८, २,८–१०,२३ । उपरिष्टाद् बृहती । ३ विराट् बृहती । ४ बृहती पुरस्तात् प्रस्तारपंक्तिः । ६ आस्तारपंक्तिः । ७ विपरीतपादलक्ष्मा चतुष्पदा अतिजगती । ११ पथ्या बृहती । १२ भुरिक् । १९ विराट् पुरस्ताद् बृहती । २० निचृत् पुरस्ताद् बृहती । २१ त्रिष्टुप् । २२ चतुष्पदा शक्वरी । २४ त्र्यवसाना उष्णिग्गर्भा त्रिष्टुप् । शक्वरी पञ्चपदा जगती । चतुर्विंशर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरंदरः ।
यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः ॥ १ ॥

२७–१. अत्र द्वितीयार्थे प्रथमा ।

२८–(प्र०) उन् त्वाहारिषम्' (तृ०) 'उत् त्वा यमस्य', (च०) 'ओषधीभिरपापरम्' इति पैप्प० सं० ।

[८] १–ध्मा शब्दाग्नि संयोगयोः (भ्वादिः) २, पूर्यां विशरणे दुर्गन्धे च'

भा०—(मन्थिता) शत्रुओं को क्लेश देने और उनकी हिंसा करने में समर्थ होकर (इन्द्रः) राजा और सेनापति (मन्थतु) शत्रुओं को हनन करे। (शक्रः) शक्तिमान् (शूरः) शूरवीर (पुरंदरः) शत्रु के गढ़ को तोड़ने में समर्थ है। (यथा) उस के बल पर हम सुभट लोग (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (सहस्रशः) हज़ारों सेनाओं को (हनाम) मारें।

पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम्।
धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधतां भयम् ॥ २ ॥

भा०—(उपध्मानी) अति शब्द करने वाला या आग लगा देने वाला, (पूतिरज्जुः) एक दम विस्फोट उत्पन्न करने वाला पदार्थ (अमुम्) उस (सेनाम्) शत्रु सेना को (पूतिम्) विशीर्ण, तितर बितर (कृणोतु) कर दे। (अमित्राः) शत्रु लोग (धूमम् अग्निम्) धूम और आग को (परा दृश्य) दूर से ही देखकर (हृत्सु) अपने दिलों में (भयं) भय (आदधतां) प्राप्त करें। (पूतिरज्जुः) जीर्ण रस्सी जिस प्रकार (उपध्मानी) आगको जल्दी पकड़ लेती है और स्वयं जल कर खाक हो जाती है इसी प्रकार इन्द्र राजा भी (अमूं सेनां पूतिं कृणोति) इस शत्रुसेना को विशीर्ण करे। और हे राजन्! (अमित्राः धूमम् अग्निम्) शत्रुगण धूम देने या कंपा देनेवाले (अग्निम्) परन्तप अग्नि को (परा दृश्य) दूर से ही देखकर तिनकों के समान अपने आप जलकर खाक हो जाने के भय से (हृत्सु भयं आ दधताम्) चित्तमें भय करें।

अमूनश्वत्थ निः शृणीहि खादामून् खदिराजिरम्।
ताजद्भङ्ग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान् वधको वधैः ॥३॥

(स्वादिः)। रज्जुः सृजतेरसुन्। पूतिं विशरणं सृजति इति पूतिरज्जुः' विस्फोटकपदार्थः।

२–'अग्निधामं परा' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (अश्वत्थ) अश्वों पर सवार वीर पुरुषो! (अमून्) इन शत्रुओं को (निः शृणीहि) सर्वथा विनाश करो। और हे (खदिर) शस्त्र-प्रहार करनेहारे वीर! (अमून्) उन शत्रुओं पर (अजिरम्) अति शीघ्रता से, निरन्तर (खाद) वल प्रहार कर। शत्रु लोग (ताजद् भङ्ग इव)[1] एरण्ड के समान अथवा सूखे सरकाण्डे के समान (भज्यन्ताम्) टूट फूट जायँ और (वधकः) शस्त्रधारी लोग (एनान्) इन शत्रुओं को (वधैः) नाना शस्त्रों से (हन्तु) मारें, 'अश्वत्थ', 'खदिर' और 'वधक' ये तीनों प्रकार के सैनिक लोग अपने २ युद्ध के उपकरणों से शत्रु का नाश करें।

प॒रु॒षाना॒मून् प॑रुषा॒ह्वः कृ॑णोतु ह॒न्त्वे॑ना॒न् वध॑को व॒धैः।
क्षि॒प्रं श॒र इ॑व भज्यन्तां बृहज्जा॒लेन॒ संदि॑ताः ॥ ४ ॥

भा०—(परुषाह्वः) परुष नामक या कठोर शस्त्रों या पुरुषों का सामना करने और उनका मुकाबला करने में समर्थ वीर (अमून्) उन (परुषान्) अति कठोर शत्रुओं को भी (कृणोतु)[1] मारे। और (वधकः)[2] बाँधने वाले या शस्त्रधारी 'वधक' लोग (एनान्) उनको (वधैः) रस्सों से बाँध २ कर (हन्तु) मारें, दण्ड दें, शत्रु लोग (बृहत् जालेन)[3] बड़े बड़े जालों से (संदिताः) बाँधे जाकर (शर इव) सरकण्डे के समान

३–(द्वि०) 'खदिराचिरम्', 'ताजद्भङ्गेव' (च०) बृहज्जालेन संचिताः' इति पैप्प० सं०। 'वधको वधः' इति क्वचित्।

१. ऐरण्डद्रुम इति दारिलःकौशिकसूत्रभाष्यकृत्।

४–(तृ०) 'शरेव', (च०) जालेन संचिताः' इति पैप्प० सं०।

१–कृञ् हिंसायाम् (स्वादिः), स्वादिभ्यश्नुः। कृणोति हिनस्ति इत्यर्थः।

२–वध संयमने (चुरादिः), वध बन्धने (भ्वादिः) हन्तेर्वा वधादेशस्य रूपम्।

३–जल अपवारणे (चुरादिः), ४,'जल घातने' (भ्वादिः)।

(भज्यन्ताम्) टूट फूट जायँ । अथवा (बृहत् जालेन) बड़े भारी आघात-कारी अस्त्र से (संदिताः) काटे जाकर (शर इव भज्यन्ताम्) सरों के समान टूट फूट जायँ ।

अ॒न्तरि॑क्षं जा॒लमा॑सीज्जालद॒ण्डा दिशो॑ म॒हीः ।
तेना॑भि॒धाय॒ दस्यू॑नां श॒क्रः सेना॒मपा॑वपत् ॥ ५ ॥

भा०—ईश्वर की परम विजय का अलंकार स्पष्ट करते हैं। (अन्तरिक्षम्) यह अन्तरिक्ष ही (जालम्) जाल (असीत्) है और जाल लगाने के लिये (महीः दिशः) विशाल दिशाएँ ही (जालदण्डाः) जाल तान कर लगाने के दण्डे हैं। वह (शक्रः) सर्वशक्तिमान् परमेश्वर (तेन) उस महान् (जालेन) अन्तरिक्ष या वायु, प्राण रूप जाल से (अभिधाय) पकड़ कर (दस्यूनाम्) दस्यूओं, पर प्राण विनाशक, पापाचारियों की (सेनाम्) सेना को (अवयत्) काट गिराता है। उसी प्रकार विजिगीषु राजा भी (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष के समान विस्तृत जाल को चारों दिशाओं में विशाल दण्ड लगा कर उनसे (दस्यूनां सेनाम् अभिधाय) शत्रुओं की सेना को पकड़ कर (अप अवपत्) काट गिरावे।

बृ॒हद्धि जालं॑ बृह॒तः श॒क्रस्य॑ वा॒जिनी॑वतः ।
तेन॒ शत्रू॑न॒भि सर्वा॒न् न्यु॑ब्ज॒ यथा॒ न मुच्या॑तै कत॒मश्च॒नैषा॑म् ॥६॥

भा०—(बृहतः शक्रस्य) बड़े भारी, शक्तिमान् परमेश्वर का जिस प्रकार (बृहत् हि जालम्) विशाल जाल है उसी प्रकार (बृहतः शक्रः) बड़े भारी शक्ति, पराक्रम से युक्त (वाजिनीवतः) बलसम्पन्न, सेना-सम्पन्न राजा का भी (बृहत्) बड़ा भारी (जालं हि) जाल शत्रुओं को

५–(तृ० च०) तेनाभिधाय सेनां इन्द्रो दस्यूनपावपत्' इति पैप्प० सं०।
६–(द्वि०) 'शक्रस्य रोचनावतः' इति पैप्प० स०।
१. उब्ज आर्जवे (तुदादिः)।

पकड़ने का साधन है। (तेन) उस जाल से (सर्वान् शत्रून्) समस्त शत्रुओं को (नि उब्ज)[1] अपने अधीन कर, उनको दबा और विनीत कर (यथा) जिससे (एषाम्) इनमें से (कतमः चन) कोई भी (न मुच्यातै) छूटना न पावे।

बृहत् ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य।
तेन शतं सहस्रमयुतं न्य/र्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया ॥ ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र)[1] शत्रुओं के दलन करने, मार कर भगा देने और विनाश करनेहारे प्रभो! राजन्! हे (शूर) शत्रुनाशक शूरवीर (सहस्रार्घस्य) हज़ारों के मुक़ाबला करने में समर्थ (शतवीर्यस्य) सैकड़ों बलों से सम्पन्न (बृहतः) विशाल (ते) तेरा (जालम्) जाल, शत्रुओं को घेरने का साधन भी (बृहत्) बहुत बड़ा है (तेन) उससे (शतम्) सौ, (सहस्रम्) सहस्र, (अर्बुदम्) दस सहस्र (दस्यूनाम्) दस्युओं को भी (सेनया) अपनी सेना की सहायता से (अभिधाय) घेर कर, पकड़ कर (निजघान) मार सकता है।

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान्।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान् ॥ ८ ॥

भा०—(महतः) उस महान् (शक्रस्य) शक्तिमान् परमेश्वर का (अयं लोकः) यह लोक (जालम् आसीत्) जाल है। (अहम्) मैं (तेन) उस ही (इन्द्र-जालेन) इन्द्र के आवरणकारी जाल के समान विस्तृत (तमसा)[1] अन्धकारमय, तृष्णामय मृत्यु रूप जाल से (अमून्) उन शत्रुपक्षी (सर्वान्) सब लोगों को (अभि दधामि) घेरता हूँ।

७–(च०) 'अभिधाय सेनाम्' इति पैप्प० सं०।

१–इच्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा इति यास्कः। नि० १०। १॥

१–'तमु कांक्षायाम्' (दिवादिः)।

महाभारत में इन्द्रजाल नामक महास्त्र का वर्णन है इसका प्रयोग अर्जुन ने किया है।

सेदिरुग्रा व्यृद्धिरार्तिश्चानपवाचना ।
श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च तैरमूनभि दधामि सर्वान् ॥९॥

भा०—(उग्रा) उग्र तीव्र (सेदिः) थकान (उग्रा व्यृद्धिः) घोर असमर्थता, (उग्रा आर्त्तिः) ऐसी प्रचण्ड वेदना जिसमें (अनपवाचना) मुँह से गाली या क्रोध के वचन भी न निकल सकें, (श्रमः) थकान (तन्द्रीः च) निद्रा और (मोहः च) मूर्च्छा (तैः) इन नाना प्रकार की अवस्थाओं को उत्पन्न करनेवाले अस्त्रों से (अमून् सर्वान्) इन सब शत्रुओं को (अभि दधामि) बाँधता हूँ, अपने वश करता हूँ।

मृत्यवेमून् प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः ।
मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान् प्रति नयामि बद्ध्वा ॥१०॥(२०)

भा०—(अमून्) उन शत्रुओं को मैं (मृत्यवे) मृत्यु के (प्रयच्छामि) भेंट करता हूँ। (अमी) ये सब (मृत्युपाशैः) मृत्युकारक, विषाद, दरिद्रता, पीड़ा, थकान, निद्रा और मूर्च्छा आदि पाशों से (सिताः) बँधे हैं। (ये) जो (मृत्योः) मृत्यु के (अघलाः)[1] कष्टों को लाने वाले (दूताः) संतापकारी, पीड़ादायी लोग हैं (तेभ्यः) उन जल्लादों से (एनान्) इन शत्रुओं को (बद्ध्वा) बाँध कर (प्रतिनयामि) ले जाता हूँ। दुष्ट, प्राणदण्ड के योग्य शत्रुओं को मृत्युपाशों से बाँध २ कर राजा अपने हत्याकारी लोगों के हाथ सौंपे, वे उनको प्राणों से वियुक्त करें।

नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत ।
परःसहस्रा हन्यन्ताम् तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य ॥ ११ ॥

१०–(तृ०) 'मृत्योर्ये खालादूताः' (च०) 'नयामि बद्धान्' इति पैप्प० सं०।

१. अघि गत्याक्षेपयोः (भ्वादिः)।

भा०—हे (मृत्यु-दूताः) मृत्यु अर्थात् प्राणविच्छेद की पीड़ा देने में समर्थ वीर पुरुषो! (अमून्) इन शत्रु लोगों को (नयत) ले जाओ। हे (यम-दूताः) बन्धन करनेवाले या बन्धनों से शत्रुओं को पीड़ा पहुँचाने वाले नियुक्त पुरुषो! उनको (अप उम्भत)[1] समाप्त करो। (परः सहस्राः) ये हज़ारों (हन्यन्ताम्) मार डाले जायँ। (एनान्) इनको (भवस्य) सामर्थ्यवान् प्रभु राजा का (मत्यम्)[2] शत्रुओं का स्तम्भनकारी सामर्थ्य दण्ड या वज्र (तृणेढु)[3] मारे या स्तम्भन करे।

साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्यं यन्त्योजसा।
रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः॥ १२॥

भा०—उस महान् ईश्वर का जो भारी जाल है, उसके (एकम्) एक (जालदण्डम्) जालदण्ड को (साध्याः) साधनासम्पन्न, 'साध्य' लोग (उद्यत्य) उठा कर (ओजसा) बल से (यन्ति) जाते हैं और (एकं रुद्राः) एक दण्ड को (रुद्राः) रुद्र, नैष्ठिक ब्रह्मचारी या प्राणगण उठाते हैं और (एकं) एक को (वसवः) वसु ब्रह्मचारी या पृथिवी आदि लोक लिये हुए हैं और (एकः) एक दण्ड को (आदित्यैः) आदित्य ब्रह्मचारी, या १२ मास, या योगी लोगों ने (उद्यतः) उठा रक्खा है। परमेश्वर का महान् जाल जिस में जीवगण या दुष्टाचारी जीव बंधे हैं, वह कर्म व्यवस्था है उसके साधक साध्य, वसु, रुद्र और आदित्य हैं। प्रति शरीर में भिन्न २ कार्यों से युक्त प्राण इन्द्रिय और पञ्च भूत आदि ही साध्य आदि नाम से कर्मफल, भोग, भोगायतनशरीर और मन आदि को संभाले हुए हैं, अध्यात्म में साध्य=कर्म। वसु=जीव। रुद्र=प्राण। आदित्य=कर्मफल या तत्प्रद ईश्वर। इसी प्रकार राजा भी शत्रुओं और दुष्ट पुरुषों को बांधने के लिये अपने जालके दण्ड

११–(तृ०) 'मृत्युदूताः अमूंनयत' इति पैप्प० सं०।

१. उब्ज उम्भ पूरणे (तुदादिः), २. मन स्तम्भे (दिवादिः), ३. तृंहि। हिंसायाम्।

अर्थात् दमन साधनों को साध्य वसु रुद्र और आदित्य इन चार प्रकार के अधिकारियों के हाथ में दे। साध्य साधनसम्पन्न, वसु=प्रजा, रुद्र=रोदनकारी, तीक्ष्ण पुरुष, आदित्य=ज्ञानवान्, मार्गदर्शक विद्वान्। इन चार प्रकार के पुरुषों के हाथों में तन्त्र को दिया जाय।

विश्वेदेवा उपरिष्टादुब्जन्तो यन्त्वोजसा।
मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ॥ १३ ॥

भा०—(विश्वे देवाः) 'विश्वे देव' समस्त देव, युद्ध क्रीड़ा के करने वाले सामान्य सैनिक (ओजसा) बल से (उपरिष्टाद्) ऊपर से (उब्जन्तः) दुष्टों का दमन करते हुए (यन्तु) चलें। (मध्येन) बीच में (अंगिरसः) विद्वान्, विशेष शास्त्रों के ज्ञानवान्, तेजस्वी पुरुष (महीम्) बड़ी भारी (सेनाम्) सेना को (घ्नन्तः) मारते हुए (यन्तु) जावें।

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः।
द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १४ ॥

भा०—(वनस्पतीन्) वनस्पतियों, वृक्षों और (वानस्पत्यान्) वनस्पतियों या वृक्षों या लकड़ी के बने पदार्थों, (ओषधीः) ओषधियों और (वीरुधः) लताओं को और (चतुष्पात्) चौपायों और (द्विपात्) दोपायों को मैं (इष्णामि) इस रूप से प्रयोग करूं (यथा) जिस प्रकार से (अमूम्) उस दूरस्थ (सेनाम्) सेना को (हनन्) विनाश करें। 'इष्णामि' इषु गतौ (दिवादिः) अत्र विकरणव्यत्ययः।

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १५ ॥

१३–'आङ्गिरसो वधैः' इति पैप्प० सं०।

१४–(च०) अमूं हताम्' इति पैप्प० सं०।

१५–(प्र०) 'देवान् सर्वान् पुण्यजनान्' (च०) 'अमूं हताम्' इति पैप्प० सं०।

भा०—(गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व अर्थात् पुरुषों को अप्सरस् अर्थात् स्त्रियों को (सर्पान्) सांपों, (पुण्यजनान्) पुण्यात्मा लोगों और(पितॄन्) पालक, वृद्ध पुरुषों को (दृष्टान्)देखे, परिचित, और(अदृष्टान्) विना देखे, अपरिचित लोगों को भी मैं (इष्णामि) इस प्रकार से प्रेरित करूं (यथा) जिस प्रकार (अमूम्) उस शत्रुभूत, अपने से दूरस्थ (सेनाम्) सेना को (हनन्) विनाश करें ।

इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे ।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥१६॥

भा०—(इमे) ये (मृत्यु-पाशाः) शत्रुगण के मृत्यु करा देने वाले पाश, फांसे (उप्ताः) लगा दिये गये हैं । (यान् आक्रम्य) जिनको लाँघ कर हे शत्रुगण तू (न मुच्यसे) कभी छूट कर नहीं जा सकता । (इदं कूटम्) यह कूट अर्थात् शत्रु के फांसने के लिये लगाये हुए फन्दे या कूट अर्थात् पीड़ा देने के निमित्त लगाये हुए जाल (सहस्रशः) हज़ारों की संख्या में (अमुष्याः सेनायाः) शत्रु की उस सेना को (हन्तु) विनाश करे ।

घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः ।
भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १७ ॥

भा०—(अग्निना) शत्रुओं के तापकारी राजा द्वारा (अयम्) यह (सहस्रहः) सहस्रों शत्रुओं का नाश करने हारा (घर्मः) अति प्रदीप्त, प्रचण्ड (होमः) यज्ञ, युद्धरूप (समिद्धः) प्रज्वलित किया है । हे

१६—(प्र०) 'मृत्युपाशा यमायुक्ता' इति पैप्प० सं० ।

१७—(द्वि०) 'होमः सहस्रशः' (च०) 'सेनां सहस्रशः' इति पैप्प० सं० ।

१. 'पृश्नि बाहुः'—पृश्निः संस्पृष्टो भासां, ज्योतिषां, संस्पृष्टो भासा इति वा, संस्पृष्टाज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च ।' [नि० २ । ४ । २]

भव ! राजन् ! हे पृश्निबाहो ! (भवः) सामर्थ्य युक्त, सत्ताधारी राजा (पृश्निबाहुः) तेजस्वी बाहुवाला, वीरबाहु, सेनापति और (शर्वः) शत्रुघाती योद्धा तुम तीनों (अमूम् सेनाम्) उस शत्रु सेना को (हतम्) मारो।

मृत्योराषमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम् ।
इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १८ ॥

भा०—शत्रु लोग (मृत्योः) मृत्यु के (आषम्) ज्वाला या आंच को (आपद्यन्ताम्) प्राप्त हों। वे (क्षुधम्) भूख, (सेदिम्) विषाद, शिथिलता, (वधम्) अपघात या बन्धन और (भयम्) भय को (अपद्यन्ताम्) प्राप्त हों। हे इन्द्र ! और हे (शर्व) शर्व ! शत्रुघाती योद्धा ! (इन्द्रः च) और इन्द्र राजा और शर्व तुम दोनों ही (अक्षुजालाभ्याम्) फन्दों और जालों से (अमूम्) उस (सेनाम्) सेना को (हतम्) मारो।

पराजिताः प्र त्रसतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा ।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥

भा०—हे (अमित्राः) शत्रु लोगो ! तुम (पराजिताः) पराजित हो गये, हार गये । अब (प्र त्रसत) खूब भय करो। अब तुम लोग (नुत्ताः) पछाड़ दिये जाकर (ब्रह्मणा) हमारे ब्रह्मबल से या वेदविद्या के बल से या ब्रह्मास्त्र से (धावत) भाग जाओ। (बृहस्पतिप्रणुत्तानाम्) वेद वाणी के परिपालक विद्वानों के आश्चर्यजनक विद्या विज्ञान के चमत्कारों से पछाड़े हुए (अमीषां) इन शत्रुओं में से (कश्चन) कोई भी बचने न पावे।

१८–'मृत्योरांषमापद्यन्ताम्' इति क्वचित् पाठः, पैप्प० सं० च ।
१. त्रस गतिदीप्ति- त्रसनेषु अघ इत्येके (भ्वादि:), (तृ०) इन्द्रस्याक्षमा लाभ्यं शर्व सेनाममूंहतम्' इति पैप्प० सं० ।
१९–'शर्वसेनाममूंहतम्' इति पैप्प० सं० ।

अव॑ पद्यन्तामे॒षामायु॑धानि॒ मा श॑कन् प्रति॒धामिषु॑म् ।
अथै॑षां ब॒हु बिभ्य॑ता॒मिष॑वो घ्नन्तु॒ मर्म॑णि ॥ २० ॥

भा०—(एषाम्) इन शत्रुओं के (आयुधानि) हथियार (अव-पद्यन्ताम्) नीचे हो जायँ । और (इषुम्) वाण को (प्रतिधाम्) प्रतिकूल रूप से धारण (मा शकन्) न कर सकें, न रोक सकें (अथ) और (बहु बिभ्यताम्) खूब डरते हुए (एषाम्) इनके (मर्मणि) मर्म स्थान में (इषवः) वाण (घ्नन्तु) खूब छेदें ।

सं क्रो॑शतामेना॒न् द्यावा॑पृथि॒वी सम॒न्तरि॑क्षं स॒ह दे॒वता॑भिः ।
मा ज्ञा॒तारं॒ मा प्र॑ति॒ष्ठां वि॑दन्त मि॒थो वि॑घ्ना॒ना उप॑ यन्तु मृ॒त्युम्॥२१॥

(तृ० च०) अथर्व० ६ । ३२ । ३ ॥ तृ० च० ॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी दोनों (एनान्) इनको (सं क्रोशताम्) निन्दा करें और (देवताभिः) देवता और श्रेष्ठ पुरुषों तथा उत्तम दिव्य पदार्थों सहित (अन्तरिक्षं सम्) अन्तरिक्ष और वायु भी इनकी निन्दा करें अर्थात् भूमि, आकाश और वायु, जल, मेघ आदि सभी पदार्थ इनके अनुकूल न होकर प्रतिकूल हों । उनको इन से सुख प्राप्त न हो । ये (ज्ञातारम्) किसी विद्वान् ज्ञानी पुरुष को (मा-विदन्त) प्राप्त न करें और (प्रतिष्ठां मा विदन्त) प्रतिष्ठा प्राप्त न करें । बल्कि (मिथः) परस्पर (विघ्नाना) एक दूसरे का नाश करते हुए (मृत्युम् उप यन्तु) मृत्यु को प्राप्त हों ।

दिश॒श्चत॑स्रोऽश्वत॒र्यो/ दे॑व॒रथ॑स्य पु॒रोडाशाः॑ श॒फा अ॒न्तरि॑क्षमु॒द्धिः ।
द्यावा॑पृथि॒वी पक्ष॑सी ऋ॒तवो॒भीश॑वोऽन्तर्दे॒शाः किं॑क॒रा वाक् परि॑-
रथ्यम् ॥ २२ ॥

२१–(प्र०) 'समेनान् क्रोशतां द्यावापृथिवी उभे' इति पैप्प० सं० ।

भा०—वह परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर जब इस महान् विश्वरूप त्रिपुर या त्रिलोक का विजय करता है तब अलंकार रूप से (चतस्रः) चारों (दिशः) दिशाएं (देवरथस्य) देव उस परमेश्वर के महान् रथ,रमण स्थान ब्रह्माण्डरूप रथ की (अश्वतर्यः) अति अधिक व्यास, चार घोड़ियों के समान हैं, (पुरोडाशाः) यज्ञ में चरु द्रव्य या पुरोडाश (शफाः) घोड़ों के खुर हैं। (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष यह वातावरण (उद्धिः) रथ के ऊपर का मुख्य शरीर भाग है। (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी (पक्षसी) उसके दोनों पासे हैं। (ऋतवः) ऋतुएं (अभीशवः) रासें हैं (अन्तर्देशाः) बीच के प्रदेश या लोक (किंकराः) रथ के पीछे खड़े होने वाले चाकर हैं और (वाक्) वाणी (परिरथ्यम्) रथ के ऊपर का पर्दा है।

संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम्।
इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः ॥ २३ ॥

भा०—(संवत्सरः) संवत्सर अर्थात् वर्ष (रथः) रथ है। (परिवत्सरः) परिवत्सर (रथोपस्थः) रथ का उपस्थ अर्थात् रथी के बैठने का स्थान है। (विराट् ईषा) विराट् शक्ति उस रथ की 'ईषा' अर्थात् वह दण्ड हैं जिसके आगे घोड़े जुड़े होते हैं। और (अग्निःरथमुखम्) अग्नि रथ का मुख अर्थात् जिस में घोड़े जुड़ते हैं वह भाग हैं। (इन्द्रः सव्यष्ठाः) इन्द्र सूर्य रथ में बैठने वाला साथी है और (चन्द्रमाः सारथिः) चन्द्र सारथी है। इस प्रकार का रथ बनाकर स्वयं कालरूप भगवान् समस्त त्रैलोक्य को विजय कर रहे हैं। हे पुरुषो ! तुम भी इस महान संवत्सर मय देवरथ का अनुकरण करके रथ बनाओ और विजय करो।

२२–'शफान्तरिक्षं मुद्धिः' (च०) 'अभीशवो वाक् परिरथ्यम्' इति पैप्प० सं०।

२३–(प्र०) 'अहोरात्रे चक्रे मामारात् संवत्सरोऽधिष्ठानं विराडीषाग्नी रथमुखम्।' इति पैप्प० सं०।

सूर्योपासक सूर्य का रथ, विष्णु के उपासक विष्णु के जगन्नाथ के रथ और शैव शिव के त्रिपुरदहन के समय के रथ का इसी प्रकार वर्णन करते हैं । वहां कल्पना भेद से वर्णनों में यत्किञ्चित् भेद है । पुराणों में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है । देखो हमारा बनाया पुराणमत-पर्यालोचन [पृ० २७९—८२]

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा ।
इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः ।
नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि ॥ २४ ॥ (२१)

भा०—हे राजन् ! (इतः जय) इधर जय प्राप्त कर, (इतः विजय) इधर विजय प्राप्त कर, (संजय) अच्छी प्रकार विजय प्राप्त कर, (जय) विजयी हो, (स्वाहा) लोक में तुम्हें सुकीर्त्ति, सुख्याति प्राप्त हो । (इमे) ये हमारे योद्धागण (जयन्तु) जय प्राप्त करें, (अमी परा जयन्तु) ये शत्रु लोग पराजित हों । (एभ्यः) इन योद्धाओं को उत्तम कीर्त्ति प्राप्त हो, (अमीभ्यः) उन शत्रुओं की (दुर् आहा) अपकीर्त्ति हो । (अमून्) उन शत्रुओं को (नीललोहितेन) नीले और लाल रंग की वर्दी पहनने वाले योद्धा के बल से (अभि अवतनोमि) उनका मुकाबला करके उन को अपने नीचे दबा दूँ ।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्ते द्वे ऋचश्च द्वापञ्चाशत् ।]

[९] सर्वोत्पादक, सर्वाश्रय परम शक्ति 'विराट्' ।

अथर्वा कश्यपः सर्वे वा ऋषयो ऋषयः । विराट् देवता । ब्रह्मोद्यम् । १,६,७,१०, १३,१५,२२,२४,२६ त्रिष्टुभः, २ पंक्तिः, ३ आस्तारपंक्तिः, ४,५,२३,२५, अनुष्टुभौ, ८, ११, १२, २२ जगत्यौ, ९ भुरिक्, १४ चतुष्पदा जगती षड्-विंशर्चं सूक्तम् ॥

कुत॒स्तौ जा॒तौ क॑त॒मः सो अर्धः॒ कस्मा॑ल्लो॒कात् क॑त॒मस्याः॑ पृथि॒व्याः
व॒त्सौ वि॒राजः॑ सलि॒लादुदै॑तां॒ तौ त्वा॑ पृच्छामि कत॒रेण॑ दु॒ग्धा॥१॥

भा०—[प्रश्न] (तौ) वे दोनों जीव और ब्रह्म कुतः (जातौ) कहां से प्रादुर्भाव हुए प्रकट हुए, ? (सः) वह (कतमः) कौनसा सर्वश्रेष्ठ (अर्धः) परम सम्पन्नतम पद या स्वरूप है ? (कस्मात्लोकात्) किस लोक से, (कतमस्याः पृथिव्याः) कौनसी पृथिवी से वे दोनों प्रकट हुए ? [उत्तर] (विराजः) विराड् नाना रूपों से प्रकट होने वाली प्रकृति रूप (सलिलात्) 'सलिल' सर्वव्यापक पदार्थ से (वत्सौ) दोनों बच्चों के समान (उत् ऐताम्) उदय हुए, प्रकट हुए। [प्रश्न] (तौ) उन दोनों के विषय में हे ब्रह्मज्ञानिन् ! मैं (त्वा) तुझसे (पृच्छामि) प्रश्न करता हूँ कि वह विराड् गौ (कतरेण) उन दोनों बछड़ों में से किससे (दुग्धा) दुही जाती है।

तौ=पं० ग्रीफिथ के मत से सूर्य और विद्युत्। इसका रहस्य आगे स्वयं स्पष्ट होगा।

यो अक्र॑न्दयत् सलि॒लं म॑हि॒त्वा योनि॑ं कृ॒त्वा त्रि॒भुजं॒ शया॑नः।
व॒त्सः का॑म॒दुघो॑ वि॒राजः॒ स गुहा॑ चक्रे त॒न्व॒ः परा॒चैः ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (महित्वा) अपने महान् सामर्थ्य से (सलिलम्) पूर्वोक्त प्रकृतिमय 'सलिल' को (अक्रन्दयत्) विक्षुब्ध करता है। और (त्रिभुजम्) तीन प्रकार से भोग करने योग्य सत्व, रजः, तमः रूप (योनीं) मिश्रण, अमिश्रण या संयोग विभाग आदि परिणाम (कृत्वा) करके (शयानः) सब में अप्रकटरूप से या अव्यक्त रूप से व्यापक है। (सः) उसी हीं (कामदुघः) समस्त काम अर्थात् संकल्पों को पूर्ण करने हारो (विराजः) विराट् प्रकृति का (वत्सः)[1] व्यापक, आच्छादक परम शक्तिमान् (पराचैः)

[६] १–(द्वि०) 'कतरस्याः पृथिव्याः' इति पैप्प० सं०।
२–'योऽक्रन्दद्' इति पैप्प० सं०।

दूर २ तक (तन्वः) नाना विस्तृत लोकों को इस (गुहा) महान् सबको आवरण करने हारे आकाश में (चक्रे) बनाता है।

यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम् ।
ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा विपश्चिद् यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम् ॥३॥

भा०—(यानि) जो (बृहन्ति) विशाल, (त्रीणि) तीन गुण सत्व, रजस और तमस् हैं (येषाम्) जिनकी अपेक्षा से (चतुर्थम्) चौथा (वाचम्) वाणी वेदमयी वाक् को (वियुनक्ति) प्रकट करता है। (विपश्चित्) कर्म और ज्ञानों का संचयी, विद्वान् ब्रह्मवेत्ता (तपसा) अपने तप से (एनत्) उसको (ब्रह्म विद्यात्) 'ब्रह्म' जाने। (यस्मिन्) जिसमें (एकम्) एकमात्र वही (युज्यते) समाधि द्वारा साक्षात् किया जाता है (यस्मिन् एकम्) जिसके विषय में 'एक' अद्वितीय, ऐसा ही समाधि में साक्षात् ज्ञान होता है या जिसको 'एक अद्वितीय' कहना उचित है 'तमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इति माण्डूक्योप०।

बृहतः परि सामानि षष्ठात् पञ्चाधि निर्मिता ।
बृहद् बृहत्या निर्मितं कुतोऽधि बृहती मिता ॥ ४ ॥

भा०—(पञ्च[1] सामानि[2]) 'पञ्च अर्थात् परिणाम स्वरूप, 'विस्तृत' या व्यक्त रूप पञ्च भूत् (षष्ठात्[3]) उस षष्ठ अर्थात् सर्वव्यापक, उनमें लीन (बृहतः) बृहत् उस महान् तत्व में से (परि) पृथक् (अधि निर्मिता) बने और (बृहत्) वह 'बृहत्' महात् तत्व (बृहत्याः)

१. 'क्रादिक्लादि वैकल्ये' (भ्वादिः)

३–(प्र०) यानि चत्वारि 'बृहन्ति' इति पैप्प० सं० ।

४–(प्र०) 'सामानि षष्ठ.' इति पैप्प० सं० ।

१. 'डुपचष् पाके' (भ्वादिः) पथि विस्तारवचने (चुरादिः) पचि व्यक्ति करणे (भ्वादिः) २. समी परिणामे (दिवादिः), ३. 'षप् षस्ति स्वप्ने' (अदादिः)

इस 'बृहती' प्रकृति से (निर्मितम्) बना या प्रकट हुआ । [प्रश्न] अब प्रश्न यह है कि (बृहती) वह 'बृहती' प्रकृति (कुतः अधि निर्मिता) कहाँ से बन गयी, प्रकट हुई ।

बृहती परि मात्रा॑या मातुर्मात्राधि निर्मिता ।
माया ह जज्ञे मायाया मायाया मातली परि ॥ ५ ॥

भा०—(बृहती) वह 'बृहती' स्थूल प्रकृति (मात्रायाः परि) 'मात्रा', परम सूक्ष्म प्रकृति से प्रकट हुई और वह (मात्रा) 'मात्रा' परम सूक्ष्म प्रकृति (मातुः अधि निर्मिता) माता, सर्वज्ञ, सर्व विधाता ब्रह्म से (निर्मिता) प्रकट हुई । (माया) वह परम ज्ञानमयी विधात्री शक्ति कहाँ से आयी ? (माया ह मायायाः जज्ञे) वह 'माया' विधात्री निश्चय से 'माया' अर्थात् धात्री शक्ति से ही प्रादुर्भूत हुई । अर्थात् वह स्वयम्भू' है । और (मायायाः) 'माया' उस विधात्री शक्ति के (परि) वश में (मातली) 'मातली' 'इन्द्र' 'जीव' है ।

यद्वेव मिमीते तस्मात् मात्रा [श० ३।१४।८]

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अ॒ग्निः ।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥ ६ ॥

भा०—(वैश्वानरस्य) वैश्वानर सर्वव्यापक ईश्वर की (प्रतिमा) प्रतिमान अर्थात् परिमाण, लम्बाई चौडाई इतनी बड़ी है जितनी (उपरि द्यौः) ऊपर यह 'द्यौ' द्यौलोक या महान् आकाश है। और (अग्निः) दीप्तिमान् सूर्य के समान परमेश्वर (रोदसी यावत्) द्यौ और पृथिवी भर में (वि बबाधे[1]) व्यापक है । (ततः) उस (अमुतः) दूरतम, विप्रकृष्ट

५–(तृ०) 'मायाहि जज्ञे' इति पैप्प० सं० ।

६–'सतःषष्ठादमित्रो' इति पैप्प० सं० ।

१. बाधृ विलोडने (भ्वादिः)

(पष्ठात्) पूर्वोक्त पष्ठ अर्थात् सर्वव्यापक निगूढ़ शक्ति से (स्तोमाः) स्तोम प्राणधारी जीव (आ यन्ति) आते हैं और (इतः) यहाँ से (अह्नः) परम व्यापक शक्ति के (पष्टम् अभि) पष्ठ, सर्वव्यापी निगूढ़, परम रूप के प्रति (उत् यन्ति) पुनः चले जाते हैं उसी में लीन होकर मुक्त हो जाते हैं।

सप्त स्तोमाः श० ९।५।२।८। त्रिवृत्, पञ्चदशः, सप्तदशः एकविंश एते वै स्तोमानां वीर्यवत्तमाः। श० ८।४।२।२। प्राणा वै स्तोमाः। श० ८।४।१।३। स्तोमाः वै परमाः स्वर्गा लोकाः। ऐ० ४।१८॥ सात स्तोम हैं। त्रिवृत, १५वाँ, १७वाँ, और २१वाँ यही स्तोमों में अधिक बलशाली हैं। प्राण स्तोम हैं। सुखमय लोक स्तोम हैं। तं पञ्चदशं स्तोमं ओजो बलमित्याहुः। प्राणो वै त्रिवृदात्मा पञ्चदशः। तां० १९।११।३। चतुर्दश हि एवैतस्यां करूकराणि भवन्ति वीर्यम् पञ्चदशम्। गो० पू० ५।३॥ प्रजापतिः सप्तदशः। गो० उ० २।१३।५। सप्तदशो वै पुरुषो दश प्राणाश्चत्वार्यंगानि आत्मा पञ्चदशो ग्रीवाः षोडश शिरः सप्तदशम्। श० ६।२।२।९॥ तद्वै लोमेति द्वे अक्षरे, त्वग् इति द्वे, असृग् इति द्वे, मेद इति द्वे, मज्जेति द्वे, मांसमिति द्वे, स्नावेति द्वे, अस्थीति द्वे, ताः षोडश कलाः। अथ य एतदन्तरेण प्राणः सञ्चरति स एव सप्तदशः प्रजापतिः। श०. १०।४।१।१७॥ सप्तदश एष स्तोमो भवति प्रतिष्ठायै प्रजात्यै। तां० १२।६।१३॥ एकविंशोऽयं पुरुषो दशहस्त्या अंगुलयो दश पाद्या आत्मा एकविंशः। ऐ० १।१९॥ तं (एकविंशस्तोमम्) देवतल्प इत्याहुः। तां० १०।१।१२॥ 'पञ्चदश स्तोम' ओज और बल है, प्राण त्रिवृत् है, आत्मा का नाम 'पञ्चदश' है, इस मेरुयष्टि या रीढ़ में १५ करूरक मोहरे होते हैं, उनका धारक बल 'पञ्चदश' है। प्रजापति 'सप्तदश' है। दश प्राण, चार अंग ग्रीवा, सिर और १७ वां 'सप्तदश आत्मा है। लोम, त्वचा, रुधिर मेदस मज्जा, मांस, स्नायु, हड्डी इन में दो दो कला हैं सत्रहवीं, 'सप्तदश' आत्मा है। वही १७ वां स्तोम प्रतिष्ठा और प्रजोत्पत्तिका निमित्त है। 'एकविंश' स्तोम भी यह पुरुष है, वही देव इन्द्रियों का तल्प=सेज है अर्थात् उस में दश प्राण सोते हैं।

'षष्ठम् अहः'—देवायतनं वै षष्ठमहः। कौ० २३।५॥ प्रजापत्यं वै षष्ठमहः। कौ० २३।८॥ पुरुषो वै षष्ठमहः। अन्नं षष्ठमहः। कौ० २३।४।७॥ 'षष्ठ अहः' देवों का, प्राणों का, विद्वानों का, मुक्त जीवों का आयतन अर्थात् आश्रय स्थान है, वह प्रजापति का रूप है, वह पुरुष, परम पुरुष है, वह सबका अन्त, परम चरम धाम है अर्थात् प्रलयकाल में वही शेष है। इति दिक्।

षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपेमे त्वं हि युक्तं युयुक्षे योग्यं च।
विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो वि धेहि यतिधा सखिभ्यः ॥७॥

भा०— हे (कश्यप) कश्यप, पश्यक ! सर्वद्रष्टः आत्मन् ! (षट् इमे ऋषयः) छः ये ऋषि हम (त्वा) तुझ से (पृच्छामः) प्रश्न करते हैं, क्योंकि (त्वम्) तू (युक्तम्) समाधि में स्थित योगी को और (योग्यं च) समाधि द्वारा प्राप्त करने योग्य ब्रह्म को (युयुक्षे) परस्पर मिलाता हैं, उनका संग और साक्षात् कराता है। (विराजम्) 'विराड्' को (ब्रह्मणः) ब्रह्म, इस बृहत् जगत् का (पितरम्) पिता (आहुः) बतलाते हैं। (ताम्) उस विराड् शक्ति को (यतिधाः) वह जितने प्रकार की है। (नः) हम (सखिभ्यः) मित्रों को (विधेहि) विशेष रूप से उपदेश कर।

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम्।
यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति सा विराडृषयः परमे व्योमन् ॥८॥

भा०—विराट् के स्वरूपों का उपदेश करते हैं। (यां प्रच्युताम्) जिसके प्रच्युत नष्ट होने पर (यज्ञाः) यज्ञ अर्थात् लोक भी (प्रच्यवन्ते) विनष्ट हो जाते हैं और (उपतिष्ठमानाम्) स्थिर होने पर (उपतिष्ठन्ते) यज्ञ स्थिर हो जाते हैं, या व्यवस्थित रहते हैं। (यस्याः) जिसके (प्रसवे) विशेष, उत्कृष्ट रूप से लोकोत्पादन रूप (व्रते) कार्य में

७–(प्र) 'पृच्छामि' इति पैप्प० सं०।

(यक्षम्) वह उपासनीय देव (एजति) चेष्टा करता है । हे (ऋषयः) ऋषिगण ! (सा विराट्) वह 'विराट्' (परमे) सर्वोत्कृष्ट (व्योमनि) व्योम, विशेष रूप से सब जगत् की रक्षा करने के कार्य या पद पर विराजमान है ।

अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्ये/ति पश्चात् ।
विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् ॥ ९ ॥

भा०—'विराट' (अप्राण्) विना प्राण की है । तो भी (प्राणतीनाम्) प्राण लेने वाली चेतना शक्तियों के (प्राणेन) प्राण जीवन शक्ति के साथ (एति) रहती है । वह (विराट) विराट् स्वयं अप्रकाशमान, जड़ होकर (पश्चात्) पीछे (स्वराजम्) 'स्वराट्' स्वयंप्रकाश ब्रह्म के (अभिएति) पास आती है । उसका संग करती है, उसके साथ मिल कर इस प्रकार (विश्वम्) सर्वव्यापक ब्रह्म को (मृशन्तीम्) सम्पर्क, सन्धि या स्पर्श करती हुई, (अभिरूपाम्) सब प्रकार से नाना रूपों को धारण करती हुई, अभिव्यक्त रूप से प्रकट हुई उस 'विराट्' को (त्वे) कुछ विद्वान् सूक्ष्मदर्शी लोग (पश्यन्ति) तत्व रूप से साक्षात् करते हैं और (त्वे) कुछ अज्ञानी लोग (एनाम्) इसको (न पश्यन्ति) नहीं देखते ।

को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद क ऋतून् क उ कल्पमस्याः ।
क्रमान् को अस्याः कतिधा विदुग्धान् को अस्या धाम कतिधा व्यु/ष्टीः ॥ १० ॥ (२२)

भा०—(कः) कौन (विराजः) उस विराट् प्रकृति का (मिथुनत्वम्) परम पुरुष के साथ हुए मैथुन, एकभाव या जगत् की उत्पत्ति के कार्य को (प्र वेद) भली प्रकार जानता है ? कोई नहीं । (ऋतून्) ऋतुओं को अर्थात् गर्भधारण समर्थ या विशेष रूप से जगत् सृष्टि के

उत्पन्न करने के सामर्थ्यों और अपनी भीतर जगत् के मूलकारण रूप ब्रह्मशक्ति के उत्पादक बीजों को गर्भ में धरण करने के वालों को (कः वेद) कौन जानता है ? कोई नहीं । (अस्याः) इस विराट् के (कल्पम्) उत्पादन सामर्थ्य को भी (क उ) कौन जानता है । (अस्याः) इस विराट् के (क्रमान्) नाना क्रमों अर्थात् क्रम से उत्पन्न होने वाले परिणामों को (कः) कौन जानता है । और (कतिधा) कितने प्रकारों से उनका सार बल या परम सामर्थ्य (विदुग्धान्) प्रकट है यह (कः) कौन जानता है । और (अस्य) इस के (धाम) धारण करने वाले बल को (कः) कौन जानता है और कौन जानता है कि इसकी (कतिधा व्युष्टिः) कितने प्रकार की विविध वशकारिणी शक्तियां हैं ।

इ॒यमे॒व सा या प्र॑थ॒मा व्यौच्छ॑द्दा॒स्वित॑रासु चरति॒ प्रवि॑ष्टा ।
म॒हान्तो॑ अ॒स्यां म॑हि॒मानो॑ अ॒न्तर्व॒धूर्जि॑गाय नव॒गज्ज॑नि॒त्री ॥११॥

भा०—(इयम्) यह (एव) ही (सा) वह विराट् है (या) जो (प्रथमा) सब से पहले विद्यमान रह कर (वि औच्छत्) नाना प्रकार से अपने को प्रकट करती है। और (आसु) इन (इतरासु) अन्य अन्य विकृतियों में (प्रविष्टा) प्रविष्ट होकर (चरति) परिणाम को प्राप्त होती है । (अस्यां) इस विराट् में (महान्तः महिमानः) बड़े २ सामर्थ्य हैं । वह ही (जनित्री) सब जगत् को उत्पन्न करने हारी प्रकृति (नवगत्) नवागता, नवविवाहिता, नवोढ़ा (वधूः) वधू जिस प्रकार अपने पति के अन्तःकरण को जीत लेती है उसी प्रकार वह परम पुरुष के परम अन्तःकरण रूप सामर्थ्य को (जिगाय) जीत लेती है, अपने भीतर ले लेती है । इसी उपमा की व्याख्या करने के लिये अलंकार दृष्टि से पुराणकार शिवपार्वती आदि प्रतिदृष्टान्तों का वर्णन किया करते हैं । भागवत में वेदस्तुति का प्रकरण इस रहस्य की उत्तम व्याख्या है।

---

१. जि ज्रि अभिभेव ।

छन्दःपक्षे उषसा पेपिशाने समानं योनिमनु सं चरेते ।
सूर्यपत्नी सं चरतः प्रजानती केतुमती अजरे भूरिरेतसा ॥१२॥

भा०—(छन्दःपक्षे) छन्दस् अर्थात् दिशा रूप पक्षों वाली (उषसा) दोनों उषाएँ प्रातः और सायं (पेपिशाने रूप से अपने को सजाती हुई (समानं योनिम् अनु) समान, एक ही स्थान को लक्ष्य करके (संचरेते) आरही हैं । वे दोनों (सूर्यपत्नी) सूर्य की स्त्रियों के समान (प्रजानती) सब मनुष्यों को काल का बोध कराती हुई (केतुमती) सब के ज्ञापक सूर्य को साथ लिये हुए (अजरे) कभी भी नाश न होने वाली (भूरिरेतसा) बहुत वीर्यशाली सहस्रों प्राणियों को उत्पन्न करने वाली (संचरतः) एक साथ ही विचरती हैं ।

उषसा=दोनों उषाएँ अर्थात् प्रातः सायं दोनों । छन्द पक्षे—छन्दांसि दिशः। श० ८।३।१।१२॥ प्रजापते वा एतान्यंगानि यच्छन्दांसि। ए० २।१८॥

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः ।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम् ॥ १३ ॥

भा०—(तिस्रः) तीन शक्तियां (ऋतस्य) ऋत, सत्य के या वेद ज्ञान के (पन्थाम्) मार्ग पर चलने से (अनु आगुः) प्राप्त होती हैं । (त्रयः) तीन (घर्माः) घर्म, तेज (रेतः अनुः) रेतस-वीर्य के कारण (आगुः) प्राप्त होते हैं । उन तीन शक्तियों में से (एका) एक प्रजनन शक्ति (प्रजाम्) जीव लोक की प्रजा को (जिन्वति) तृप्त करती है । (एका) और एक (ऊर्जम्) अन्न या बल को (जिन्वति) तृप्त करती है । और (एका) एक (देवयूनां) देवों के अभिलाषी पुरुषों के (राष्ट्रम्) राष्ट्र की (रक्षति) रक्षा करती है ।

१२–(प्र०) 'छन्दस्वती उषसौ' (च०) 'भूरिरेतसौ' (तृ०) निचरतः । इति मै० सं० । (च०) 'केतु कृण्वाने' इति तै० सं० । (तृ०) 'सं चरति' इति पैप्प० सं० ।

तीन शक्तियां—१ परस्पर प्रेम, २ अन्न, ३ राजशक्ति । अथवा आत्मिक शक्ति अधिभौतिक और अधिदैविक शक्ति । आत्मिक शक्ति से सब जीवों पर प्रेम उत्पन्न होता है, आधिभौतिक शक्ति से प्राकृतिक अन्न और पशु आदि बल ऊर्ज बढ़ता है, आधिदैविक शक्तियों से विशाल विशाल राष्ट्रों की रक्षा होती है ।

अ॒ग्नी॒षोमा॑वदधु॒र्या तु॒रीया॒सी॑द् य॒ज्ञस्य॑ प॒क्षावृष॑यः क॒ल्पय॑न्तः ।
गा॒य॒त्रीं त्रि॒ष्टुभं॒ जग॑तीमनु॒ष्टुभं॑ बृ॒हद॒र्कीं यज॑मानाय॒ स्व॑रा॒भर॑न्तीम् ॥ १४ ॥

भा०—(अग्नीषोमौ) अग्नि और सोम दोनों को (यज्ञस्य) यज्ञ के (पक्षौ) दो पक्ष (कल्पयन्तः) बनाते हुए (ऋषयः) ऋषि गण (गायत्रीम्) गायत्री (त्रिष्टुभं) त्रिष्टुभ् (जगतीम्) जगती (अनुष्टुभम्) अनुष्टुभ् (यजमानाय) यज्ञ करने हारे यजमान आत्मा को (स्वः) परम सुख मोक्षप्रद (आभरन्तीम्) प्राप्त कराती हुई (बृहदर्कीम्) महती स्तुति के योग्य उस ब्रह्म या ब्रह्मशक्ति को (अदधुः) धारण करते हैं (या) जो (तुरीया) जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से परे शिवरूप (आसीत्) है ।

१३–(द्वि०) 'त्रयो घर्मासो अनुरेतस' (च०) 'क्षत्रमेका' इति मै० सं० । 'त्रयो घर्मासो अनुज्योतिशा' (च०) 'क्षत्रमेका' इति (तृ०) 'प्रजामेका रक्षति' इति तै० सं० ।

१४–'अग्नीषोमावदधात्' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (च०) 'चतुष्टोमोऽभवद्या' इति तै० सं० । 'चतुष्टोमामदधात्' इति मै० सं० । 'तुरीया यज्ञस्य' तै० सं०, मै० सं०। 'यज्ञस्य पक्षौ ऋषयो भवन्ति' इति मै० सं० । (तृ०) 'जगतीं विराजं' इति मै० सं० । (च०) 'बृहदर्क युञ्जानाः स्वराभरन्निदम्' इति तै० सं० । तत्र 'अर्कं युजाना स्वराभरान्निदम्' इति मै० सं०। 'बृहदर्कीयेज' इति पैप्प० सं० ।

गायत्री—'गयांस्तत्रे' प्राणों की रक्षा करने वाली 'त्रिष्टुभ्' तीनों लोकों से स्तुति करने योग्य, त्रिभुवनधारिणी शक्ति। 'जगती' निरन्तर गतिशील ज्ञानमयी। 'अनुष्टुप' सदा स्तुत्य, ये सब विशेष उस 'तुरीया' ब्रह्मशक्ति के रूपान्तर हैं। 'बृहदर्की' बृहत् अर्कवाली, ब्रह्मतेजोरूपा। इसी को 'तुरीयपद' अमात्र चतुर्थपाद शिव, परम शक्ति आदि नाम से कहते हैं। व्याख्यान देखो 'माण्डूक्योपनिषत्' में तुरीयपद का वर्णन।

पञ्च व्यु॒ष्टी॒रनु॒ पञ्च॒ दोहा॒ गां पञ्च॑नाम्नीमृ॒तवोऽनु॒ पञ्च॑ ।
पञ्च॒ दिशः॑ पञ्चद॒शेन॒ क्लृ॒प्तास्ता एक॑मूर्ध्नीर॒भि लो॒कमेक॑म् ॥१५॥

भा०—प्रहेलिका। (पञ्च व्युष्टीः अनु) पाँच व्युष्टियों के साथ (पञ्च दोहाः) पाँच दोह हैं और (पञ्च नाम्नीम् गाम् अनु) पाँच नाम वाली गौ के अनुसार (ऋतवः पञ्च) पाँच ऋतु हैं। (पञ्चदशेन) पन्द्रहवें ने (पञ्च दिशः क्लृप्ताः) पाँच दिशों को वश किया। (ताः) और ये सब (एकमूर्ध्नीः) एक ही शिर वाली (एकम्) एक (लोकम् अभि) लोक के चारों ओर आश्रय लिये हैं।

'पञ्च व्युष्टीः'=पाँच प्राण हैं उनके साथ पाँच प्रकार के दोह अर्थात् ग्राह्य विषय हैं। इसी प्रकार आधिदैविक में पाँच प्रकृति के विशेष विकार पञ्चभूत हैं। उनके साथ उनके पाँच दोह अर्थात् तन्मात्राएँ उनमें विद्यमान गन्ध आदि विशेष धर्म हैं। 'पञ्चनाम्नी गौ' अध्यात्म में चिति शक्ति या जिसमें पाँच ऋतु, गतिमान् पाँच प्राण हैं। शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच दिशा हैं उन पर अधिकार उस पञ्चदश=आत्मा का है। प्राणो वै त्रि वृदात्मा पञ्चदशः। तां० १९। ११। २॥ वे पाँचो दिश्=ज्ञानेन्द्रियें (एकमूर्ध्नीः) एक ही मूर्धास्थान में लगी हैं। अर्थात् उनका एक ही मूल [एक मूल्-ध्नी=एक मूलधारिणी=एक-मूर्ध्नी] आत्मा या मुख्य प्राण है। वे सब एक ही लोक=

१५–(च०) 'समान मूर्ध्नीरभि' मै० सं०, तै० सं०, पा० गृ० सू०।

आत्मा में आश्रित हैं। आधिदैविक पक्ष में पाँच प्रकृति के विकार पञ्च• भूत पाँच 'व्युष्टि' हैं उनके पाँच द्रोह पाँच तन्मात्राएँ या गन्धादि पाँच गुण हैं। वे पाँचों के नाम को धारण करनेवाली गौ आदित्य या पृथ्वी के आश्रय ये पाँच ऋतु वसन्तादि प्रवृद्ध हैं। पाँच दिशा प्राची आदि हैं। उनको 'पञ्चदश'=तेजस्वरूप सूर्य वश में किये हुए है। वे दिशाएँ (एक मूर्ध्नीः) एक ही आकाश रूप मूल में बद्ध होकर एक मात्र लोक=आलोक-कारी परब्रह्म में आश्रित हैं। तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। (कठ० उ०)

षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति।
षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः ॥१८॥

भा०—(ऋतस्य) उस 'ऋत' सत्य सामर्थ्यवान्, परमेश्वर के सामर्थ्य से (प्रथमजाः) सबसे प्रथम उत्पन्न, व्यक्त हुए (षट्) छः (भूता) 'भूत' सत् पदार्थ (जाताः) उत्पन्न हुए और (षट् उ) वे छहों भी (सामानि) अपनी शक्तियों सहित मिश्रित होकर, संयुक्त होकर, परस्पर एक दूसरे के सहायक होकर (षडहम्) समस्त ब्रह्माण्ड और पुरुष देह को (वहन्ति) धारण करते हैं। (षड्-योगम्) छः प्राणों के साथ योग करनेहारे (सीरम् अनु) सीर=शरीर के साथ (साम-साम) प्राण ही सहायक है इसी कारण (द्यावापृथिवीः षट् आहुः) द्यौ और पृथिवी को छः प्रकार की कहा जाता है और (ऊर्वीः) य विशाल पृथ्वी भी (षट्) छः प्रकार की कही जाती है।

'सेरं ह्येतद्यत् सीरम्। इरामेवाऽस्मिन्नेतद्दधाति। श० ७।२।२॥ इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः। तै० २।४।८।७॥

षडाहुः शीतान् षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोऽतिरिक्तः।

भा०—(षट्) छः (मासाः) मासों को (शीतान् आहुः) शीत कहते हैं। और (षट् उ मासान्) छः ही मासों को उष्ण कहते हैं। हे

विद्वान् पुरुषो ! (ऋतुम्) उस ऋतु को (नः ब्रूहि) हमें बतलाओ (यतमः) जो इन ऋतुओं से (अतिरिक्तः) अतिरिक्त, अर्थात् बड़ा है। इति पूर्वार्धः ।

सुप्त सुपर्णाः कवयो नि षेदुः सुप्त छन्दांस्यनु सुप्त दीक्षाः ॥१७॥

भा०—(सप्त सुपर्णाः) सात सुपर्ण अर्थात् पक्षियों के समान, शोभन ज्ञान प्राप्त करने में कुशल (कवयः) क्रान्तदर्शी इस देह के शिरोभाग में (निषेदुः) विराजते हैं । (सप्त छन्दांसि अनु) सात छन्दों=प्राणों के साथ (सप्तदीक्षाः) सात दीक्षाएँ=नियत कर्म या ज्ञानसाधन के सामर्थ्य भी हैं। इति उत्तरार्धः ।

सुप्त होमाः सुमिधो ह सुप्त मधूनि सुप्तर्तवो ह सुप्त ।
सुप्ताज्यानि परि भूतमायन् ताः संप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम् ॥१८॥

भा०—(सप्त होमाः) सात होम (सप्त ह समिधः) सात समिधाएँ, (सप्त मधूनि) सात मधु, (सप्त ह ऋतवः) सात ऋतु या (सप्त आज्यानि) सात आज्य (भूतम्) सत् पदार्थ आत्मा को (परि आयन्) प्राप्त हैं । (ताः) उनको ही (सप्त गृध्राः) सात गृध्र अर्थात् विषयों की आकांक्षा करने वाले इन्द्रियगण के नाम से (वयम्) हम (शुश्रुम) सुनते हैं।

होम, मधु, समिध, ऋतु, आज्य और गृध्र ये सब सात शीर्षण्य प्राणों के नाम भेद हैं ।

सुप्त छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि ।
कथं स्तोमाः प्रति तिष्ठन्ति तेषु तानि स्तोमेषु कथमार्पितानि ॥१९॥

१७–(प्र०) शीतान्तषड्' इति क्वचित् पाठः ।

१८–(प्र० द्वि०) 'समिधोऽनु सप्त', 'ऋतवोऽनु सप्त' (तृ० च०) सप्त ज्यायो पुरुहूत जायं सप्त होता ऋतुदव जेताः सप्तगृध्रा इति शुश्रु-वाहम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सप्तच्छन्दांसि) सात छन्दः=प्राण तो ये शिरोभाग में विराजमान हैं। (उत्तराणि) इन से भी उत्कृष्ट कोटि के (चतुः) और चार हैं। और वे (अन्यः अन्यस्मिन्) एक दूसरे में (अधि आ अर्पितानि) अर्पित हैं, एक दूसरे में आश्रित हैं। अब प्रश्न यह है कि (स्तोमाः) स्तोम अर्थात् छन्दः या प्राणगण (तेषु) उन उत्कृष्ट चार अन्तःकरण-चतुष्टयों में (कथं प्रति तिष्ठन्ति) किस प्रकार प्रतिष्ठित या आश्रित हैं और (तानि) वे उत्कृष्ट कोटि के चारों (स्तोमेषु) स्तोम या प्राणों में (कथम्) किस प्रकार (आ अर्पितानि) आश्रय लिये हुए हैं ?

कथं गा॒यत्री त्रि॒वृतं॒ व्या॑प क॒थं त्रि॒ष्टुप् प॑ञ्चद॒शेन॑ कल्पते।
त्र॒य॒स्त्रिं॒शेन॒ जग॑ती क॒थम॑नु॒ष्टुप् क॒थमे॑कवि॒ंशः ॥ २० ॥ (२२)

भा०—(गायत्री) गायत्री नामक प्राणशक्ति (त्रिवृत्) त्रिवृत नाम अन्न को (कथं व्याप) किस प्रकार व्याप्त करता है। और (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् नामक प्राणशक्ति (पञ्चदशेन) पञ्चदश नाम आत्मा के साथ (कथम्) किस प्रकार (कल्पते) देह व्यापार करने में समर्थ होता है ? (जगती) जगती नामक चितिशक्ति या प्राणशक्ति (त्रयस्त्रिंशेन कथम्) त्रयःस्त्रिंश नाम परम आत्मा के साथ किस प्रकार जगत् को चला रही है ? और (अनुष्टुप्) अनुष्टुप् नामक शक्ति और (एकं विंशः) एकविंश नाम आत्मा के साथ किस प्रकार देह व्यापार करने में समर्थ है।

त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश आदि की व्याख्या देखो इसी सूक्त की ऋचा ६ में। गायत्री आदि नामों की व्याख्या इसी सूक्त की ऋचा १४ में देखो।

त्रयस्त्रिंशः स्तोमानामधिपतिः। ता० ६। २। ७॥ ज्योतिः त्रयस्त्रिंशः स्तोमानाम्। ता० १३। ७। २॥ सत् त्रयस्त्रिंशः स्तोमानाम्। ता० १५। १२। २॥ अन्तो वै त्रयस्त्रिंश स्तोमानाम्। ता० ३। ३। २॥ तम् उ नाक इत्याहुः। ता० १०। १। १८॥ देवता एव त्रयस्त्रिंशस्यायत-

नम् । ता० १० । १ । ६ ॥ सब स्तोमों=प्राणों का अधिष्ठाता, वही ज्योति है, वही सत् और वही सबका चरम सुख है जिस में सब प्राण लीन होते हैं । ये अन्य शरीर के घटक देव उसके आश्रय स्थान हैं ।

अष्ट ज़ाता भूता प्रथमुजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये ।

अष्टयोनिरदितिरुष्टपुंत्राष्टमीं रात्रिमुभि हुव्यमेति ॥ २१ ॥

भा०— (ऋतस्य) ऋत अर्थात् आदि सत् पदार्थ के (प्रथमजाः) प्रथम प्रादुर्भूत (अष्ट) आठ (भूता जाता) भूत अर्थात् भाव पदार्थ उत्पन्न हुए । हे (इन्द्र) इन्द्र आत्मन् ! (ये) जो (अष्ट) आठों (दैव्याः) देव गणों के या देव, परम पुरुष के उत्पत्ति स्थिति प्रलयरूप यज्ञ के (ऋत्विजः) 'ऋत्विग्' हैं वे यथाकाल परस्पर मिलते और सर्ग रचते हैं । उन से ही (अदितिः) अविनाशिनी प्रकृति 'अदिति' भी (अष्टयोनिः) अष्ट-योनि, आठ स्वरूपों वाली और (अष्ट-पुत्रा) मानो आठ पुत्रों वाली है । वह (अष्टमीं रात्रीम्) अष्टमी रात्रि अर्थात् संसार की व्यक्त दशा को (हव्यम्) हव्य अर्थात् संसार रूप में (अभि एति) प्राप्त करती है ।

अष्टरात्रेण वै देवाः सर्वमाप्नुवत । तां० २२।११।६॥ प्रजापत्यमेतदहः यदष्टका । रात्रिर्व्युष्टिः । श० १३।२।१।६॥ 'अष्टरात्र' से देवगण ईश्वरीयशक्ति से युक्त प्राकृत विकार, सर्व अर्थात् संसार में व्यापक हैं । अष्टका यह प्रजापति सम्बन्धी दिन है अर्थात् परमेश्वर के सर्वव्यापक शक्ति का प्रतिनिधि है । सर्वव्यापक शक्तियों के परस्पर संयोग से जो संसार की व्यक्त होने की विशेष दशा है वही 'अष्टमी रात्रि' कहाती है । उसी दशा में वह 'अदिति' हव्य-समस्त संसार को अपने में धारण करती है । "सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम् । श० १०।६।५।५॥ सब संसार को अपने

२१—'अष्टौ धामानि प्रथमजा ऋतस्यास्तेन्द्रवर्तिजो' इति पैप्प० सं० ।

में लीन करती है अतः 'अदिति' कहाती है। शिव की आठ मूर्तियों का यही आधार है। प्रजापति की आठ मूर्तियां शतपथ में–१ आपः, फेन, सिकता, शर्करा, अश्मा, अपः, हिरण्य और स्वयं प्रजापति आठवीं। यह अक्षर का आठ रूपों से क्षरण है। रुद्र के आठ नाम–रुद्र, सर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान और नवम कुमार है इन के प्राकृतिक नाम क्रम से अग्नि, आपः, ओषधि, वायु, विद्युत्, पर्जन्य, चन्द्रमा, आदित्य हैं। और अग्नि का त्रिवृद्भाव देखो शत० ६।१।३।१८॥

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा ।
समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन् २२॥

भा०—(इत्थम्) इस प्रकार (श्रेयः) परम 'श्रेय' कल्याण रूप परमपद को (मन्यमाना) ज्ञान करती हुई, मैं 'विराट्' रूप में (इदम्) इस चराचर जगत् को (आगमम्) प्राप्त हूं । और (अहम्) मैं (शेवा) अति कल्याणमयी होकर (युष्माकम्) तुम प्राणियों के (सख्ये) सख्य प्रेमभाव, सहयोग में (अस्मि) प्राप्त हूं। (वः) तुम्हारा (समानजन्मा) तुम्हारे साथ ही उत्पन्न होने वाला (क्रतुः) सर्वकर्त्ता प्रभु भी (वः) तुम्हारा (शिवः) कल्याणकारी है। (सः) वह (वः) तुम्हारे (सर्वाः) समस्त क्रियाओं और चेष्टाओं को (प्रजानन्) जानता हुआ, (संचरति) विचरता है या व्यापक है।

अष्टेन्द्रस्य षड् यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा ।
अपो मनुष्या३नोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे ॥ २३ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) इन्द्र ऐश्वर्यवान् उस परमात्मा के (अष्ट) आठ

२२–(प्र०) 'मन्थमानेदमागं'। (तृ०) 'क्रतुरस्ति नः शिवः सनः' इति पैप्प० सं०।

२३–'यमस्यर्षीणां' इतिक्वचित् पाठः।

रूप और (यमस्य) संयम में रहने वाले जीव के (षट्) छः मन सहित छः इन्द्रियें अथवा (यमस्य षट्) यम नियामक कालरूप संवत्सर की छः ऋतुएं और (ऋषीणाम्) विषयों के द्रष्टा इन्द्रियों के (सप्तधा) सात प्रकार से गति करने वाले (सप्त) सात प्राण (अपः) समस्त कर्मों, ज्ञानों को, (मनुष्यान्) मनुष्यों और (ओषधीः) ओषधियों (तान्) उन सबको भी (पञ्च) पांच भूत ही (अनुसेचिरे)[1] रच रहे हैं, रूपवान् और सत्तावान् बना रहे हैं ।

केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना ।
अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्याँ३ असुरानुत ऋषीन् ॥२४॥

भा०—(गृष्टिः) प्रथम प्रसूता गौ जिस प्रकार मधुर दुग्ध अपने केवल प्रथम वत्स के लिये ही देती है उसी प्रकार यह 'विराट्' भी (केवली)[1] केवल मात्र परमपदभागी मुक्त (इन्द्राय) जीव के लिये ही (प्रथमम्) सब से प्रथम २ (दुहाना) दुही जाकर (वशं) अति कमनीय (पीयूषम्) पान करने योग्य अमृत को (दुदुहे) प्रदान करती है । और वही इस प्रकार (चतुर्धा) चार प्रकार से (देवान्) देव, (मनुष्यान्) मनुष्य, (असुरान्) असुर, (उत) और (ऋषीन्) ऋषि इन (चतुरः) चारों को (अतर्पयत्) तृप्त करती है ।

भोगापवर्गार्थं दृश्यम् । सां० सू० । किस प्रकार प्रकृति स्वयं मोक्ष का कारण है और वह सब के भोग का भी कारण है । इस की व्याख्या सांख्यदर्शन से जाननी चाहिये ।

को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः ।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः ॥ २५ ॥

१. पच समवाये (भ्वादिः) ।

२४—(च०) 'अथर्षीन्' इति पैप्प० सं० ।

१. चतुर्थ्यर्थे प्रथमा ।

भा०—प्रश्न यह है कि (कः नु गौः) वह महान् 'गौः' सब का चलाने वाला, ब्रह्माण्ड या जगत्रूप गाड़े का खैंचने वाला बैल कौन है? और इस समस्त चराचर का (ऋषिः) द्रष्टा, उसका निरीक्षक, (एकः) एकमात्र सर्वाध्यक्ष (कः) कौन है ? (किम् उ धाम) इस सब को धारण करने वाला सर्वाश्रय क्या है ? (आशिषः) सब पदार्थों को शासन करने वाली, सब को नियम में रखने वाली शक्तियां (काः) कौनसी हैं ? (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (एकवृत्) एकमात्र वरण करने और पूजने योग्य (एक ऋतुः) एक मात्र ऋतु के समान संवत्सर रूप काल (यक्षम्) सब पदार्थों को परस्पर संगति कराने और उनको व्यवस्थित करने वाला (सः) वह (नु) भी (कतमः) कौनसा है ?

एको॒ गौरेक॑ ऋ॒षिरेकं॒ धामै॑क॒धाशिषः॑ ।
य॒क्षं पृ॑थि॒व्यामे॑क॒वृदे॑क॒र्तुर्नाति॑ रिच्यते ॥ २६ ॥ (२४)

भा०—उत्तर यह है कि-(एकः गौः) वह एकमात्र परमात्मा ही (गौः) इस चराचर को चलाने वाला महा वृषभ है। और वही (एकः) एकमात्र (ऋषिः) सर्वाध्यक्ष है। वही (एकं धाम) एकमात्र सब के धारण करने वाला 'बल' है और सब का आश्रय है। (एकधा आशिषः) वे सब नियामक शक्तियां भी एक ही रूप की ब्रह्ममयी हैं (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (एकवृत्) एकमात्र वरणीय, सब से श्रेष्ठ (एक ऋतुः) एक ऋतु के समान या एकमात्र सब का प्रेरक प्राणरूप (यक्षम्) सब को परस्पर संगत और व्यवस्थित करने वाला बल भी वही एक है (न अतिरिच्यते) उससे बढ़ कर दूसरा नियामक भी कोई नहीं है।



२५–(द्वि०) 'किमु साम' इति पैप्प० सं० ।

[१० (१)] 'विराड्' के ६ स्वरूप गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, सभा समिति और आमन्त्रण।

अथर्वाचार्य ऋषिः। विराड् देवता। १ त्रिपदार्ची पंक्तिः। २,७ याजुष्यो जगत्यः। ३,६ साम्न्यनुष्टुभौ। ५ आर्ची अनुष्टुप्। ७,१३ विराट् गायत्र्यौ। ११ साम्नी बृहती। त्रयोदशर्चं पर्यायसूक्तम्॥

विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति॥ १॥

भा०—(इदम्) यह जगत् (अग्रे) पहले, अपने पूर्व रूप में (विराट्) विराट् ही (आसीत्) था। (तस्याः) उसके (जातायाः) प्रादुर्भाव अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त होते हुए (सर्वम्) सब चराचर (अबिभेत्) भयभीत हुआ, शंकित हुआ कि (इयम्) यह विराट् ही (इदम्) इस जगत्रूप को (भविष्यति) धारण करेगी अर्थात् वही जगत् रूप में प्रकट होगी।

सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्॥ २॥

भा०—(सा) वह विराट् (उत् अक्रामत्) ऊपर उठी और (सा) वह (गार्हपत्ये) गार्हपत्य में (नि अक्रामत्) नीचे आगयी।

'प्रजापतिर्हि गार्हपत्यः' कौ० २७।७॥ अयं वै भूलको गार्हपत्यः। श० ७।१।१।६॥ जाया गार्हपत्यः। ऐ० ८।२४॥ कर्मेति गार्हपत्यः। जै० ३।४। २६।२५॥ अपगो वै गार्हपत्यः। कौ० २।१॥ अन्नं वै गार्हपत्यः कौ०। २।१॥ वह विराट् उत्क्रमण करके अर्थात् विशालरूप में प्रकट होकर भी प्रजापति के वश में रही, अथवा इस भूलोक, स्त्री, अन्न, कर्म आदि के स्वल्प परिमित रूप में भी प्रकट हुई।

[१० (१)] १–विराड् वा इदमग्रेऽजायत तस्या जाताया त्रिभेदेक सर्वम्। यमेवेदं भविष्यति न वयम् इति।

गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है । वह (गृहमेधी) गृह मेधी=गृहस्थ (गृहपति) गृह अर्थात् जाया का पति=पालक होता है ।

सोदक्रामत् साहवनीये न्य/क्रामत् ॥ ४ ॥

भा०—(सा) वह जब (उद् अक्रामत्) ऊपर उठी, विशालरूप में प्रकट हुई तब (सा आहवनीये) वह अहवनीय या द्यौरूप में (नि अक्रमत्) उतर आई अर्थात् प्रकट हुई ।

द्यौराहवनीयः । श० ८।६।३।११॥ इन्द्रोह्याहवनीयः । श० २।७।१।३८॥ यजमान आहवनीयः । पुरुषस्य मुखमेव आहवनीयः कौ० । १७।७॥ यज्ञस्य शिर आहवनीयः । श० ६।५।२।१॥ प्राणोदानावेवाहवनीयश्च गार्हपत्यः । श० २।२।२।१८॥ द्यौ, इन्द्र, जीव, यजमान, पुरुष, पुरुष का मुख, यज्ञ का मुख, प्राण ये आहवनीय के रूप हैं ।

यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो (एवम्) इस प्रकार 'विराट्' के स्वरूपों का (वेद) ज्ञान कर लेता है वह (देवानां प्रियः) देवों का प्रिय (भवति) हो जाता है और (अस्य) उसके (देवहूतिं) दिव्य पदार्थों और विद्वानों की हूति पुकार या आमन्त्रण को (देवाः) देवगण (यन्ति) प्राप्त होते हैं ।

सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्य/क्रामत् ॥६॥
यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥७॥

भा०—(सा) वह विराट् (उत् अक्रामत्) ऊपर को उठी अर्थात् प्रकट हुई और (दक्षिणाग्नौ नि अक्रामत्) दक्षिणाग्नि रूप में उतर आयी । (य एवं वेद) जो पुरुष इस रहस्य को जानता है वह (यज्ञर्तः)

यज्ञ में पूजनीय (वासतेयः) वसति=गृह में वसने योग्य उत्तम अतिथि (भवति) होता है । वह (दक्षिणीयः) दक्षिणा प्राप्त करने योग्य, कुशल (भवति) हो जाता है ।

सोदक्रामत् सा सभायां न्य/क्रामत् ॥ ८ ॥
यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह ऊपर उठी और (सा सभायां नि अक्रामत्) वह विराट् पुनः सभा के रूप में (नि अक्रामत्) उतर आयी, प्रकट हुई । (य एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जानता है वह (सभ्यः) सभा में पूजा योग्य (भवति) हो जाता है और विद्वान्गण (अस्य सभां यन्ति) इसकी सभा में आते हैं ।

सोदक्रामत् सा समितौ न्य/क्रामत् ॥ १० ॥
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह ऊपर उठी और (सा समितौ नि अक्रामत्) वह समिति, सर्व साधारण विशाल सभा के रूप में आ उतरी, प्रकट हुई । (य एवं वेद सामित्यो भवति) जो विराट् के इस प्रकार के स्वरूपों को जान लेता है वह समिति या जनसमाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।(अस्य समितिं यन्ति) लोग उसकी समिति या संगति को प्राप्त होते हैं ।

सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ १२ ॥
यन्त्यस्यामन्त्रमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥ १३ ॥ (२५)

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह ऊपर उठी और फिर (सा आमन्त्रणे नि अक्रामत्) वह 'आमन्त्रण', परस्पर प्रेम और सम्मानपूर्वक बुलाने के रूप में आ उतरी, प्रकट हुई । (यः एवं वेद आमन्त्रणीयः भवति । अस्य आमन्त्रणं यन्ति) जो विराट् के इस प्रकार के रूप को जान लेता है वह अन्यों द्वारा सन्मानपूर्वक आमन्त्रण पाता है और उस के आमन्त्रण को दूसरे स्वीकार करते हैं ।

[२] विराट के ४ रूप ऊर्ग्, स्वधा, सूनृता, इरावती, उसका ४ स्तनोंवाली गौ का स्वरूप।

अथर्वाचार्य ऋषिः। विराड् देवता। १ त्रिपदा अनुष्टुप्। २ उष्णिग्गर्भा चतुष्पदा उपरिष्टाद् विराड् बृहती। ३ एकपदा याजुषी गायत्री। ४ एकपदा साम्नी पंक्तिः। ५ विराड् गायत्री। ६ आर्ची अनुष्टुप्। ८ आसुरी गायत्री। ९ साम्नो अनुष्टुप्। १० साम्नां बृहती। ७ साम्नां पंक्तिः। दशर्चं सूक्तम् ॥

सोद॑क्रामत् सान्तरि॑क्षे चतुर्धा वि॒क्रा॑न्तातिष्ठत् ॥ १ ॥

भा०—(सा) वह विराट् (उद् अक्रामत्) ऊपर उठी, प्रकट हुई (सा) वह (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में, वायुमण्डल में, (चतुर्धा) चार प्रकार से (विक्रान्ता) विभक्त होकर (अतिष्ठत्) विराजमान है।

तां दे॒वमनु॒ष्या/ अब्रुवन्नि॒यमे॒व तद् वे॑द् यदु॒भय॑ उप॒जीवे॑मे॒मामुप॑ ह्वयामहा इति॑ ॥ २ ॥

भा०—(ताम्) उसके विषय में (देव-मनुष्याः) देवगण विद्वान् जन, (अब्रुवन्) बोले कि (इयम् एव) वह विराट् ही (तत् वेद) उस परम तत्व को जानती है (यत्) जिस के आधार पर हम (उप जीवेम) आजीविका करते, एवं प्राण धारण करते हैं। (इमाम् उपह्वयामहे इति) बस हम इसी को बुलावें।

तामुपा॑ह्वयन्त ॥ ३ ॥

भा०—(ताम्) उस विराड् को उन्होंने (उपाह्वयन्त) बुलाया।

ऊर्ज॒ एहि॒ स्वध॒ एहि॒ सूनृ॑त॒ एहीरा॑व॒त्येही॒ति॑ ॥ ४ ॥

भा०—(ऊर्जे) हे ऊर्जे ! अन्नमयि ! (आ इहि) आ। हे (स्वधे) स्वधे, अन्नमयि शरीर धारण करने में समर्थ (आ इहि) आ। हे (सूनृते) सूनृते ! उत्तम शब्दमयी वाणी ! (आ इहि) आ। हे (इरावति) इरावति ! अन्नवति ! (आ इहि) आ।

तस्या इन्द्रो वृत्स आसीद् गायत्र्यभिधान्यभ्रमूधः ॥ ५ ॥

भा०—(तस्याः) उस अन्नमयी 'विराट् रूप गौ का (इन्द्रः वत्सः आसीत्) इन्द्र वत्स=बछड़े के समान है और (गायत्री अभिधानी) गायत्री बांधने की रस्सी है, (अभ्रम् ऊधः) और मेघ दूध के भरे ऊधस के समान है।

बृहच्च रथन्तरं च द्वौ स्तनावास्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ॥६॥

भा०—उस विराड् रूप गौ के (बृहत् च) बृहत् और रथन्तर (यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य (द्वौ द्वौ स्तनौ) दो २ स्तन (आस्ताम्) थे।

ओषधीरेव रथंतरेण देवा अंदुहन् व्यचो बृहता ॥ ७ ॥

भा०—(देवाः) देवगण (रथन्तरेण) 'रथन्तर' नामक स्तन से (ओषधीः अदुहन्) ओषधियों को दुहते हैं प्राप्त करते हैं। और (बृहता) 'बृहत्' नामक स्तन से (व्यचः) 'व्यचस्' अन्तरिक्षको दुहते उसका रस प्राप्त करते हैं।

अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

भा०—और (वामदेव्येन) वामदेव्य नामक स्तन से (अपः) अप जलों को दुहा और (यज्ञायज्ञियेन) 'यज्ञायज्ञिय' नामक स्तन से (यज्ञम्) यज्ञ को दुहा, प्राप्त किया।

ओषधीरेवास्मै रथंतरं दुहे व्यचो बृहत् ॥ ९ ॥
अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद ॥ १० ॥ (२६)

भा०—(यः एवं वेद) जो इस प्रकार विराड् के गूढ़ रहस्य को जानता है (अस्मै) उसके लिये (रथन्तरं ओषधी एव दुहे) 'रथन्तर' नाम स्तन ओषधियों को ही प्रदान और पूर्ण करता है, (बृहत् व्यचः) 'बृहत्' नाम स्तन 'व्यचस्' को प्रदान और पूर्ण करता है, (वामदेव्यं अपः) वामदेव्य स्तन अपः=जलों को प्रदान और पूर्ण करता है। और

(यज्ञायज्ञियं) 'यज्ञायज्ञिय' नाम का स्तन यज्ञ को प्रदान करता और पूर्ण करता है। संक्षेप से देवों और मनुष्यों के उपजीवक विराड् के अन्तरिक्ष में चार रूप हैं। ऊर्ज्, स्वधा, सूनृता, इरावती । उनका वत्स इन्द्र, रस्सी गायत्री, स्तनमण्डल मेघ है। उस विराड् रूप गौ के ४ स्तन हैं बृहत्, रथन्तर यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य, उनसे चार प्रकार का दूध प्राप्त किया ओषधि, व्यचस्, अपः और यज्ञ। विराड् शक्ति के या द्यौ=आदित्य के अन्तरिक्ष में चार रूप ऊर्ज=अन्न, स्वधा=प्राण और अन्न, सूनृता, उत्तम वाणि, वाक् विद्युद्गर्जना और इरावती, जलों या अन्नों से पूर्ण पृथिवी। वत्स इन्द्र=वायु या स्वतः जीव है। गायत्री पृथिवी, अपने साथ उसे बाँधे है। मेघ उसके स्तन मण्डल है मेघों के ४ स्तन हैं १. बृहत्=द्यौः उससे व्यचः=अन्न उत्पन्न है। जैसा कालिदास ने लिखा है "दुरोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्" (रघु०)। २. दूसरा स्तन रथन्तर है। रसतमं ह वै रथन्तरम् इत्याचक्षते परोक्षम्। श० ९।१।२।३॥ इयं वै पृथिवी रथन्तरम्। ऐ० ८।१॥ रथन्तर यह पृथिवी है। इससे नाना ओषधियाँ उत्पन्न हुई। (३) तीसरा स्तन 'यज्ञायज्ञिय' है। पशवोऽन्नाद्यं यज्ञायज्ञीयं। तां० १५।९।१२॥ पशु और अन्नादि खानेवाले जन्तु 'यज्ञायज्ञिय' हैं। उनसे 'यज्ञ' उत्पन्न हुआ। (४) वामदेव्य चौथा स्तन अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्षं वै वामदेव्यम्। तां० १५।१२।५॥ उससे अपः जलों की वर्षा हुई।



[३] विराड् के ४ रूप; वनस्पति, पितृ, देव और मनुष्यों के बीच में क्रम से रस, वेतन, तेज और अन्न।

अथर्वाचार्य ऋषिः। विराड् देवता। १ चतुष्पदा विराड् अनुष्टुप्। २ आर्ची त्रिष्टुप्। ३,५,७ चतुष्पदः प्राजापत्याः पंक्तयः। ४,६,८ आर्च्यो बृहत्यः।

सोद॑क्रामत् सा वन॒स्पती॒नाग॑च्छ॒त् तां व॑न॒स्पत॑योघ्नत॒ सा सं॑वत्स॒रे सम॑भवत् ॥ १ ॥

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह विराट् उठी, प्रकट हुई । (सा वनस्पतीन् आगच्छत्) वह वनस्पति वृक्ष लताओं के समीप आगयी । (ताम्) उसको (वनस्पतयः) वृक्ष आदि वनस्पतियों ने (अघ्नत) भोग किया । (सा) वह (संवत्सरे) एक वर्ष भर (सम् अभवत्) उनके साथ संयुक्त रही ।

तस्माद् वनस्पतीनां संवत्सरे वृक्णमपि रोहति वृश्चतेस्याप्रियो भ्रातृव्यो य एवं वेद ॥ २ ॥

भा०—(तस्मात्) इसी कारण से (वनस्पतीनां) वनस्पतियों में वर्ष भर में (वृक्णम् अपि) *काटा हुआ भी* (*रोहति*) पुनः *अपनी* नयी शाखाएं उत्पन्न=पैदा करता है । (यः एवं वेद) जो इस रहस्य को जानता है (अस्य यः भ्रातृव्यः) उसका जो शत्रु है वह भी (वृश्चते) कट जाता है ।

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितरोघ्नत सा मासि समभवत् ॥ ३ ॥
तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् उठी । (सा पितॄन् अगच्छत्) वह 'पितृ' लोगों के पास आई । (तां पितरः अघ्नत) उस के साथ पितृ लोग रहे । (*सा मासि सम् अभवत्*) वह मास भर उनके साथ लगी रही ॥ ३ ॥ (तस्मात्) इस लिये (पितृभ्यः) पितृ लोगों को (मासि) एक मास पर (उपमास्यम्) मासिक वृत्ति या वेतन (ददति) देते हैं । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को (जानाति) जान लेता है वह (पितृयाणं पन्थाम्) पितृयाण मार्ग को (प्रजानाति) भली प्रकार जान लेता है ।

[३] २. 'संवत्सरे वनस्पतीनां' इति पैप्प० सं० ।

प्रजा के शासक और घर के बूढ़े व्यवस्थापक लोग 'पितृ' शब्द से कहे जाते हैं। उन को प्रति मास वेतन और मासिक व्यय देना चाहिये। वही उनकी 'स्वधा' अर्थात् शरीर के धारणोपयोगी भेंट है। और यही उनका पितृत्व है कि वे पिता के समान आप शरीर पोषण मात्र लेकर प्रजा को पिता के समान पालते हैं।

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा अघ्नत सार्धमासे समभवत् ॥ ५ ॥

तस्माद् देवेभ्योर्धमासे वषद् कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ६ ॥

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी, (सा देवान् आगच्छत्) वह देव विद्वानों के पास प्राप्त हुई। (तां देवाः अघ्नत) उसको देवगण प्राप्त हुए। (सा अर्धमासे सम् अभवत्) वह आधे मास भर उनके संग रही। (तस्मात्) इसलिये (देवेभ्यः अर्धमासे वषट् कुर्वन्ति) देवगण विद्वान् लोगों को आधे मास पर प्रति पक्ष, पर्व के दिन 'वषट्' दान रूप से अन्न आदि दिया जाता है। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है वह (देवयानं पन्थां प्र जानाति) देवयान मार्ग को भली प्रकार जान लेता है।

सोदक्रामत् सा मनुष्या३ नागच्छत् तां मनुष्या अघ्नत सा सद्यः समभवत् ॥ ७ ॥

४–,तस्मात् मासि पितृभ्यः','दधतस्स्वधावान् पितृषु भवति पितृयाणं०' इति पैप्प० सं० ।

५–'तस्मादर्धमासे देवेभ्यो जुहोति जुहोति अग्निहोत्रं प्रदेवयानं०' इति पैप्प० सं० ।

तस्मा॑न्मनुष्ये॒भ्य उभय॒द्युरुप॑ हर॒न्त्युपा॑स्य गृ॒हे ह॑रन्ति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ८ ॥ (२७)

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह ऊपर उठी । (सा मनुष्यान् आगच्छत्) वह मनुष्यों के पास आयी । (तां मनुष्याः अघ्नत) मनुष्य उसके संग रहे । (सा सद्यः सम् अभवत्) वह एक ही दिन उनके संग रही । (तस्मात्) इसलिये (मनुष्येभ्यः उभयद्युः उपहरन्ति)[1] मनुष्यों के लिये हर दूसरे दिन अन्न आदि देते हैं । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है (अस्य गृहे उपहरन्ति) उसके घर में लोग आवश्यक पदार्थ ले आते हैं अर्थात् अन्य साधारण मनुष्यों में दैनिक वेतन का नियम है ।



[४] विराट् गौ से माया, स्वधा, कृषि, सस्य, ब्रह्म और तप का दोहन।

अथर्वाचार्य ऋषिः । विराड् देवता । १, ५ साम्नांजगत्यौ । २,६, १० साम्नां बृहत्यौ। ३,४,८ आर्च्यनुष्टुभः । ६,१३ चतुष्पादुउष्णिहौ। ७ आसुरी गायत्री। ११ प्राजापत्यानुष्टुप् । १२, १६ आर्चीत्रिष्टुभौ । १४, १५ विराड्गायत्र्यौ ।

षोडशर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

सोद॑क्राम॒त् सासु॑रा॒नाग॑च्छ॒त् ताम॑सु॑रा॒ उपा॑ह्वयन्त॒ माय॒ एही॑ति॑॥१॥

तस्या॑ वि॒रोच॑नः॒ प्राह्रा॑दिर्व॒त्स आसी॑दयस्पा॒त्रं पात्र॑म् ॥ २ ॥

तां द्वि॒मू॑र्धा॒र्त्व्यो॒ऽधो॒क् तां मा॒याम॒वाधो॑क् ॥ ३ ॥

तां मा॒याम॑सु॒रा॒ उप॑ जीव॒न्त्युपजी॒वनी॑यो भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥४॥

८–'तस्माद् अहरहर्मनुष्याणां मुप॰' इति पैप्प॰ सं० ।

१. 'उपाहरन्ति भोजनमिति शेषः' इति ह्विटनिः ।

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी । (सा असुरान्) वह असुरों के समीप (आगच्छत्) आयी ॥१॥ (ताम्) उस को (असुराः) असुर लोगों ने (उपाह्वयन्त) बुलाया—हे (माये) माये ! (एहि इति) आ ॥ २ ॥ (तस्याः) उसका (प्राह्रादिः) प्रह्लाद से उत्पन्न (विरोचनः) विरोचन (वत्सः) वत्स (आसीत्) था । और (अयःपात्रं) लोहे का पात्र (पात्रम्) पात्र था । (ताम्) उस माया को (द्विमूर्धा) दो शिरों वाले, बुद्धिमान् (आर्त्व्यः) ऋतु से उत्पन्न ने (अधोक्) दुहा ॥३॥ (ताम्) उस माया रूप विराट् के आश्रय (असुराः उपजीवन्ति) असुर लोग अपना जीवन निर्वाह करते हैं । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के तत्व को जानते हैं वह (उपजीवनीयो भवति) औरों के आजीविका निर्वाह कराने में समर्थ होता है ।

असितो धान्वो राजा इत्याह तस्यासुरा विशः । त इमे आसत । इति कुसीदिन उपसमेता भवन्ति । तान् उपदिशति माया वेदः सो यम् इति । श० १३।४।३।११॥ असुर, शिल्पीगण प्राह्रादि अर्थात् प्रभूत शब्द करने वाली विरोचन, विशेष दीप्तियुक्त विद्युत् । 'अयः' धातुमय, पदार्थ, द्विमूर्धा-दो मूल धारण करने वाला, आर्त्व्यः-गतिक्रियाशास्त्र, का विद्वान्, कला कौशलवित्, एन्‌जीनियर ।

सोद॑क्रामत् सा पि॒तॄनाग॑च्छत् तां पि॒तर॒ उपा॑ह्वयन्त॒ स्वध॒ एही॒ति॑॥५॥
तस्या॑ य॒मो राजा॑ व॒त्स आसी॑द् रज॒तपा॑त्रं पात्र॑म् ॥ ६ ॥
ताम॒न्त॑को मार्त्य॒वो॒धो॑क् तां स्व॒धाम॒वाधो॑क् ॥ ७ ॥
तां स्व॒धां पि॒तर॒ उप॑ जीवन्त्युपजी॒व॒नीयो॑ भवति॒ य एवं वेद॑ ॥८॥

भा०— (सा) वह विराट (उद् अक्रामत्) ऊपर उठी (सा पितॄन् आगच्छत्) वह पितृलोगों के पास आयी । (तां पितर उपाह्वयन्त स्वधे एहि इति) 'पितृ' लोगों ने उसे 'स्वधे आओ' इस प्रकार आदरपूर्वक अपने समीप बुलाया । (तस्याः यमः राजः वत्सः आसीत्) उस

का राष्ट्रनियामक राजा ही 'वत्स' था और (रजतपात्रं पात्रम्) रजत चाँदी और सोना के पदार्थ ही पात्र था। (ताम्) उस विराट् रूप गौ को मृत्यु के अधिष्ठाता अन्तक ने (अधोक्) दुहा। (तां स्वधां एव अधोक्) उस से 'स्वधा' को ही प्राप्त किया। (तां स्वधां पितर उप जीवन्ति) उस स्वधा पर पितृगण अपनी आजीविका करते हैं। (यः एवं वेद उपजीवनीयो भवति) जो इस प्रकार जानता है वह प्रजाओं की जीविका का आधार हो जाता है।

'यमः—राजा'=राष्ट्रनियामक राजा। पितरः=पालक, राष्ट्र के रक्षक वृद्धजन, 'स्वधा' अपने शरीर पोषणयोग्य वेतन, या कर। रजतपात्र=सोने आदि के सिक्के। 'मार्त्यवः' अन्तकः। अर्थात् मृत्युदण्डकारी अन्तिम शासक राजा। 'यमो वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य पितरो विशः। त इम आसते। इति स्थविराः उपसमेता भवन्ति। तान् उपदिशति यजूंषि वेद इति' श० १३। ४। ३। ६॥

सोदक्रामत् सा मनुष्या३न् आगच्छत् तां मनुष्या३ उपाह्वयन्तेरा-वत्येहीति॥ ९॥

तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम्॥ १०॥

तां पृथी वैन्यो॑ऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक्॥११॥

ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या३ उप जीवन्ति कृष्टराधिरुपजीव-नीयो भवति य एवं वेद॥ १२॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठा, (सा मनुष्यान् आगच्छत्) वह मनुष्यों के पास आई। (तां मनुष्याः उपाह्वयन्त इरावति एहि इति) उसको मनुष्यों ने हे इरावति! आओ इस प्रकार आदर पूर्वक बुलाया। (तस्याः) उस विराट् का (मनुः वैवस्वतः वत्सः आसीत्) वैवस्वत मनु वत्स था और (पृथिवी पात्रम्) पृथिवी पात्र

था। (ताम्) उस विराट् रूप गौ को (पृथी वैन्यः अधोक) पृथी वैन्य ने दोहन किया। (तां कृषिं च सस्यं च अधोक्) उससे कृषि और धान्य प्राप्त किये। (ते मनुष्याः कृषिं च सस्यं च उपजीवन्ति) वे मनुष्य कृषि और सस्य पर ही प्राण धारण करते हैं। (यः एवं वेद) जो इस रहस्य को जानता है वह (कृष्टराधिः) कृषि द्वारा ही बहुत धन धान्य सम्पन्न और (उपजीवनीयः भवति) मनुष्यों को जीविका देने में समर्थ होता है

विराट्=इरावती पृथिवी। वैवस्वतो मनुः। विविध प्रकार से प्रजाओं को वसाने हारा मनीषी पुरुष। (वैन्यः पृथीः) नाना काम्य पदार्थों का स्वामी, महान् राजा,।

सोदंक्रामत् सा संप्तऋृषीनागंच्छत् तां संप्तऋृषय उपांह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीतिं ॥ १३ ॥

तस्याः सोमो राजां वृत्स आसीच्छन्दः पात्रम् ॥ १४ ॥

तां बृहस्पतिंराङ्गिरसोऽधोक् तां ब्रह्मं च तपंश्चाधोक् ॥१५॥

तद् ब्रह्मं च तपंश्च सप्तऋृषय उपं जीवन्ति ब्रह्मवर्चस्युपजीव-नीयों भवति य एवं वेदं ॥ १६ ॥ (२८)

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह ऊपर उठी। (सा सप्तऋषीन् आगच्छत्) वह सात ऋषियों के पास आयी। (तां सप्तऋषयः उपह्वयन्त ब्रह्मण्वति एहि इति) उन सात ऋषियों ने ब्रह्मण्वति आओ इस प्रकार आदरपूर्वक बुलाया। (तस्याः सोमः राजा वत्सः आसीत्) उसका सोम राजा वत्स था। (छन्दः पात्रम्) छन्दस् पात्र था। (तां बृहस्पतिः आंगिरसः अधोक्) उसको आंगिरस बृहस्पति ने दोहन किया। (तां ब्रह्म च तपः च अधोक्) उसने ब्रह्मज्ञान, वेद और तपश्चर्या का दोहन किया। (तत्) उस (ब्रह्म च तपः च) ब्रह्म ज्ञान और तप के आधार पर (सप्त ऋषयः उपजीवन्ति) सात ऋषिगण प्राण धारण करते हैं। (यः एवं

वेद) जो इस रहस्य को जानता है वह (ब्रह्मवर्चस्वी उपजीवनीयः भवति) ब्रह्मवर्चस्वी और अन्यों को जीविका देने में समर्थ होता है । विराट्= ब्रह्मण्वती से ब्रह्मज्ञानमयी होकर ऋषियों को प्राप्त हुई उस का सोम राजा-ज्ञानपिपासु वत्स के समान है । वेदवक्ता ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति उसका दोहन करता है । ब्रह्म ज्ञान वेद और तप उसका दोहन का सार है । ऋषि उसी पर जीते हैं दोहन का पात्र 'छन्द' वेद है ।



[५] विराड् रूप गौ से ऊर्जा, पुण्य गन्ध, तिरोधा और विष का दोहन ।

अथर्वाचार्य ऋषिः। विराट् देवता । १,१३ चतुष्पादे साम्नां जगत्यौ। १०,१४ साम्नां बृहत्यौ । १ साम्नी उष्णिक् । ४ १६ आर्च्योऽनुष्टुभौ । ६ उष्णिक् । ८ आर्ची त्रिष्टुप्। २ साम्नी उष्णिक् । ७, ११ विराड्गायत्र्यौ । ५ चतुष्पदा प्राजापत्या जगती । ६ साम्नां बृहती त्रिष्टुप्। १५ साम्नी अनुष्टुप् । षोडशर्चं सूक्तम् ॥

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति ॥१॥
तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ॥
तां देवः सविताधोक् तामूर्जामेवाधोक् ॥ ३ ॥
तामूर्जां देवा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् उठी, (सा देवान् आगच्छत्) वह देवों के पास आगयी, (तां देवाः) उसको देवों ने (ऊर्जे एहि इति उप अह्वयन्त) ऊर्जे ! आओ इस प्रकार सादर बुलाया। (तस्याः इन्द्रः वत्स असीत्) उसका इन्द्र=विद्युत् वत्स था । और (चमसः पात्रम्) चमस पात्र था । (तां देवाः सविता अधोक्) उसको देव सविता ने दुहा। (ताम् ऊर्जाम् एव अधोक्) उससे ऊर्ज तेजोमय वीर्य ही प्राप्त किया । (ताम्

ऊर्जम् देवाः उपजीवन्ति) उस 'ऊर्ज' तेजोमय वीर्य पदार्थ पर देवगण जीवन धारण करते हैं। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार का रहस्य जानता है वह (उपजीवनीयः भवति) देवों को भी जीवन देने में समर्थ होता है। देव प्राण हैं, इन्द्र आत्मा है शिरोभाग चमस पात्र है। सविता मुख्य प्राण ने विराट् अन्न में से ऊर्ज बल का दोहन किया। देव, प्राण उसी ऊर्ज, वीर्य से अनुप्राणित है। महाब्रह्माण्ड में दिव्य पदार्थ अग्नि आदि देव हैं, इन्द्र विद्युत वत्स है। आकाश चमस पात्र है। उस ब्रह्ममयी विराट् शक्ति से सूर्य ने तेज प्राप्त किया उससे ही समस्त पदार्थ अनुप्राणित हैं।

सोदक्रामत् सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत् तां गन्धर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति ॥ ५ ॥
तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत् पुष्करपर्णं पात्रम् ॥६॥
तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक् तां पुण्यमेव गन्धमधोक् ॥ ७ ॥
तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति पुण्यगन्धिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी (सा गन्धर्वाप्सरसः) वह गन्धर्व और अप्सराओं के पास (आगच्छत्) आयी। (ताम्) उसको (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व और अप्सरा गण ने (पुण्यगन्धे एहि इति उपाह्वयन्त) 'हे पुण्यगन्धे ! आओ' इस प्रकार सादर बुलाया। (तस्याः) उसका (सौर्यवर्चसः) सूर्य के समान कान्तिमान (चित्ररथः) चित्ररथ (वत्स आसीत्) वत्स था। (पुष्करपर्णं) 'पुष्कर पर्ण' (पात्रम्) पात्र था। (ताम्) उसको (सौर्यवर्चसः वसुरुचिः) सूर्य के तेज से तेजस्वी वसुरुचि ने (अधोक्) दोहन किया (ताम् पुण्यमेव गन्धम् अधोक्) उससे पुण्य गन्ध को ही प्राप्त किया।

(तं पुण्यं गन्धम्) उस पुण्य गन्ध से (गन्धर्वाप्सरसः उपजीवन्ति) गन्धर्व और अप्सरा गण जीवन धारण कर रहे हैं। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार रहस्य को जानता है वह (पुण्यगन्धिः उपजीवनीयभवति) स्वयं पुण्यगन्धवाला और उनको जीवन देने में समर्थ हो जाता है।

वरुण आदित्यो राजा इत्याह। तस्य गन्धर्वा विशः त इम आसते। इति युवानः शोभनाः उपसमेता भवन्ति। तान् उपदिशति आथर्वणो वेदः। श० १३।४।३।७ "सोमो वैष्णवो राजेत्याह। तस्याप्सरसो विशः। त इम आसते। इति युवतयः शोभनाः उपसमेता भवन्ति। ता उप दिशति आंगिरसो वेदः। श० १३।४।३।८॥ अर्थात् देश के युवक पुरुष ही 'गन्धर्व' हैं और नवयुवतियां 'अप्सरा' कहाती हैं। सूर्यवर्चस् तेजस्वी चित्ररथ यह शरीर है। प्राणों को तृप्त करनेहारे आत्मा ने उस पुण्य गन्धर्व को दोहन किया। वह युवा युवतियों में ही विद्यमान होता है जिससे दाम्पत्य आकर्षण होता है।

सोदक्रामत् से तरजनानागच्छत् तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति ॥ ९ ॥
तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम् ॥ १० ॥
तां रजतनाभिः काबेरकोऽधोक् तां तिरोधामेवाधोक् ॥ ११ ॥
तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्वं पाप्मानमुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी। (सा इतर जनान्) वह 'इतर जनों' के पास आयी। (ताम् इतरजनाः तिरोधे एहि इति उपाह्वयन्त) उसको इतरजनों ने 'हे तिरोधे। आओ' इस प्रकार सादर बुलाया। (तस्याः कुबेरः वैश्रवणः वत्सः आसीत्) उसका कुबेर वैश्रवण वत्स था। (आमपात्रं पात्रम्) आमपात्र पात्र था।

(तां रजतनाभिः कौबेरकः अधोक्) उसको 'कौबेरक रजतनाभि' ने दुहा (तां तिरोधाम् एव अधोक्) उससे 'तिरोधा'=छिपाने की कला को ही प्राप्त किया। (तां तिरोधां इतरजनाः उपजीवन्ति) उस 'तिरोधा' से इतरजन जीवन धारण करते हैं। (यः एवं वेद तिरोधत्ते सर्वम् पाप्मानम्) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है वह सब पापों को दूर कर देता है। (उपजीवनीयो भवति) और जनों को जीवन धारण कराने में समर्थ होता है।

"कुबेरो वैश्रवणो राजा इत्याह। तस्य रक्षांसि विशः। तानि इमान्यासते। इति सेलगाः पापकृतः उपसमेता भवन्ति। तान् उपदिशति देवजनविद्या वेदः।" श० १३।४।३। १०॥ आर्यजनों से जो इतर अनार्य हैं वे इतरजन हैं। जो चोरी डकैती आदि का जीवन बिताते हैं। वे स्वर्णरजत से ही बंधे रहते हैं। उस पर ही उनका मन रहता है। वे हरेक वस्तु को छिपा लेने की विद्या में निपुण होते हैं। उनका राजा कुबेर है जो पृथ्वी में गड़े ख़ज़ानों का मालिक समझा जाता है। जो इस रहस्य विद्या को जानता है वह सब पाप कार्यों को छिपा देता है। और लोग उसके बल पर भी वृत्ति करते हैं।

सोद॑क्राम॒त् सा स॒र्पा॑ना॒ग॑च्छ॒त् तां स॒र्पा उपा॑ह्वयन्त॒ विष॑व॒त्येही॑ति॥१३
तस्या॑स्तक्ष॒को वै॑शाले॒यो व॒त्स आ॑सीदलाबुपा॒त्रं पात्र॑म्॥ १४ ॥
तां धृ॒तरा॑ष्ट्र ऐरावतो॒ऽधो॒क् तां वि॒षमे॒वाधो॑क्॥ १५ ॥
तद् वि॒षं स॒र्पा उप॑ जीवन्त्युपजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑॥१६॥(२६)

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह ऊपर उठी। (सा सर्पान् आगच्छत्) वह सर्पों के पास आई। (तां सर्पाः विषवति एहि इति उपाह्वयन्त) सर्पों ने उसे 'हे विषवति आओ' इस प्रकार सादर बुलाया। (तस्याः) उसका (तक्षकः वैशालेयः वत्स आसीत्) 'वैशालेय तक्षक'

वत्स था । (अलाबुपात्रम् पात्रम्) अलाबु पात्र पात्र था । (तां धृत-राष्ट्रः ऐरावतः अधोक्) इसको धृतराष्ट्र ऐरावत ने दोहन किया । ताम् विषम् एव, अधोक्) उससे विष हो प्राप्त किया (तत् विषम् सर्पाः उप-जीवन्ति) उस विष के आधार पर सर्प प्राण धारण करते हैं । (यः एवं वेद उपजीवनीयो भवति) जो इस रहस्य को जानता है वह भी दूसरों को जीवन देने में समर्थ—योग्य होता है ।

"काद्रवेयो राजा इत्याह । तस्य सर्पाः विशः । त इन आसते । इति सर्पाश्च सर्वविदश्चोपसमेता भवन्ति । तान् उपदिशति सर्पविद्या वेदः । श० १३।४।३।९॥ उसी विराट् का एक रूप विष है जिसको महा नाग प्राप्त करते हैं जो कटुतुम्बी आदि वनस्पतियों या सर्प की विष की थैलियों में प्राप्त होता है । चमकीले शरीर वाले सांप उस विष को प्राप्त करते हैं, सर्प उस पर जीते हैं ।



[६] विषनिवारण की साधना ।

अथर्वाचार्य ऋषिः । विराड् देवता । १ विराड् गायत्री । २ साम्नी त्रिष्टुप् । ३ प्राजापत्या अनुष्टुप् । ४ आर्ची उष्णिक् अनुक्तपदा द्विपदा । चतुर्ऋचं पर्यायसूक्तम् ॥

तद् यस्मा एवं विदुषेलाबुनाभिषिञ्चेत् प्रत्याहन्यात् ॥ १ ॥
न च प्रत्याहन्यान्मनसा त्वा प्रत्याहन्मीति प्रत्याहन्यात् ॥२॥
यत् प्रत्याहन्ति विषमेव तत् प्रत्याहन्ति ॥ ३ ॥
विषमेवास्याप्रियं भ्रातृव्यमनुविषिच्यते य एवं वेद ॥४॥ (३०)

भा०—(तत्) इसलिये (एवं विदुषे) इस प्रकार के पूर्व सूक्त में कहे विषदोहन विद्या के रहस्य को जानने वाले (यस्मै) जिस विद्वान् के प्रति सर्प आदि जन्तु (अलाबुना) अपनी विष की थैली में से विष

(अभिषिञ्चेत्) फेंके तो वह विद्वान् (प्रत्याहन्यात्) उसका प्रतिकार करने में समर्थ होता है और यदि (न च प्रत्याहन्यात्) वह उसको मारना न चाहे तो (मनसा) मानस बल, संकल्प बल से ही (त्वा प्रति आहन्मि) 'तेरा प्रतिघात करता हूँ' (इति) ऐसी प्रबल भावना से ही वह (प्रति आहन्यात्) उसके हानिकारक प्रभाव का निराकरण करे। (यत्) जब (प्रति आहन्ति) वह प्रतिघात करता है (तत्) तब वह (विषम् एव प्रति आहन्ति) विष का ही प्रतिघात किया करता है, विष के घातक प्रभाव को ही नष्ट किया करता है। (य एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है (विषम् एव अस्य अप्रियम् भ्रातृव्यम् अनु विषिच्यते) विष ही उसके अप्रिय शत्रु पर जा पड़ता है।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्ते द्वे, ऋचश्च त्रिणवतिस्तथा च षड्विंशर्चमेकमर्थसूक्तम्,

षड्भिः पर्यायैर्युक्तं सप्तषष्ट्यर्चं सूक्तम्]



अष्टमं काण्डं समाप्तम्



[अष्टमे सूक्तदशकं सप्तोनत्रिशतं ऋचः ।]

वेदस्वङ्कचन्द्राब्दफाल्गुणासितपञ्चमी—
भृगावथर्वणः काण्डमष्टमं पूर्त्तिमागमत् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते अथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्येऽष्टमं काण्डं समाप्तम् ।



❀ ओ३म् ❀

अथर्ववेदसंहिता

अथ नवमं काण्डम् ।

[१] मधुकशा ब्रह्म-शक्ति का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । मधुकशा, अश्विनौ च देवताः । मधुसूक्तम् । १, ४, ५ त्रिष्टुभः । २ त्रिष्टुब्गर्भापंक्तिः । ३ पराऽनुष्टुप् । ६ यवमध्या अतिशाक्वरगर्भा महाबृहती । ७ यवमध्यो अति जागतगर्भा महाबृहती । ८ बृहतीगर्भा संस्तारपंक्तिः । १० परा-उष्णिक् पंक्तिः । ११, १३, १५, १६, १८, १९ अनुष्टुभः । १४ पुर उष्णिक् । १७ उपरिष्टाद् बृहती । २० भुरिग् विस्तारपंक्तिः । २१ एकावसाना द्विपदा आर्ची अनुष्टुप् । २२ त्रिपदा ब्राह्मी पुर उष्णिक् । २३ द्विपदा आर्ची पंक्तिः । २४ त्र्यवसाना षट्पदा अष्टिः । ९ पराबृहती प्रस्तारपंक्तिः ॥

दि॒वस्पृ॑थि॒व्या अ॒न्तरि॑क्षात् समु॒द्राद॒ग्नेर्वाता॑न्मधुक॒शा हि ज॒ज्ञे ।
तां चा॑यि॒त्वामृत॒ं वसा॑नां हृ॒द्भिः प्र॒जाः प्रति॑ नन्दन्ति॒ सर्वाः॑ ॥१॥

भा०—(दिवः) द्यौः, आकाश से, (पृथिव्याः) पृथिवी से, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (समुद्रात्) समुद्र से (अग्नेः) अग्नि से और (वातात्) वात से (हि) भी निश्चयपूर्वक (मधुकशा) अमृतमय, परम रसमयी सर्वोपरि शासक, व्यापक ब्रह्मशक्ति (जज्ञे) प्रकट होती

[१] १–(प्र०) 'दिवस्पृथिव्यान्तरि' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

है । (अमृतं वसानाम्) अमृत जीवन शक्ति, परम आनन्द धारण करने वाली (ताम्) उस परम शक्ति की (चायित्वा) उपासना करके (सर्वाः प्रजाः) समस्त प्रजाएँ, समस्त जीव (हृद्भिः) हृदयों में (प्रतिनन्दन्ति) आनन्द अनुभव करते हैं ।

मुहत् पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोत रेतं आहुः ।
यतु ऐति मधुकुशा रराणा तत् प्राणस्तदुमृतं निविष्टम् ॥ २ ॥

भा०—(अस्याः) इस मधुकशा का (वयः) आनन्दमय, रस (महत्) बड़ा भारी, अनन्त, असीम और (विश्वरूपम्) समस्त रूपों में प्रादुर्भूत है । हे मधुकशे ! (त्वा) तुझे (समुद्रस्य) समुद्र अर्थात् सब आनन्द रसों के प्रदान करनेहारे परम रससागर ब्रह्म का (रेतः) परम रेतस् वीर्य या परम तेज (आहुः) कहा करते हैं । (यतः) जहाँ से या जिस से (मधुकशा) वह मधुमयी, शासक प्रभु-शक्ति (रराणा) सब सुखों को प्रदान करने और सबको रमाने, एवं स्वयं सर्वत्र रमनेवाली, परम रमणीय शक्ति (एति) आती है, प्रकट होती है (तत्) वह (प्राणः) प्राण, सर्वोत्कृष्ट चेतन (तत्) वही (निविष्टम्) गूढ़ (अमृतम्) अमृत ब्रह्म है । अथवा (तत् अमृतम्) उसी में अमृत और (तत् प्राणः) उसी में प्राण (निविष्टम्) आश्रित है । इसका प्रकरण देखो प्रश्नोपनिषत् प्रश्न १।७८॥ तथा श्वेताश्वतर उप० १।९॥

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथङ्नरो बहुधा मीमांसमानाः ।
अग्नेर्वातान्मधुकुशा हि जज्ञे मुरुतामुग्रा नुप्तिः ॥ ३ ॥

भा०—(अस्याः) इस मधुकशा के (चरितम्) कर्म को (बहुधा)

२–(प्र०) 'महत् विश्वरूपं पयो', 'समुद्रस्यात त्वा', 'तदमृतं दिविष्टम्' इति पैप्प० सं० ।

३–(प्र०) 'चरितं पृथिव्याः' (च०) 'उग्रा अनपति' इति पैप्प० सं० ।

बहुत प्रकार से (पृथक्) भिन्न २ दृष्टियों से (मीमांसमानाः) विवेचना करते हुए (नरः) मनुष्य, विद्वान् जन (पृथिव्याम्) इस पृथिवी में (पश्यन्ति) साक्षात् करते हैं । (अग्नेः) अग्नि से और (वातात्) वात-वायु से (मधुकशा हि) जो मधुकशा (जज्ञे) प्रादुर्भूत हुई वही (मरुताम्) मरुतों, प्राणों की (उग्रा) बड़ी प्रबल, भीषण (नप्तिः) बन्धन ग्रन्थि है ।

अग्निः=जीव या जाठर अग्नि, वात=वायु और प्राण वायु । इनके अलौकिक सम्बन्धों से शरीर में प्राणों के मेल से ये शरीर और, अग्नि और वायु के प्रबल सम्बन्ध से इस ब्रह्माण्ड में नाना प्रकार की वायुओं (मरुतों) या गैसों के अद्भुत मेल होकर यह संसार बना है ।

माता॑दि॒त्यानां॑ दुहि॒ता वसू॑नां प्रा॒णः प्र॒जाना॑म॒मृत॑स्य॒ नाभिः॑ ।
हिर॑ण्यवर्णा मधु॒क॒शा घृ॒ताची॑ म॒हान् भर्ग॑श्चरति॒ मर्त्ये॑षु ॥ ४ ॥

ऋ० ८ । १०१ । १५ ॥

भा०—(आदित्यानाम्) आदित्यों, सूर्यों की (माता) रचना करनेहारी, (वसूनाम्) वसुओं या वास करनेहारे जीवों की (दुहिता) समस्त कामनापूर्ण करनेहारी, (प्रजानाम् प्राणः) प्रजाओं, शरीरधारियों का प्राण, जीवनशक्ति, (अमृतस्य नाभिः) अमृत, मोक्ष पद का नाभि आश्रयस्थान, (हिरण्यवर्णा) समस्त हिरण्य=सूर्यादि प्रकाशमान पिण्डों को आवरण करने, घेरने, उनमे व्यापक रहनेवाली (घृताची) तेजःसम्पन्न (मधुकशा) मधुकशा है । वही (मर्त्येषु) मरणधर्मा जीवों में स्वयं (महान्) बड़ा भारी (भर्गः) चैतन्यमय तेजरूप होकर (चरति) व्याप्त है ।

४–(च०) 'महान्गर्भश्चरति' इति क्वचित् पाठः । (प्र०) 'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः' इति ऋग्वेदे गोर्देवताका ऋक् ।

मधोः कशामजनयन्त देवास्तस्या गर्भो अभवद् विश्वरूपः ।
तं जातं तरुणं पिपर्ति माता स जातो विश्वा भुवना वि चष्टे ॥५॥

भा०—(देवाः) दिव्य पदार्थ अग्नि, जल, वायु, आकाश, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि देव शब्द से कहे गये पदार्थ ही (मधोः) सर्वप्रेरक ज्ञान की (कशाम्) शासन, प्रभुशक्ति को (अजनयन्त) प्रकट करते हैं। (तस्याः) उसका (गर्भः) गर्भ (विश्वरूपः) यह हिरण्यगर्भ हुआ। (माता) माता जिस प्रकार (जातम्) उत्पन्न बालक को पालन करती है उसी प्रकार वह मधुकशा परम प्रभु की शक्ति भी (माता) सर्व जगत् का निर्माण करनेहारी होकर (तम्) उस (जातम्) प्रकट हुए हिरण्यगर्भ नामक (तरुणम्) अति तीव्र प्रकाशमान पिण्ड को (पिपर्ति) पालन करती है। (सः जातः) वह उत्पन्न होकर (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (विचष्टे) प्रकाशित करती है।

कस्तं प्र वेद क उ तं चिकेत यो अस्या हृदः कलशः सोमधानो अक्षितः । ब्रह्मा सुमेधाः सो अस्मिन् मदेत ॥ ६ ॥

भा०—(तं कः प्रवेद) उसको कौन भली प्रकार जान सकता है? (क उ तं चिकेत) और कौन उसकी विवेचना कर सकता है? (यः) जो (अस्याः) इस मधुकशा के (हृदः) हृदय में (सोम-धानः) सोम से भरा हुआ, सोम अर्थात् संसार का प्रेरक, समस्त जीवनशक्ति से पूर्ण (अक्षितः) अक्षय, अविनाशी, अमित (कलशः) सोम रस से भरे कलशे के समान ज्ञान और शक्ति का भण्डार विद्यमान है (अस्मिन्) इस अक्षय भण्डार में जो (सुमेधाः) उत्तम मेधा बुद्धि से सम्पन्न (ब्रह्मा) ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी है (सः) वही (मदेत) परम आनन्द प्राप्त कर सकता है।

५–(च०) 'भुवनाभिवस्ते' इति पैप्प० सं० ।

६–(द्वि०) 'सोमधानो अक्षतः' इति पैप्प० सं० ।

स तौ प्र वेद स उ तौ चिकेत यावस्याः स्तनौ सहस्रधारावक्षितौ ।
ऊर्जं दुहाते अनपस्फुरन्तौ ॥ ७ ॥

भा०—(यौ) जो (अस्याः) इस मधुकशा के (सहस्रधारौ) सहस्रधारा वाले, सहस्रों लोकों के धारण, पालन, पोषण में समर्थ (अक्षितौ) अक्षय (स्तनौ) दो स्तन हैं (तौ) उन दोनों को (सः) वह ब्रह्मवेत्ता (प्र वेद) भली प्रकार से जानता है और (सः उ) वह ही (तौ) उन दोनों को (चिकेत) विवेक से निश्चय पूर्वक प्राप्त करता है । वे दोनों (अनपस्फुरन्तौ) निष्प्रकम्प, निश्चल भाव से विद्यमान, अविनाशी होकर (ऊर्जम्) अन्न और बलकारक रस या शक्ति को (दुहाते) प्रदान करते हैं ।

हिङ्करिक्रती बृहती वयोधा उच्चैर्घोषाभ्येति या व्रतम् ।
त्रीन् घर्मानभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥ ८ ॥

भा०—(या) जो मधुकशा ब्रह्मशक्ति (बृहती) विशाल बृहत् शक्ति (वयोधाः) समस्त प्राणों और अन्नों को और लोकों को धारण करनेहारी या सबको अन्न देनेहारी (उच्चैर्घोषा) उच्च घोष करती हुई (हिङ् करिक्रती) साम गान करती हुई (व्रतम्) व्रत, ज्ञान और कर्म निष्ठ अभ्यासी को (अभि एति) साक्षात् होती है । वह (त्रीन्) तीनों (घर्मान्) घर्मों, ज्योतियों के (अभि वावशाना) निरन्तर वश करनेहारी होकर (मायुम्) ज्ञानी के प्रति (मिमाति) अपना घोष करती और (पयोभिः) पुष्टिकारी रसों एवं ज्ञान-धाराओं से (पयते) उसे तृप्त करती है ।

यामापीनामुपसीदन्त्यापः शाक्वरा वृषभा ये स्वराजः ।
ते वर्षन्ति ते वर्षयन्ति तद्विदे काममूर्जमापः ॥ ९ ॥

७–(द्वि०) 'सहस्रधारावक्षतौ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(आपः) जल जिस प्रकार महानदी में जाकर मिल जाते हैं उसी प्रकार (शाक्वराः) शक्तिशाली (स्वराजः) स्वयं आत्मज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमान (ये वृषभाः) जो नाना ज्ञानधाराओं को वर्षण करते हैं वे (आपः) परमपद को प्राप्त हुए आप्त पुरुष (याम्) जिस (आपीनाम्) सर्वतोमुख, रसपान करानेहारी एवं महाशक्ति को (उपसीदन्ति) उपासना करते हैं। वे (आपः) आप्त जन, पारदृश्वा ऋषिगण (वर्षन्ति) स्वयं ज्ञान जल की वर्षा करते और (ते आपः) वे आप्त लोग (तद्विदे) उस परमपद को लाभ करनेवाले के लिए (कामम्) यथेच्छ, यथा संकल्पित (ऊर्जम्) बल और परम ब्रह्मरस को (वर्षयन्ति) बरसवाते हैं, प्राप्त कराते हैं, प्राप्त करने में सहायक होते हैं।

स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यामधि।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥ १० ॥ (१)

भा०—हे (प्रजापते) प्रजापते परमात्मन् ! (ते वाक्) तेरी वाणी (स्तनयित्नुः) मेघ की गर्जना के समान गम्भीर, पिपासितों के हृदय में शान्तिप्रद और प्रजाजन को आश्वासन देनेवाली है। हे परमात्मन् ! तू ही (वृषा) वर्षणशील मेघ के समान समस्त सुखों को वर्षानेहारा (भूम्याम् अधि) भूमि पर (शुष्मम्) अपने महान् बल को जल और विद्युत् के रूप में (क्षिपसि) नीचे फेंकता है। और वह (मधुकशा) मधुर रससे भरी मधुलता जिस प्रकार (अग्नेः वातात्) अग्नि=विद्युत् और वात=वायु से मेघ जल प्राप्त करके उत्पन्न होती है उसी प्रकार इस हृदयभूमि में हे प्रभो ! आप अपना ज्ञान—बल और प्रेरणाबल फेंकते हो और (अग्नेः वातात्) तेरा ज्ञानमय स्वरूप और प्राणमय बल के ध्यान और प्राणायाम के अभ्यास से वह (मधुकशा) ब्रह्मरस से भरी आनन्द मधुवल्ली (जज्ञे) प्रादुर्भूत होती है। वह ही (मरुताम्) प्राणों की उग्रा अति बलशालिनी (नप्तिः) बांधनेवाली आश्रय है। वही परम चेतना है।

यथा सोमः प्रातःसवने अश्विनोर्भवति प्रियः ।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ ११ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (प्रातःसवने) प्रातः सवन के काल में (सोमः) सोम, सूर्य (अश्विनोः) दो अश्वी, दिन और रात्रि के बीच के लिये (प्रियः) प्रिय होता है (एवा) उसी प्रकार हे (अश्विनौ) हे अश्वियो ! दिन और रात के समान मेरे शरीर में व्यापक प्राण और अपान ! (मे आत्मनि) मेरे देह और आत्मा में (वर्चः) ब्रह्मतेज (ध्रियताम्) स्थिर रहे । अथवा (सोमः) बालक जिस प्रकार (प्रातःसवने) प्रभात के समान बाल्यकाल में (अश्विनोः) माँ बाप को (प्रियः भवति) प्यारा लगता है उसी प्रकार हे (अश्विनौ) माँ बाप के समान गुरो ! और परमात्मन् ! (मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्) मेरे आत्मा में तेज, प्रकाश स्थिर रहे और मैं तुम्हारा प्रिय बना रहूँ ।

यथा सोमो द्वितीये सवन इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः ।
एवा म इन्द्राग्नी वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १२ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (द्वितीये सवने) द्वितीय मध्याह्न सवन के काल में (सोमः) सोमलता (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र और अग्नि देवों को (प्रियः भवति) प्रिय होता है (एवा) उसी प्रकार हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्ने ! (मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्) मेरे आत्मा में तेज स्थिर रहे । अथवा, (यथा द्वितीय सवने इन्द्राग्न्योः सोमः प्रियो-भवति) जिस प्रकार द्वितीय अवस्था में सोम अर्थात् विद्वान् शिष्य इन्द्र= आचार्य और अग्नि=परम ज्ञानोपदेष्टा ब्रह्मगुरु को प्रिय लगता है उसी प्रकार हे इन्द्र और अग्ने ! आपकी कृपा से मेरे आत्मा में तेज और ब्रह्म-वर्चस् सदा स्थिर रहे ।

यथा सोमस्तृतीये सवन ऋभूणां भवति प्रियः ।
एवा म ऋभवो वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (तृतीये सवने) तीसरे सवन काल में (सोमः) सोम (ऋभूणां प्रियः भवति) ऋभुओं अर्थात् विद्वानों का प्रिय होता है अथवा जिस प्रकार सोम, शान्त विद्वान् शिष्य सत्य से प्रकाशित तेजस्वी पुरुषों को प्रिय लगता है (एवा) उसी प्रकार हे (ऋभवः) ऋभु सत्य या ब्रह्म-ज्ञान से प्रकाशमान योगी विद्वान् पुरुषो ! आप लोगों की कृपा से (मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्) मेरे आत्मा में ब्रह्मतेज सदा विराजमान हो ।

मधु जनिषीय मधु वंशिषीय ।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १४ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! मैं (मधु जनिषीय) मधु 'मधुर वचन' मधुर ज्ञान और मधुर कर्मफल को उत्पन्न करूँ और (मधु) मधु के समान मधुर ज्ञानमय ब्रह्मरस की ही याचना, प्रार्थना करूँ । हे (अग्ने) ज्ञानमय प्रभो ! अथवा आचार्य ! मैं तेरे पास (पयस्वान्) दुग्धाहार का व्रत करके शिष्य के समान (आगमम्) आया हूं । (तं मां) इस आप के शिष्य बनने की इच्छा वाले मुझ को (वर्चसा संसृज) ब्रह्म-वर्चस् से युक्त कर । ब्रह्मचर्य का पालन करा । अथवा आचार्य से शिष्य कहता है (मधु जनिषीय) मैं मधु, ब्रह्मविद्या का लाभ करूं (मधु वंशिषीय) भौंरे के समान विद्वानों के पास जा २ कर मधुर ज्ञानरस का संग्रह करूँ अथवा भिक्षा से प्राप्त अन्न को ग्रहण करूँ । अर्थात् मधु करी वृत्ति से जीवन निर्वाह करूँ और दुग्धाहार व्रत करके तेरे पास ब्रह्मचर्य की दीक्षा लूं, तू मुझे ब्रह्मवर्चस्वी बना ।

'पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य अभिक्षाव्रतो वैश्यः ।

१४–(प्र०) 'मधुजनिषि मनु [धु] मम्बिकीयः [?]' (तृ०) 'अग्नागमम्' इति पैप्प० सं० ।

सं मा॑ग्ने॒ वर्च॑सा सृज॒ सं प्र॒जया॒ समायु॑षा।
वि॒द्युर्मे॑ अ॒स्य दे॒वा इन्द्रो॑ विद्यात् स॒ह ऋषि॑भिः ॥१५॥
अथर्व० ७। ८९। २ ॥

भा०—व्याख्या देखो [अथर्व० । का० ७ । ८९ । २] पृष्ठ ।

यथा॒ मधु॑ मधु॒कृतः॑ सं॒भर॑न्ति॒ मधा॒वधि॑।
ए॒वा मे॑ अश्विना॒ वर्च॑ आ॒त्मनि॑ ध्रियताम् ॥ १६ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मधौ) मधु मास, वसन्त काल में (मधुकृतः) मधुमक्षिकाएं, भौंरे (मधु) मधुरस को (अधि संभरन्ति) संग्रह करते हैं हे (अश्विनौ) आचार्य और परमात्मन्! (मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्) मेरे आत्मा में ब्रह्मतेज संगृहीत हो।

यथा॒ मक्षा॑ इ॒दं मधु॑ न्य॒ञ्जन्ति॒ मधा॒वधि॑।
ए॒वा मे॑ अश्विना॒ वर्च॒स्तेजो॒ बल॒मोज॑श्च ध्रियताम् ॥१७॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मक्षाः) मधुमक्षिएं (मधौ अधि) मधुमास या वसन्त काल में (इदम्) इस (मधु) मधुरस को (नि-अञ्जन्ति) संग्रह करते हैं हे (अश्विनौ) आचार्य और परमात्मन्! (एवा) उसी प्रकार (मे) मेरा (वर्चः ओजः बलम् ध्रियताम्) ब्रह्मवर्चस्, तेज, ओज और बल भी संगृहीत हों।

यद् गि॒रिषु॒ पर्व॑तेषु॒ गोष्वश्वे॑षु॒ यन्मधु॑।
सुरा॑यां सि॒च्यमा॑नायां॒ यत् तत्र॒ मधु॒ तन्मयि॑ ॥ १८ ॥

१६–(द्वि०) 'एवा मेश्विना', 'बलमोजश्च ध्रियताम्' इति पैप्प० सं०।
१७–'यथा मक्षा मधुन्त्युजम् दाक्षिणमाधि [?] एवा मेश्विना वर्चो ध्रियताम्' इति पैप्प० सं०।
१८–(प्र०) 'यदि गिरिष्यविपां चितिविषि' [?] इति पैप्प० सं०।

भा०—(यद्) जो मधुर रस, आनन्दप्रद, मधुर शीतल जल, मन्द सुगन्ध पवन, सुन्दर मनोहारी दृश्य एवं रोगहर जीवनप्रद ओषधियों का रस (गिरिषु) बड़े २ पर्वतों में और (पर्वतेषु) चट्टानों में है और (यत् मधु) जो मधु, उत्तम मधुर रस दूध, घी आदि (गोषु) गौओं में और जो तीव्र वेग और विजयलक्ष्मी आदि (अश्वेषु) अश्वों में है और (सुरायाम्) सुरा, अन्न के सारभूत रस के शरीर में (सिच्यमानायां) व्यापने पर होता है (तत्र) वहां (यत् मधु) जो मधु या मधुर आनन्द या जीवनी शक्ति प्राप्त होती है (तत्) वह (मयि) मुझ में भी प्राप्त हो।

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु॥ १९॥

अथर्व० का० ६ । ६९ । २॥

भा०—(शुभः पती) प्रकाश, ज्ञान के स्वामी, परिपालक (अश्विनौ) माता पिता और गुरु और परमेश्वर दोनों, (मा) मुझे (सारघेण मधुना) सरघा अर्थात् मधुमक्षिका के संगृहीत मधु के समान मधुर अथवा सार, ज्ञान के निचोड़, परम तत्व को अपने भीतर धरने वाले मधु ब्रह्मज्ञान से (अंक्तम्) युक्त करें। (यथा) जिससे मैं (जनान् अनु) मनुष्यों के प्रति (वर्चस्वतीम्) ज्ञान और बल से युक्त ओजस्विनी (वाचम्) वाणी को (आवदानि) बोला करूँ। देखो व्याख्या [का० ६।६९।२]

स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि।
तां पशव उप जीवन्ति सर्वे तेनो सेषमूर्जं पिपर्ति॥ २०॥

१९–(तृ०) 'यथा भर्गस्वतीं' इति अथर्व० [का० ६ । ६९ । २ ॥]

२०–(द्वि०) 'भूम्यां दिवः' इति पैप्प० सं०। (तृ० च०) 'मधोः कशयोः पृथिवी मनचितं दातारं पशव उपजीवन्ति। सर्वेतेन वो शेषमूर्जं बिभर्त्ति।' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (प्रजापते) समस्त जीवलोक के पालक! प्रजापते! (स्तनयित्नुः) मेघ के गर्जन के समान गंभीर प्राणियों में जीवन संचार करने वाली (ते) तेरी (वाक्) वाणी है। तू (वृषा) समस्त सुखों का वर्षक (दिवि) द्यौलोक और (भूम्यां) भूमि में भी अपना (शुष्मम्)[1] जल रूप वीर्य या बल को (क्षिपसि) फैंकता है। (ताम्) उस वाणी के आधार पर (सर्वे) समस्त (पशवः) तत्त्वार्थ द्रष्टा देव गण उसी प्रकार जीते हैं जैसे मेघ की गर्जना सहित पृथ्वी पर बरसे जल के आधार पर भूमि पर के नाना पशु जीते हैं। (तेन) इससे (सा) वह मेघमयी वाणी (इषम्) जिस प्रकार अन्न और (ऊर्जम्) बलकारी अन्नरस को (पिपर्त्ति) पूर्ण करती है उसी प्रकार यह वेदवाणी (इषम्) मन की सत्कर्म में प्रेरणा और (ऊर्जम्) बलकारक तेज या सामर्थ्य को पूर्ण करती है।

पृथिवी दण्डो॒३॑ऽन्तरि॑क्षं गर्भो॒ द्यौः कशा॑ वि॒द्युत् प्र॑क॒शो हि॑र॒ण्ययो॒ बि॒न्दुः ॥ २१ ॥

भा०—प्रजापति का (दण्डः) दण्ड, दमन करने का बल (पृथिवी) पृथिवी है। सब प्राणी इसी पर अपने कर्म करते और कर्मफल भोगते और व्यस्थित रहते हैं। (अन्तरिक्षम् गर्भः) अन्तरिक्ष गर्भ है, इस के भीतर समस्त लोक लिपटे हुए हैं। (द्यौः कशा) द्यौः-सूर्य सब में प्रकाश करने और उनको अपने शासन में चलाने वाला पशुओं को हांकने वाले हण्टर के समान प्रेरक बल है। और (विद्युत्) विजली की शक्ति भी (प्रकशः) एक उत्तम प्रकार की चाबुक या प्रेरक बल है (हिरण्ययः बिन्दुः) तेज से बने हुए तैजस् सूर्य 'नैवुला' आदि पदार्थ उस प्रजापति के वीर्य के विन्दु के समान है जिनसे ब्रह्माण्ड में लक्षों सृष्टियां उत्पन्न होरही हैं।

१. 'वाजम्' इति पैप्प० सं०।

योवै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान् भवति ।
ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥२२॥

भा०—(यः वै) जो पुरुष (कशायाः) समस्त जगत् को अपने शासन में रखने वाली 'कशा' ब्रह्मशक्ति के (सप्त) सात (मधूनि) मधु अर्थात् जीवों को अपनी ओर आकर्षित करनेहारे सप्त पदार्थों को (वेद) जान लेता है वह (मधुमान्) स्वयं मधुमान्, मधु के समान मधुर, मनोहर, चित्ताकर्षक हो जाता है। और शासनकारिणी 'कशा' के सात 'मधु' ये हैं। (१) (ब्राह्मणः च) ब्राह्मण, विद्वान् पुरुष, (२) (राजा च) राजा, (३) (धेनुः च) गौ, (४) (अनड्वान् च) बैल, (५) (व्रीहिः च) और धान्य, (६) (यवः च) और जौ ये छः और (७) (सप्तमं) सातवां (मधु) मधु स्वयं है। ये सातों पदार्थ अपने समान गुण के समस्त पदार्थों के प्रतिनिधि हैं।

मधुमान् भवति मधुमदस्याहार्यं भवति ।
मधुमतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥ २३ ॥

भा०—(यः एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है वह (मधुमान् भवति) मधुमान्, मधुमय, मधुर प्रकृति का हो जाता है। (अस्य) इस पुरुष का (आहार्यम्) भोजन भी (मधुमत्) मधुर पदार्थों से युक्त (भवति) होता है। वह (मधुमतः) मधु के समान आनन्दप्रद, सुखमय (लोकान्) लोकों पर (जयति) वश कर लेता है, उन में यथेच्छ निवास करता है।

यद् वीध्रे स्तनयति प्रजापतिरेव तत् प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति ।

२१–'प्रकशा मधो कशाचि घृताची' इति पैप्प० सं० ।
२२–(प्र० द्वि०) 'यो वै मधुकशायाः सप्त मधूनि वेद सप्त मधुमतीम् मधुमतो लोकान् जयति' इति पैप्प० सं० ।

तस्मात् प्राचीनोपवीतस्तिष्ठे प्रजापतेनु मा बुध्यस्वेति ।
अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते य एवं वेद ॥ २४ ॥ (२)

भा०—(यत्) जब (वीध्रे) आकाश या अन्तरिक्ष में (स्तनयति) मेघ गर्जता है (तत्) तब (प्रजापतिः) एक रूप में प्रजापालक परमेश्वर ही (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (प्रादुर्भवति) साक्षात् प्रकट होता है। प्रजापालक प्रभु की शक्ति का वही एक प्रकट रूप है। (तस्मात्) इसलिये हे पुरुष ! उस समय (प्राचीनोपवीतः) जिस प्रकार गुरु के समक्ष शिष्य ज्ञानोपदेश ग्रहण करने के लिये दायें कन्धे पर यज्ञोपवीत पहन कर सावधान होकर विनय से उसके सामने खड़ा होता और सावधान होकर गुरु से ज्ञानोपदेश प्राप्त करने की प्रार्थना करता है उसी प्रकार तू भी सावधान होकर दक्षिण स्कन्ध पर यज्ञोपवीत धारण करके खड़े होने वाले शिष्य के समान (तिष्ठे) खड़ा हो और (इति) इस प्रकार प्रार्थना कर—हे (प्रजापते) प्रजा के पालक प्रभो ! (मा) मुझे (अनुबुध्यस्व) ध्यान में रक्खो, मुझ पर अनुग्रह करो। अपने पुत्रसमान मुझे भुला मत देना। (यः एव वेद) जो इस रहस्य को जान लेता है (एनम्) उस पर (प्रजाः अनु) प्रजाएं सदा अनुग्रह करतीं और (प्रजापतिः अनु बुध्यते) प्रजापति उस पर कृपा बनाये रहता है।

] प्रजापति परमेश्वर और राजा 'काम' का वर्णन ।



अथर्वाऋषिः । कामो देवता । १,४,६,६,१०,१३,१६,२४ त्रिष्टुभः । ५ अति

२४—(च० प०) 'प्रजापते अनु मा बुध्यस्व इति, अनु एन' ह्विटनिकामतः पाठः । (प्र०) 'तत् प्रजापतिरेव' (प०) अन्वेन प्रजा अनु प्रजा बुध्यन्ते इति पैप्प० सं० ।

जगती । ८ आर्चीपंक्तिः । ११,२०,२३ भुरिजः । १२ अनुष्टुप् । ७,१४,१५, १७, १८, २१, २२ इति जगत्यः । १६ चतुष्पदा शक्करीगर्भा पराजगती । पञ्चविंशर्चं सूक्तम् ॥

सपत्नहनमृषभं घृतेन कामं शिक्षामि हविषाज्येन ।
नीचैः सपत्नान् मम पादय त्वमभिष्टुतो महता वीर्येण ॥ १ ॥

भा०—मैं (सपत्नहनम्) शत्रुओं के नाशक (ऋषभम्) सर्वश्रेष्ठ (कामम्) काम संकल्पमय अथवा कमनीय, अति मनोहर प्रजापति राजा या ईश्वर को (आज्येन) आजि–युद्ध के योग्य या प्रेमरस रूप (हविषा) सामग्री से (शिक्षामि) पुरस्कृत करता हूं । तू (मम) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (नीचैः) ऊंचे पद से नीचे (पादय) करदे । हे काम ! (त्वम्) तू (महता) बड़े भारी (वीर्येण) बल से (अभिस्तुतः) कीर्ति प्राप्त कर चुका है, अर्थात् बल के कारण तेरी सब कीर्ति गाते हैं ।

यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति ।
तद् दुष्वप्न्यं प्रति मुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम् ॥२॥

भा०—(यत्) जो पदार्थ (मे) मेरे (मनसः) मन को (न प्रियम्) प्रिय नहीं लगता और (यत् चक्षुषः न प्रियम्) जो चक्षु को भी प्रिय नहीं लगता और (यत्) जो (मे) मुझे (बभस्ति) खाता है, काटता है या मेरा तिरस्कार करता, या मेरे प्रति कठोर शब्दों से बोलता, या क्रोध करता है और (न अभिनन्दति) मुझे देख कर प्रसन्न नहीं होता और

२–(द्वि०) 'यस्माद् बीभत्से यच्च नाभिनन्दे' इति पीट० लान्त० कामितः पाठः । भस भर्त्सनदीप्त्योः (जुहोत्यादिः) । भर्त्सनं परुषभाषणम्, दीप्तिः द्युतिः क्रोधाभिव्यंजनम् । (द्वि०) यन्मे हृदये नाभिनन्दन्ति (च०) कामं जुष्टं हानुदांभिदेयम् [?]

(दुष्वप्न्यं) कष्ट से सोने, बुरे स्वप्नों या बेचैनी का कारण होता है (तत्) उस सब को (सपत्ने) मैं अपने शत्रु के लिये (प्रति मुञ्चामि) रहने दूँ। और (अहम्) मैं (कामम्) काम, कमनीय, प्रभु की (स्तुत्वा) स्तुति करके अपने संकल्प को दृढ़ करके (उद् भिदेयम्) शत्रु को वाण या शस्त्र द्वारा भेद दूँ। अथवा (कामं स्तुत्वा उद्भिदेयं) अपने संकल्पमय देव, आत्मा की स्तुति करके मैं ऊपर उठूँ।

दुष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्तामस्वगतामवर्तिम्।
उग्र ईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन् यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात्॥ ३॥

भा०—हे (काम) काम! प्रजापते! देव! (दुःष्वप्न्यं) बुरे दुःखपूर्वक स्वप्न, या शयन की दशा और (दुरितं च) दुष्ट भाव इनको और हे काम (अप्रजस्ताम्) प्रजाहीनता, (अस्वगताम्) सम्पत्तिरहितता या निर्धनता और (अवर्त्तिम्) बेरोजगारी या अरक्षा इन सब को हे (उग्र) बलशालिन्! (ईशानः) सब का ईश्वर स्वामी तू (तस्मिन्) उस पर (प्रति मुञ्च) डाल (यः) जो (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अंहूरणा) दुःख और विपत्तियां खड़ी कर देने की (चिकित्सात्) सोचा करता है।

नुदस्व काम प्र णुदस्व कामावर्तिं यन्तु मम ये सपत्नाः।
तेषां नुत्तानामधमा तमांस्यग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम्॥ ४॥

भा०—हे (काम) कान्तिमान्! कमनीय! (अग्ने) हे अग्ने! (मम) मेरे (ये) जो (सपत्नाः) शत्रु हैं उनको (नुदस्व) परे कर, (प्रणुदस्व) और परे हटा, हे (काम) कान्तिमय! वे (अवर्तिम्) बेरोजगारी या विनाश को (यन्तु) प्राप्त हों और (अधमा तमांसि) नीचे गहरे अन्धकारों में (नुत्तानां) धकेले हुए उन शत्रुओं के (वास्तूनि) घरों को हे (अग्ने) राजन्! (त्वम्) तू (निर्दह) जला डाल।

३—(च०) 'योऽस्मभ्यम्' इति पैप्प० सं०।

सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते यामाहुर्वाचं कवयो विराजम् ।
तया सपत्नान् परि वृङ्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥ ५ ॥

भा०—हे (काम) कान्तिमन् ! राजन् ! (धेनुः) रसों का पान कराने हारी (ते) तेरी (दुहिता) सब अभिलाषाओं को पूर्ण करने हारी (उच्यते) कहाती है (याम्) जिसको (कवयः) क्रान्तदर्शी लोग (विराजम् वाचम्) 'विराड्' 'वाक्' (आहुः) कहते हैं। (तया) उस 'विराड् वाणी' द्वारा (सपत्नान्) शत्रुओं को (परि वृङ्धि) विनाश कर, दूर कर । और (एनान्) इन (मम) मेरे शत्रुओं को (प्राणः) प्राण (पशवः) पशु लोग और (जीवनम्) जीवन भी (परि वृणक्तु) छोड़ दें।

कामस्येन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञो विष्णोर्बलेन सवितुः सवेन ।
अग्नेर्होत्रेण प्र णुदे सपत्नाञ्छम्बीव नावमुदकेषु धीरः ॥ ६ ॥

भा०—(कामस्य) कान्तिमान्, (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान्, (वरुणस्य) सब से श्रेष्ठ, सब के वरण करने योग्य (विष्णोः) प्रजा में व्यापक, प्रजा के हृदयों में व्यापक, उनके प्रिय (सवितुः) सबके प्रेरक (राज्ञः) राजा के (बलेन) बल से और (सवेन) प्रेरणा या आज्ञा से और (अग्ने) अग्नि अर्थात् शत्रुतापक राजा के (होत्रेण) अपने भीतर भस्म कर देने वाले बल से (सपत्नान्) शत्रुओं को मैं (धीरः) धीर होकर (नावम्) नाव को (शम्बी इव) नाव के चलाने वाले कैवट के समान (प्र णुदे) परे हटा दूं ।

अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः कृणोतु मह्यमसपत्नमेव ।
विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवा हवमा यन्तु म इमम् ॥७॥

६—१—'शम्ब संबन्धने' (चुरादिः) । शम्बयति संबध्नाति मत्स्यादिकम् अनेनेति शम्बः जालरश्म्यादिः; तद्वान् शम्बी कैवर्त्तः ।

भा०—वह (उग्रः कामः) भयंकर, कान्तिमय राजा (वाजी) बलवान् (मम अध्यक्षः) मेरा अध्यक्ष, साक्षी है । वह (मह्यम्) मुझे (असपत्नम् कृणोतु) शत्रु रहित करे । (विश्वे देवाः) समस्त देव गण, विद्वान् पुरुष (मम नाथं भवन्तु) मेरी प्रतिष्ठा के कारण हों और (सर्वे देवाः) सब विद्वान् जन (मे) मेरे (इमम्) इस (हवम्) यज्ञ, राष्ट्रशासन-व्यवस्था या आमन्त्रण में (आयन्तु) आवें ।

इ॒दमाज्यं॑ घृ॒तव॑ज्जुषा॒णाः काम॑ज्येष्ठा इ॒ह मा॑दयध्वम् ।
कृ॒ण्वन्तो॒ मह्य॑मसप॒त्नमे॒व ॥ ८ ॥

भा०—हे (कामज्येष्ठाः) कान्तिमान राजा के समान ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुरुषो ! (इह) इस राज्य में आप लोग भी (घृतवत्) अतिदीप्ति-युक्त (आज्यम्) आजि संग्राम के योग्य अस्त्र शस्त्रों को (जुषाणाः) धारण करते हुए (मह्यम्) मुझ राष्ट्रनिवासी जन को (असपत्नम्) शत्रु रहित (कृण्वन्तः) करते हुए (मादयध्वम्) प्रसन्नता पूर्वक रहो ।

इन्द्रा॑ग्नी काम स॒रथं॒ हि भू॒त्वा नी॒चैः स॒पत्ना॒न् मम॑ पादयाथः ।
तेषां॑ प॒न्नाना॑मध॒मा तमां॒स्यग्ने॑ वास्तू॒न्यनु॒निर्द॑ह॒ त्वम् ॥ ९ ॥

भा०—हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्ने ! राजन् और सेनापते हे दोनो ! हे (काम) कान्तियुक्त उज्वल वेष और पद वाले ! (सरथम्) रथ सहित (भूत्वा) होकर अर्थात् रथ पर चढ़ कर (मम) मुझ राष्ट्र वासी के (सपत्नान्) शत्रुओं को (नीचैः) नीचे (पादयाथः) गिरा दो । और हे (अग्ने) अग्रनेता और परन्तप ! (पन्नानाम्) उन परा

७–(च०) 'मे मम्' इति पैप्प० सं० ।

८–(प्र०) घृतमित् (तृ०) 'कृण्वन्तु' इति पैप्प० सं० । विराड् नाम गायत्रीति ह्विटनिः ।

९–'पादयथ' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

जित हुए, हाथ में आए या विपद् में फंसे शत्रुओं के (अधमा तमांसि) निकृष्ट या गहरे गर्भ में बने अति भयंकर अन्धेरे से भरे (वास्तूनि) घरों को (अनु निर्दह) जला डाल । शत्रुओं का नाश किया जाय और उनको पकड़ कर दण्ड दें और उनके छिपने के गहरे अंधेरे स्थानों को जला डाला जाय या नष्ट कर दिया जाय ।

जुहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान् ।
निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः ॥१०॥(२

भा०—हे (काम) सर्वाभिमत ! सर्वसम्मत राजन् ! (ये मम सपत्नाः) जो मेरे शत्रु हैं राजन् उनको (अन्धा तमांसि) गहरे अन्धकारों में (अव पादय) डाल दे । (सर्वे) वे सब (निरिन्द्रियाः) इन्द्रियों आँख, नाक, कान हाथ लिंग, पाद आदि अंगों से रहित और (अरसाः) भोग्य विषयों से वञ्चित, निर्बल होकर (सन्तु) रहें । (ते) वे (कतमत् चन) एक भी (अहः) दिन (मा जीविषुः) जीवित न रहें ।

अवधीत् कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम् ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु ॥ ११ ॥

भा०—(मम ये सपत्नाः) मेरे जो सपत्न, मेरे द्रव्य पर अपना अधिकार जमानेवाले शत्रुगण हैं उनको (कामः) हमारा अभिलषित राजा या प्रबल संकल्प (अवधीत्) मार डाले । वही (मह्यम्) मेरे (एधतुम्) बढ़ने के लिये (उरुं लोकम्) बड़ा भारी लोक, स्थान (अकरत्) कर दे । (मह्यम्) मेरे आगे (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) उप-दिशाएँ भी (नमन्ताम्) झुक जायँ और (षड् उर्वीः) छहों बड़ी

१०–(द्वि०) 'सपत्नान्धा तमांसि' (तृ०) 'निरिन्द्रियारवाः' 'यथानु जीवेत्कतमच्चनैषाम्' इति पैप्प० सं० ।

दिशाएँ मेरे लिए (घृतम्) प्रकाशवान्, पुष्टिकारक पदार्थ (आवहन्तु) प्राप्त कराएँ।

ते धराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव वन्धनात् ।
न सायकप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ १२ ॥

अथर्व० ३ । ६ । ७ ॥

भा०—(वन्धनात्) बन्धन से (छिन्ना) कटी हुई (नौः इव) नाव जिस प्रकार नदी के प्रवाह में वह जाती है उसी प्रकार (ते) वे शत्रुगण (अधराञ्चः) नीचे ही नीचे (प्र प्लवन्ताम्) वहते चले जायँ। ठीक भी है कि (सायकप्रणुत्तानाम्) बाणों की मार से पीठ फेर कर भागे हुए शत्रुओं का (पुनः) फिर युद्ध-क्षेत्र में (निवर्त्तनम्) लौट कर आना (न अस्ति) नहीं होता।

अग्निर्यव इन्द्रो यवः सोमो यवः ।
यवयावानो देवा यावयन्त्वेनम् ॥ १३ ॥

भा०—(अग्निः) हमारा अग्रणी (यवः) शत्रुओं को मार कर भगा देने से 'यव' कहाता है। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा भी इसी कारण से (यवः) 'यव' है (सोमः) सोम राजा भी (यवः) इसी प्रकार 'यव' है (यवयावानः)[1] मार कर भगा देने में समर्थ होकर शत्रु पर चढ़ाई करनेवाले अथवा राष्ट्र के चलानेहारे या वीर सेना के नेता (देवाः) विजगीपु सेनापतिगण (एनम्) इस शत्रु को (यावयन्तु)[1] पराजित करें।

१३–'यवयन्त्यमुममुष्यायणममुष्यपुत्रं जीवलोकं मृतलोकं कतामून्' । इति पैप्प० सं० ।

१. यवयावानः । यौति पृथक् करोति दूरीकरोति इति यवः स इव

राष्ट्रं वै यवः । तै० ३।९।७।२॥ सेनान्यं वा एतदोषधीनां यद् यवाः ऐ० ८ । १६ ॥ विड् वै यवः । राष्ट्र, प्रजा की सेनाएं और प्रजाएं सभी 'यव' कहाती हैं। उनके चलानेहारे 'यवयावानः' राष्ट्र के नेता, सेना के नेता और प्रजा के नेता अथवा मन्त्र के कथनानुसार अग्नि, इन्द्र, सोम ये स्वयं 'यव' हैं इनके समान इनके साथ या युद्धयात्रा करनेवाले वीरगण 'यवयावा' कहाते हैं ।

असर्ववीरश्चरतु प्रणुत्तो द्वेष्यो मित्राणां परिवर्ग्यः स्वानाम् ।
उत पृथिव्यामव स्यन्ति विद्युत उग्रो वो देवः प्र मृणत् सपत्नान् ॥ १४ ॥

भा०—शत्रु (प्रणुत्तः) पराजित होकर (असर्ववीरः) सब वीर्यों या सब वीर-भटों से रहित होकर (चरतु) विचरे । वह (मित्राणाम्) मित्र राजाओं के (द्वेष्यः) द्वेष का पात्र हो और वह (स्वानाम्) उसके अपने सम्बन्धियों के भी (परिवर्ग्यः) छोड़ने योग्य हो । (वः सपत्नान्) हे प्रजावर्गो ! तुम्हारे शत्रुओं को (विद्युतः) विशेष दीप्तियुक्त बिजली के समान तीव्र प्रहारकराने वाले अस्त्र (उत) भी (अवस्यन्ति) विनाश करें और (वः) तुम्हारा (उग्रः देवः) बलवान् त्रासकारी राजा उनको (प्र मृणत्) कुचल डाले ।

च्युता चेयं बृहत्यच्युता च विद्युद् बिभर्ति स्तनयित्नूंश्च सर्वान् ।
उद्यन्नादित्यो द्रविणेन तेजसा नीचैः सपत्नान् नुदतां मे सहस्वान् ॥ १५ ॥

भा०—(च्युता च) अपने स्थान से च्युत हुई हुई, चल चुकी हुई, और (अच्युना च) या अपने स्थान से न चली हुई, स्थिर, दोनों प्रकार

यान्तीति यवयावानः। शत्रुनिराकरणसमर्थाः सन्तः शत्रुमभिलक्ष्य यात्राकारिणः ।

१४–(प्र०) 'प्रणुत्तो मित्राणां द्वेष्याः' इति पैप्प० सं० ।

की (विद्युत्) विद्युत (बृहती) बड़ी भारी शक्ति है। वही (सर्वान्) सब (स्तनयित्नून् च) गर्जना करने वाले मेघों को (बिभर्त्ति) धारण करती है अर्थात् वही मेघों को गरजाती है। उसका प्रयोग शत्रुओं के विनाश के लिये किया जाय और साथ ही (उद्यन्) ऊपर उठता हुआ (आदित्यः) सूर्य जिस प्रकार (द्रविणेन) तीव्र गतिशील (तेजसा) तेज से अन्धकारों को नाश करता है उसी प्रकार उदय को प्राप्त होता हुआ अपने प्रखर तेज से (सहस्वान्) शत्रुओं के पराजय करने में समर्थ राजा भी (सपत्नान्) शत्रुओं को (नीचैः) नीचे (नुदतां) करे।

यत् ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म वितंतमनतिव्याध्यं/कृ तम्
तेन सपत्नान् परि वृङ्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥ १६ ॥

भा०—हे (काम) कान्तिमय राजन् ! (ते) तेरा (यत्) जो (त्रिवरूथम्) तीनों प्रकार के कष्टों से बचाने वाला (उद्भु) सब से उत्तम शक्तिसम्पन्न, (ब्रह्म) बड़ा या ज्ञानमय (विततम्) विस्तृत (अनतिव्याध्यम्) अमोघ (वर्म) रक्षासाधन, कवच (कृतम्) बना है (तेन) उससे (ये मम) जो मेरे शत्रु हैं उन (सपत्नान्) शत्रुओं को (परिवृङ्धि) विनाश कर और (एनान्) उन को (प्राणः) प्राण (पशवः) पशु और (जीवनम्) जीवन (परिवृणक्तु) छोड़ दें।

येन देवा असुरान् प्राणुदन्त येनेन्द्रो दस्यूनधमं तमो निनाय।
तेन त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम् ॥ १७ ॥

भा०—(येन) जिस बल से (देवाः) देव विद्वान् गण, विजिगीषु (असुरान्) असुरों, दुष्टों को या अपने दुर्दमनीय प्राणों को (प्राणुदन्त)

१७–(द्वि०) 'तमोऽपबाधे' (च०) 'प्रणुदस्व सर्वान्' इति पैप्प० सं० ॥

अपने वश करते हैं और (येन) जिस सामर्थ्य से (इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर या राजा (दस्यून्) विनाशकारी, दुष्ट पुरुषों या डाकुओं को (अधमं तमः) नीचतम, गहरे अन्धकारमय, अज्ञानमय दशा में (निनाय) डाल देता है, हे (काम) राजन् ! (मम) मेरे (ये) जो (सपत्नाः) शत्रु हैं (तेन) उस बल से (तान्) उनको (अस्मात् लोकात्) इस लोक या, स्थान से (दूरम्) दूर (प्रणुदस्व) हटा दे ।

यथा देवा असुरान् प्राणुदन्त यथेन्द्रो दस्यूनधमं तमो बबाधे ।
तथा त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम् ॥१८

भा०—(यथा देवाः असुरान् प्राणुदन्त) जिस प्रकार देव, विद्वान लोग असुरों, अज्ञानियों को पराजित करते हैं और (यथा इन्द्रः दस्यून्-अधमं तमः बबाधे) जिस प्रकार इन्द्र दस्युओं को नीचे गहरे अन्धकार में डालता है (मम ये सपत्नाः) मेरे जो शत्रु हैं, हे (काम ! तान् अस्मात् लोकात् दूरं प्रणुदस्व) काम ! राजन् ! उनको इस लोक से दूर कर ।

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ १६ ॥

भा०—(कामः) काम, कान्तिमान, सबका अभिलषणीय अथवा वह महान् संकल्पमय ईश्वर (प्रथमः) सब से प्रथम (जज्ञे) प्रकट होता है और (एनम्) उसके समान पद को (देवाः) देवगण विद्वान् पुरुष या सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थ (पितरः) पालक मां बाप या ऋतुएं और (मर्त्याः) मनुष्य आदि प्राणि भी (न आपुः) नहीं प्राप्त होते

१८–(द्वि०) 'तमोपबाधे' (च०) 'प्रणुदस्व दूरम्' इति पैप्प० सं० ।
१६–'कामो जज्ञे प्रथमो नान्यत् पुरो नैनं देवासः पितरो नोत मर्त्याः । इति पैप्प० सं० ।

(ततः) इसी कारण हे (काम) काम! महान्! (त्वम् ज्यायान् असि) तू सब से श्रेष्ठ (विश्वहा) सर्वव्यापक और (महान्) सब से बड़ा है। (तस्मै ते) उस तुझे मैं (नमः इत्) नमस्कार (कृणोमि) करता हूं।

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावदापः सिष्यदुर्यावदग्निः।
ततस्त्वम्० ॥ २० ॥ (४)

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमी (वरिम्णा) अपने विस्तार से (यावती) जितनी बड़ी हैं। और (आपः) जल या संसार के आदि मूल प्रकृति के सूक्ष्म, व्यापक परमाणु (यावत्) जितने विस्तार में (सिष्यदुः) फैले हैं और (अग्निः) तेजोमय पदार्थ अग्नि जितनी दूर तक फैली है हे (काम) कान्तिमान् तेजोमय! परमेश्वर! (ततः त्वम् ज्यायान् असि) तू उससे भी बड़ा है। तू (विश्वहा महान् असि) सर्वव्यापक, महान् है। (तस्मै इत् नमः कृणोमि) उस तुझे ही मैं नमस्कार करता हूं।

यावतीर्दिशः प्रदिशो विषूचीर्यावतीराशा अभिचक्षणा दिवः।
ततस्त्वम्० ॥ २१ ॥

भा०—(दिशः) दिशाएं (प्रदिशः) उपदिशाएं (यावतीः) जितनी भी दूर तक फैल सकती हैं और (दिवः) द्यौः—आकाश-मण्डल को (अभिचक्षणाः) दिखलाने वाली (दिशः) दिशाएं (यावतीः) जितनी दूर तक भी फैली हैं हे (काम) कान्तिमय! परमात्मन्! (ततः त्वम् ज्यायान् विश्वहा महान् असि) तू उससे भी अधिक बड़ा, व्यापक और महान् है। (तस्मै ते काम नमः इत् कृणोमि) उस तुझ महान् को मैं नमस्कार करता हूं।

२०–(द्वि०) 'सिस्यदुः' इति क्वचित् पाठः।

यावतीर्भृङ्गा जत्वः कुरूरवो यावतीर्वघा वृक्षसर्प्यो बभूवुः ।
ततस्त्वम्० ॥ २२ ॥

भा०—(भृङ्गाः) भौंरे या मधुमक्खियां, (जत्वः) चिमगादर (कुरूरवः) चीलें (यावतीः) जितनी हैं और (वघाः) टीडी आदि जन्तु और (वृक्षसर्प्यः)-वृक्ष पर सरकने वाले कीट (यावतीः) जितने (बभूवुः) हो रहते हैं हे (काम) काममय ! परमेश्वर ! (ततः त्वम् ज्यायान्) उनसे भी तू अधिक है । अर्थात् जिस काममय संकल्प से उक्त नाना प्रकार के लक्षों प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि हो रही है तेरा सामर्थ्य उससे कहीं बढ़ा चढ़ा है । तू (विश्वहा महान्) सर्वव्यापक और महान् है (तस्मै ते काम नमः इत् कृणोमि) उस परम कान्तिमय प्रभु को मैं नमस्कार करता हूं ।

ज्यायान् निमिषतोऽसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि काम मन्यो ।
ततस्त्वम्० ॥ २३ ॥

भा०—हे (काम) संकल्पमय, कान्तिमय प्रभो ! हे (मन्यो) ज्ञानमय ! (निमिषतः) निमेष करने वाले जीव से भी (ज्यायान्) बहुत बड़ा है । अर्थात् जितनी इच्छाशक्ति का कौशल निमेष करने में मनुष्य आदि जन्तु का है उससे भी अधिक कौशल तेरा है । और (तिष्ठतो ज्यायान्) समान-भाव से स्थिरता से खड़े रहने वाले वृक्ष पर्वतादि से भी स्थिरता के सामर्थ्य में तू (ज्यायान्) बहुत बड़ा है । (समुद्रात् ज्यायान् असि) जलों के वर्षाने वाले मेघ और धारण करने वाले महान् समुद्र से भी सामर्थ्य में तू (ज्यायान्) बहुत बड़ा है । (ततः त्वम्) इत्यादि पूर्ववत् ।

न वै वातश्चन काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २४ ॥

भा०—(वातः चन) वायु भी (कामं न आप्नोति) 'काम' उस महा संकल्पमय, महान् तेजस्वी परम पुरुष को नहीं व्याप सकता या उस के पद तक नहीं पहुँच सकता। और (न अग्निः) न अग्नि और (सूर्यः) न सूर्य (उत न चन्द्रमाः) और न चन्द्रमा ही उसको व्याप या उसके पद तक पहुँच सकता है। इसलिये (ततः त्वम् ज्यायान् असि) हे काम ! परमेश्वर ! तू उनसे भी बड़ा है इत्यादि पूर्ववत्।

यास्ते॑ शि॒वास्त॒न्व॑: काम भ॒द्रा याभि॑: स॒त्यं भव॑ति॒ यद् वृ॑णी॒षे ।
ताभि॒ष्ट्वम॒स्माँ अ॒भिसंवि॑शस्वा॒न्यत्र॑ पा॒पीरप॑ वेशया॒ धिय॑: ॥२५॥(५)

भा०—हे (काम) काम, प्रभो ! (याः) जो (ते) तेरी (शिवाः) कल्याणकारी (भद्राः) सुखकारी (तन्वः) शक्तियां हैं और (याभिः) जिनसे (सत्यम्) प्रकट रूप से, अभिव्यक्त यह जगत् (भवति) सत्ता को प्राप्त करता है, उत्पन्न होता है (यत्) जिस जगत् की तू स्वयं (वृणीषे) रक्षा करता है। (ताभिः) उनसे (त्वम्) तू (अस्मान्) हमको (अभि संविशस्व) प्राप्त हो और (पापीः) पापमय, दुःख प्रद (धियः) कर्मों और शक्तियों को (अन्यत्र) हम से (अप वेशय) दूर रख।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वे सूक्ते, ऋचश्चैकोनपञ्चाशत्]



२४—नावापच्चूचन काममापुर्नाहोरात्राणि निहतानि यन्ति न वै पुण्यजाच्चन काममापुर्न गन्धर्वाप्सरसो न सर्पाः ।

२५—(द्वि०) 'वृणीते' (तृ०) 'अस्मान् उपसंविश' (च०) 'पापीरभिवेशया' इति पैप्प० सं० ।

[३] शाला, महाभवन का निर्माण और प्रतिष्ठा ।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः। शाला देवता। १,५,८,१४,१६,१८,२०,२२,२४ अनुष्टुभः। ६ पथ्यापंक्तिः। ७ परा उष्णिक्। १५ त्र्यवसाना पञ्चपदातिशक्वरी। १७ प्रस्तारपंक्तिः। २१ आस्तार पंक्तिः। २५, ३१ त्रिपादौ प्रजापत्ये बृहत्यौ। २६ साम्नी त्रिष्टुप्। २७,२८,२९ प्रतिष्ठा नाम गायत्र्यः। २५,३१ एकावसानाः।
एकत्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत ।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥ १ ॥

भा०—हम (उपमिताम्) सुन्दर रूप से बनी हुई, (प्रतिमिताम्) प्रत्येक अंग में नापी हुई, (परिमिताम्) चारों ओर से पर्याप्त प्रमाण वाली शाला को बनावें। और (विश्वावरायाः) सब ओर से सुरक्षित था आवृत (शालायाः) शाला के चारों ओर (नद्धानि) बंधे बन्धनों को (नि चृतामसि) खोल दें। भवन बन चुकने पर उसके चारों ओर लपेटी घास फूस की चटाइयाँ तथा शिल्पियों के बल्ले आदि खोलने का वर्णन करते हैं।

यत् ते नद्धं विश्ववारे पाशो ग्रन्थिश्च यः कृतः ।
बृहस्पतिरिवाहं बलं वाचा वि स्रंसयामि तत् ॥ २ ॥

भा०—हे (विश्ववारे) समस्त वरणीय उत्तम पदार्थों से सम्पन्न शाले ! (यत्) जो (ते) तेरे (नद्धं) बंधन और (यः) जो (पाशः ग्रन्थिः च) पाश और गांठ बनाया गया है (बृहस्पतिः) बृहस्पति वेद का विद्वान् (इव) जिस प्रकार (वाचा) अपनी वाणी से (बलम्)

---

[३] १–उपमितः प्रमितोऽथो परिमितश्च यश्शालाया विश्ववाराया ते नद्धान् विचृतामसि इति पैप्प० सं० ।

२–'बृहस्पतिं वहंबलम्' इति पैप्प० सं० । (च०) 'विस्रंशयामि' इति क्वचित् ।

शब्द को या प्राण को सुप्रबद्ध करता है उसी प्रकार (अहम्) मैं (वाचा) वेदमन्त्र द्वारा (वलम्) शाला के आवरण को (विस्रंसयामि) पृथक् खोल दूं ।

आ य॒याम॒ सं ब॑बर्ह ग्र॒न्थीँश्च॑कार ते दृ॒ढान् ।
परूं॑षि वि॒द्वाञ्छस्ते॒वेन्द्रे॑ण॒ वि चृ॑तामसि ॥ ३ ॥

भा०—शिल्पी (ते) तेरी (ग्रन्थीन्) गांठों को (आ ययाम) बांधता है और (सं बबर्ह) तुझे ऊंचा करता है और (दृढान् चकार) तेरे सब भागों को दृढ़ करता है । (विद्वान्) जानकार (शस्ता इव) काटने वाला जिस प्रकार (परूंषि) पोरू २ को काटा करता है उसी प्रकार हम पोरू २ पर लगी गांठों को (वि चृतामसि) खोलें ।

वं॒शानां॑ ते न॒हना॑नां प्राणा॒हस्य॒ तृण॑स्य च ।
प॒क्षाणां॑ विश्ववारे ते न॒द्धानि॒ वि चृ॑तामसि ॥ ४ ॥

भा०—हे (विश्ववारे) समस्त पुरुषों के वरण करने योग्य अथवा समस्त वरणीय धनों से युक्त ! (ते) तेरे ऊपर (वंशानाम्) बांसों और (नहनानां) बन्धनों और (प्राणहस्य) ऊपर से बन्धे (तृणस्य च) घास फूस के और (पक्षाणां) पक्षों या पासों पर लगे (नद्धानि) बन्धनों को (वि चृतामसि) खोल दें ।

सं॒दं॒शानां॑ प॒लदा॑नां॒ परि॑ष्वञ्जल्यस्य च ।
इ॒दं मान॑स्य॒ पत्न्या॑ न॒द्धानि॒ वि चृ॑तामसि ॥ ५ ॥

भा०—(मानस्य) मापने के (पत्न्या) पालन करने वाली

४–(च०) 'यद्धान् त्रि' इति पैप्प० सं० ।
५–(प्र०, द्वि०) 'पलिदानां परिष्वञ्चनदस्य च' (तृ०) 'सर्वामानस्य पत्नि ते' इति पैप्प० सं० ।

शाला में लगे (संदंशानाम्) कैंची के आकार के जुड़ी लकड़ियों के और (पलदानां) घास फूस के (परिष्वञ्जल्यस्य च) चारों ओर सटे हुए बन्धन के (नद्धानि) बंधनों को (इदम्) इस प्रकार से (वि चृतामसि) खोल दें।

यानि तेऽन्तः शिक्यान्याबेधू रण्याय कम्।

प्र ते तानि चृतामसि शिवा मानस्य पत्नी न उद्धिता तन्वे भव॥६॥

भा०—हे (मानस्य पत्नि) मान, मापन के पालन करनेहारी शाले! (यानि) जो (ते) तेरे (अन्तः) भीतर (शिक्यानि) छींकें (रण्याय) मनोहर सजावट के लिये (ते) तेरे में (आबेधुः) बांधे गये हों (तानि) वे सब (प्र चृतामसि) अच्छी प्रकार बांधे। तू (शिवा) कल्याणकारिणी (मानस्य पत्नी) हमारे मान पालन करने हारी सद्-गृहिणी के समान (नः तन्वे) हमारे शरीर के लिये (उद्-हिता) अति हितकारी (भव) हो।

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः।

सदो देवानामसि देवि शाले॥ ७॥

भा०—हे (देवि शाले) दिव्य गुणों से युक्त प्रकाश और जल वायु से सुन्दर! शाले! तू (हविर्धानम्) हवि अन्न के रखने का स्थान हो, (अग्निशालम्) तुझ में अग्नि के लिये पृथक् गृह, यज्ञशाला और पाकशाला हो। (पत्नीनां सदनम्) घर की स्त्रियों के लिये पृथक् गृह हो (सदः) अतिथियों से मिलने के लिये स्थान व बैठक पृथक् हो। (देवानां सदः) और तू स्वयं विद्वान् पुरुषों के और बड़े अधिकारियों के (सदः) गृह स्वरूप भी हो।

६–'यानि तेऽन्तश्चिक्यानि आमेधोऽन्त्यायकं' (च०) 'सर्वा मानस्य पत्न्या' इति पैप्प० सं०।

अक्षुमोपशं विततं सहस्राक्षं विषूवति ।
अवनद्धमभिहितं ब्रह्मणा वि चृतामसि ॥ ८ ॥

भा०—हे (विषूवति) उच्च शिखर वाली शाले ! तेरा (ओपशम्) स्त्री के शिर पर लगने वाले सुन्दर आभूषण के समान, (अक्षुम्) जालस्वरूप (विततं) विस्तृत (सहस्राक्षम्) हज़ारों अक्षों छिद्रों से युक्त है। वह (ब्रह्मणा) ज्ञानपूर्वक (अभिहितम्) बांधा गया और (अवनद्धम्) कसा है उसको हम (वि चृतामसि) विशेष रूप से खोलते हैं।

यस्त्वां शाले प्रतिगृह्णाति येन चासि मिता त्वम् ।
उभौ मानस्य पत्नि तौ जीवतां जरदष्टी ॥ ९ ॥

भा०—हे (शाले) शाले ! गृह ! भवन ! (यः) जो पुरुष (त्वा) तुझे (प्रतिगृह्णाति) स्वीकार करता है, अपनाता है और (येन) जिसने (त्वम्) तुझे (मिता असि) बनाया है हे (मानस्य पत्नि) सम्मान के पालन करने हारी ! (उभौ तौ) वे दोनों (जरदष्टी) बुढ़ापे के काल तक (जीवताम्) जीवन निर्वाह करें।

अमुत्रैनमा गच्छताद् दृढा नद्धा परिष्कृता ।
यस्यास्ते विचृतामस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ॥ १० ॥ (६)

भा०—हे शाले ! (यस्याः) जिस तेरे चारों ओर लगे बन्धन के (अङ्गम् अङ्गम्) अंग २ और (परुः परुः) पोरु २ तक को अब हम (वि चृतामसि) विशेष रूप से जुदा कर रहे हैं (अमुत्र) भविष्य काल में तू वही (दृढ) खूब मजबूत (नद्धा) सुबद्ध (परिष्कृता) सुन्दर सुसज्जित होकर (एनम्) इस स्वामी को (आगच्छात्) प्राप्त हो।

८–(प्र०) 'यद्मापिश,' अपिनद्धमपि हितं' इति पैप्प० सं० ।

९–(प्र०) 'यश्चिचा[श्वत्वा । प्रति' इति पैप्प० सं० ।

१०–(द्वि०) 'त्रिधानद्धा', (तृ०) 'तस्यास्त' इति पैप्प० सं० ।

यस्त्वा॑ शाले नि॒मि॒माय॑ संज॒भार॒ वन॒स्पती॑न् ।
प्र॒जायै॑ चक्रे त्वा शाले परमे॒ष्ठी प्र॒जाप॑तिः ॥ ११ ॥

भा०—हे (शाले) शाले ! (यः) जो शिल्पी (त्वा) तुझे (निमिमाय) बनाता है और तेरे बनाने के लिये (वनस्पतीन्) वृक्षों को (संजभार) काटता है वह भी (परमेष्ठी) परमेष्ठी, परम पद पर स्थित (प्रजापति) प्रजा के स्वामी के समान होकर ही (त्वा) तुझे (प्रजायै) अपनी प्रजा के लिये ही (चक्रे) बनवाता है ।

नम॒स्तस्मै॒ नमो॑ दा॒त्रे शाला॑पतये च कृण्मः ।
नमो॒ऽग्नये॑ प्र॒चर॑ते॒ पुरु॑षाय च ते॒ नमः॑ ॥ १२ ॥

भा०—हम (दात्रे तस्मै नमः कृण्मः) शाला को पत्थर ईंट काट काट कर गढ़ने वाले शिल्पी को नमस्कार करते हैं (शालापतये च नमः कृण्मः) और शाला के स्वामी को भी हम नमस्कार, उचित आदर करते हैं । और (अग्नये प्रचरते नमः) अग्नि लेकर उससे संस्कार करने हारे विद्वान् को भी हम नमस्कार करते हैं । और (ते पुरुषाय नमः) तुझ पुरुष को भी नमस्कार है ।

गोभ्यो॒ अश्वे॑भ्यो॒ नमो॒ यच्छाला॑यां वि॒जाय॑ते ।
वि॒जाव॑ति॒ प्रजाव॑ति॒ वि ते॒ पाशां॑श्चृतामसि ॥ १३ ॥

भा०—(गोभ्यः) गौओं और (अश्वेभ्यः) घोड़ों के लिये और (यत्) जो भी (शालायां विजायते) शाला या गृह में विविध प्रकार के पदार्थ हैं (नमः) उनको नमस्कार हो, उनका सदुपयोग लिया जाय । हे (विजावति) विशेष पदार्थों को उत्पन्न करने वाली ! हे (प्रजा-

११-(प्र०) 'यस्त्वा पूर्वे निमि' इति पैप्प० सं० ।
१२-(द्वि०) 'च कृण्मसि' इति पैप्प० सं० ।

वति) प्रजा पुत्रादि से सम्पन्न शाले ! (ते पाशान्) तेरे पाशों को हम (विचृतामसि) नाना प्रकार से खोलते हैं।

अग्निमन्तश्छादयसि पुरुषान् पशुभिः सह।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥ १४ ॥

भा०—हे शाले ! तू (पशुभिः सह) पशुओं सहित (पुरुषान्) पुरुषों को और (अग्निम्) यज्ञाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीयाग्नि इन अग्नियों को गार्हपत्य अथवा (अग्निम्) पुरुषों के अग्रणी को भी (अन्तः छादयसि) अपने भीतर विश्राम देता है। हे (विजावति प्रजावति) विविध पदार्थों के उत्पादक और प्रजासम्पन्न शाले (ते पाशान् वि चृतामसि) तेरे पाशों के बन्धनों को खोलें।

अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद् व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम्
यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत् कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः।
तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै ॥ १५ ॥

भा०—(द्यां च पृथिवीं च) द्यौः आकाश और (पृथिवीं च) पृथिवी के बीच में (यत्) जो (व्यचः) विशेष विस्तृत अवकाश है (तेन) उससे (ते) तेरे लिये हे ब्रह्मन् ! (इमाम्) इस (शालाम्) शाला को (प्रतिगृह्णामि) स्वीकार करता हूं। और (यत्) जो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष का भाग या भीतरी खोखला भाग (रजसः) घर का (विमानम्) विशेष परिमाण है (तत्) उसको (अहम्) मैं (शेवधिभ्यः) सुखप्रद पदार्थों और कक्षाओं के लिये या विशेष सम्पत्तियों के लिये (उदरं कृण्वे) पर्याप्तरूप में अच्छे लम्बे चौड़े बनाऊं (तेन) उस निमित्त से (तस्मै) उस गृहपति के लिये (शालाम्) शाला को (प्रतिगृह्णामि) स्वीकार करता हूं।

१५–(द्वि०) 'प्रतिगृह्णामि तैमान्' इति पैप्प० सं०।

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता ।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥१६॥

भा०—हे (शाले) शाले ! गृह ! तू (ऊर्जस्वती) आरोग्य पराक्रम से युक्त एवं धन धान्य से सम्पन्न (पयस्वती) दुग्ध, रस, जल आदि से परिपूर्ण, (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (मिता) माप २ कर (निमिता) बनाई गयी है तू (विश्वान्नम्) सब प्रकार के अन्नों को (बिभ्रती) धारण करती हुई (प्रतिगृह्णतः) स्वीकार करते हुए स्वामी को (मा हिंसीः) विनाश न कर ।

तृणैरावृता पलदान् वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी ।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती ॥ १७ ॥

भा०—(तृणैः) तृण, घास फूस से (आवृता) ढकी हुई और (पलदान्) पलद, फूस के बने टाटियों या चटाइयों को (वसाना) ओढ़े हुए, (रात्री इव) रात्रि के समान (जगतः निवेशनी) जगत् को अपने भीतर सुख से बास देने हारी (पृथिव्या) पृथिवी पर (मिता) मापकर बनाई गई (पद्वती) स्थूल पैरों वाली (हस्तिनी इव) हथिनी के समान (पद्वती) स्थूल स्तम्भों से युक्त होकर (तिष्ठसि) खड़ी है ।

इटस्य ते वि चृताम्य पिनद्धमपोर्णुवन् ।
वरुणेन समुब्जितां मित्रःप्रातर्व्युब्जतु ॥ १८ ॥

भा०—हे शाले ! (ते) तेरे ऊपर लगे (इटस्य) चटाई, घास को (अपिनद्धम्) बँधे हुए पूलों को (अप ऊर्णुवन्) खोलता हुआ मैं (वि चृतामि) उसको खोलता हूं । और (वरुणेन) अन्धकार से (सम् उब्जतां) ढकी हुई को (प्रातः) प्रातःकाल (मित्रः) सूर्य (वि उब्जतु) विशेष रूपसे प्रकाशित करे ।

ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम् ।

इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः ॥ १९ ॥

भा०—(ब्रह्मणा) ज्ञानपूर्वक (निमितां) बनाई गई, और (कविभिः) बुद्धिमान् पुरुषों द्वारा (मिताम्) नापी और (निमितां) बनाई गई (शालाम्) शाला को (इन्द्राग्नी) इन्द्र, वायु और अग्नि दोनों (अमृतौ) अमृत जीवन की वृद्धि करने वाले पदार्थ (सोम्यम्) सुखकारी (सदः) गृह (रक्षताम्) बनाये रक्खें।

देह रूप शाला का वर्णन।

कुलायेधि कुलायं कोशे कोशः समुब्जितः ।
तत्र मर्तो वि जायते यस्माद् विश्वं प्रजायते ॥ २० ॥ (७)

भा०—(कुलाये अधि कुलायम्) घोंसले पर घोसला अथवा (कोशे कोशः समुब्जितः) कोश पर कोश आवरण करता है (तत्र मर्त्तः विजायते) वहां प्राणधारी जीव का मरणधर्मा शरीर नाना प्रकार से प्रकट होता है (यस्मात् विश्वम् प्रजायते) जिससे समस्त प्राणी उत्पन्न होते है ।

या द्विपंक्षा चतुष्पक्षा षट्पंक्षा या निमीयते ।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये ॥२१॥

भा०—(मानस्य पत्नीम्) मान, मातृत्व सामर्थ्य का पालन करने वाली पत्नी स्त्री के (गर्भः) गर्भ रूप (अग्निः इव) जीव जिस प्रकार सोता है उसी प्रकार मैं (अग्निः) गृहपति (अष्टापक्षां दशपक्षां शालां आशये) आठ कोठरियों और दश कोठरियों वाली शाला के बीच

१९–(द्वि०) 'निर्मितां' (च०) 'सोम्यं' इति क्वचित् (प्र०) चतुस्रक्तिः परिचक्रां कविभिर्निर्मितां मिताम् । विश्वानाबिभ्रतां शालाममृतो सोम्यं सदः । इति पैप्प० सं० ।

२०–(तृ०) 'तत्र मर्तो वि'-इति पैप्प० सं० ।

में रहूं । (या) जो शाला (द्विपक्षा) दो कोठरियों वाली, (चतुष्पक्षा) चार कोठों वाली और (या) जो (षट्पक्षा) छः कोठरियों वाली भी (निमीयते) बनाई जाती है ।

पक्ष=कक्षागृह । द्विपक्षा=जिसमें दो कमरे हों । अष्टापक्षा=आठ कमरों वाली । दशपक्षा=दश कमरों वाली ।

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम् ।
अग्निर्ह्यन्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः ॥ २२ ॥

भा०—हे (शाले) शाले ! (प्रतीचीं) अपने समक्ष खड़ी हुई (अहिंसतीम्) किसी प्रकार का कष्ट न देती हुई, सुखकारिणी (त्वा) तेरे प्रति (प्रतीचीनः) प्रतीचीन, तेरे अभिमुख होकर (प्रैमि) आता हूं । और (अन्त्र) इसके भीतर (अग्निः) आग और (आपः) जल ही (ऋतस्य) जीवन के (प्रथमा) उत्तम (द्वाः) द्वार हैं । अथवा (अन्तः) भीतर (अग्निः) ज्ञानवान् विद्वान् और (आपः) आप्त पुरुष रहें । वे ही (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (द्वाः) द्वार हैं ।

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ २३ ॥

भा०—मैं (इमाः) इन (यक्ष्मनाशनीः) रोगजनक जन्तुओं के नाश करने वाली (आपः) जलों को (अयक्ष्माम्) रोग रहित शाला में (प्र भरामि) लाता हूं । और (अग्निना) अग्नि और (अमृतेन) जल के (सह) साथ अपने (गृहान्) गृह के बन्धुओं के पास (उप प्र सीदामि) आता हूं ।

२१–पक्ष परिग्रहे (पचाद्यच्) पक्षः कोष्ठः ।

२२–(च०) 'प्रथमो भा' इति पैप्प० सं० ।

२३–(प्र०) 'आप० प्रहराम्य' (तृ०) 'गृहानभि' इति पैप्प० सं० ।

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव ।
वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि ॥ २४ ॥

भा०—हे (शाले) शाले ! (नः) हमारे लगाये (पाशम्) बंधन को (मा प्रति मुचः) धारण मत कर, अब न रख । हे शाले ! (गुरुः भारः) तेरा भार बहुत अधिक है । तू (लघुः भव) हलकी होजा । हे शाले ! हमारी इच्छा है कि (त्वाम्) तुझको (वधूम् इव) वधू, नव विवाहित कन्या के समान (त्वा) सुसज्जित तुझे (यत्र कामं) जहां इच्छा हो (भरामसि) ले जायँ ।

इस मन्त्र में एक स्थान से स्थानान्तर में ले जाने लायक गृह का वर्णन वेद ने किया है ।

प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः॥२५॥
दक्षिणाया दिशः० ॥ २६ ॥ प्रतीच्या दिशः० ॥ २७ ॥
उदीच्या दिशः० ॥२८॥ ध्रुवाया दिशः० ॥२९॥ ऊर्ध्वाया दिशः०॥३०॥
दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः॥ ३१॥(८

भा०—शाला के भीतर प्रवेश करके गृहपति प्रत्येक दिशा से परमात्मा की और देवों की अर्चना किया करे । (शालायाः) शाला के (प्राच्याः दिशः) प्राची, पूर्वाभिमुख दिशा से (महिम्ने नमः) उस महा महिम परमात्मा के शुभ गुणानुवाद करें और (स्वाह्येभ्यः) उत्तम रीति से स्तुति अर्चा करने योग्य (देवेभ्यः) देव, विद्वान् पुरुषों का भी हम गुणानुवाद और आदर सत्कार करें । इसी प्रकार (दक्षिणायाः)

२५–३१–'स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः प्राच्याः दिशः शालाया नमो महिम्ने' इत्यादि २६, २७, २८, २९, ३०, ३१ इत्यादिष्वप्येष एव क्रमः । इति पैप्प० सं० ।

दक्षिण, (प्रतीच्याः) पश्चिम, (उदीच्याः) उत्तर, (ध्रुवायाः) ध्रुवा अर्थात् नीचे की ओर (ऊर्ध्वायाः) ऊपर की (दिशः) दिशाओं से भी हम परमात्मा को नमस्कार और पूज्य विद्वान् पुरुषों की पूजा सत्कार करें। इसी प्रकार (दिशः दिशः) शाला के सब दिशाओं से (नमो महिम्ने देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा) परमेश्वर और पूजनीय विद्वानों की पूजा हो।



[४] ऋषभ के दृष्टान्त से परमात्मा का वर्णन।

ब्रह्मा ऋषिः। ऋषभो देवता। १–५,७,९,२२ त्रिष्टुभः। ८ भुरिक्। ६, १०,२४ जगत्यौ। ११–१७,१९,२०,२३ अनुष्टुभः। १२ उपरिष्टाद् बृहती। २१. आस्तारपंक्तिः। चतुर्विंशर्चं सूक्तम्॥

साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान् विश्वा रूपाणि वक्षणासु बिभ्रत्।
भद्रं दात्रे यजमानाय शिक्षन् बार्हस्पत्य उस्रियस्तन्तुमातान् ॥१॥

भा०—(साहस्रः) सहस्रों शिरों, बाहुओं, पादों, चक्षुओं एवम् अनन्त सामर्थ्यों से युक्त (त्वेषः) कान्तिमान्, (ऋषभः) सर्वव्यापक, सर्वप्रकाशक (पयस्वान्) आनन्द रस से परिपूर्ण, वीर्यवान्, परमात्मा (विश्वा रूपाणि) समस्त कान्तिमान लोकों को अपने (वक्षणासु) कोखों में या वहन करने में समर्थ शक्तियों में (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (बार्हस्पत्यः) स्वयं बृहत्, महान् लोकों के स्वामी होकर, (उस्रियः) सब के भीतर स्वयं बसने वाला एवम् सबको अपने में वास देने वाला होकर (दात्रे) दानशील, आत्मसमर्पण करने हारे (यजमानाय) यजमान, आत्मा, पुरुष को (भद्रम्) सुखकारी, कल्याणमय लोक या देह को (शिक्षन्) प्रदान करता हुआ (तन्तुम्) इस विस्तृत जगत् मय तन्तु को (आतान्) फैलाता है।

अपां यो अग्रे प्रतिमा ब्रभूवं प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीवं देवी।
पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु ॥२॥

भा०—(यः) जो (अग्रे) पूर्वकाल में (अपां) जगत् के कारण-भूत आपः=सूक्ष्म प्रकृति के परमाणुओं पर भी (प्रतिमा) 'प्रतिमान' मापने और उन में भी व्यापने वाला (बभूव) रहा और (सर्वस्मै प्रभूः) सब संसार का उत्पादक और अधिष्ठाता (देवी पृथिवी इव) देवी पृथिवी के समान सबका आश्रय था और है। और जो (वत्सानाम्) प्रकृति के आगे उत्पन्न होने वाले पञ्चभूत आदि विकृति रूपों के या प्राणियों के आवास हेतु लोकों या मुक्त जीवों का (पिता) जनक और पालक और (अघ्न्यानाम् पतिः) न मारने योग्य गौओं के पति महा वृषभ के समान (अघ्न्यानां पतिः) कभी नाश न होने वाले पञ्चभूतों के सूक्ष्म तन्मात्राओं का भी पालक है वह परमात्मा (नः) हमें (साहस्रे पोषे) सहस्रों प्रकार के पोषण कार्यों में (अपि कृणोतु) समर्थ करे अर्थात् जिस प्रकार वह सहस्रों विश्वों को पुष्ट करता और पालता है उसी प्रकार वह हमें भी समर्थ करे।

'वत्सानां पिता, अघ्न्यानां पतिः' इत्यादि विशेषणों से साधारण सांड भी उपमान रूप से ज्ञात होता है।

पुमानन्तर्वान्त्स्थविरः पर्यस्वान् वसोः कबन्धमृषभो बिभर्ति।
तमिन्द्राय पथिभिर्देवयानैर्हुतमग्निर्वहतु जातवेदाः ॥ ३ ॥

भा०—(ऋषभः) वह सब संसार को चलाने वाला, सर्वश्रेष्ठ (पुमान्) पुमान् पुरुष, पूर्ण ज्ञानी अथवा समस्त पदार्थों में व्यापक या सब को बढ़ाने वाला या स्वयं सब से महान् (अन्तर्वान्) अतएव

२–१. वत्सा वै देव्या अध्वर्यवः। श० १। ८। १। २७॥
३–(द्वि०) 'वसोऽकबन्ध'-इति क्वचित् पाठः।

समस्त विश्वों को अपने भीतर धारण करने वाला, (स्थविरः) नित्य कूटस्थ, सदा स्थिर, अविनाशी होकर (वसोः) वसु, वसने वाले इस अखिल जगत् के (कबन्धम्) शरीर भाग को अथवा ज्ञानमय, सुखमय, शक्तिमय बन्धन सामर्थ्य को (बिभर्ति) स्वयं धारण करता है (तम्) उस (हुतम्) व्यापक परमात्मा को (जातवेदाः) प्रज्ञावान् (अग्निः) अग्रणी, योगी, ज्ञानी, विद्वान् (देवयानैः) देव विद्वानों से जाने योग्य (पथिभिः) मोक्ष मार्गों से (इन्द्राय) इस जीव को (वहतु) ले जाये।

बैल के पक्ष में पं० ह्विटनी और ग्रीफिथ आदि ने इस मन्त्र का निम्नलिखित अर्थ किया है 'नर, गाभिन, बड़ा, दुग्ध वाला, भलाई के धड़ को बैल धारण करता है, जातवेदा अग्नि इन्द्र के लिये बलि किये उस बैल को देवों से चले गये रास्तों से ले जाय।' पं० शंकर पाण्डुरंग ने इस सूक्त के प्रारम्भ में विनियोग लिखा है कि 'ब्राह्मण बैल को मार कर भिन्न २ देवताओं के लिये होम दे।' यह अर्थ इस कारण असंगत है कि बैल के ऊपर 'पयस्वान्, वसोः कबन्धम्' अन्तर्वान् और देवयानैः पथिभिर्वहतु' आदि विशेषण उसमें संगत नहीं हैं।

पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानामथो पिता महतां गर्गराणाम् ।
वत्सो जरायु प्रतिधुक् पीयूषं आमिक्षा घृतं तद् वस्य रेतः ॥४॥

भा०—(वत्सानां पिता) समस्त लोकों, मुक्तात्माओं या जगत् के घटक पञ्चभूतों का (पिता) पिता, पालक (अघ्न्यानां पतिः) अविनाशी शक्तियों का स्वामी (अथो) और (महतां) बड़े २ (गर्गराणाम्) वेद या ब्रह्मज्ञान के गुरु गणों का भी (पिता) पालक है। (वत्सः) बच्चा, (जरायु) जेर (प्रतिधुक्) नवीन दुहा हुआ

४—(द्वि०) 'उतायं 'पितर' आमिक्षमस्तु घृतमस्य योनिः' इति (च०) 'आमिक्षा मस्तु घृतमस्य रेतः' इति तै० सं०।

या प्रतिदिन का दुहा हुआ (पीयूषम्) दूध, (आमिक्षा) जमा हुआ दही या फटा दूध और (घृतम्) घी (तत् उ) यह सब जैसे इस प्रत्यक्ष (अस्य) इस सांड के ही (रेतः) वीर्य का परिणाम है उसी प्रकार (वत्सः) वायु या अग्नि या अहंकार, (जरायुः) हिरण्यगर्भ, (आमिक्षा) ब्रह्माण्ड (प्रतिधुक् पीयूषम्) प्रतिकल्प, प्रतिसर्ग में दोहन करने योग्य पीयूष, पयस, रस प्राण या परम सूक्ष्म जगत् का मूलकारण भूत परमाणु रूप 'अपः' और (घृतम्) अन्तरिक्ष या तेजस्तत्व, (तत् उ) वह सब कुछ उस महान् परमेश्वर का (रेतः) वीर्य है।

'वत्सः'—अयमेव वत्सः योयं (वायुः) पवते। श० १२।४।१।१२॥ अग्निर्ह वै ब्रह्मणो वत्सः। जै० ३।२।१३।१॥ मन एव वत्सः। श० ११।३। १।१॥ 'जरायु'—शणा जरायु। श० ६।६।२।१५॥ यत्र वा प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वा तस्माद्यज्ञात्तस्य यन्नेदिष्ठमुल्बमासीत् ते शणाः स्तस्मात्ते पूतयो भवन्ति। श० ३।२।१।११॥ 'पीयूष', पयः पीयूषं। यजु० ॥ रसो वै पयः श० ४।४।४।८॥ आपोहि पयः। कौ० ५।४॥ सौर्यं पयः। तै०३।९।१७।४॥ जागतमयनं भवति। तां० १३।४।१०॥ वायव्यं पयो भवति। श०२।६।२।६॥ 'आमिक्षा'—आण्डस्य वा एतद्रूपं यदामिक्षा। तै० १।६।२।४॥ 'घृतम्' एतद्वा अग्नेः प्रियं धाम यद् घृतम्। तै० १।१।९।६॥ उल्वं घृतम्। श० ६।६। २।१५॥ घृतमन्तरिक्षस्य रूपम्। श० ७।५।१।३॥

वायु 'वत्स' है, ब्रह्म का 'वत्स' अग्नि है। अध्यात्म में मन आत्मा का वत्स है। अथवा प्रकृति का विकृत रूप अहंकार वत्स है। 'जरायु और शणा' वह पदार्थ है जिस में यज्ञमय प्रभु स्वयं हिरण्यगर्भ या विराड् रूप से प्रथम प्रजापति रूप में प्रकट हुआ। 'पीयूष' व 'रस' 'आपः' या सौर्य रस हैं जिनसे अनेक लोकों की रचना हुई है। वह जगत् का मूलकारण है। वह वायुरूप है। 'आमिक्षा' हिरण्यगर्भ के घटक पदार्थ का नाम है। 'घृत' अग्नि का प्रिय तेज है, या हिरण्यगर्भ का

आवरण है। यह अन्तरिक्ष का रूप है। इस प्रकार प्राचीन परिभाषाओं का स्पष्टीकरण जानना चाहिये।

देवानां भाग उपनाह एषो॒ऽपां रस ओषधीनां घृतस्य।

सोमस्य भक्षमवृणीत शक्रो बृहन्नद्रिरभवद् यच्छरीरम् ॥ ५ ॥

भा०—(एषः) यह पूर्वोक्त ऋषभ नाम से कहा गया ईश्वर ही (देवानाम्) समस्त देवों का (भागः) भजन करने योग्य, आश्रय स्थान और (उपनाहः) अति समीपतम होकर उनको परस्पर बांधकर वश करने वाले, उनमें पिरोये सूत्र के समान है। और वही (अपां रसः) सूक्ष्म 'आपः' रूप परम प्रकृति के परमाणुओं का सूक्ष्म रस उनके भीतर उनको भी धारण करनेहारा शक्तिरूप होकर उनमें भी व्यापक है। और वही (ओषधीनां रसः) ओषधियों, दिव्य शक्तियों अथवा आग्नमय रेतस् पदार्थ के धारण करने वाले सूर्यों और (घृतस्य रसः) स्वतः तेजस् द्रव्य के परम-रूप का भी स्वयं धारण करनेहारा 'रस' रूप है। वही (शक्रः) सर्व शक्तिमान् होकर (सोमस्य) उत्पन्न इस जगत् के या जीव संसार के (भक्षम्) प्राण को (अवृणीत) वश किये हुए है। और (यत्) जो स्वयं (शरीरम्) सबका आश्रय होकर (बृहत्) सबसे महान् (अद्रिः) अखण्ड, सबको अपने में ग्रस लेने वाला, संहारकारी (अभवत्) होता है।

(१) 'अपां रसः'—'स्वधायै त्वेति रसाय त्वेत्येवैतद् आह' अर्थात् [स्वधा=रसः] इति श० ५।४।२।९॥ (२) 'ओषधयः'—जगत्यः ओषधयः। श० १।२।२।२॥ ओषधयो वै देवानां पत्न्यः। श० ६।५।४।४॥

५–(प्र०) 'देवानामेष उपनाह आसीत्' अपां गर्भ ओषधीषु न्यक्तः। सोमस्यद्रप्सं मवृणीत पूषा बृहन्नद्रिरभवत् यत्तदेषाम्' इति तै०सं०। तत्र (द्वि०) 'अपां पतिर्वृषभ ओषधीनाम्' (च०) 'यत्तदासीत्' इति विशेषो। मै० सं०।

प्रजापतिस्तां आहुतिं अग्नौ व्यौक्षत् ओषं धयेति । ततः ओषधयः समभवन् तस्मादोषधयो नाम । श० २।२।४।५॥ (३) 'सोमः'—स्वा वै मे एषा [मूर्त्तिः] इति तस्मात् सोमो नाम । श० ३।९।४।२२॥ (४) 'भक्षम्'—प्राणो वै भक्षः । श० ४।२।१।२९॥ (५) 'शरीरम्'—अथ यत् सर्वमस्मिन्नश्रयन्त तस्माद् उ शरीरम् । श० ६।१।१।४॥

(१) रस का अर्थ स्वधा है अर्थात् स्वयं धारण करने हारा । (२) देव, दिव्य पदार्थों की शक्तियां ओषधि कहाती हैं, जिनमें परमात्मा ने अग्नि पदार्थ स्थापित किया है वे सूर्य आदि पदार्थ जगती, सौरमण्डल आदि 'ओषधि' शब्द से कहे जाते हैं। (३) प्रजापति का अपना व्यक्त शरीर जगत् सोम है। (४) भक्ष प्राण का नाम है। (५) वह इस समस्त जगत् का आश्रय है अतः परमात्मा 'शरीर' कहाता है।

सोमे॑न पू॒र्णं क॒लशं॑ बिभर्षि॒ त्वष्टा॑ रू॒पाणां॑ जनि॒ता प॑शू॒नाम् ।
शि॒वास्ते॑ सन्तु प्रज॒न्व/ इ॒ह या इ॒मा न्य१॒॑स्मभ्यं॑ स्वधिते यच्छ॒ या अ॒मूः ॥ ६ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! तू (सोमेन) संसार को उत्पन्न करने वाले सामर्थ्य जीवनरस, वीर्य एवं अमृत से (पूर्णम्) पूर्ण (कलशम्)[1] कलश के समान ब्रह्माण्ड अथवा गतिशील जगत् को (बिभर्षि) धारण और पोषण करता है। तू (रूपाणाम्) नाना रोचमान, तेजस्वी पदार्थों को और नाना जीव जन्तुओं के लक्षों रूपों को (त्वष्टा) बनाने वाला और (पशूनाम्) समस्त जीवों का (जनिता) उत्पादक है। (ते) तेरी (इह) इस लोक में (याः) जितनी (प्रजन्वः) प्रजाएं हैं अथवा उत्पादक शक्तियां हैं वे (शिवाः) कल्याणकारिणी (सन्तु) हों, और हे (स्वधिते) स्वयं

६—'सोमस्य पूर्णं' इति पैप्प० सं० ॥

१. कलगतौ इत्यस्मात् 'अशच्' ।

समस्त जगत् को धारण करनेहारे ! और (याः अमूः) जो वे दूरस्थ तेरी उत्पादक शक्तियां हैं उनको भी (अस्मभ्यम्) हमारे हित के लिये (नि यच्छ) नियम में चला। पशुओं का पालन, उत्पादन, प्रजावर्धन आदि शक्तियां इस लोक के मनुष्य के समीप और वश में भी हो सकती हैं। वे सब कल्याणकारिणी हैं, परन्तु उसके वश से बाहर, सृष्टियों का उत्पन्न होना, ऋतुओं का परिवर्त्तन, धूमकेतुओं का उदय, ग्रहों का संचालन, विद्युतों का प्रपात आदि दैवी शक्तियों को प्रभु नियम में रक्खे। वे उपद्रव कारी न हों।

इस मन्त्र का योरोप के पण्डितों का किया अर्थ बड़ा हास्यास्पद है।

आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः।
इन्द्रस्य रूपमृषभो वसानः सो अस्मान् देवाः शिव एतु दत्तः॥७॥

भा०—(अस्य) इस साक्षात् परमेश्वर का (घृतम्) अति देदीप्यमान (रेतः) उत्पादक वीर्य (आज्यं) आज्य=समस्त देवशब्द वाच्य दिव्य पदार्थों को या प्राणों को (बिभर्त्ति) धारण करता है और उनको पुष्ट करता है। वह स्वयं (साहस्रः पोषः) सहस्रों, अनन्त लोकों का सहस्रों प्रकार से पोषक है। (तम् उ) उस परमात्मा को ही (यज्ञम्) 'यज्ञ' प्रजापति, परम पुरुष महान् आत्मा (आहुः) बतलाते हैं। हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! वह (ऋषभः) सर्वश्रेष्ठ, सर्वद्रष्टा, प्रभु (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (रूपम्) पद को (वसानः) धारण करता हुआ (दत्तः) सब पदार्थों का देनेहारा (शिवः) कल्याणमय (अस्मान्) हमें (आ एतु) साक्षात् प्राप्त हो।

(१) 'आज्यम्' एषा हि विश्वेषां देवानां तनूः यदाज्यम्। तै० ३।२। ४।६॥ प्राणो वा आज्यम्। तै० ३।८।१५।२॥ दत्त—इति कर्त्तरि क्तः।

७—(द्वि०) 'सहस्रपाष', (च०) 'अस्मा देवाः शिवैतु' इति पैप्प०।

इन्द्रस्यौजो वरुणस्य बाहू अश्विनोरंसौ मरुतामियं ककुत् ।
बृहस्पतिं संभृतमेतमाहुर्ये धीरासः कवयो ये मनीषिणः ॥ ८ ॥

भा०—(ये) जो (धीरासः) ध्यान योगी, (कवयः) क्रान्तदर्शी, मेधावी, (मनीषिणः) मननशील, विद्वान् ऋषि हैं वे (बृहस्पतिम्) बृहत् बड़े २ लोकों के स्वामी प्रभु को (एतम्) इस रूप से (संभृतम्) कल्पना किया गया या बलसम्पन्न हुआ (आहुः) उपदेश करते हैं कि इस वृषभ के रूप में (ओजः) बल वीर्य तो (इन्द्रस्य) इन्द्र का बना है (बाहू) बाहुएं (वरुणस्य) वरुण की, (असौ) कन्धे (अश्विनोः) अश्विदेव अर्थात् दिन रात्रि के बने हैं (ककुत्) कोहान का भाग (मरुताम्) मरुद्गण प्राणों और वायुओं का बना है ।

दैवीर्विशः पयस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वां सरस्वन्तमाहुः ।
सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ ९ ॥

भा०—हे ऋषभ! परमेश्वर! तू (पयस्वान्) आनन्दमय, पोषक, अन्नरस या वीर्य से सम्पन्न होकर (दैवीः) दिव्य गुणवाली (विशः) प्रजाओं को (आतनोषि) बढ़ाता है । विद्वान् लोग (त्वां) तुझको (इन्द्रम् आहुः) इन्द्र, परमेश्वर कहते हैं और (त्वाम्) तुझको (सरस्वान्) 'सरस्वान्' अपार रससागर कहते हैं । (यः) जो (ब्राह्मणः) ब्राह्मण वेद का विद्वान् (ऋषभम्) 'ऋषभ रूप' परमेश्वर के ज्ञान रहस्य को (आजुहोति) प्रदान करता है (सः) वह (सहस्रम्) हजारों (एक मुखाः) एक परमेश्वर के ही मुख्य विषय को प्रतिपादन करने वाली वेद-वाणियों का (ददाति) उपदेश करता है । अर्थात् उस परमात्मा के ज्ञान प्रदान करने के प्रसंग में वह सहस्रों ऋचाओं का व्याख्यान कर देता है ।

गौणवृत्ति से—जो वेदज्ञ विद्वान् के वश होकर एक सांड को धर्मार्थ छोड़ देता है वह मानो सहस्रों गौएं प्रदान करता है । परमात्मा परक यह

'ऋषभ' शब्द है इसके अनुकरण में वृषभोत्सर्ग का वैदिक कर्मकाण्ड खुलता है। जो सम्बन्ध ईश्वर रूप वृषभ का वेदवाणियों से है वही सम्बन्ध सांड का गौओं से हैं। जैसा उपनिषदों में कहा है—

यच्छन्दसां वृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्
संबभूव। समे इन्द्रो मेधया स्पृणोतु। तै० उप० १।४॥

बृहस्पतिः सविता ते वयो दधौ त्वष्टुर्वायोः पर्यात्मा त आभृतः।
अन्तरिक्षे मनसा त्वा जुहोमि बर्हिष्टे द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥१०॥ ६

भा०—हे परमेश्वर ! (ते वयः) तेरे जीवनमय सामर्थ्य को (बृहस्पतिः) बड़े २ लोकों का पालक (सविता) सूर्य (दधौ) धारण करता है। (ते) तेरा (आत्मा) देह (त्वष्टुः वायोः परि आभृतः) सब के उत्पादक, एवं जीवनप्रद वायु के द्वारा व्याप्त है। (अन्तरिक्षे) इस महान् अन्तरिक्ष आकाश में (त्वा) तुझसे (मनसा) अपने मानस संकल्प द्वारा (जुहोमि) अर्पित करता हूं, कल्पित करता हूं कि (द्यावापृथिवी) ये द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमि (उभे) दोनों (ते) तेरे लिये (बर्हिः) व्याप्त होने के लिये हैं, तेरे आसन रूप हैं।

ऋषभ परमेश्वर के अंगों का वर्णन।

य इन्द्र इव देवेषु गोष्वेति विवावदत्।
तस्य ऋषभस्याङ्गानि ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया ॥ ११ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (देवेषु) देव अर्थात् प्राणों में (इन्द्र इव) आत्मा के (गोषु) वेदवाणियों (विवावदत्) नाना प्रकार के ज्ञानोपदेश करता हुआ (एति) स्वयं विराजमान है (तस्य) उस महान् (वृष-

१०–(प्र०) 'सविता ते मनोदधौ' इति पैप्प० सं०।
११–'य ऐन्द्रीव' इति पैप्प० सं०।

मस्य) ऋषभ, परमेश्वर के (अंगानि) अंगों का (ब्रह्मा) चतुर्वेद वक्ता पुरुष (भद्रया) कल्याणमयी वेदवाणी द्वारा (सं स्तौतु) उत्तम रीति से वर्णन करे।

पार्श्वे आस्तामनुमत्या भगस्यास्तामनूवृजौ ।
अष्ठीवन्तावब्रवीन्मित्रो ममैतौ केवलाविति ॥ १२ ॥

भा०—उस महान् परमेश्वर के (पार्श्वे) दोनों पार्श्व, पासे (अनुमत्याः) अनुमति, द्यौ के कल्पित (आस्ताम्) हैं। और (अनुवृजौ) पसुलियों के दोनों भाग (भगस्य) भग, सूर्य के हैं (मित्रः) मित्र=वायु (अब्रवीत्) कहता है कि (अष्ठीवन्तौ) अस्थि के बने दोनों घुटने (एतौ) ये दोनों (केवलौ मम) मेरे बने हुए या कल्पित हैं।

भसदासीदादित्यानां श्रोणी आस्तां बृहस्पतेः ।
पुच्छं वातस्य देवस्य तेन धूनोत्योषधीः ॥ १३ ॥

भा०— (भसत्) प्रजनन भाग (आदित्यानाम्) आदित्य, १२ मासों का कल्पित किया गया है और (श्रोणी) कटि के दोनों भाग (बृहस्पतेः) बृहस्पति अग्नि के (आस्तां) कल्पित किये हैं। (पुच्छं वातस्य देवस्य) पुच्छ भाग वात, वायु देव का कल्पित है। (तेन) उससे वह (ओषधीः) ओषधि अर्थात् अग्निमय समस्त लोकों को (धूनोति) निरन्तर चला रहा है।

गुदा आसन्त्सिनीवाल्याः सूर्यायास्त्वचमब्रुवन् ।
उत्थातुरब्रुवन् पद ऋषभं यदकल्पयन् ॥ १४ ॥

१२–(प्र०) 'पार्श्वयास्ता' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'अष्ठीवन्ताऽब्रवी' इति हेनरिकामितः पाठः।

१३–(द्वि०) 'श्रोण्यास्ताम्' इति पैप्प० सं०।

१४–(प्र०) 'गुदा सन्' (च०) 'यदो यद्वृषभं व्यकल्पन्' इति पैप्प० सं०।

भा०—(सिनीवाल्याः) सिनीवाली अर्थात् रात्रि के (गुदाः आसन्) गुदा भाग कल्पित हैं, (त्वचम् सूर्यायाः अब्रुवन्) विद्वान् लोग सूर्या उषा को उसकी त्वचा बतलाते हैं। (यत्) जब विद्वान् लोगों ने परमेश्वर के स्वरूप की (ऋषभम्) ऋषभ रूप से (अकल्पयत्) कल्पना की तब (उत्थातुः) उत्थाता अर्थात् प्राण को (पदः) उसके पद (अब्रुवन्) बतलाया।

क्रोड आसीज्जामिशंसस्य सोमस्य कुलशो धृतः।
देवाः संगत्य यत् सर्वं ऋषभं व्यकल्पयन् ॥ १५ ॥

भा०—वह परमात्मा (जामिशंसस्य) सब जगत् को उत्पन्न करने वाली माता कहने वाले भक्त के लिये वह (क्रोड आसीत्) माता की गोद ही है। और मानो वह स्वयं (सोमस्य) सोम, आनन्द रस का (कलशः) पूर्ण कलश (धृतः) माना गया है। (देवाः) विद्वान् लोग (यत्) भी (सर्वे) सब (संगत्य) नाना प्रकार से संगति लगाकर (ऋषभं) उस महान् परमेश्वर को (वि अकल्पयन्) विविध प्रकार से कल्पना कर लेते हैं। अथवा (सर्वे देवाः) समस्त दिव्य पदार्थ ही (संगत्य) विविध परस्पर मिलकर स्वयं (ऋषभम्) उस महान् पुरुष को (वि अकल्पयन्) रूपों से कल्पित कर रहे हैंअर्थात् वे ही उसके अंग प्रत्यंग बना रहे हैं।

'जामिशंस' जाम् अपत्यं जायते अस्याम् इति जामिर्माता। जामि इति शंसति स 'जामिशंसः', मातृपदेन भाषमाणो जनः।

ते कुष्ठिकाः सुरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान्।
ऊवध्यमस्य कीटेभ्यः श्ववर्तेभ्यो अधारयन् ॥ १६ ॥

भा०—(ते) वे विद्वान् जन (कुष्ठिकाः) प्रजापति की कुष्ठियों,

१६–(च०) 'शवर्त्तेभ्यां, शशात्रर्त्तेभ्यो, शवर्त्तेभ्यो', इत्यादयः क्वचित् पाठः। शिवरभ्यो इति पैप्प० सं०।

सुमों को (संरमायै) सरमा कुत्तों की जाति रूप से कल्पना करते हैं, (शफान्) और वृषभ, प्रजापति के खुर भागों को (कूर्मेभ्यः) कछुआ रूप से (अदधुः) कल्पना करते हैं, (श्वर्त्तेभ्यः) एक दो दिन जीने वाली (कीटेभ्यः) समस्त कोमल कीटों को (अस्य) उसका (ऊवध्यम्) अपक्क भोजन (अधारयन्) कल्पित किया।

'श्वर्त्तेभ्यः कीटेभ्यः' 'श्व-वर्त्त' अर्थात् कलतक विद्यमान, एक दिन तक जीने वाले क्षुद्र प्राणी।

शृङ्गा॑भ्यां॒ रक्ष॑ ऋष॒त्यव॑र्तिं हन्ति॒ चक्षु॑षा ।
शृ॒णोति॑ भ॒द्रं कर्णा॑भ्यां॒ गवां॒ यः पति॑र॒घ्न्यः ॥ १७ ॥

भा०—(यः) जो (गवां पतिः) गौ=वेदवाणियों और पृथ्वी आदि लोकों का (अघ्न्यः पतिः) अविनाशी, स्वामी, परमात्मा है वह (शृङ्गाभ्यां) सींगों के समान तीक्ष्ण व्यक्त, अव्यक्त दोनों प्रकार के साधनों से (रक्षः) पीड़कों को (ऋषति) मारता है और (चक्षुषा) अपने सूर्य समान दिव्य तेजोमय चक्षुके निमेष उन्मेष से ही (अवर्तिम्) असत्, अविद्यमान अभाव पदार्थ को (हन्ति) विनाश करता और सत् पदार्थों को उत्पन्न करता है। वह (कर्णाभ्यां) कानों से सदा (भद्रम्) कल्याणकारी वचनों को (शृणोति) सुन लेता है।

श॒त॒या॒जं स य॑जते॒ नैनं॑ दुन्वन्त्य॒ग्नयः॑ ।
जिन्व॑न्ति॒ विश्वे॒ तं दे॒वा यो ब्रा॑ह्म॒ण ऋ॑ष॒भमा॑जु॒होति॑ ॥१८॥

भा०—(यः) जो पुरुष (ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्म के जानने वाले विद्वान् को साक्षी रख कर (ऋषभम्) महान् परमेश्वर का (आजुहोति) यज्ञ करता है (सः) वह मानो (शतयाजम् यजते) सैकड़ों यज्ञ करता है

१७–(प्र०) शृङ्गाभ्यारक्षरिपद् रातीं इति पैप्प० सं० ।

१८–'जिन्वन्निसर्वे' इति पैप्प० सं० ।

(एनम्) उसको (अग्नयः) अग्नियें संतापकारी पदार्थ (न दुन्वन्ति) दुःख नहीं देते । (तम्) उसको (विश्वे देवाः) समस्त देवगण, विद्वान् और दिव्य पदार्थ अग्नि, जल आदि (जिन्वन्ति) तृप्त या प्रसन्न करते हैं ।

ऋषभ दान करने का उपदेश ।

ब्राह्मणेभ्यं ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः ।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेव पश्यते ॥ १६ ॥

भा०—यजमान पुरुष (ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्म को जानने हारे विद्वान् पुरुषों को उस प्रजापति के प्रतिनिधि भूत इस गोपति (ऋषभम्) वृषभ का (दत्त्वा) दान देकर भी अपने (मनः) चित्त को (वरीयः) विशाल (कृणुते) कर लेता है । और (सः) वही (स्वे गोष्ठे) अपने गोशाला में (अघ्न्यायां) गौवों को (पुष्टिं) वृद्धि ही (अव पश्यते) पाता है ।

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनू बलम् ।
तत् सर्वमनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने ॥ २० ॥

भा०—(गावः सन्तु) हमारे पास गौवें हों, (प्रजाः सन्तु) प्रजा, सन्तानें हों, (अथो) और (तनू बलम् अस्तु) शरीर में बल हो । (देवाः) विद्वान् हितकारी लोग (ऋषभदायिने) महा वृषभ का दान करने वाले के लिये (तत् सर्वम्) गौ, प्रजा और बल सब को प्राप्त करने के लिये (अनु-न्यन्ताम्) अनुमति दें, उनको प्राप्त करने का आशीर्वाद दें और उसके उपाय दर्शावें ।

अयं पिपान इन्द्र इद् रयिं दधातु चेतनीम् ।

१६–(प्र०) 'ब्राह्मणाय वृषभ' (च०) 'गोष्ठ विपश्यतु' इति पैप्प० सं० ।
२०–(तृ०) 'सर्व तदनु' इति पैप्प० सं० ।

अयं धेनुं सुदुघां नित्यवत्सां वशं विपश्चितं परो दिवः ॥ २१ ॥

भा०—(अयम्) यह (पिपानः) अति विशाल काय महावृषभ (इन्द्र इव) साक्षात् इन्द्र ही है । वह हमें (चेतनीम्) चेतना-सम्पन्न, जीती जागती (रयिम्) सम्पत्ति पशुधन और अन्न धन और चेतना और प्राणसम्पत्ति का (दधातु) प्रदान करे । (अयम्) वह (नित्यवत्साम्) नित्य मनो रूप वत्स सहित (सुदुघाम्) उत्तम आनन्द रस देने वाले, सुख से दोहने योग्य (धेनुं) चिति शक्ति रूप गौ को और (वशम्) वशी, जितेन्द्रिय (विपश्चितम्) मेधावी पुरुष को पूर्ण करे ।

पिशङ्गरूपो नभसो वयोधा ऐन्द्रः शुष्मो विश्वरूपो न आगन् ।
आयुरस्मभ्यं प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचताम् ॥ २२ ॥

भा०—वह महावृषभ रूप महान् परमात्मा (ऐन्द्रः) साक्षात् स्वयं इन्द्र ऐश्वर्यवान्, परमेश्वर (शुष्मः) शक्तिमान् (विश्वरूपः) समस्त जगत् में व्यापक (नभसः) महान् आकाश के (वयोधाः) गतिशील आकाशी तारों, सूर्यों को धारण करने वाला (पिशङ्गरूपः) अग्नि के समान तेजोमय, परम भास्वरस्वरूप (अस्मभ्यम्) हमें (आयुः) आयु (दधत्) प्रदान करे और (प्रजां च) प्रजा (रायश्च) नाना सम्पत्तियां और (पोषैः) पुष्टिकारक पदार्थों सहित (नः) हमें (अभि सचताम्) प्राप्त हो । सांड के पक्ष में—पीला बैल (इन्द्रः) इन्द्र ईश्वर के नाम पर (शुष्मः) बलवान् हमें प्राप्त हो । वह हमें प्रजा धन पुष्टिकारक अन्न आदि प्रदान करे ।

उपेहोपपर्चनास्मिन् गोष्ठ उप पृञ्च नः ।

२१–(प्र० द्वि०) 'अय पियाना इन्द्रियं गर्यं बिभर्ति तेजनी ।' (च०) विपश्यतं परोदिवः' इति पैप्प० सं० ।

उप॑ ऋ॒ष॒भस्य॒ यद् रेत॒ उपे॑न्द्र॒ तव॑ वी॒र्य॑म् ॥ २३ ॥

ऋ० ६ । २८ । ८ ॥

भा०—जिस प्रकार पशुशाला में गोपाल चाहता है कि सांड गोशाला में आकर गौओं को गर्भित करे उसी प्रकार हे (उपपर्चन) अति समीप हम से अनन्यभाव से सम्पृक्त सदा के संगी परमात्मन् ! (इह) इस अन्तःकरण में (उप) तुम सदा निवास करते हो (अस्मिन्) इस (गोष्ठे) गौ इन्द्रियों के स्थिति स्थान, देह या अन्तःकरण में (नः) हमें सदा (उप पृञ्च) प्राप्त हो। (ऋषभस्य) उस व्यापक महा वृषभ और इस वृषभ सांड का (यत्) जो भी (रेतः) तेज या वीर्य उत्पादन सामर्थ्य है हे (इन्द्र) परमेश्वर (उप) साक्षात् वह (तव वीर्यम्) तेरा ही बल है।

ए॒तं वो॒ युवा॑नं॒ प्रति॑ दध्मो॒ अत्र॒ तेन॒ क्रीड॑न्तीश्चरत॒ वशाँ॒ अनु॑ ।

मा नो॑ हासिष्ट ज॒नुषा॑ सुभागा रा॒यश्च॒ पोषै॑र॒भि वः॑ सचध्वम् २४॥१०

भा०—इस उपरोक्त पवित्र भावना से प्रजा के हित के लिये वृषभ का उत्सर्ग हो। और (एतम्) इस (युवानम्) जवान, हट्टे कट्टे सांड को (प्रति दध्मः) प्रत्येक के हित के लिये रखते हैं। (अत्र) इस लोक में हे गौओ ! (वशान् अनु) तुम अपनी इच्छाओं के अनुसार (तेन) उस सांड के साथ (क्रीडन्तीः) क्रीड़ा करती हुई (चरत) विचरो, विहार करो। हे (सुभागाः) सौभाग्य युक्त गौओ ! आप (जनुषा) पुत्रोत्पादन या सन्तानोत्पादन के कार्य से (नः) हमें (मा विहासिष्ट)

२३-(द्वि०) 'गोष्ठो ।श्वनः' इति ह्विटनिकामितः पाठः॥ "उवेदमुपपर्चन मासु गोषूपपृच्यताम् । उप ऋषभस्य रतस्युपेन्द्र तव वीर्ये ' इति ऋ०।

२४-(प्र०) एतं युवान परिबोददामि (द्वि०) 'चरत प्रियेण', (तृ०) 'मानोशाप्त' । (च०) 'रायः पोषेण समिषामदेम' इति तै० सं० ।

त्याग कभी मत करो और रूब वच्चों को जनों और हमारी सम्पत्ति बढ़ाओ । और (रायः च) बहुत से धन धान्य हमें (पोषैः) पुष्टिकारक दूध, घी, अन्न आदि पदार्थों सहित (नः सचन्ताम्) हमें प्राप्त हों ।

इस सूक्त में वेद ने सांड की महिमा के साथ ईश्वर की महिमा का वर्णन किया और उसके समान उसका प्रतिनिधि सांड को बतला कर महावृषके उत्सर्ग करके पशु धन धान्य आदि प्राप्त करने का उपदेश किया है ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वे सूक्ते, ऋचश्च पञ्च पञ्चाशत्]



[५] अज के दृष्टान्त से पञ्चौदन आत्मा का वर्णन ।

भृगुर्ऋषिः । अजः पञ्चोदनो देवता । १, २, ५, ६, १२, १३, १५, १६, २५, त्रिष्टुभः, ३ चतुष्पात् पुरोऽति शक्वरी जगती, ४, १० जगत्यौ, १४, १७, २७, ३०, अनुष्टुभः, ३० ककुम्मती, २३ पुर उष्णिक्, १९ त्रिपाद अनुष्टुप्, १८, ३७ त्रिपाद विराड् गायत्री, २४ पञ्चपदाऽनुष्टुबुष्णिग्गर्भो-परिष्टाद्बार्हता विराड् जगती २०-२२, २६ पञ्चपदाउष्णिग् गर्भोपरिष्टाद्बार्हता भुरिजः, ३१ सप्तपदा अष्टिः, ३३-३५ दशपदाः प्रकृतयः, ३६ दशपदा प्रकृतिः, ३८ एकावसाना द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्, अष्टात्रिंशदर्चं सूक्तम् ॥

आ न॑यै॒तमा र॑भस्व सु॒कृतां॑ लो॒कमपि॑ गच्छतु प्रजा॒नन् ।
ती॒र्त्वा तमां॑सि बहु॒धा म॒हान्त्य॒जो नाक॒मा क्र॑मतां तृ॒तीय॑म् ॥१॥

भा०—हे पुरुष ! (आनय) इस जीवात्मा को वश करके सन्मार्ग पर ले चल । (एतम् आरभस्व) इस व्रत, वानप्रस्थ को आरम्भ कर । तेरा आत्मा (सुकृताम्) पुण्य करने हारे महा पुरुषों के (लोकम् अपि)

[५] १-(तृ०) बहुधा विपश्यन् इति पैप्प० सं० ।

लोक को भी (प्रजानन्) उत्कृष्ट, ज्ञान सम्पन्न होकर (गच्छतु) प्राप्त हो । और वह आत्मा (बहुधा) बहुत तरह के (महान्ति) बड़े बड़े (तमांसि) अज्ञानों को, शोक, मोह, लोभ, काम, क्रोध आदि को (तीर्त्वा) पार करके (अजः) स्वयं अपने को अजन्मा, नित्य जान कर (तृतीयम्) तृतीय, तीर्णतम, इन सब विघ्न बाधाओं से बहुत परे स्थित (नाकम्) सुखमय मोक्षधाम में भी (आक्रमताम्) जाय ।

'उभे तीर्त्वा अशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।' क० उप० १ । १२ ॥ 'महान्ति तमांसि'—बड़े भारी अन्धकारमय मृत्यु के पास, जैसे—स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्ग लोके ।' कठ० उप १ । १८ ॥

'नाकम्'—स्वर्गो वै लोको नाकः । श० ६।३।३।१४॥ तम् (त्रयस्त्रिंशं स्तोमं) उ नाकमित्याहुः । नहि प्रजापतिः कस्मैचन अकम् । तां० १०।१।१८॥ नहि तत्र जग्मुषे कस्मै च न आकं भवति । तां० २१।८।४॥नाकः स्वर्ग लोक है । वह ही ३३ वां देव प्रजापति स्वयं है । प्रजापति किसी के दुःख का कारण नहीं है । उस 'नाक' प्रजापति प्रभु के पास जाने वाले किसी को दुःख नहीं होता। 'तमांसि'—मृत्युर्वै तमः। श० ५।३।२।२॥ 'पाप्मा वै तमः' श० १२।९।२।८॥ पं० शंकर पाण्डुरंग ने इस सूक्त का विनियोग पञ्चौदन सव में बकरे को बलि करने, मारने उसको मार कर स्वर्ग पहुँचाने के निमित्त किया है ।

इन्द्राय भागं परि त्वा नयाम्यस्मिन् यज्ञे यजमानाय सूरिम् ।
ये नो द्विषन्त्यनु तान् रभस्वानागसो यजमानस्य वीराः ॥ २ ॥

भा०—(अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ में (त्वाम्) तुझ (सूरिम्) पाप आदि दोषों को तप से नष्ट कर देने वाले विद्वान् तपस्वी (भागम्)

२–(प्र०) 'इन्द्राय भागं शमिता कृणोत्वं यज्ञ यज्ञपतिश्चसूरिः । (च०) अरिष्टा वीरा यजमानश्च सर्वे । इति पैप्प० सं० ।

ईश्वर का सेवन करने वाले पुरुष को (इन्द्राय) ऐश्वर्यशील (यजमानाय) समस्त यज्ञसम्पादन करने वाले के लिये (परि नयामि) प्रस्तुत करता हूँ। हे तपोनिष्ठ आत्मन्! (नः) हमें (ये) जो (द्विपन्ति) द्वेष भी करते हों तू (तान्) उन को भी (अनु रभस्व) अनुकूल होकर, तू उन्हें प्राप्त कर, उनके भी समीप जा। जिससे (यजमानस्य) सब को संगति कराने वाले परमेश्वर के (वीराः) पुत्र सभी (अनागसः) पाप रहित, निरपराध हों।

प्र पदोऽवं नेनिग्धि दुश्चरितं यच्चचार शुद्धैः शफैरा क्रमतां प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा विपश्यन्नजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥३॥

भा०—हे पुरुष! (पदः) चरणों को (प्र अव नेनिग्धि) भली प्रकार धो डाल अर्थात् (यत् दुश्चरितं चचार) जो तूने दुष्ट आचरण किया है उसे धो डाल। फिर (शुद्धैः) शुद्ध निर्मल (शफैः) आचरणों से (अजः) अजन्मा, आत्मा (प्रजानन्) ज्ञानवान् होकर (आक्रमताम्) आगे बढ़े। और फिर (बहुधा) बहुत से (तमांसि) पापों और मृत्यु के शोक आदि अन्धकारों को (तीर्त्वा) पार करके (विपश्यन्) विशेष रूप से ब्रह्म का दर्शन करता हुआ विवेकी होकर (अजः) अज, आत्मा (तृतीयम्) शोक मोह आदि से पार स्थित (नाकम्) आनन्दमय परम मोक्ष पद को (अक्रमताम्) प्राप्त हो।

अनु च्छ्य श्यामेन त्वचमेतां विशस्तर्यथापर्वसिना माभि मंस्थाः।
माभि द्रुहः परुशः कल्पयैनं तृतीये नाके अधि वि श्रयैनम् ॥४॥

भा०—हे (वि-शस्तः) विशेष रूप से ब्रह्म के उपदेश करने हारे

३–(तृ०, च०) 'ते ज्योतिष्मन्तः सुकृताल्लोकमीप्सन् तृतीये नाकेऽधि-विक्रमस्व' इति पैप्प० सं०।

४–(च०) 'सुकृतां मध्ये अधि विश्रयेमम्' इति पैप्प० सं०।

गुरो ! पुरुष ! अथवा अपने कर्म बन्धनों को काटने में उद्यत ! (एताम्) इस (त्वचम्) आत्मा को ढकने वाली आवरण रूप तामस अविद्यारूप त्वचा को (श्यामेन) ज्ञानमय (असिना) सत् प्रकाश से (यथा-परु) यथाशक्ति (अनुच्छ्य) काट डाल । उतने पर भी स्वयं निष्पाप निर्बन्ध, मुक्त होकर लोकलोकान्तरों में स्वतन्त्र होकर विचरने का अधिकारी होने या उच्च पद प्राप्ति के लिये (मा अभि मंस्थाः) अभिमान मत कर । और (मा अभिद्रुहः) किसी से द्रोह या द्वेष मत कर । प्रत्युत (एनम्) इस आत्मा के (परुषः) प्रत्येक अंग को प्रत्येक पर्व या शक्ति के भाग को (कल्पय) साधननिष्ठ एवं समर्थ, शक्तिमान् बना । और तब (एनम्) इसको (तृतीये) सब दुःखों से पार स्थित (नाके) परम सुखमय पद में (अधि विश्रय) स्थापित कर ।

ऋचा कुम्भीमध्यग्नौ श्रयाम्या सिञ्चोदकमव धेह्येनम् ।
पर्याधत्ताग्निना शमितारः शृतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः ॥५॥

भा०—(अग्नौ) जिस प्रकार अग्नि पर (कुम्भीम्) डेगची रख कर उसे तपाया जाता है उस प्रकार मैं ज्ञान का पिपासु और मुमुक्षु (ऋचा) ज्ञान की अग्नि द्वारा अपने आप को (अग्नौ) ज्ञानाग्निमय परमात्मा या गुरु के ऊपर रख उस को (अधि श्रयामि) परिपाक करता हूं । हे गुरो ! परम ब्रह्मन् ! (उदकम्) जिस प्रकार तपी हांडी में जल डाला जाता है उसी प्रकार मुझ परितप्त, तपस्वी जिज्ञासु में ज्ञानरूप या 'उत्-अरु' उत्तमगति या परम सुख प्राप्ति के उपायभूत ब्रह्मोपदेश को (आसिञ्च) प्रदान कर मुझ में प्रवाहित कर । गुरु इस प्रकार जिज्ञासु के तप से प्रसन्न होकर योग्य पात्र जान कर प्रेम से ब्रह्मचारी, तपस्वी और जितेन्द्रिय, शान्तचित्त के प्रति उपदेश करे । हे प्रिय तपस्विन् !

५—(प्र०) भूम्यां भूमिम् अधि धारया आसिञ्चोदकमभिधेह्येनं इति पैप्प० सं० ।

(एनम्) उस पूर्वोक्त आत्मा का (अवधेहि) सावधान होकर ज्ञानकर "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च ।" "तद् विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" इत्यादि उप० । इस प्रकार जब एक गुरु से ज्ञान प्राप्त करे तब 'तीर्थात् तीर्थान्तरं व्रजेत्' इस न्याय से क्रम से बहुत से ब्रह्म-ज्ञानियों से ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करे। उनसे कहे—हे (शमितारः) शम दमादि गुणों से सम्पन्न गुरुजनो ! (अग्निना) उस ज्ञानमय ब्रह्म से या प्रकाश स्वरूप ब्रह्मज्ञान से (पर्याधत्त) मुझे युक्त करो, मुझ में ब्रह्माग्नि का स्थापन करो । इस प्रकार (श्रतः) तपस्या में परिपक्व होकर तपस्वी पुरुष (यत्र) जहां (सुकृताम्) उत्तम ब्रह्मज्ञानी, कृतकृत्य तपस्वी महात्माओं का (लोकः) निवास हो वहां ही (गच्छतु) जावे और उनसे ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करे ।

उत्क्रा॑मा॒तः परि॑ चेद॒तं॑प्तस्त॒प्ताच्च॒रोरधि॒ नाकं॑ तृ॒तीय॑म् ।
अ॒ग्नेर॒ग्निरधि॒ सं ब॑भूविथ॒ज्योति॑ष्मन्तम॒भि लो॒कं ज॑यै॒तम् ॥६॥

भा०—हे मुमुक्षो ! इस प्रकार ज्ञानवान् होकर (अतः परि च इत्) इस लोक से (उत् क्राम) उत्तम लोक को प्राप्त हो । यदि तैंने (अतप्तः) पर्याप्त तप न कर लिया हो तो (तप्तात् चरोः) जिस प्रकार तपे हांडी से जल तप्त होकर ऊपर वाष्पमय होकर उठता है उसी प्रकार तू भी (तप्तात् चरोः) तपस्या के आचरण से (तृतीयं) उस परम, सब दुःखों के पार (नाकम्) सुखमय मुक्तिधाम को प्राप्त हो। तू (अग्नेः अधि) ज्ञानवान, प्रकाशस्वरूप परम गुरु ब्रह्म से ज्ञान प्राप्त करके स्वयं (अग्निः) ज्ञानवान् प्रकाशस्वरूप (सं बभूविथ) हो जा । और (एतम्) उस (ज्योतिष्मन्तम्) ज्योतिर्मय लोक को (अभिजय) साक्षात् प्राप्त कर ।

६–'परिचेद तप्तस्त पूरुच्च' इति ह्विटनिसम्मतः पाठः । 'अतप्तः' इति पाठः ह्विटनि प्राप्तदर्शेषु प्रायिकः । (च०) 'ज्योतिष्मो च सुकृतां यत्र लोकः' इति पैप्प० सं० ।

अज के स्वरूप का वर्णन

अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः ।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥ ७ ॥

भा०—(अजः अग्निः) 'अज' आत्मा स्वयं अग्नि, प्रकाशस्वरूप है। (अजम् उ ज्योतिः आहुः) अज, अजन्मा आत्मा को ब्रह्मज्ञानी लोग 'ज्योति' के नाम से पुकारते हैं। (जीवता) प्राणधारी विद्वान को अपने जीवन काल में (ब्रह्मणे) उस परब्रह्म के भेंट (अजम्) इस अजन्मा आत्मा को ही (देयम्) समर्पण करने योग्य उपहार (आहुः) विद्वान् लोग बतलाते हैं। (अस्मिन् लोके) इस लोक में (श्रद्धधानेन) श्रद्धा करने हारे, सत्य धारण में समर्थ जिज्ञासु द्वारा (दत्तः) समर्पित किया हुआ (अजः) यह आत्मा ही (तमांसि) सब अज्ञान अन्धकारों को (दूरम्) दूर (अप हन्ति) मार भगाता है।

पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि ।
ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥८॥

भा०—(पञ्चौदनः) यह पुरुष पांच ओदनों, पांच वीर्यों, पांच प्राणों से युक्त होकर (त्रीणि ज्योतींषि) तीनों ज्योतियों को (आक्रंस्यमानः) प्राप्त करने की अभिलाषा वाला मुमुक्षु (पञ्चधा) पांचों प्राणों से (वि क्रमताम्) उद्योग करे। हे साधक मुमुक्षो ! तू (ईजानानां) प्राणाग्नि होत्र के यज्ञ करने हारे, ईश्वर संगति के साधक (सुकृताम्) उत्तम पुण्यात्मा, सुचरित्र, निष्ठ, कृतकृत्य विद्वानों के (मध्यम्) बीच में (प्रेहि) जा, उन में निवास कर और तब उन से ज्ञान प्राप्त करके (तृतीये नाके) तीर्णतम, परले पार के परमोक्ष धाम में (अधि वि श्रयस्व) प्राप्त होजा।

७-(प्र०) 'अजमेवाग्निम्', 'ब्रह्मणे जीवता' इति पैप्प० सं०।

'पञ्चौदनः'—यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ कठ उप० ६।१०॥

ये पांच इन्द्रियों के पञ्च ज्ञानसामर्थ्य ओदन हैं। ये भोग्य होने से खाद्य पदार्थ के तुल्य हैं । उनको तपस्या से परिपक्व करले जिनसे ये विषयों में न भागें । वे पांचों जब मन के साथ निगृहीत हों और बुद्धि भी विपरीत मार्ग में न जाए वही परम गति की प्राप्ति है ।

'त्रीणि ज्योतींषि'—तीन ज्योतियां, अग्नि, विद्युत् और सूर्य तथा अध्यात्म में आत्मा इन्द्रिय और मन ! उपनिषत् की परिभाषा में, प्राण अपान और व्यान ।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति । मध्ये वामनमासीनम् विश्वेदेवा उपासते। क०५ ३॥ 'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी' । प्रश्न०उप०। 'पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' इत्यादि उपनिषद् वाक्य पञ्चौदन और तीन ज्योतियों की व्याख्या करते हैं।

अजा रो॑ह सु॒कृतां॒ यत्र॑ लो॒कः श॑र॒भो न च॒त्तोऽति॑ दु॒र्गाण्येषः॑ ।
प॒ञ्चौ॑द॒नो ब्र॒ह्मणे॑ दी॒यमा॑नः॒ स दा॒तार॒ं तृप्त्या॑ तर्पयाति ॥ ९ ॥

भा०—हे (अज) अजन्मा आत्मन् ! तू यह जन्म मरण वाला देह नहीं । तू अमृत और अजन्मा आत्मा है । अतः हे अज ! (यत्र) जहाँ (सुकृताम्) पुण्यात्मा, जीवन्मुक्त लोगों का (लोकः) निवास है तू उस उत्तम लोक को (आरोह) पहुँच जा। (एषः) यह आत्मा (शरभः न) व्याघ्र के समान (चत्तः) अति आह्लादित होकर (दुर्गाणि) दुःख से जाने योग्य दुर्गम भवबन्धनों को (अति) पार कर जाता है। (पञ्चौ-

७-(च०) 'ज्योतिष्मन्मांमलोकं जयास्म' इति पैप्प० सं० ।

९-(प्र०) 'अजा क्रमस्व' ! (द्वि०) 'शलभो' । (च०) 'धातारं' इति पैप्प० सं० ।

दनः) पूर्वोक्त पांचों प्राणों सहित यह आत्मा जब (ब्रह्मणे) ब्रह्म के निमित्त (दीयमानः) समर्पित कर दिया जाता है (सः) वह समर्पित आत्मा ही (दातारम्) अपने समर्पक पुरुष को (तृप्त्या तर्पयाति) परम आनन्द से पूर्ण काम कर देता है ।

संप्राप्यैनं ऋषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः । मुण्डक० ३।५॥ मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ॥ गीता० १८।५०॥

अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति ।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघास्येका॥१०(११)

भा०—वह (अजः) अज, परमात्मा (ददिवांसम्) अपने को आत्म-समर्पण करने हारे मुमुक्षु को (त्रिनाके) आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकार के दुःखों से रहित, (त्रिदिवे) तीनों ज्योतियों से पूर्ण, (त्रिपृष्ठे) तीनों प्रकार के रस, आनन्द से सम्पन्न (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गमय परम पद के पीठ पर (दधाति) ले जाता है । ठीक भी है ! (ब्रह्मणे दीयमानः पञ्चौदनः) ब्रह्म में समर्पित किया पञ्च प्राण, पञ्च ज्ञान सामर्थ्यों से युक्त आत्मा (विश्वरूपा) 'विश्वरूपा' सब प्रकार के रस देने हारी (धेनुः) गाय है । आः ! तू आत्मा के भीतर आनन्द धारा के बहाने वाली अमृत रस के पिलाने वाली, तू सच मुच (एका) एकमात्र (कामदुघा असि) साक्षात् समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाली कामधेनु है ।

एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेजं ददाति ।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥ ११ ॥

भा०—हे (पितरः) जीवन के पालक पितृगण ! प्राणो ! (एतत्)

१०—(द्वि०) 'सुकृतां लोके ददि' (च०) 'विश्वरूपा कामदुघास्येका इति पैप्प० सं० ।

यह अज रूप (वः) तुम्हारा (तृतीयम्) परम जो पुरुष (ब्रह्मणे) परम ब्रह्म को अपना (पञ्चौदनम्) पूर्वोक्त पांच ओदन रूप पांचों इन्द्रियों और उनके विषयों सहित अपने (अजम्) अजन्मा आत्मा को (ददाति) समर्पित कर देता है ऐसा (श्रद्धधानेन) श्रद्धा सम्पन्न मुमुक्षु द्वारा (दत्तः) समर्पित वह आत्मा (अजः) अजन्मा चेतन (अस्मिन् लोके) इस लोक में ही, इस जीवन काल में ही (तमांसि) समस्त पापों को, मृत्यु के बन्धनों को (दूरम् अपहन्ति) दूर कर देता है।

अहंकारम् बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ गीता० १८।५३॥

गीता का ब्रह्म में आत्मसमर्पण का सिद्धान्त अथर्ववेद के इसी सूक्त पर आश्रित है।

ई॒जा॒नानां॑ सु॒कृतां॑ लो॒कमी॒प्सन् पञ्चौ॑दनं ब्र॒ह्मणे॒ऽजं द॑दाति ।
स व्या॒प्तिम॒भि लो॒कं ज॑यै॒तं शि॒वो॒३॒॑ऽस्मभ्यं॒ प्रति॑गृहीतो अस्तु ॥१२॥

भा० · जो पुरुष (ईजानानाम्) अध्यात्म यज्ञशील (सुकृताम्) शुभ कर्मकारी पुण्यात्माओं के (लोकम् ईप्सन्) लोक को प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ अपने (पञ्चौदनं अजम्) पञ्चौदन अज आत्मा को (ब्रह्मणे) ब्रह्म परमात्मा में (ददाति) समर्पित कर देता है (सः) वह (एतम्) उस (लोकम्) लोक को (व्याप्तिम्) व्याप्त करके (अभिजय) साक्षात् करले। वह (प्रतिगृहीतः) ब्रह्मद्वारा स्वीकृत होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होकर भी (अस्मभ्यम्) हम जैसे सामान्य लोगों के लिये (शिवः अस्तु) कल्याणकारी हो जाता है।

भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ गीता १८।५५॥

१२–(प्र०) 'प्रज्योतिष्मन्तं सुकृतां लोकमी०' (तृ० च०) स व्योपोनेनो अभिलोक जयास्मै शिवोऽस्मभ्य प्रतिगृह्यतेऽधि' इति पैप्प० सं० ।

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकाद् विप्रो विप्रस्य सहसो विपश्चित् ।
इष्टं पूर्तमभिपूर्तं वषट्कृतं तद् देवा ऋतुशः कल्पयन्तु ॥ १३ ॥

भा०—(अजः) अज, आत्मा (विप्रः) मेधावी, पूर्णकाम (सहसः) उस बलशाली परमात्मा से (विपश्चित्) समस्त ज्ञान और कर्मों का संग्रह करने हारा होकर (अग्नेः) उस प्रकाशस्वरूप (विप्रस्य) परम मेधावी परमात्मा के (शोकात्) प्रकाश से (अजनिष्ट) प्रकाशित होता है । इसलिये इस पद को प्राप्त होने के लिये हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! आप लोग अपनी आत्मा की उन्नति के लिये (इष्टम्) यज्ञ, याग (पूर्तम्) प्रजा के पालनार्थ परोपकार के कार्यों (अभिपूर्तम्) आत्माके पालनार्थ सत्य भाषणादि कार्य और (वषट् कृतम्) स्वाहाकार आदि यज्ञों को (ऋतुशः) ठीक २ ऋतुओं के अनुसार (कल्पयन्तु) किया करो । इससे प्रजा में सुख शान्ति होकर ध्यान, तप आदि करने का उत्तम अवसर प्राप्त होगा ।

अमोतं वासो दद्याद्धिरण्यमपि दक्षिणाम् ।
तथा लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः ॥ १४ ॥

भा०—ब्रह्मज्ञानी अपने उपदेश करनेवाले गुरुको (अमा उतम्) अपने घर में बिना हुआ (वस्त्रः) वस्त्र (दधातु) देवे और (हिरण्यम् अपि) सुवर्ण भी (दक्षिणाम्) दक्षिणा के रूप में दे । अर्थात् ब्रह्मज्ञानी अपने आप से प्राप्त किया आच्छादन यह शरीर और हिरण्य रूप आत्मा दोनों को गुरु-दक्षिणा रूप में परमात्मा के अर्पण करदे । (तथा) उस प्रकार से (ये दिव्याः ये च पार्थिवाः) जो दिव्य और इस पृथिवी के लोक हैं उन (लोकान्) समस्त लोकों को (सम् आप्नोति) प्राप्त हो जाता है ।

१३–(द्वि०) इष्टं गूर्तमभिगूर्तम्' इति लड्विग्कामितः पाठः । (द्वि०) 'सहसोवयोधा', (तृ०) 'पूर्त्तमिष्टमभि' इति पैप्प० सं० ।

एतास्त्वाजोप यन्तु धाराः सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः ।
स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेऽधि सप्तरश्मौ ॥ १५ ॥

भा०—हे (अज) अजन्मा, आत्मन् ! (एताः) ये (सोम्याः) सोम परमात्मा की (देवीः) कमनीय, (घृतपृष्ठाः) प्रकाशस्वरूप (मधुश्चुतः) मधु, आनन्द रस को बहाने वाली (धाराः) धारण शक्तियां या आनन्दरस की धाराएं (त्वा उपयन्तु) तुझे प्राप्त हों । वह परमात्मा (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गमय परमधाम में विराजमान (सप्तरश्मौ) सात इन्द्रियों से युक्त या सर्पणशील व्यापक रश्मियों, आकर्षण शक्तियों से युक्त सूर्य के भी (अधि) ऊपर अधिष्ठातास्वरूप होकर (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी और महान् आकाश को (स्तभान) थाम रहा है ।

अजोऽस्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरसः प्राजानन् ।
तं लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषम् ॥ १६ ॥

भा०—हे आत्मन् ! (अजः असि) तू अजन्मा है । हे (अज) अजन्मन् ! आत्मन् ! तू (स्वर्गः असि) स्वय स्वर्ग अर्थात् स्वः=परम तेजोमय परमात्मपद तक प्राप्त होने में समर्थ है । (त्वया) तेरी साधना से (अङ्गिरसः) ज्ञानी पुरुष (लोकम्) परम 'लोक' नाम से विख्यात परमेश्वर का (प्राजानन्) ज्ञान करते हैं । (तम्) उस परम (लोकम्) सब के साक्षी, सर्वद्रष्टा, सब के प्राप्त करने योग्य परमात्मा को मैं मुमुक्षु जन (पुण्यम्) पुण्य, परम पवित्र पद ही (प्र ज्ञेषम्) जानता हूं ।

येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसम् ।

१५–(प्र०) एतास्त्वा दधाराच्छमयन्ति विश्वतः सोम्यं, (तृ० च०) स्तभान पृथिवीं दिव सदस्व नाके तिष्ठस्याधि सप्तरश्मौ' । इति पैप्प० सं० ।

१६–(तृ०) 'तं लोकमनुप्रज्ञेष्म' इति पैप्प० सं० । तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना । इति यजु० २० । २५ तृ० च० ॥

तेनेमं यज्ञं नो वह स्व/र्देवेषु गन्तवे ॥१७॥ यजु० २१ । ५५॥

भा०—हे परमात्मन् ! (येन) जिस बल और सामर्थ्य से तू (सहस्रम्) इस समस्त संसार को (वहसि) धारण करता और हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप गुरो ! परमात्मन् ! (येन) जिस बल से तू (सर्व वेदसम् वहसि) समस्त ज्ञान को धारण करता है (तेन) उस बल से (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ रूप आत्मा को (देवेषु) ज्ञानवान् मुक्त पुरुषों के बीच (स्वः) प्रकाशमय मोक्ष धाम (गन्तवे) प्राप्त करने के लिये (वह) लेजा।

अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति पञ्चौदनो निर्ऋतिं बाधमानः ।
तेन लोकान्त्सूर्यवतो जयेम ॥ १८ ॥

भा०—(पञ्चौदनः) पञ्च प्राणों के सामर्थ्यों से सम्पन्न (पक्वः) परिपक्व ज्ञानी (अजः) अज, अन्मा आत्मा, अपने ज्ञानबल से (निर्ऋतिम्) अविद्या को (बाधमानः) नाश करता हुआ (स्वर्गे लोके) परम सुखमय लोक परमेश्वर में अपने को (दधाति) रखता है । हम (तेन) अज, आत्मा के सामर्थ्य से (सूर्यवतः) प्रकाशमय परब्रह्म से युक्त (लोकान्) लोकों को (जयेम) प्राप्त हों ।

यं ब्राह्मणे निदधे यं च विक्षु या विप्रुष ओदनानामजस्य ।
सर्वं तदग्ने सुकृतस्य लोके जानीतान्नः संगमने पथीनाम् ॥१९॥

भा०—(यम्) जिस अज आत्मा को परमेश्वर ने (ब्राह्मणे)

१७–(प्र०) 'येन वहसि सहस्रं' (तृ०) 'यज्ञं नो नय' इति यजु० । (च०) 'देवयानो य उत्तमः' इति तै० सं० । (प्र०) 'येन वा सहस्रं' इति पैप्प० सं० ।

१९–१. प्रुष, प्लुष स्नेहनसेचनपूरणेषु (क्रयादिः) अथवा प्रुष प्लुष दाहे (भ्वादिः) ।

ब्रह्मवेद के विद्वान् ब्रह्मज्ञानी में (निदधे) रक्खा है और (यं च) जिस आत्मा को उस प्रभु ने (विक्षु निदधे) सर्व साधारण प्रजाओं या प्राणधारियों में रक्खा है । और (अजस्य) उस अजन्मा आत्मा के (ओदनानाम्) ओदन रूप प्राणों के (याः) जो (विप्रुषः[1]) विशेष स्नेहन, सेचन या पूरण करने वाले सामर्थ्य या शक्तियां या विविध प्रकार की दीप्तियां हैं हे (अग्ने) परमात्मन् ! (सर्वं तत्) उस सब को (सुकृतस्य लोके) पुण्य के उस परम मोक्षलोक में और (पथीनाम्) समस्त पन्थाओं, मार्गों या प्राणशक्तियों के (संगमने) एकत्र प्राप्ति से (नः) हमें (जानीतात्) प्राप्त करने की अनुमति देना । अर्थात् मोक्षधाम में भी ये सब सामर्थ्य हमारे पास रहें, जिससे मोक्ष के परम सुख का हम स्वतन्त्रता से रस ले सकें ।

अज परमात्मा के विराट रूप का वर्णन

अजो वा इदमग्रे व्य॑क्रमत तस्योर इयमभवद् द्यौः पृष्ठम् ।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥ २० ॥ (२)

भा०—(अजः वा) निश्चय से अज अनादि अजन्मा परमात्मा ने (इदम्) इस संसार को (अग्रे) सब से प्रथम (व्यक्रमत) नाना प्रकार से रचा था और उस में स्वयं व्याप्त हो गया था । इसलिये संसार के भिन्न २ भागों की इस रूप से कल्पना की जाती है जैसे (तस्य) उस अजन्मा परमात्मा का (उरः) वक्षःस्थल (इयम्) वह पृथिवी (अभवत्) है । (द्यौः पृष्ठम्) द्यौः पीठ है । (अन्तरिक्षम् मध्यम्) अन्तरिक्ष मध्यभाग है । (दिशः पार्श्वे) दिशाएं पार्श्व भाग हैं । (समुद्रौ कुक्षी) समुद्र दोनों, जलसमुद्र और आकाश ये उसकी कोखें हैं ।

२०,२१—अजः पश्चादनो व्यक्रामत, तस्योर इयमभवदुदरमन्तरिक्षम् । द्यौरस्य पृष्ठं दिशः पार्श्वे । दिशश्चातिदिशश्च शृङ्गे सत्यं च ऋतं च चक्षुषी विश्वरूपं श्रद्धा' इत्यादि पैप्प० सं० ।

सत्यं चर्तं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः ।
एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः ॥ २१ ॥

भा०—(सत्यं च ऋतं च चक्षुषी) सत्य, व्यक्त जगत् और ऋत, अव्यक्त ये दोनों उसकी चक्षुएं हैं। (विश्वं सत्यम्) यह विश्व सत्य अर्थात् उसका प्रकट देह है, (श्रद्धा प्राणः) श्रद्धा सत्य का धारण-बल प्राण है। (विराट् शिरः) विराट् शिरोभाग है। (यत्) और जो यह (पञ्चौदनः) पांच ओदनों वाला, पांच भूतों का पति, पांचों को प्रलय-काल में अपने भीतर भात के समान खा जाने वाला महान् (अजः) अजन्मा परमात्मा है (एष एव) वह ही (अपरिमितः) परिमाणरहित, अनन्त (यज्ञः) यज्ञ अर्थात् महान् आत्मा है। पूर्व मन्त्र और इस मन्त्र से विराट् रूप परमेश्वर में विश्व की स्थिति, छोटे रूप में पुरुष शरीर में विराट् की स्थिति और यज्ञमय प्रजापति तीनों का वर्णन समान पदों से कर दिया गया है।

अपरिमितमेव यज्ञमाप्नोत्यपरिमितं लोकमव रुन्द्धे ।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २२ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (दक्षिणाज्योतिषम्) दक्षिणा, शक्ति रूप ज्योति से युक्त (पञ्चौदनम्) पूर्वोक्त पञ्चौदन (अजम्) आत्मा का जो अपने शिष्यों को या जिज्ञासुओं को उपदेश करता या ब्रह्म को समर्पित कर कर देता है वह (अपरिमितं यज्ञम्) अपरिमित अनन्त यज्ञमय परमात्मा को (आप्नोति) प्राप्त होता है और (अपरिमितम् लोकम्) अपरिमित, अनन्त (लोकम्) लोक को (अवरुन्धे) वश करता है या अपरिमित प्रकाशमय परब्रह्म को ही प्राप्त होता है। इस के प्रतिनिधि लोक में कर्मकाण्ड में अज-बकरे को भी दान किया जाता है। उसी परमात्मा के स्वरूप को प्रत्येक प्राणी में स्मरण करके और उस में पञ्चौदन आत्मा को चेतन रूप से विद्य-मान जान कर समस्त प्राणियों पर अनुग्रह करे।

नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत् ।
सर्वमेनं समादायेदमिदं प्र वेशयेत् ॥ २३ ॥

भा०—प्रत्येक प्राणी में उसी चेतन अज आत्मा को जान कर बुद्धिमान पुरुष (अस्य) इस प्राणी के (अस्थीनि) हड्डियों को (न भिन्द्यात्) न तोड़े, (मज्ज्ञः) मज्जाओं को भी (न निः धयेत्) न पीसे, प्रत्युत (सर्वम् एनं समादाय) उस सबको लेकर (इदम् इदम्) प्रत्येक प्राणि में उस आत्मा को साक्षात् रूप में (प्रवेशयेत्) व्याप्त जाने, वा उसको व्याप्त देखे, उसकी कल्पना करे ।

इदमिदमेवास्य रूपं भवति तेनैनं सं गमयति ।
इषं मह ऊर्जमस्मै दुहे यो॒ऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥२४॥

भा०—(इदम् इदम्) 'यह, यह' प्रत्येक प्राणी (एव) ही (अस्य) इस आत्मा का (रूपम्) अभिव्यक्त प्रकट रूप (भवति) है । विद्वान् पुरुष (तेन) उस परम आत्मा से (एनम्) इस प्राणी को (सं गमयति) तुलना करके विचार करता है । (यः) जो पुरुष (दक्षिणाज्योतिषम्, पञ्चौदनं अजं ददाति) जो क्रियाशक्ति रूप चेतना से सम्पन्न पञ्च प्राणमय, अज, चेतन आत्मा को उस परमात्मा के भेट समर्पित कर देता है तब वह परमात्मा उसको (इषम्) अन्न, (महः) तेज और (ऊर्जम्) बल को (दुहे) भरपूर देता है ।

पञ्च रुक्मा पञ्च नवानि वस्त्रा पञ्चास्मै धेनवः कामदुघा भवन्ति ।
यो॒ऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २५ ॥

भा०—(यः अजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति) जो पुरुष

२३—(तृ०) 'सर्वाणि समादाय' इति पैप्प० सं० ।

२४—(तृ० च०) स्वधामूर्जं मचितं महोऽस्मै दुहे । य एवं विदुषेऽजं पञ्चौदनं ददाति ॥ इति पैप्प० सं० ।

दक्षिणाज्योतिःस्वरूप पञ्चौदन अज को प्रदान कर देता है (अस्मै) उस पुरुष को (पञ्च रुक्मा) पांचों रुचिकर, सुवर्ण रूप पाँचों प्रकार के भोग्य पदार्थ, (पञ्च नवानि वस्त्रा) पांचों नये वस्त्र अर्थात् पाँचों कोश और (अस्मै) उस के लिये (पञ्च धेनवः) पांचों ज्ञानेन्द्रिय रूप धेनुएँ (काम-दुघाः) यथेष्ट फल देने वाली कामधेनु के समान (भवन्ति) हो जाती हैं।

पञ्च॑ रुक्मा ज्योति॑रस्मै भवन्ति वर्म॑ वासां॑सि तन्वे॑ भवन्ति ।
स्वर्गं लोकम॑श्नुते यो॒३॑ऽजं पञ्चौ॑दनं दक्षि॑णाज्योतिषं ददा॑ति ॥२६॥

भा०—(यः दक्षिणा ज्योतिषं पञ्चौदनं अजं ददाति) जो दक्षिणा ज्योतिष्, पञ्चौदन अज आत्मा का प्रदान करता है वह (स्वर्ग लोकं अश्नुते) स्वर्गलोक, परम मोक्षधाम का आनन्द प्राप्त करता है (अस्मै) उसको (पञ्च रुक्मा ज्योतिः) पांचों रोचमान इन्द्रियां (ज्योतिः) प्रकाशमय हो जाते हैं और (पञ्चवासांसि) और पांचों आच्छादक कोश उस के (वर्म) कवच (भवन्ति) हो जाते हैं।

या पूर्वं॒ पतिं॑ वि॒त्त्वाथा॒न्यं वि॒न्दते॒ऽप॑रम् ।
पञ्चौ॑दनं च॒ ताव॒जं ददा॑तो॒ न वि यो॑षतः ॥ २७ ॥

भा०—(या) जो स्त्री (पूर्वं पतिं वित्वा) पूर्व पति को प्राप्त हो कर भी (अथ) बाद में पूर्व पति के वियोग होने पर (अपरम्) दूसरे (अन्य) उससे भिन्न पुरुष को (विन्दते) प्राप्त कर लेती है (च) और वे दोनों (पञ्चौदनम्) पांचों ओदन, पांचों भोग्य पदार्थ युक्त अपने (अजम्) अजन्मा, आत्मा को (ददातः) एक दूसरे को सौंप देते हैं तो वे (न वि योषतः) दोनों कभी वियुक्त नहीं होते ।

स॒मा॒नलो॑को भवति पुन॒र्भुवाप॑रः॒ पतिः॑ ।

२७-(तृ०) 'तावजं पवतः' इति पैप्प० सं० ।

योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २८ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (दक्षिणा ज्योतिषं पञ्चौदनम् अजं ददाति) दक्षिणाज्योतिष, पञ्चौदन अज को (ददाति) परस्पर समर्पित कर देता है वह (अपरः पतिः) दूसरा पति भी (पुनर्भुवा) पुनः विवाह करने हारी, द्वितीय पति को वरण करने वाली स्त्री के साथ (समानलोकः भवति) समान लोक, एक समान आत्मा होकर रहता है।

अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम् ।
वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम् ॥ २९ ॥

भा०—(अनुपूर्व-वत्साम्) प्रति वर्ष क्रम से बछड़ा देने वाली, (धेनुम्) गाय, (अनड्वाहम्) शकट खैंचने में समर्थ बैल, (उपबर्हणम्) एक बड़ा तकिया, (वासः) वस्त्र और (हिरण्यम्) सुवर्ण का (दत्त्वा) दान देकर (ते) वे लोग (उत्तमाम्) उत्कृष्ट (दिवम्) प्रकाशमय मोक्ष पद को (यन्ति) प्राप्त होते हैं । धेनु आदि शब्द यहां सांकेतिक हैं. जैसे धेनु—वाणी । उस का वत्स मन है । क्रम से मनोयोग सहित उच्चारण की गई वाणी अनुपूर्ववत्सा धेनु है । प्राण=अनड्वान् या बैल है । उपबर्हण=अन्न है । वासः=शरीर है, हिरण्य=आत्मा है ।

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम् ।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये ॥ ३० ॥ (१३)

भा०—(आत्मानम्) आत्मा, अपने आपको, (पितरम्) पिता को, (पुत्रम्) पुत्र को, (पौत्रम्) पौत्र को, (पितामहं) पितामह को, (जायां) जाया को और (जनित्रीं मातरम्) उत्पन्न करने हारी माता को और (ये प्रियाः) जो मेरे प्रिय इष्ट बन्धु हैं (तान्) उन सब को मैं (उपह्वये) अपने पास बुलाऊँ और उनको उपदेश करूं ।

२८—(तृ० च०) 'योऽन्नं च पञ्चौदनं च ददत्' इति पैप्प० सं० ।

पञ्चौदन अज का रूपान्तर

यो वै नैदाघं नामर्तुं वेद । एष वै नैदाघो नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ ३१ ॥

भा०—(यः अजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति) जो दक्षिणा ज्योतिष वाले, पञ्च ओदन वाले अज आत्मा को समर्पित करता है और (यः वै) जो निश्चय से (नैदाघं नाम ऋतुम्) निदाघ-ग्रीष्म नामक ऋतु के समान उस परमात्मा को जानता है और जानता है कि (यद् अजः पञ्चौदनः) जो पञ्चौदन अज है। एष वै (नैदाघः नाम ऋतुः) वह निदाघ नाम ऋतु ही है। अर्थात् जिस प्रकार ग्रीष्म काल का सूर्य सब को संतप्त करता है दक्षिण दिशा में सूर्य की ज्योति प्रखर हो जाती है और पांचों भूत संतप्त हो जाते हैं उसी प्रकार वह अज आत्मा भी दक्षिण दिशा में गये सूर्य के समान प्रखर तेज वाला पांचों इन्द्रियों का वशयिता और पांचों प्रजाजनों पर वशी हो जाता है। इस तत्व को जानने वाला पुरुष (आत्मना भवति) स्वयं उस प्रकार सामर्थ्यवान् हो जाता है और (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं निर्दहति) अपने अप्रिय शत्रु की लक्ष्मी को सर्वथा जला डालता है।

यो वै कुर्वन्तं नामर्तुं वेद। कुर्वतींकुर्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य
श्रियमा दत्ते । एष वै कुर्वन्नामर्तुर्यदजः ०। ०। ०॥ ३२ ॥

भा०—इसी प्रकार (यः) जो पुरुष (कुर्वन्तं नाम ऋतुं वेद) 'कुर्वत्' करनेहारा-इस प्रकार क्रियाशील नाम ऋतु=प्राण को जानता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अपने अप्रिय शत्रु की (कुर्वतीं कुर्वतीम्) करनेहारी या क्रियाशील प्रत्येक (श्रियम्) श्री-लक्ष्मी को (आदत्ते) स्वयं हर लेता है (यद् अजः पञ्चौदनः) जो पञ्चौदन अज, पञ्चभूतों से

युक्त अजन्मा आत्मा है (एष एव कुर्वन् अजः) वही 'कुर्वन्' नामक ऋतु क्रियाशील तत्त्व, कर्त्ता है। उसी की साधना करनी चाहिये। शेष पूर्ववत्।

यो वै संयन्तं नामर्तुं वेद । संयतींसंयतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते । एष वै संयन्नाम० । ० । ० ॥ ३३ ॥

भा०—(यः वैः संयन्तं नाम ऋतुं वेद) जो पुरुष 'संयत्' नामक ऋतु अर्थात् प्राणबल को जानता है (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) वह अपने अप्रिय शत्रु की (संयतींसंयतीम् एव) संयमनकारिणी दमन करने में समर्थ (श्रियम् आ दत्ते) लक्ष्मी को हर लेता है। (एष वै संयत् नाम ऋतुः यद् अजः पञ्चौदनतः) जो पञ्चौदन अज आत्मा है वही यह 'संयत् नाम ऋतु है' अर्थात् वह आत्मा ही संयमन करने वाली शक्ति है। उसकी तत्त्व साधना करने वाला पुरुष अपने शत्रु की संयमन शक्ति पर वश कर लेता है। (निरेवाप्रियस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

यो वै पिन्वन्तं नामर्तुं वेद । पिन्वतींपिन्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते । एष वै पिन्वन्नाम० । ० । ० ॥ ३४ ॥

भा०—(यः वै पिन्वन्तं नाम ऋतुं वेद) जो 'पिन्वत्' नाम ऋतु को जानता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अपने अप्रिय शत्रु की (पिन्वतीं पिन्वतीं श्रियम् एव) संतृप्त करनेहारी प्रत्येक लक्ष्मी को (आदत्ते) हर लेता है। (एष वै पिन्वत् नाम यद् अजः पञ्चौदनः) जो पूर्व पञ्चौदन नामक अज आत्मा बतलाया गया है वह ही यह 'पिन्वत्' नामक है। यह सबको संतृप्त करने में समर्थ 'ऋतु' अर्थात् शक्ति है। (निः एव अप्रियस्य०) इत्यादि पूर्ववत्)

यो वा उद्यन्तं नामर्तुं वेद । उद्यतींमुद्यतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते । एष वा उद्यन्नाम० । ० । ० ॥ ३५ ॥

भा०—(यः वै) जो पुरुष (उद्यन्तं नाम ऋतुं वेद) 'उद्यत्' नाम

ऋतु को जानता है (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अपने अप्रिय शत्रु की (उद्यतीम्‌उद्यतीम् श्रियम् एव आदत्ते) प्रत्येक उद्यम करने और उन्नति करने वाली लक्ष्मी को हर लेता है। (एष वा उद्यत् नाम ऋतुः यत् पञ्चौदनः अजः) यह जो पञ्चौदन नामक अज आत्मा है वह ही यह 'उद्यत्' नाम ऋतु है अर्थात् वही उन्नत करनेवाली शक्ति है। (निरे वास्य० इत्यादि) पूर्ववत्।

यो वा अ॒भि॒भुवं॒ नाम॒र्तुं वेद॑ । अ॒भि॒भव॑न्तीमभिभव॒न्तीमे॒वा-प्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रिय॒मा द॑त्ते । ए॒ष वा अ॒भि॒भूर्नाम॒र्तुर्यद॒जः पञ्चौ॑दनः । निरे॒वाप्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रियं॑ दहति॒ भव॑त्या॒त्मना॑ । यो॒३॒॑जं पञ्चौ॑दनं॒ दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति ॥ ३६ ॥

भा०—(यः वै अभिभुवं नाम ऋतुं वेद) जो पुरुष 'अभिभू' नामक ऋतु अर्थात् आत्मा की शक्ति को जान लेता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य अभिभवन्तीम्-अभिभवन्तीम् एव श्रियम् आदत्ते) अपने अप्रिय शत्रु की परास्त करनेवाली प्रत्येक लक्ष्मी को हर लेता है। (यत् अजः पञ्चौदनः एषः वा अभिभूः नाम ऋतुः) जो पञ्चौदन अजन्मा आत्मा है वही 'अभिभू', परास्त करनेवाली परम शक्ति है (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं निर्दहति आत्मना भवति। यः अजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति) जो पुरुष उस 'दक्षिणाज्योतिष' क्रियाशक्ति से चमकने वाले पञ्चप्राणों से युक्त उस अज आत्मा को परब्रह्म में अर्पण करता है वह अपने अप्रिय शत्रु की लक्ष्मी को ही सर्वथा भस्म कर देता है।

अ॒जं च॒ पच॑त॒ पञ्च॑ चौद॒नान् । सर्वा॒ दिशः॒ संम॑नसः स॒ध्रीची॒ः सान्त॑र्देशाः॒ प्रति॑ गृह्णन्तु त॒ ए॒तम् ॥ ३७ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (अजं च) इस लिये आप लोग उस अजन्मा नित्य आत्मा को (पचत) परिपक्व करो। और (पञ्च)

पांचों (ओदनान्) प्राणों को भी तपस्या द्वारा परिपक्व करो । हे पुरुष ! (ते) तेरे (एतम्) इस आत्मा को (सर्वाः दिशः) सब दिशाएं, (सान्तर्देशाः) बीच के देशों अर्थात् उपदिशाओं सहित (सध्रीचीः) एक साथ सहमत होकर (संमनसः) एक समान चित्त होकर (प्रति गृह्णन्तु) स्वीकार करें । अर्थात् सब दिशाओं, उपदिशाओं के निवासी लोग उसकी तपस्या से प्रभावित होकर उसको अपनावें, उसका प्रभाव मानें और वश में रहें ।

तास्ते॑ रक्षन्तु॒ तव॒ तुभ्य॑मे॒तं ताभ्य॒ आज्यं॑ ह॒विरि॒दं जु॑होमि ॥२८ (१४)

भा०—हे पुरुष (ताः) वे सब दिशाएं और उपदिशाएं, उनकी निवासी प्रजाएं (ते रक्षन्तु) तेरी रक्षा करें । (तव) तेरी आज्ञा पालन करें । (तुभ्यम्) तेरे लिये हितकारी हों । (एतम्) और इस आत्मा को पुष्ट करें । मैं ब्रह्मज्ञानी होकर (ताभ्यः) उन समस्त प्रजाओं के लिये (इमम्) इस (आज्यम्) अन्न, आत्मा के श्रेयस्कर (हविः) अन्न और ज्ञान का (जुहोमि) प्रदान करता हूं ।



[६ (१)] अतिथि-यज्ञ और-देवयज्ञ की तुलना ।

'सो विद्यात्' इति षट्पर्यायाः । एकं सूक्तम् । ब्रह्मा ऋषिः । अतिथिरुत विद्या देवता । तत्र प्रथमे पर्याये १ नागी नाम त्रिपाद् गायत्री, २ त्रिपदा आर्षी गायत्री, ३,७ साम्न्यौ त्रिष्टुभौ, ४ आसुरीगायत्री, ६ त्रिपदा साम्नां जगती, याजुषी त्रिष्टुप् , १० साम्नां भुरिग् बृहती, ११, १४—१६ साम्न्यनुष्टुभः, १२ विराड् गायत्री, १३ साम्नी निचृत् पङ्क्तिः, १७ त्रिपदा विराड् भुरिक् गायत्री । सप्तदशर्चं सूक्तम् ॥

यो वि॒द्याद् ब्रह्म॑ प्र॒त्यक्षं॒ परूं॑षि॒ यस्य॑ सं॒भारा॒ ऋचो॒ यस्या॑नू॒क्य॑म् ॥१॥

[६ (१)]—'यो वा एक ब्रह्मानुष्ठा विधात् सधमहद्वते' इति पैप्प० सं० ।

सामा॑नि॒ यस्य॒ लोमा॑नि॒ यजु॒र्हृद॑यमु॒च्यते॑ परि॒स्तर॑ण॒मिद्ध॒विः ॥२॥

भा०—साक्षात् ब्रह्म यज्ञस्वरूप है। (सम्भाराः) यज्ञोपयोगी पदार्थों का समुदाय (यस्य) जिस के (परूंषि) पोरु २ हैं। (ऋचः) ज्ञानमय वेदमन्त्र (यस्य अनूक्यम्) जिसके पीठ के मोहरे हैं। (सामानि) सामगायन (यस्य लोमानि) जिस के लोम हैं और (यजुः हृदयम् उच्यते) और यजुर्वेद के प्रतिपादित कर्म जिसके हृदय हैं (हविः इत्) हवि अर्थात् अन्न जिस का परिस्तरण=बिछौना है (यः) जो पुरुष (प्रत्यक्षम्) साक्षात् (ब्रह्म) उस ब्रह्म को (विद्यात्) जान लेता है वह विद्वान् पूजा करने के योग्य है।

अतिथि यज्ञकी देवयज्ञ से तुलना

यद् वा अति॑थिपति॒रति॑थीन् प्रति॒पश्य॑ति दे॒वयज॑नं॒ प्रेक्ष॑ते ॥३॥

भा०—(यद् वा) और जब (अतिथिपतिः) अतिथियों का पालक, गृहपति (अतिथीन्) अतिथियों की (प्रतिपश्यति) प्रतीक्षा करता है तब वह (देवयजनं प्रेक्षते) एक प्रकार से देवयज्ञ करने का ही संकल्प करता है।

यद॑भि॒वद॑ति दी॒क्षामु॒पैति॒ यदु॑द॒कं याच॑त्य॒पः प्र ण॑यति ॥ ४ ॥

भा०—वह गृहपति (यद् अभिवदति) जब अतिथियों को अभिवादन, नमस्कार करता है, मानो तब वह अतिथि यज्ञमें (दीक्षाम् उपेति) दीक्षा प्राप्त करता है। और (यत्) जब (उदकं याचति) जल के पात्र लाकर अतिथि को अर्घ्य पाद्य आचमनीय आदि प्रदान करता है तब मानो वह देवयज्ञ में (अपः प्रणयति) जलों को प्रोक्षण करता है।

२–'छन्दांसि यस्य लोमानि परिस्तरणमिद् हविः यजुर्हृदयमुच्यते' इति पैप्प० सं०।

३–'यद् आतिथिपतिः प्रेष्यते' इति पैप्प० सं०।

या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः ॥ ५ ॥

भा०—(याः एव यज्ञे आपः) जो जल यज्ञ में (प्रणीयन्ते) प्रोक्षण कार्य में प्रयुक्त होते हैं (ता एव ताः) वे ही जल हैं जो अतिथि यज्ञ में अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय आदि के लिये प्रयुक्त होते है।

यत् तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः ॥६॥

भा०—(यत्) जो (तर्पणम् आहरन्ति) अतिथि को तृप्त करने के लिये मधुपर्क और उत्तम भोजन पदार्थ लाया जाता है मानो वह (यः एव) यज्ञ में वही पदार्थ है जो कि (अग्नीषोमीयः पशुः) अग्निषोमीय पशु को (बध्यते) यूप में बांधा जाता है (स एव सः) वह अन्न ही उस के स्थान में है।

यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत् कल्पयन्ति ॥७॥

भा०—और (यत्) जो अतिथि के लिये (आवसथान्) निवास के निमित्त उचित गृह आदि को (कल्पयन्ति) बनाते हैं उसको आदर से नियत घरों में रखते हैं (तत्) वह एक प्रकार से यज्ञ में (सदो-हविर्धानानि कल्पयन्ति) सदस्=प्राचीनवंश गृह और हविर्धान नामक शकट और पात्र की रचना करते हैं।

यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् ॥ ८ ॥

यदुपरिशयनमाहरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमव रुन्द्धे ॥९॥

भा०—(यत् उपस्तृणन्ति) जो अतिथि के लिये चारपाई या टाट बिछाया जाता है (तत्) वह मानो यज्ञ में (बर्हिः एव) बर्हि या कुशाओं के बिछाने के समान ही है। और (यत्) जो (उपरिशयनं आहरन्ति)

६—'यत् खातमाहरन्ति पुरोडाश एवते' इत्यधिकः पाठः पैप्प० सं०।

८—'यत्परिस्तृणन्ति' इति० पैप्प० सं०।

अतिथि के लिये चारपाई या टाट के ऊपर गद्दा (आहरन्ति) ला कर बिछाते हैं (तेन) उस कार्य से मानो (स्वर्गम् लोकम् एव अव रुन्धे) वे यज्ञ में स्वर्ग=सुखप्रद इष्ट=इष्टलोक को ही प्राप्त करते हैं ।

यत् कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधयं एव ते ॥ १० ॥

यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्त्याज्यमेव तत् ॥ ११ ॥

भा०—(यत्) जो (कशिपु-उपबर्हणम् आहरन्ति) अतिथि के लिये चादरें और सिरहाना लाकर बिछाते हैं (ते परिधयः एव) वे यज्ञ में ' परिधि ' नामक कुशाओं के समान हैं । और (यत्) जो (अञ्जनाभ्यञ्जनम् आहरन्ति) आंखों के लिये अंजन और शरीर के लिये तेल उबटना आदि लाते हैं (तत्) वह यज्ञ में (आज्यम् एव) घृत के ही समान आवश्यक पदार्थ है ।

यत् पुरा परिवेषात् खादमाहरन्ति पुरोडाशावेव तौ ॥ १२ ॥

यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेव तद्ध्वयन्ति ॥ १३ ॥

भा०—(यत्) जो गृहस्थ के लोगों के लिये (परिवेशात्) भोजन परोसने के (पुरा) पूर्व ही अतिथि के लिये (खादम्) खाने योग्य भोजन (आहरन्ति) लाते हैं वे यज्ञ में (पुरोडाशौ एव तौ) दोनों पुरोडाशों के समान ही है । और (यद् अशनकृतम्) जो अतिथि के लिये विशेष भोजन बनाने में चतुर पुरुष को (ह्वयन्ति) विशेष रूप से बुलाते हैं (तत्) वह एक प्रकार से यज्ञ में (हविष्कृतम् एव) हवि अर्थात यज्ञ में चरु को तय्यार करने हारे पुरुष को ही (ह्वयन्ति) बुलाते हैं ।

१०–'कशिपूपबर्हणानि आहरन्ति परिधे एव ते' इति पैप्प० सं० । अत्रैव यत्पर्शेन [यदुपारिशयन] माचरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमवरुन्धे' इति चाधिकः पाठः इति पैप्प० सं० ।

११–'यदभ्यञ्जन'–इति पैप्प० सं० ।

ये व्रीहयो यवा निरुप्यन्तेंऽशव एव ते ॥ १४ ॥
यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते ॥ १५ ॥

भा०—(ये) जो अतिथि यज्ञ के अवसर पर (व्रीहयः यवाः) धान और जौं (निरुप्यन्ते) बखेरे जाते हैं (अंशव एव ते) वे यज्ञ में सोमलता के खण्डों के समान हैं । और (यानि) जो अतिथि के भोजनादि तैयार करने के लिये (उलूखल-मुसलानि) ओखली और मूसल धान कूटने के लिये काम में लाये जाते हैं (ग्रावाणः एव ते) वे यज्ञ में सोम कूटने के उपयोगी पत्थरों के समान हैं ।

शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीरापः ॥ १६ ॥
स्रुग् दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो/
वायव्या/नि पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम् ॥ १७ ॥ (१५)

भा०—(शूर्पं पवित्रम्) अतिथि के अन्न साफ करने के लिये जो छाज काम में लाया जाता है वह यज्ञ में 'पवित्र' अर्थात् सोम छानने के लिये 'दशापवित्र' नामक वस्त्र खण्ड के समान जानना चाहिये । (तुषाः ऋजीषाः) छाज से फटकते हुए जो अन्न के तुष अलग हो जाते हैं वह यज्ञ में सोम को छानने के बाद प्राप्त फोक के समान हैं । (अभिषवणीः आपः) अतिथि के भोजन बनाने के लिये जो जल प्रयुक्त होते हैं वह यज्ञ में सोम रस में मिलाने योग्य 'वसतीवरी !' नामक जलधाराओं के समान हैं । (स्रुक् दर्विः) अतिथि का भोजन बनाने के लिये जो कड़छी

१४—'अंशव एव ते न्युप्यन्ते' इति पैप्प० सं० ।

१५—'उलूखलमुसल ग्रावाणः' इति पैप्प० सं० ।

१६—'तुषारर्जाषः' इति पैप्प० ।

१७—'द्रोणकलशः कुम्भीमेव कृष्णाजिनं वायव्यानि पात्राणि अभिषवणी. रपः' इति पैप्प० सं० ।

प्रयुक्त होती है वह यज्ञ में 'स्रुक्' या घृतचमस् के समान है। (आयवनम् नेक्षणम्) भोजन तैयार करते समय जो दाल आदि चलाने का कार्य किया जाता है वह यज्ञ में सोम रस को वार २ मिलाने के समान है। (कुम्भ्यः द्रोणकलशाः) खाना पकाने के लिये जो डेगची आदि पात्र हैं वे यज्ञ में सोम रस रखने के लिये द्रोणकलशों के समान हैं। (पात्राणि वायव्यानि) अतिथि को खिलाने के लिये जो थाली कटोरी आदि पात्र हैं वे यज्ञ में सोम पान करने के निमित्त 'वायव्य' पात्रों के समान हैं। और अतिथि के लिये (इयम् एव कृष्णाजिनम्) जो बैठने उठने के लिये यह भूमि है वह यज्ञ में कृष्ण मृगछाला के समान है।



(२) अतिथि-यज्ञ की देव-यज्ञ से तुलना।

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिर्विद्या वा देवता। विराड् पुरस्ताद् बृहती। २, १२ साम्नी त्रिष्टुभौ। ३ आसुरी अनुष्टुभ्। ४ साम्नी उष्णिक्। ५ साम्नी बृहती। ११ साम्नी बृहती भुरिक्। ६ आर्ची अनुष्टुप्। ७ त्रिपात् स्वराड् अनुष्टुप्। ६ साम्नी अनुष्टुप्। १० आर्ची त्रिष्टुप्। १३ आर्ची पङ्क्तिः। त्रयोदशर्चं द्वितीय पर्यायसूक्तम्।

यजमानब्राह्मणं वा एतदतिथिपतिः कुरुते यदाहार्याणि प्रेक्षत इदं भूयार्ऽइदा३मिति ॥ १ ॥

भा०—(यद्) जिस समय (अतिथिपतिः) अतिथि का पालक गृहमेधी पुरुष (आहार्याणि) अतिथि को दान देने और भोजनार्थ उपस्थित करने योग्य पदार्थों पर (प्रेक्षते) दृष्टि करता है और पूछता है, प्रार्थना करता है कि (इदम् भूयः) यह और अधिक है या (इदम्)

१–'अतिथिपतिः कृणुते यदाहार्याणि अवेक्षते०' इति पैप्प० सं०।

यह (इति) इत्यादि तो (एतत्) इस प्रकार वह गृहमेधी उस विद्वान् अतिथि को यज्ञ में दीक्षित यजमान ब्राह्मण के समान (कुरुते) बना लेता है ।

यदाह भूय उद्धरेति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥२॥

उप हरति हवींष्या सादयति ॥ ३ ॥

भा०—और (यद्) जब गृहमेधी (आह) कहता है, प्रार्थना करता है कि भगवन् ! (भूयः उद्हर) इस आहार योग्य पदार्थ में से आप और अधिक ले लीजिये तो (तेन) उस से (प्राणम् एव) अपने प्राण या जीवन शक्ति आयु को (वर्षीयांसम्) और अधिक चिरस्थायी करता है । और जब वह (उपहरति) अन्न आदि पदार्थ उसके समीप लाता है तो वह मानो यज्ञ की अन्नमय हवियें उसके समीप (आसादयति) लाता है ।

तेषामासंन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति ॥ ४ ॥

स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ॥ ५ ॥

एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः॥६॥

भा०—(तेषाम् आसन्नानाम्) गृहस्थ के स्त्री पुत्र भाई आदि गृह के सम्बन्धियों के समीप ही बैठे रहते हुए (अतिथिः) जब अतिथि, विद्वान् उस भोजन को (आत्मन् जुहोति) खालेता है मानो अपने में उसकी आहुति दे लेता है । उस समय वह (हस्तेन स्रुचा) हाथ रूपी स्रुवा

२—"यदाह भूयोद्धर ते प्रजां चैव पशूंश्च वर्धयते—[?] प्राणं कृणुते । यत् सम्पृच्छति काममेव तेनावरुन्धे । कामोह पृष्टो यजति । यद् उदकमुपासिञ्चत्यप एव तेनावरुन्धे ।" इति पैप्प० सं० ।

४—'आत्मनि जुहोति' इति पैप्प० सं० ।

५—'शुल्कारेण वषट्कारे यस्तु चाहस्तेन' इति पैप्प० सं० ।

से, (प्राणे यूपे) प्राणरूप यूप स्तम्भ के समक्ष, (स्रुक्कारेण वषट्कारेण) खाते के समय 'स्रुक्' २ इस प्रकार के शब्द मानो 'स्वाहा' शब्द के साथ अपनी जाठर अग्नि में अन्न रूप हवि की आहुति करता है। (यत् अतिथयः) ये जो अतिथि हैं चाहे (प्रियाः च) प्रिय मित्र हों और चाहे (अप्रियाः च) अप्रिय, प्रिय न हों तो भी वे (ऋत्विजः) उन यज्ञकर्त्ता ऋत्विजों के समान हैं जो यजमान को (स्वर्गं लोकं गमयन्ति) स्वर्ग प्राप्त कराते हैं।

स य एवं विद्वान् न द्विषन्नंश्नीयान्न द्विषतोन्नंमश्नीयान्न मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य ॥ ७ ॥

भा०—(य एवं विद्वान्) जो इस प्रकार का तत्व जान लेता है (सः) वह (द्विषन्) किसी के प्रति द्वेष करता हुआ (न अश्नीयात्) भोजन न करे। और (द्विषतः) द्वेष करते हुए पुरुष का (अन्नम् न अश्नीयात्) अन्न भी स्वयं न खावे। (न मीमांसितस्य) शंका के पात्र या सन्देहपात्र पुरुष का भी अन्न न खावे और (न मीमांसमानस्य) हम पर शंका कर रहा हो उसका अन्न भी न खावे। अर्थात् जिसके मित्र भाव में सन्देह हो या जो उस पर सन्देह करता हो दोनों एक दूसरे का अन्न न खावें।

सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नंमश्नन्ति ॥ ८ ॥

सर्वो वा एषोऽजंग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति ॥ ९ ॥

भा०—(एषः सर्वः वा) वह सब लोग (जग्धपाप्मा) अपना पाप नष्ट कर लेते हैं (यस्य) जिसके (अन्नम्) अन्न को अतिथि लोग

७–'य एवं विद्यात्' इति क्वचित् पाठः । तस्मान् नाद्विषन्नद्यान्न द्विषतोऽन्नमद्यान्न मीमांसितस्य इति पैप्प० सं०।

८–९–'सर्वो उपशो जग्धपाप्मानं यस्यान्नमश्नाति' इति पैप्प० सं०।

(अश्नन्ति) खा लेते हैं। और (एषः वा सर्वः अज्ञग्धपाप्मा) उन सब के पाप नहीं नष्ट होते (यस्य अन्नं न अश्नन्ति) जिसका अन्न अतिथि लोग स्वीकार नहीं करते।

सर्वदा वा एष युक्तग्रावार्द्रपवित्रो वितताध्वर आहृतयज्ञक्रतुर्य उपहरति ॥ १० ॥
प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति ॥ ११ ॥
प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननु विक्रमते य उपहरति ॥ १२ ॥

भा०—(यः उपहरति) जो अतिथियों की सेवा करता है और उनका सत्कार करता है (एषः वा) उसके (युक्तग्रावा) सोम रसों के निकालने वाले पत्थरों से (सर्वदा) सदा सोम रस निकलता है, (आर्द्रपवित्रः) और उसके सोम रस नित्य 'दशा पवित्र' नामक वस्त्र पर छनता है (वितताध्वरः) उसका यज्ञ नित्य चला करता है और (आहृतयज्ञक्रतुः) वह सदा यज्ञ कर्म का फल प्राप्त करता है ॥ १० ॥

(यः उपहरति) जो अतिथियों को अर्घ्य पाद्य आदि से सत्कार करता है (एतस्य) उस का सदा (प्रजापत्यः यज्ञः विततः) प्राजापत्य यज्ञ जारी रहता है ॥ ११ ॥

(यः उपहरति) जो अतिथि को अर्घ, अन्न आदि भेंट करता है (एषः) वह (प्रजापतेः विक्रमान् अनु) प्रजापति के महान् कार्यों का (विक्रमते) अनुकरण करता है ॥ १२ ॥

योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः ॥ १३ ॥ (१९)

१०—'सर्वदा वा एष सुतसोमे' इति पैप्प० सं० ।

१३—साहवनीयो योऽन्नकरणस्य [अन्नकरणः ततः] दक्षिणाग्निर्यो वेश्मनि०' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यः अतिथीनाम्) जो अतिथियों का शरीर है (सः) वह (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि के समान है। (यः) और जो गृहस्थ स्वयं (वेश्मनि) घर में विद्यमान है (सः गार्हपत्यः) वह गार्हपत्य अग्नि के समान है। और (यस्मिन्) जिस अग्नि में गृहमेधी लोग (पचन्ति) अतिथि के लिये अन्न आदि पकाते हैं (सः) वह (दक्षिणाग्निः) दक्षिणाग्नि के तुल्य है।

४ अर्थ मन्त्र में 'अतिथिरात्मन् जुहोति' इस मन्त्रलिंग से अतिथि का शरीर स्वयं आहवनीयाग्नि के तुल्य है।



(३) अतिथि यज्ञ न करने से हानियें।

ब्रह्मा ऋषिः । अतिथिर्विद्यावा देवता, १–६,९ त्रिपादः पिपीलकमध्या गायत्र्यः, ७. साम्नी बृहती, ८ पिपीलिकामध्या उष्णिक् । नवर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

इ॒ष्टं च॒ वा ए॒ष पू॒र्तं च॑ गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑ ॥१॥

भा०—(यः) जो पुरुष (अतिथेः पूर्वः अश्नाति) अतिथि के पहले भोजन कर लेता है (एषः) वह (गृहाणां) अपने गृह के सम्बन्धियों के और (इष्टं च वा) अपने यज्ञों और (पूर्तं च) प्रजा के हितकारी कूप तड़ाग आदि अन्य कार्यों को भी (अश्नाति) स्वयं खा जाता है अर्थात् विनाश कर देता है।

पय॑श्च॒ वा ए॒ष रसं॑ च० ॥२॥ ऊर्जां॑ च॒ वा ए॒ष स्फा॒तिं च॑० ॥३॥
प्र॒जां च॒ वा ए॒ष प॒शूंश्च॑० ॥४॥ कीर्तिं॑ च॒ वा ए॒ष यश॑श्च० ॥ ५ ॥
श्रियं॑ च॒ वा ए॒ष सं॒विदं॑ च गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑ ॥६॥

(३) १–'चाश्नाति यः' इति पैप्प० सं० ।
२–'ऊर्जाच वा एष पयश्च' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यः अतिथेः पूर्वं अश्नाति) जो पुरुष अतिथि के भोजन करने के पहले ही स्वयं खा लेता है (एषः) वह (गृहाणाम्) अपने घर वालों के हिस्से के (पयः च, रसं च०) दुग्ध आदि पदार्थ और रसवान् स्वादु पदार्थों को भी स्वयं पी खा लेता है ॥ २ ॥ (एषः वा ऊर्जां च स्फातिं च गृहाणाम्०) वह अपने घर वालों के अन्न सम्पत्ति और समृद्धि को भी स्वयं खा जाता है ॥ ३ ॥ (प्रजां च वा एषः पशून् च०) वह अपने घर वालों की, प्रजाओं और पशुओं को भी आप ही खा जाता है ॥४॥ (कीर्तिम् च एषः यशः च०) अपने घरवालों की कीर्ति यश तक को खा जाता है ॥५॥ (श्रियं च वा एषः संविदं च०) वह अपने घर वालों की लक्ष्मी और सौहार्द भाव को भी खा जाता है, नष्ट कर देता है ॥ ६ ॥

एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ॥ ७ ॥

भा०—(एषः वा अतिथिः) यह अतिथि ही निश्चय से (यत् श्रोत्रियः) श्रोत्रिय—वेद के विद्वान् ब्राह्मण के समान पूजनीय है (तस्मात्) इसलिये (पूर्वः) अतिथि से पहले (न अश्नीयात्) कभी भोजन　　।

अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम् ॥ ८ ॥

भा०—(यज्ञस्य सात्मत्वाय) यज्ञ के सम्पूर्ण सफल करने और (यज्ञस्य अविच्छेदाय) यज्ञ को विच्छेद, विनाश न होने देने के लिये (अतिथौ अशितावति) अतिथि के भोजन कर चुकने पर (अश्नीयात्) गृहस्थ स्वयं भोजन करे । (तत् व्रतम्) यही व्रत कर ले, यही धर्माचरण है ।

एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥ ९ ॥ (१७)

८—'अशितावत्यश्नीयात तद् व्रतम् यज्ञस्याविच्छेदाय यज्ञस्य गुप्तयै, यज्ञस्य सात्मत्वाय' । इति पैप्प० सं० ।

भा०—(एतत् वा उ) वही सब पदार्थ (स्वादीयः) बहुत स्वादिष्ट होता है (यत् अधिगवम्) जो गौ से प्राप्त होता है । (क्षीरं वा) दूध या (मांसं वा) अन्य मनोमोहक दूध से उत्पन्न घी, मलाई, रबड़ी, खोवा, खीर आदि पदार्थ । (तत् एव) उसी पदार्थ को गृहस्थ (न अश्नीयात्) स्वयं न खाये, प्रत्युत अपने अतिथि को खिलावे ।



(४) अतिथियज्ञ का महान् फल ।

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्तौ । १,३,५,७ प्रजापत्या अनुष्टुभः, ९ भुरिक्, २,४,६, ८ त्रिपदा गायत्र्यः, १० चतुष्पाद् प्रस्तारपंक्तिः । दशर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

स य एवं विद्वान् क्षीरमुपसिच्योपहरति ॥ १ ॥
यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥२॥

भा०—(यः एवं विद्वान्) जो इस प्रकार अतिथि सत्कार के व्रत को जानता हुआ (क्षीरम् उपसिच्य) दूध को पात्र में डाल कर (उपहरति) अतिथि को तृप्त करने के लिये ले जाता है तो (यावत्) जितना (सुसमृद्धेन) उत्तम रीति से सम्पादित (अग्निष्टोमेन) अग्निष्टोम यज्ञ से (इष्ट्वा) यज्ञ करके (अव रुन्धे) फल प्राप्त करता है (तावत्) उतना (अनेन) इस अतिथि यज्ञ से (अवरुन्धे) प्राप्त कर लेता है ।

स य एवं विद्वान्त्सर्पिरुपसिच्योपहरति ॥ ३ ॥
यावदतिरात्रेणेष्ट्वा० ॥ ४ ॥

भा०—(यः एवं विद्वान्) जो इस प्रकार के अतिथि सत्कार के व्रत को जानता हुआ गृहस्थ (सर्पिः उपसिच्य) घृत आदि पुष्टिकारक

(४) १,२–'यत् क्षीरमुपसिच्य यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सपृष्ठेन' इति पैप्प० सं० ।
३,४–'यत्सर्पिरुप०', 'यावदाह्नेन समृद्धेन' इति पैप्प० सं० ।

पदार्थों को पात्र में रख अतिथि के लिये लाता है (यावत् अतिरात्रेण) इष्ट्वा०) तो उत्तम रीति से सम्पादित, 'अतिरात्र' नामक यज्ञ को करके जितना फल प्राप्त करते हैं उतना फल वह गृहस्थ इस अतिथि यज्ञ से प्राप्त कर लेता है।

स य एवं विद्वान् मधूपसिच्योपहरति ॥ ५ ॥
यावत् सत्रसद्येनेष्ट्वा० ॥ ६ ॥

भा०—(यः एवं विद्वान् मधु उपसिच्य उपहरति) जो इस प्रकार अतिथि यज्ञ को जान कर मधु आदि मधुर पदार्थ पात्र में रख कर अतिथि को तृप्त करता है (यावत् सत्रसद्येन इष्ट्वा०) जितना फल उत्तम रीति से सम्पादित 'सत्रसद्य' नाम के यज्ञ को करके प्राप्त करते हैं उतना फल वह अतिथियज्ञ से प्राप्त कर लेता है।

स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति ॥ ७ ॥
यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥८॥

भा०—(यः एवं विद्वान् मांसम् उपसिच्य उपहरति, यावद् सुसमृद्धेन द्वादशाहेन इष्ट्वा अवरुन्धे सः तावद् एनेन अवरुन्धे) जो इस प्रकार अतिथि यज्ञ के महत्त्व को जानता हुआ पुरुष और मनको रुचि देने वाले घी, मलाई, फल आदि पदार्थों को अतिथि के भेट करता है तो जितना फल उत्तम रीति से सम्पादित द्वादशाह यज्ञ से प्राप्त करते है उतना फल वह इस अतिथियज्ञ से प्राप्त करता है।

स य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ ९ ॥
प्रजानां प्रजननाय गच्छति प्रतिष्ठां प्रियः प्रजानां भवति
य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ १० ॥ (१८)

६—'यावत् रात्रेण समृद्धेन' इति पैप्प० सं०।

भा०—(यः एवं विद्वान् उदकम् उपसिच्य उपहरति) जो इस प्रकार अतिथि यज्ञ के महत्व को जानता हुआ पुरुष अतिथि के निमित केवल जल को भी ले आता है वह (प्रजानां) प्रजाओं के (प्रजननाय) उत्तम रीति से उत्पादन करने में समर्थ होता है। (प्रतिष्ठां गच्छति) प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है और (प्रजानां प्रियः भवति) अपनी प्रजाओं का प्यारा होता है। (यः एवं विद्वान् उदकम् उपसिच्य उपहरति) जो इस प्रकार जानता हुआ जल भी अतिथि को प्रदान करता है वही यह फल प्राप्त करता है, फिर औरों का तो कहना क्या ?



(५) अतिथि यज्ञ की सामगान से तुलना ।

ऋषि देवता च पूर्वोक्ते । १ साम्नी उष्णिक् , २ पुर उष्णिक् , ३ साम्नी भुरिग् बृहती, ४,६, ६ साम्न्यनुष्टुभः, ५ त्रिपदा निचृद् विषमागायत्री, ७ त्रिपदा विराड् विषमा गायत्री, ८ त्रिपाद् विराड् अनुष्टुप् । दशर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्मा उषा हिङ्कृणोति सविता प्र स्तौति ॥ १ ॥

बृहस्पतिरूर्जयोद्गायति त्वष्टा पुष्ट्या प्रति हरति विश्वे देवा निधनम् ॥ २ ॥

निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भा०—(यः एवं वेद) जो इस प्रकार अतिथि यज्ञ और देवयज्ञ के रहस्य को जानता है (तस्मै) उसके लिये (उषाः हिङ् कृणोति) उषा 'हिं' कार करती है, (सविता प्रस्तौति) सविता-सूर्य प्रस्ताव करता है, (बृहस्पतिः) बृहस्पति अर्थात् प्राण (उर्जया) ऊर्जा=बलकारिणी शक्ति से

१०—'गच्छतिसर्वमायुरेति । पुन राजरसः प्रमीयते य एवं विद्वान०' इति पैप्प० सं० ।

(५)२—'मध्यान्ददनोद्गाय' इति पैप्प० सं० ।

(उद् गायति) गान करता है । (त्वष्टा) त्वष्टा—सब जन्तुओं का उत्पादक परमेश्वर (पुष्टया) अपने पोषक बल से (प्रति हरति) उसके लिये 'प्रतिहार' करता है, (विश्वे देवाः निधनम्) विश्वे देव, समस्त विद्वान् गण उसके लिए 'निधन' करते हैं। वह स्वयं (भूत्याः) भूति, सम्पत्ति, सत्ता का (प्रजायाः) प्रजा का और (पशूनाम्) पशुओं का (निधनम् भवति) निधन अर्थात् परम आश्रय हो जाता है।

हिंकार, प्रस्ताव, उद्गान, प्रतिहार और निधन ये सामगान के पाँच अंग है । अतिथियज्ञ के कर्त्ता पुरुष के यश का उषा, सविता, बृहस्पति त्वष्टा और विश्वेदेव ये अपनी शक्तियों से गान करते हैं । अर्थात् उषा देवी उसके यश को प्रकाशित करती है, सविता सूर्य, उसके यश को उज्ज्वल करता है, बृहस्पति, प्राण अपने बल से उसका गान करता है अर्थात् प्रत्येक प्राणी उसके अन्न के बल से उसका गुण गाता है, (त्वष्टा) प्रजोत्पादक प्रभु अपने पोषणकारी बल से 'निधन' अर्थात् उसे निःशेष सम्पत्तियों का पात्र बनाते हैं। इस प्रकार वह सम्पत्ति, सत्ता, प्रजा और पशुओं का परम आश्रय हो जाता है।

तस्मा॑ उ॒द्यन्त्सूर्यो॒ हिङ्कृ॑णोति संग॒वः प्र स्तौ॑ति ॥ ४ ॥

म॒ध्यन्दि॑न॒ उद्गा॑यत्यपरा॒ह्णः प्रति॑ हरत्यस्तं॒यन्नि॒धन॑म् । नि॒धन॑०॥५

भा०—(उद् यत् सूर्यः तस्मै हिंकृणोति) उदय होता हुआ सूर्य उसके यशोगान करने के लिये 'हिंकार' करता है (संगवः प्रस्तौति) 'संगव' काल का सूर्य जब पर्याप्त ऊपर आ जाता है वह उसके लिए 'प्रस्ताव' करता है (मध्यन्दिनः उद्गायति) मध्यन्दिन का सूर्य उद्गान करता है, (अपराह्णः प्रतिहरति) अपराह्ण काल का सूर्य उसके लिये 'प्रतिहार' करता है और (अस्तं यन् निधनम्) अस्त जाता हुआ सूर्य 'निधन' करता है । अर्थात् सूर्य दिन की पाँच अवस्थाओं में उसके यश को उज्ज्वल करता, विस्तृत करता, गायन करता, उसको सब पदार्थ प्राप्त कराता और

उसे समस्त पदार्थों से सम्पन्न करता है और इस प्रकार वह (भूत्याः प्रजायाः पशूनां निधनं भवति) सम्पत्ति, प्रजा और पशुओं का परम आश्रय हो जाता है ।

तस्मा॑ अ॒भ्रो भव॑न् हिङ्कृ॑णोति स्तनय॒न् प्र स्तौ॑ति ॥ ६ ॥
वि॒द्योत॑मानः प्रति॑ हरति॒ वर्ष॑न्नुद्गा॑यत्युद्गृ॒ह्णन् नि॒धन॑म् ।
निधन॒ं० ॥ ७ ॥

भा०—जो अतिथि यज्ञ का रहस्य जानता है उसका यशोगान मेघ भी करता है । अर्थात् (तस्मै) उसके यशोगान करने के लिये सामगान के पांच अंगों में से क्रम से (भवन् अभ्रः हिंकृणोति) उत्पन्न होता हुआ मेघ 'हिंकार' करता है, (स्तनयन् प्रस्तौति) गर्जता हुआ मेघ 'प्रस्ताव' करता है, (विद्योतमानः) बिजुली चमकाता हुआ मेघ 'प्रतिहार' करता है (वर्षन् उद् गायति) वर्षण करता हुआ मेघ 'उद्गान' करता है और (उद् गृह्णन् निधनम्) पुनः जल को ऊपर ग्रहण करता हुआ मेघ 'निधन' को करता है । और इस प्रकार वह पुरुष (भूत्याः प्रजायाः पशूनां निधनं भवति) सम्पत्ति प्रजा और पशुओं का परम आश्रय हो जाता है ।

अति॑थीन् प्रति॑ पश्यति॒ हिङ्कृ॑णोत्य॒भि व॑दति॒ प्र स्तौ॑त्युद॒कं याच॒त्युद्गा॑यति ॥ ८ ॥
उप॑ हरति॒ प्रति॑ ह॒रत्यु॒च्छि॑ष्टं नि॒धन॑म् ॥ ९ ॥
नि॒धन॑ं भूत्याः॑ प्र॒जायाः॑ प॒शूनां॑ भ॑वति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥१०॥ (१६)

भा०—वह स्वयं भी एक प्रकार से अतिथियज्ञ करता हुआ साम गान करता है क्योंकि जब वह (अतिथीन् प्रतिपश्यति) अतिथियों का दर्शन करता है मानो (हिंकृणोति) साम गान के हिंकार को करता है,

७–'विद्योतमानः प्रस्तौति स्तनयन्नुद्गायति अपराह्ल प्रतिहरति अस्तं-यन्निधनम् ,' इति पैप्प० सं० ।

(अभिवदति प्रस्तौति) जब वह अभिवादन करता है तो वह मानो प्रस्ताव करता है, (उदकं याचति) जब जल लेकर स्वीकार करने की प्रार्थना करता है तब मानो (उद्गायति) 'उद्गान' करता है, (उपहरति प्रतिहरति) जब खाद्य पदार्थ उसके समक्ष रखता है मानो वह 'प्रतिहार' करता है (उच्छिष्टं निधनम्) और जो उसके भोजन कर चुकने पर शेष अन्न बचता है वह 'निधन' है। उसका उपभोग करता हुआ गृहमेधी (यः एवं वेद) जो इस अतिथियज्ञ को सामगान के तुल्य जानता है वह (भूत्याः प्रजायाः पशूनां निधनं भवति) सम्पत्ति, प्रजाओं और पशुओं का परम आश्रय हो जाता है।



(६) अतिथि यज्ञ की यज्ञ-काण्ड से तुलना।

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्ते। १ आसुरी गायत्री, २ साम्नी अनुष्टुप्। ३,५ त्रिपदे आर्चीपंक्ती। ४ प्राजापत्यागायत्री, ६-११ आर्च्यो बृहत्यः, १२ एकपदा आसुरी जगती, १३ याजुषी त्रिष्टुप्, १४ आसुरी उष्णिक्। चतुर्दशर्चं पर्यायं सूक्तम् ॥

यत् क्षत्तारं ह्वयत्या श्रावयत्येव तत् ॥ १ ॥

यत् प्रतिशृणोति प्रत्याश्रावयत्येव तत् ॥ २ ॥

यत् परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते ॥ ३ ॥ तेषां न कश्चनाहोता ॥ ४ ॥

१,२-'आश्रावयति' इत्यन्तः पाठ० पैप्प० सं०।

३-यत् परिवेष्टारा वसतां प्रेभिम्यन्ते चमसा' इति पैप्पः सं०।

४-'तेषां वै' इति पैप्प० सं०। यत् प्रातरुपहरति प्रातः सवनमेव तत्, यद् यवोपहरति माध्यं दिनमेव तत्सवनम्। यत्सायमुपहरति तृतीय मेव तद्यदातिथिपतिरवभृथं मेव तत् प्राह्वयन्ति। इति पैप्प० सं०।

भा०—अतिथियों का सत्कार करने वाला पुरुष (यत्) जब (क्षत्तारं ह्वयति) अपने कोठारी को बुलाता है वह मानो (तत्) उस समय अध्वर्यु कर्म में (आ-श्रावयति) आ श्रवण कराता है। (यत् प्रतिशृणोति) और जब कोठारी उसको आज्ञा को स्वीकार करता है तब मानो वह (प्रति आ श्रावयति) आध्वर्यव काण्ड का प्रत्याश्रावण करता है। और (यत्) जब (परिवेष्टारः) रसोई परसने वाले लोग (पात्रहस्ताः) हाथ में भोजन के पात्र लिये (पूर्वे च अपरे च) अगले और पिछले (प्रपद्यन्ते) आ पहुँचते है (चमसाध्वर्यवः एव ते) वे मानो चमसा लेकर यज्ञ करने वाले चमसाध्वर्यव लोग ही हैं। (तेषाम्) उन में से (कश्चन) कोई भी ऐसा (न) नहीं होता जो (अहोता) आहुति न देता हो। वे अतिथि को भोजन परसते हुए मानो हवि की आहुति दे रहे होते हैं।

यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् परिविष्यं गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति ॥ ५ ॥

यत् संभागयति दक्षिणाः सभागयति यदनुतिष्ठत उदवस्यत्येव तत् ॥ ६ ॥

भा०—(यद् वै) और जब (अतिथिपतिः) अतिथियों का पालक, गृहस्थ (अतिथीन्) अतिथियों को (परिविष्य) भोजन परोस कर उनको पूर्णतया तृप्त करके (गृहान् उप उद् आ एति) पुनः अपने गृहों को या अपने गृह के सम्बन्धियों के पास आता है मानो (तत्) तब यज्ञ कर चुकने बाद (अवभृथम् एव उप अव आ एति) अवभृथ स्नान ही कर लेता है। अर्थात् अतिथियों को तृप्त करके पुनः अपने गृह में आना उसके यज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान के समान है ॥ ५ ॥ और

५–'अवभृथमुपावैति' इति पैप्प० सं० ।

(यत्) जब वह (सभागयति) उनको कुछ धन द्रव्य भेंट करता है तो मानो (दक्षिणाः सभागयति) वह यज्ञ में पुरोहितों को दक्षिणा प्रदान करता है। और (यत्) जब (अनुतिष्ठते) उनके विदाई के लिये कुछ दूर तक उनके साथ आता है (तत्) तब (उद् अवस्यति एव) यज्ञ का उद्वसान करता है। यज्ञ के उद्-अवसान में यजमान विधिपूर्वक यज्ञ स्थान से अपने घर लौट आता है।

स उप॑हूतः पृथि॒व्यां भ॑क्षयत्युप॑हूतस्तस्मि॒न् यत् पृ॑थि॒व्यां वि॒श्वरू॑पम् ॥ ७ ॥

भा०—(सः) वह विद्वान् अतिथि (पृथिव्यां उपहूतः) इस पृथिवी में निमन्त्रित किया जाता है। (तस्मिन्) उसके आश्रय पर ही वह अतिथिपूजक गृहस्थ भी (उपहूतः) निमन्त्रित होकर (पृथिव्याम्) इस पृथिवी में (यत्) जो (विश्वरूपम्) नाना प्रकार के पदार्थ हैं उन का (भक्षयति) भोग करता है।

स उप॑हूतो॒न्तरि॑क्षे भक्षयत्युप॑हूत॒स्तस्मि॒न् यद॒न्तरि॑क्षे विश्वरू॑पम् ॥८॥

भा०—(सः उपहूतः अन्तरिक्षे) यदि अन्तरिक्ष लोक में से उस अतिथि को आदर पूर्वक निमन्त्रण दिया गया है तो (तस्मिन्) उसके बल पर वह गृहस्थी भी (उपहूतः) अन्यों द्वारा सादर आमन्त्रित होकर (अन्तरिक्षे यत् विश्वरूपम्) अन्तरिक्ष में जो नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ हैं उनका (भक्षयति) भोग करता है।

स उप॑हूतो दि॒वि भ॑क्षयत्युप॑हूत॒स्तस्मि॒न् यद् दि॒वि वि॒श्वरू॑पम् ॥ ९॥

७–पृथिव्यां, तत् पृथिव्यामाभाति स्वर्गो लोको भवति य एवं वेद। इति पैप्प० सं०।

८–अन्तरिक्षे पतन्त्यन्तरिक्षामाति स्वर्गो० इत्यादि पूर्ववत् इति पैप्प०सं०।

९–दिवि तपति दिवि आभाति स्वर्गो० इत्यादि पूर्ववत् इति पैप्प० सं०।

भा०—(सः अपहूतः दिवि) वह अतिथि यदि द्यौलोक में से सादर निमन्त्रित किया जाय तो वह गृहस्थ (तस्मिन्) उस अतिथि के बल पर (यद् दिवि विश्वरूपम्) जो द्यौलोक में नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ हैं उन सब को वह (भक्षयति) भोग करता है ।

स उप॑हूतो दे॒वेषु॑ भक्षयत्युप॑हूतस्तस्मि॒न् यद् दे॒वेषु॑ वि॒श्वरू॑पम् १०

भा०—यदि (देवेषु) देवों, विद्वानों में से (सः) वह अतिथि (उपहूतः) सादर निमन्त्रित किया जाता है तो (तस्मिन्) उसके बल पर (यद् देवेषु विश्वरूपम्) जो देवों में नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ हैं उन सबको वह गृहस्थ (भक्षयति) उपभोग करता है ।

स उप॑हूतो लो॒केषु॑ भक्षयत्युप॑हूतस्तस्मि॒न् यल्लो॒केषु॑ वि॒श्वरू॑पम् ११

भा०—(सः) वह अतिथि यदि (लोकेषु) अन्य साधारण लोगों में से (उपहूतः) सादर निमन्त्रित है तो (तस्मिन्) उस के बल पर वह गृहस्थ भी (लोकेषु यत् विश्वरूपम्) सर्व साधारण लोगों में जो नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ हैं उन सब को (उपहूतः) स्वयं निमन्त्रित होकर (भक्षयति) भोग करता है ।

स उप॑हूतः उप॑हूतः ॥ १२ ॥

आप्नोतीमं लोकमाप्नोत्यमुम् ॥ १३ ॥

भा०—(सः) वह अतिथि सादर निमन्त्रित होता है इसलिये (उपहूतः) उस गृहस्थी को भी सादर निमन्त्रित किया जाता है ॥ १२॥ वह (इमं लोकम् आप्नोति) इस लोक को भी सादर प्राप्त होता है और (अमुम् आप्नोति) दूसरे लोक में भी आदर पूर्वक जाता है ।

१०—'देवेषु पतति देवेषु भाति स्वर्गो०' इति पूर्ववत् इति पैप्प० सं० ।

११—'लोकेषु पतति [तपति] लोकेषु भाति स्वर्गो०' इति पूर्ववत् । इति पैप्प० सं० ।

ज्योतिष्मतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥ १४ ॥ (२०)

भा०—(य एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है वह (ज्योतिष्मतः) ज्योतिर्मय, प्रकाशवान्, ज्ञानवान् (लोकान्) लोकों, जनों को (जयति) विजय करता है, उन पर वश करता है, उनमें प्रतिष्ठा प्राप्त करता है ।

इति तृतीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तद्वयं ऋचश्चैकादशाधिकं शतम्]



[७] विराड् गौ का देवमय स्वरूप ।

ब्रह्मा ऋषिः । गौर्देवता । १. आर्ची उष्णिक्, ३,५, अनुष्टुभौ, ४,१४,१५, १६ साम्न्यौ बृहत्यः, ६,८ आसुर्योगायत्र्यौ । ७ त्रिपदा पिपीलिकमध्या निचृद्गायत्री । ९, १३ साम्न्यो गायत्र्यौ । १० पुर उष्णिक् । ११,१२,१७,२५, साम्न्युष्णिहः । १८,२२, एकपदे आसुरीजगत्यौ । १९ आसुरी पंक्तिः । २० याजुषी जगती । २१ आसुरी अनुष्टुप् । २३ आसुरी बृहती २४ भुरिग् बृहती । २६ साम्नी त्रिष्टुप् । इह अनुक्तपादा द्विपदा । षड्विंशर्चं एकं पर्यायसूक्तम् ॥

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥ १ ॥

भा०—(प्रजापतिः च परमेष्ठी च शृङ्गे) विराड गौ के दोनों सींग प्रजापति और परमेष्ठी हैं । (इन्द्रः शिरः) इन्द्र शिर है । (अग्निः ललाटं) अग्नि ललाट है (यमः कृकाटम्) कृकाट, गले की घेंटी यम है ।

सोमो राजा मस्तिष्को द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यधरहनुः ॥ २ ॥

१—'ललाटमित्यन्तः पाठः पैप्प० सं० ।

२—मस्तिष्कः सत्यं चक्षुर्ऋतं श्रोत्रे प्राणापानौ ना मिवते द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यधरा अग्निरस्याम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सोमः राजा) सोम राजा उसका (मस्तिष्कः) उसका मस्तिष्क है । (द्यौः उत्तरहनुः) द्यौलोक उसका ऊपर का जबड़ा है । (पृथिवी अधरहनुः) पृथिवी उसका नीचे का जबड़ा है ।

वि॒द्युज्जि॒ह्वा म॒रुतो॒ दन्ता॑ रे॒वती॑र्ग्री॒वाः कृत्ति॑का स्क॒न्धा घ॒र्मो वहः॑ ॥ ३ ॥

भा०—(विद्युत्) विद्युत् उसकी (जिह्वा) जीभ है (मरुतदन्ताः) मरुत् अर्थात् प्राण गण और नाना प्रकार की वायुएं (दन्ताः) उसके दांत हैं (रेवतीः ग्रीवाः) रेवती नक्षत्र उसकी ग्रीवा–गर्दन है (कृत्तिकाः स्कन्धाः) कृत्तिकाएँ उसके कन्धे हैं । (घर्मः) प्रकाशमान सूर्य या ग्रीष्म, उसका (वहः) 'वह' ककुद के पास का स्थान है ।

विश्वं॑ वा॒युः स्व॒र्गो लो॒कः कृ॑ष्ण॒द्रं वि॒धर॑णी नि॒वेष्यः॑ ॥ ४ ॥

भा०—(विश्वं वायुः) विश्व समस्त संसार वायु अर्थात् प्राण है, (स्वर्गः लोकः) स्वर्ग लोक है, (कृष्णद्रम्) कृष्णद्र अर्थात् मेघ उसका [कण्ठ[1]] है, (विधरणी निवेष्यः) विधरणी, लोकों को पृथक् २ स्थापित करनेवाली शक्ति उसका निवेष्य अर्थात् बैठने के कूल्हे या सीमा है ।

श्ये॒नः क्रो॒डो॒३॒न्तरि॑क्षं पाज॒स्यं॑ बृह॒स्पतिः॑ क॒कुद् बृ॑ह॒तीः कीक॑साः ॥ ५ ॥

भा०—(श्येनः क्रोडः) श्येनयाग उसका क्रोड़ भाग है (अन्तरिक्षम् पाजस्यम्) अन्तरिक्ष उसका पाजस्य अर्थात् पेट है (बृहस्पतिः ककुत्) बृहस्पति उसका ककुद् या कोहान भाग है, (बृहतीः कीकसाः) बड़ी दिशाएँ उसके गले के मोहरे हैं ।

दे॒वानां॒ पत्नीः॑ पृ॒ष्टय॑ उप॒सदः॑ पर्शवः॑ ॥ ६ ॥

भा०—(देवानां पत्नीः) देवों, विद्वानों की स्त्रियां (पृष्टयः) पृष्टि

३–'दन्ता' पवमानः प्राणः इति पैप्प० सं० । 'ग्रीवाकृति' इति क्वचित् पाठः ।

४–विश्वं वायुः कण्ठः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रव्याद्रिणी [विधरणी] विवश्वः । इति पैप्प० सं० ।

अर्थात् पीठ के मोहरे हैं (उपसदः पर्शवः) उपसद् इष्टियाँ उसकी पर्शु= पंसुलियां हैं ।

मित्रश्च वरुणश्चांसौ त्वष्टा चार्यमा च दोषणी महादेवो बाहू ॥७॥

भा०—(मित्रः च वरुणः च) मित्र और वरुण (अंसौ) दोनों अंस, बाहुओं के ऊपर के भाग हैं (त्वष्टा च अर्यमा च) त्वष्टा और अर्यमा (दोषणी) दो बाहुओं के ऊपर के भाग हैं । (महादेवः बाहू) महादेव बाहु भाग या अगली टाँगों का निचला भाग है ।

इन्द्राणी भसद् वायुः पुच्छं पवमानो वालाः ॥ ८ ॥

भा०—(इन्द्राणी) इन्द्राणी, इन्द्र विद्युत् की शक्ति (भसत्) गुह्य भाग है, (वायुः पुच्छं) वायु पुच्छ भाग है । (पवमानः वालः) बहता हुआ वायु उसके बाल हैं ।

ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी वलमूरू ॥ ९ ॥

भा०—(ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी) ब्रह्म, ब्राह्मण और क्षत्र, क्षत्रिय दोनों श्रोणी, चूतर कूल्हे भाग हैं (बलम् ऊरू) बल सेना ऊरू जाघें हैं ।

धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जङ्घा गन्धर्वा अप्सरसः कुष्ठिका अदितिः शफाः ॥ १० ॥

भा०—(धाता च सविता च) धाता और सविता दोनों (अष्ठीवन्तौ) उस महावृषभ के टखने हैं (गन्धर्वाः जंघाः) गन्धर्व पुरुष जंघाएं हैं (अप्सरसः कुष्ठिकाः) अप्सराएं, स्त्रियां कुष्टिएँ, खुरों के ऊपर पीछे की ओर लगी अंगुलियें हैं । (अदितिः शफाः) अदितिपृथ्वी शफ, खुर हैं ।

चेतो हृदयं यकृन्मेधा व्रतं पुरीतत् ॥ ११ ॥

१०—'गन्धर्वाप्सरसः' इति पैप्प० सं० ।

११—'यकृन्मेधा तरिमा चित्तम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(चेतः हृदयम्) समस्त चेतना उसका हृदय है (मेधा-यकृत्) मेधा बुद्धि उसका यकृत् कलेजा भाग है (व्रतम्) व्रत उस के (पुरीतत्) आंतें हैं ।

क्षुत् कुक्षिरिरा वनिष्ठुः पर्वताः प्लाशयः ॥ १२ ॥

भा०—(क्षुत् कुक्षिः) भूख उसकी कोंख है (इरा वनिष्ठुः) इरा=अन्न या जल उसकी वनिष्ठु गुदा या बड़ी आंत है। (पर्वताः) पर्वत मेघ (प्लाशयः) प्लाशियें छोटी आंतें हैं ।

क्रोधो वृक्कौ मन्युराण्डौ प्रजा शेपः ॥ १३ ॥

भा०—(क्रोधः वृक्कौ) क्रोध उसके वृक्क अर्थात् गुर्दे हैं। (मन्युः आण्डौ) मन्यु अण्डकोश, हैं । (प्रजा शेपः) प्रजाएं उसका लिंग भाग है ।

नदी सूत्री वर्षस्य पतय स्तना स्तनयित्नुरूधः ॥ १४ ॥

भा०—(नदी सूत्री) नदी उसकी सूत्री जन्म देने वाली नाडि सूत्री है । और (वर्षस्य पतयः स्तनाः) वर्षा के पालक मेघ उसके स्तन हैं । और (स्तनयित्नुः ऊधः) गर्जनशील मेघ ऊधस्, दूधके भरे थान हैं ।

विश्वव्यचाश्चर्मौषधयो लोमानि नक्षत्राणि रूपम् ॥ १५ ॥

भा०—(विश्वव्यचाः) सर्वव्यापक आकाश उसका (चर्म) चमड़ा है (ओषधयः लोमानि) ओषधियां उसके लोम हैं, (नक्षत्राणि रूपम्) नक्षत्र उसके रूप अर्थात् उसके देह पर चितकबरे चिह्न हैं ।

देवजना गुदा मनुष्या आन्त्राण्यत्रा उदरम् ॥ १६ ॥

१२—'पर्वताः प्राशः' इति पैप्प० स० ।

१३—'समुद्रो वस्तिस्तनयित्नुरूधः वर्षस्य पतयः स्तनाः' इति पैप्प० सं० ।

१५—'ओषधयो रोमाणि अभ्रं पीवो मज्जानिधनम्' इति पैप्प० सं० ।

१६—'मनुष्यान्त्राण्यत्रा उदरम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(देवजनाः) देव जन (गुदाः) गुदा हैं। (मनुष्याः आन्त्राणि) सामान्य मनुष्य उसके आंतें हैं (अत्रा उदरम्) अन्य भोजन करने वाले प्राणिगण उसके उदर भाग हैं।

रक्षांसि लोहितमितरजना ऊबध्यम् ॥ १७ ॥

भा०—(रक्षांसि) राक्षस लोग (लोहितम्) उसके लोहित, रक्त भाग हैं (इतरजनाः ऊबध्यम्) इतरजन तिर्यग् योनियां ऊबध्य, अन-पचा अन्न हैं।

अभ्रं पीवो मज्जा निधनम् ॥ १८ ॥

भा०—(अभ्रं पीवः) मेघ उसके पीवस्=मेद के बराबर है। (निधनं मज्जा) समस्त धन सम्पत्ति उसकी मज्जा भाग है।

अग्निरासीन उत्थितोश्विना ॥ १९ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि उसका (आसीनः) बैठने का रूप है और (अश्विनौ) दोनों अश्वी, दिन, रात उसका (उत्थितः) खड़ा होने का रूप हैं।

इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा तिष्ठन् यमः ॥ २० ॥

भा०—(प्राङ् तिष्ठन्) प्राची दिशा में विराजमान वह स्वयं (इन्द्रः) इन्द्र है। (दक्षिणा तिष्ठन्) दक्षिण दिशा में विराजमान वह (यमः) यम है।

प्रत्यङ् तिष्ठन् धातोदङ् तिष्ठन्त्सविता ॥ २१ ॥

भा०—(प्रत्यङ् तिष्ठन् धाता) प्रतीची अर्थात् पश्चिम में विराजमान वह धाता स्वरूप है। (उदङ् तिष्ठन् सविता) उत्तर दिशा में विराजमान वह सविता स्वरूप है।

१७–'उवध्यं' इति पैप्प० सं०।

१८–'भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद' इत्यधिकः पाठः, पैप्प० सं०।

तृणानि प्राप्तः सोमो राजा ॥ २२ ॥

भा०—(तृणानि प्राप्तः) वही ईश्वरीय शक्ति (तृणानि प्राप्तः) तृण, वनस्पतियों में प्राप्त होकर (सोमो राजा) सोम राजा है।

मित्र ईक्षमाण आवृत्त आनन्दः ॥ २३ ॥

भा०—(ईक्षमाणः मित्रः) जब वह समस्त प्राणियों पर कृपा दृष्टि से देखता है तब वह सबका मित्र है। (आवृत्तः आनन्दः) जब उन को व्याप लेता है तो वही आनन्द रूप हो जाता है।

युज्यमानो वैश्वदेवो युक्तः प्रजापतिर्विमुक्तः सर्वम् ॥२४॥

भा०—(युज्यमानः) समाधि द्वारा ध्यान किये जाने के अवसर पर वह (वैश्वदेवः) विश्वदेवों के समष्टिरूप है। (युक्तः प्रजापतिः) समाधि प्राप्त कर लेने पर वह प्रजापति हो जाता है। (विमुक्तः) वही सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त रूप में (सर्वम्) सर्व रूप है।

एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् ॥ २५ ॥

भा०—(एतत् वै विश्वरूपम्) यह ही विश्वरूप परमात्मा का विराट् रूप है वही (सर्वरूपम्) सर्वरूप, (गो रूपम्) गौ या वृषभ का रूप है जिसका इस प्रकार वर्णन किया जाता है।

उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एवं वेद ॥२६॥ (२१)

भा०—(यः एवं वेद) इस प्रकार जो प्रजापति के विराट् रूप को वृषभ रूप में यथार्थ रूप से जान लेता है (एनम्) उसको (विश्व

२२–'तृणान् प्राप्तः सोमोराजा' इति पैप्प० सं०।

२३–'अनृतानन्द ईक्षमाणो मित्रा वरुणो' इति पैप्प० सं०।

२४–'युज्यमानो वैश्वानरो' इति पैप्प० सं०।

२५–'एतद्वैवोरूपम्' इति पैप्प० सं०।

रूपाः) विश्व रूप (सर्वरूपाः) सर्वरूप (पशवः) पशु (उप-तिष्ठन्ति) प्राप्त होते हैं अर्थात् उसको समस्त प्राणियों में विश्व और सर्व का उक्तरूप प्रत्यक्ष दीखने लगता है ।

इसकी तुलना ११वें काण्ड के ३रे सूक्त के द्वितीय पर्याय से और नवम के ४र्थ सूक्त मन्त्र ६-१६ तक कहे साहस्र ऋषभ के साथ भी मिलान करो ।



[८] शरीर के रोगों का निवारण ।

भृग्वङ्गिराः ऋषिः । सर्वशीर्षामयाद्यपाकरणं देवता । १,११,१३,१४,१६,२० अनुष्टुभः । १२ अनुष्टुब्गर्भा ककुम्मती चतुष्पादुष्णिक् । १५ विराड् अनुष्टुप् । २१ विराट् पथ्या बृहती । २२ पथ्यापंक्तिः । द्वाविंशर्चं सूक्तम् ॥

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम् ।
सर्वं शीर्षण्यं/ ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ १ ॥

भा०—(शीर्षक्तिम्) शिर में व्यापक (शीर्षामय) शिरो रोग, (कर्णशूल) कान का दर्द, (विलोहितम्) जिसमें विकृत रुधिर वहे (ते) तेरे (सर्वं) सारे (शीर्षण्यं रोगम्) सिर के रोग को (बहिः) बाहर (निर्मन्त्रयामहे) विशेष रूप से सर्वथा स्तम्भित करते हैं, रोकते हैं, उसका उपाय करते हैं ।

कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम् । सर्वं० ॥२॥

१-(प्र०) 'शीर्षक्त्यं', 'कर्णशूलं तृतीयकम्' इति पैप्प० सं० ।

१. मन स्तम्भे (चुरादिः) इत्यतः सार्वधातुकः ष्ट्रन् । मन्त्रः स्तम्भक उपायः ।

२-'कङ्कूखेभ्यः', 'शुक्तिवल्शं विलोहितम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ते कर्णाभ्यां) तेरे कानों से, और तेरे (कंकूषेभ्यः) कंकूष=क ं के भीतरी भागों में से (विसल्पकम्) नाना प्रकार से रेंगने वाली, चीस चलाने वाली (कर्णशूलम्) कान की पीड़ा को और (सर्वं ते शीर्षण्यं रोगं निर्मन्त्रयामहे) समस्त सिर के रोग को हम उपाय से रोक दें और दूर करें।

यस्य॑ हे॒तोः प्र॒च्यव॑ते॒ यक्ष्मः॑ क॒र्ण॒त आ॒स्य॒तः । सर्वं॰ ॥ ३ ॥

भा०—(यस्य हेतोः) जिस हेतु अर्थात् कारण से (कर्णतः) कान से और (आस्यतः) मुख से (यक्ष्मः) रोगकारी, पीड़ाजनक मुवाद (प्रच्यवते) बहता है (सर्वं० इत्यादि) उस समस्त शिर के रोग को हम उपाय से रोकें और दूर करें।

यः कृ॒णोति॑ प्र॒मोत॑म॒न्धं कृ॒णोति॒ पूरु॑षम् । सर्वं॰ ॥ ४ ॥

भा०—जो कान का रोग (पुरुषम्) पुरुष को (प्रमोतम् कृणोति) खूब बांधदे अर्थात् पुरुष के शिर की इन्द्रियां कान आदि की शक्तियों को जो पीड़ा शिथिल करदे उसको गूंगा, बहरा करदे और जो (अन्धम् कृणोति) पीड़ा उसको अन्धा करदे ऐसे (सर्वं० इत्यादि) समस्त शिर के रोग को हम उपाय से रोकें और दूर करें।

अ॒ङ्ग॒भे॒दम॑ङ्गज्व॒रं वि॒श्वाङ्ग्यं॑ वि॒सल्प॑कम् ।
सर्वं॑ शीर्ष॒ण्यं॑ ते॒ रोगं॑ ब॒हिर्निर्म॑न्त्रयामहे ॥ ५ ॥

भा०—(अङ्गभेदम्) शरीर के अंगों को तोड़ डालने वाले, (अंग

३—'यक्ष्मोनासतास्यत' इति पैप्प० सं० ।

४—'प्रमोहितमिति कश्चित् मुग्धोहरिवर्षीयः ।

प्रमोतं—मूञ्बन्धने क्रयादिः, मूङ्बन्धने (भ्वादिः) इतःक्तः । प्रबद्ध-सर्वेन्द्रिय व्यापारमित्यर्थः । मूकबधिरमिति यावत् ।

५—'शीर्षरोगमङ्गरोगं विश्वाङ्गीनं विशल्यकम्' इति पैप्प० सं० ।

ज्वरम्) शरीर के अंगों में ज्वर, संताप उत्पन्न करने वाले (विश्वाङ्ग्यम्) समस्त शरीर में पीड़ा उत्पन्न करने वाले (विसल्पकम्) विशेष रूप से तीव्र वेदना से फैलने वाले (सर्वं० इत्यादि) समस्त प्रकार के शिर के रोग को हम बाहर करदें ।

यस्य॑ भीमः प्र॑तीकाश उद्वेपय॑ति पूरु॑षम् ।
त॒क्मानं॑ वि॒श्वशा॑रदं ब॒हि० ॥ ६ ॥

भा०—(यस्य) जिसका (भीमः) भयानक (प्रतीकाशः) स्वरूप ही (पुरुषम्) पुरुष को (उद्वेपयति) कपा देता है ऐसे (तक्मानम्) दुःखदायी (विश्वशारदम्) सब वर्षों और ऋतुओं में होने वाले ज्वर को हम शरीर से (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर ही रोकदें । उस शरीर में प्रवेश न करने दें ।

य ऊ॒रू अ॑नुस॒र्प॑त्यथो॒ एति॑ ग॒वीनि॑के ।
यक्ष्मं॑ ते अ॒न्तर॒ङ्गेभ्यो॑ ब॒हि० ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो रोग (ऊरू) जंघाओं की ओर (अनुसर्पति) बढ़ता है (अथो) और (गवीनिके एति) मूत्राशय के समीप 'गवीनि' नामक नाड़ियों में पहुँच जाता है उस (यक्ष्मम्) रोग को (ते) तेरे (अन्तरङ्गेभ्यः) भीतर अंगों से (बहिः) बाहर (निर्मन्त्रयामहे) निकाल दें ।

यदि॒ कामा॑दपका॒माद्धृद॑या॒ज्जाय॑ते॒ परि॑ ।
हृ॒दो ब॒लास॒मङ्गे॑भ्यो ब॒हि० ॥ ८ ॥

भा०—(यदि) यदि (बलासम्) शरीर के बल का नाशक, कफ रोग (कामात्) हमारे इच्छाकृत कार्य से या (अकामात्) विना

६–(द्वि०) 'पौरुषम्' । (तृ० च०) 'तक्मानं चीतं रूरं च तं त्वे निर्मन्त्र०' इति पैप्प० सं० ।

७–(तृ०) 'बलासं ते' इति पैप्प० सं० ।

कामना के बाह्य जल वायु के विकार से या (हृदयात् परि) हृदय के समीप (जायते) उत्पन्न हो जाय तो उसे (हृदः) हृदय के साथ सम्बन्ध रखने वाले (अंगेभ्यः) सब अंग, छाती, फेफड़े और हृदय के विभागों से (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर निकाल दें।

हरिमाणं ते अङ्गेभ्योऽप्वामन्तरोदरात्।
यक्ष्मोधामन्तरात्मनो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ९ ॥

भा०—(ते अंगेभ्यः) तेरे अंगों से (हरिमाणम्) हरिमा, पीलिया रोग को और (उदरात् अन्तः) पेट के भीतर (अप्वाम्) उदर रोग को और (आत्मनः) शरीर के (अन्तः) भीतर से (यक्ष्मोधाम्) यक्ष्मा रोग के अंशों को रखने वाले रोग को (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर निकालदें।

आसो बलासो भवतु मूत्रं भवत्वामयत्।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥१०॥ (२२)

भा०—(बलासः) शरीर के बल का नाशक, कफ (आसः भवतु) बाहर फेंक दिया जाय और (आमयत्) रोगकारी पदार्थ (मूत्रं भवतु) मूत्र रूप होकर बाहर आजावे (सर्वेषां यक्ष्माणां) समस्त रोगों के (विषम्) विष को (अहम्) मैं (त्वत्) तेरे शरीर से (निर् अवोचम्) निर्मूल करदूं।

बहिर्बिलं निर्द्रवतु काहाबाहं तवोदरात्। यक्ष्माणां० ॥ ११ ॥

भा०—(तव उदरात्) तेरे पेट से (काहाबाहम्) 'काहाबाह' अर्थात् कड़ कड़ाने वाला रोग (बिलं बहिः) भीतर से बाहर (निर्द्रवतु) द्रवीभूत होकर सर्वथा निकल जाय। और इस प्रकार (सर्वेषां यक्ष्माणाम्)

९–(तृ०) 'यक्ष्म ते सर्वमङ्गभ्यो बहि०' इति पैप्प० सं०।
११–'काहाबलं त्वन्दरा [?]' इति पैप्प० सं०।

सब रोगों के (विषं अहं त्वत् निर् अवोचम्) विष को तेरे शरीर से बाहर कर दूं ।

उद्रात् ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि ।

यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १२ ॥

भा०—(ते उदरात्) तेरे पेट से, (क्लोम्नः) 'क्लोम' कलेजे से, (नाभ्याः) नाभी से, (हृदयात् अधि) और हृदय से भी (सर्वेषां यक्ष्माणां विषम्) समस्त प्रकार के रोगों के विष को (अहं त्वत् निर अवोचम्) मैं तेरे शरीर से बाहर करदूं ।

याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः ।

अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १३ ॥

भा०—(याः) जो (अर्षणीः) तीव्र पीड़ाजनक रोगमात्राएं (सीमानम्) सीमा, सिर के ऊपरी भाग, खोपड़ी को (विरुजन्ति) नाना प्रकार से पीड़ित करती हैं और (मूर्धानम् प्रति) शिर के प्रति दौड़ती हैं वे (अनामयाः) रोग शून्य होकर (अहिंसन्तीः) रोगी को बिना कष्ट दिये ही (बहिः बिलम्) शरीर के छिद्रों से बाहर (निर्द्रवन्तु) द्रवीभूत होकर निकल जावें ।

या हृदयमुपर्षन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः । अहिं० ॥ १४ ॥

भा०—और (याः) जो पीड़ाकारी रोगांश (हृदयम् उप ऋषन्ति) हृदय की ओर तीव्र वेदना सहित बढ़ी चली जाती हैं और (कीकसाः अनुतन्वन्ति) गले के मोहरे को बांध या जकड़ लेती हैं वे भी (अहिंसन्तीः अनामयाः बहिर्बिलम् निर्द्रवन्तु) रोग रहित होकर बिना कष्ट दिये ही शरीर के छिद्रों से बाहर हो जायँ ।

१२–(प्र०) 'परिक्लोम्नो' इति पैप्प० सं० ।

या: पार्श्वे उपर्षन्त्यनुनिक्षन्ति पृष्टीः । अहिं० ॥ १५ ॥

भा०—और (याः) जो पीड़ाएं (पार्श्वे उप ऋषन्ति) पासें या दोनों कोखों में तीव्र वेदना करती हैं और (पृष्टीः) पीठ के मोहरों तक (अनुनिक्षन्ति) पहुँच जाती हैं वे भी (अनामयाः अहिंसन्तीः) रोग रहित और कष्ट रहित होकर शरीर से बाहर हो जायँ ।

यास्तिरश्चीरुपर्षन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते । अहिं० ॥ १६ ॥

भा०—(याः) जो रोगमात्राएं (तिरश्चीः उप ऋषन्ति) तिरछी वेदना उत्पन्न करतीं और (ते वक्षणासु) तेरी पसलियों में चली जाती हैं वे भी (अहिंसन्तीः अना०) रोग रहित तुझे कष्टकारी न होकर शरीर से बाहर हो जायँ ।

या गुदा अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च । अहिं० ॥ १७ ॥

भा०—(याः) जो पीड़ाजनक रोगमात्राएं (गुदाः अनुसर्पन्ति) गुदाओं में पहुँच जाती हैं (आन्त्राणि मोहयन्ति च) आन्तों में फैल जाती हैं वे भी (अहिसन्तीः०) विना कष्ट दिये रोग रहित होकर शरीर से बाहर हो जांय ।

या मज्ज्ञो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १८ ॥

भा०—(याः) जो रोग मात्राएँ (मज्ज्ञः निर्धयन्ति) मज्जाओं को सर्वथा चूस जायँ. सुखा डालें, उन में भी संताप उत्पन्न करदें । और

१४–१५–'उपदिशन्ति' इति पैप्प० सं० ।

१६–(द्वि०) 'वक्षणाभ्यः' इति पैप्प० सं० ।

१७–'यापयन्ति च' इति पैप्प० सं० । 'राथ'मते—'आन्लाएयामयन्ति' ।
अथवा यापयन्ति शकृद्भेद हेतवो भवन्ति इत्यर्थः ।

१८–'मज्ज्ञोऽनुसर्पन्ति' इति पैप्प० सं० ।

(परूंषि विरुजन्ति च) पोरू २, जोड़ २ में तीव्र वेदना, फूटन पैदा करदें वे भी (अहिंसन्तीः) विना कष्ट दिये रोग रहित होकर शरीर से बाहर हो जायँ ।

ये अङ्गा॑नि म॒दय॑न्ति॒ यक्ष्मा॑सो रोप॒णास्तव॑ ।
यक्ष्मा॑णां॒ सर्वे॑षां वि॒षं निर॑वोचम॒हं त्वत् ॥ १९ ॥

भा०—(ये) जो (यक्ष्मासः) रोगजनक पदार्थ (तव) तुझे (रोपणाः) मूर्छा उत्पन्न करें और (अंगानि) अंगों में (मदयन्ति) कंप-कंपी पैदा करें उन (सर्वेषां) सब (विषम्) विषको (अहं त्वत् निर अवोचम्) मैं तेरे शरीर से बाहर करदूं ।

वि॒स॒ल्पस्य॑ विद्र॒धस्य॑ वातीका॒रस्य॑ वाल॒जेः ।
यक्ष्मा॑णां॒ सर्वे॑षां वि॒षं निर॑वोचम॒हं त्वत् ॥ २० ॥

भा०—(विसल्पस्य) नाना प्रकार से फैलने वाले पीड़ाकारी रोग, (विद्रधस्य) गिल्टियों की सूजन और (वातीकारस्य) वाय की पीड़ा (वा अलजेः) और आंख के भीतर दाने या रोहें फूलने आदि (सर्वेषां यक्ष्माणाम्) समस्त रोगों के (विषम्) विष को (अहं त्वत् निर् अवोचम्) मैं तेरे शरीर से निकाल दूं ।

पादा॑भ्यां ते॒ जानु॑भ्यां॒ श्रोणि॑भ्यां॒ परि॒ भंस॑सः ।
अनू॑काद॒र्षणी॑रु॒ष्णिहा॑भ्यः शी॒र्ष्णो रोग॑मनीनशम् ॥२१॥

१९-(द्वि०) 'यक्ष्मासो रोपणा सह' इति पैप्प० सं० । 'येऽङ्गानि' इति क्वचित् ।

२०-'विशल्यस्य','वातीकालस्य' इति पैप्प० सं० ।

२१-(प्र०द्वि०) पादाभ्यां गुल्फाभ्यां जंघाभ्यां जानुभ्यामूरुभ्यां श्रोणिभ्यां' (तृ०) 'आनूकया दर्षणी रुष्णिहाभ्यो ग्रीवाभ्यः स्कन्धेभ्यः शीर्ष्णो०' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ते पादाभ्यां) तेरे चरणों से, (जानुभ्यां) गोड़ों से, (श्रोणिभ्याम्) कूल्हों से, (परि भंससः) जघन भाग से, (अनूकाद्) रीढ़ से, (उष्णिहाभ्यः) गर्दन की नाड़ियों से और (शीर्ष्णः) शिर से (अर्षणोः) तीव्र वेदनाओं को और उनके उत्पादक (रोगम्) रोग को (अनीनशम्) नाश करता हूं ।

सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः ।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोङ्गभेदमशीशमः
॥ २२ ॥ (२३)

भा०—(ते) हे रोगी ! तेरे (शीर्ष्णः) सिर के (कपालानि) कपाल भाग और (हृदयस्य च) हृदय की (यः) जो (विधुः) विशेष प्रकार की पीड़ा थी वह (सम्) अब शान्त हो गयी है । हे (आदित्य) सब रोगों के हरने हारे सूर्य ! तू (उद्यत्) उगता हुआ ही अपनी (रश्मिभिः) किरणों से (शीर्ष्णः) शिर के रोग को (अनीनशः) नाश करता है और (अंगभेदम्) शरीर के अंगों को तोड़ने वाली तीव्र वेदना को भी (अशीशमः) शान्त कर देता है ।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम् ऋचश्चाष्टाचत्वारिंशत् ।]



[९] विश्वस्रष्टा परमेश्वर का निरूपण ।

ब्रह्मा ऋषिः । आदित्यो देवता । अध्यात्मकं वामीयं सूक्तम् । १,११,१३,१५,१७, १९,२२ त्रिष्टुभः, १४,१६,१८ जगत्यः । द्वाविंशर्चं सूक्तम् ॥

२२–(द्वि०) 'यो विदुः' इति क्वचित् पैप्प० सं० । (तृ०) उद्यन् सूर्या–दित्याङ्गानि रोमनखानि सर्वाणि सदनानि निशत् । इति पैप्प० स० ।

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥ १ ॥
ऋ० १ । १६४ । १ ॥

भा०—(अस्य) इस (वामस्य) सेवन करने योग्य, सुन्दर, वरणीय, (पलितस्य) समस्त जगत् के पालक (होतुः) स्वयं अपने में उसको लेलेने वाले, प्रलयकारी, (तस्य) उस महान् परमेश्वर का (भ्राता) भ्राता, भरण पोषण समर्थ स्वरूप (मध्यमः) सब सृष्टि के भी भीतर वर्त्तमान, (अश्नः) सर्वव्यापक (अस्ति) है। और (अस्य) इस परमेश्वर का (तृतीयः) सब से उत्कृष्ट, तीर्णतम (भ्राता) सर्वधारक स्वरूप (घृतपृष्ठः) अत्यन्त प्रदीप्त, तेजोमय है (अत्र) उस परम रूप में ही मैं क्रान्तदर्शी योगी (सप्तपुत्रम्) सर्पशील 'पुम्' अर्थात् जीवों और लोगों के त्राग करने वाले (विश्पतिं) सब प्रजाओं के पालक परमेश्वर को (अपश्यम्) साक्षात् करता हूं ।

अध्यात्म में—(अस्य पलितस्य होतुः वामस्य तस्य मध्यमः भ्राता अश्नः अस्ति) इस सर्वव्यापक, परम पुराण, परम वरणीय आत्मा का मध्यम भ्राता 'अश्न' कर्म फल भोक्ता जीव है । (अस्य तृतीयः भ्राता घृतपृष्ठः) इसका तीसरा भाई 'घृतपृष्ठ' जलमय, आपोमय प्रकृति तत्व है (अत्र) वहां ही मैं (सप्तपुत्रम् विश्पतिं अपश्यम्) सर्पणशील लोकों के प्रजापति को साक्षात् करता हूं ।

आदित्यपक्ष में—इस सुन्दर पुण्य, सर्वादाता, सूर्य का मध्यम भ्राता (अश्नः) सर्वव्यापक वायु है । उसका तृतीय भ्राता 'घृतपृष्ठ' जल को पीठ पर लिये यह भूलोक है यहां 'सप्तपुत्रम्' सात मरुद्गणों से युक्त सप्त रश्मियों से युक्त या सात ग्रहों या लोकों से युक्त (विश्पतिम्) प्रजापति के समान सूर्य को देखता हूं ।

---

[६]१—ऋग्वेदेऽस्य सूक्तस्य दीर्घतमाऋषिः ।

भौतिक पक्ष में—इस प्रशंसनीय वृद्ध ज्ञानी के भरण पोषण में समर्थ मध्यम, पृथिवी आदि लोकों में प्रसिद्ध (अश्नः) सब पदार्थों को भस्म कर खा जाने वाला अग्नि विद्यमान है, उसका तीसरा भ्राता मानो (घृतपृष्ठः) जल को पीठ पर लिये विद्युतरूप अग्नि है। और स्वयं (सप्तपुत्रं विश्पतिं) सात प्रकार के तत्वों से उत्पन्न प्रजा के पालक सूर्य को देखता हूं। [महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य के अनुसार]

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥ २ ॥
ऋ० १ । १६४ । २ ॥ अथर्व० १३ । ३ । १८ ॥

भा०—(एकचक्रं रथम्) जिस प्रकार संवत्सर रूप एक चक्र रथ को (सप्त) सर्पण स्वभाव के, सात ऋतु गण (युञ्जन्ति) इस में जुतते हैं तो भी (एकः) एक ही (अश्वः) व्यापक (सप्तनामा) सातों के नामों को धारण करने वाला या स्वयं सर्पणशील ऋतुओं को न माने अर्थात् उनको परिणत करने वाला स्वयं उस काल चक्र को (वहति) धारण करता है। और वह (चक्रम्) चक्र (त्रिनाभि) तीन नाभियों वाला है, (अजरम्) कभी नाश न होने वाला नित्य और (अनर्वम्) कभी शिथिल नहीं होता। (यत्र) जिसमें (इमा) ये (विश्वा भुवनानि) समस्त लोक (तस्थुः) स्थित हैं। उसी प्रकार अध्यात्म में इस (एकचक्रं रथम्) एक चक्र अर्थात् कर्त्ता से युक्त रथ रूप रमणसाधन देह को (सप्त) सर्पणशील या सात शीर्षण्य अथवा इन्द्रिय और मन (युञ्जन्ति) वहन करते है। और वही (एकः) एक मात्र (अश्वः) अश्व अर्थात् कर्मफल भोक्ता, स्वयं (सप्तनामा) समस्त सर्पणशील प्राणों का नमन, दमन करने हारा होकर उनको (वहति) धारण करता है। वह (चक्रम्) कर्ता स्वरूप, आत्मा स्वतः (त्रिनाभि) प्रकृति के तीनों गुणों में बँधा

२—'मजरमनर्वं येनेमा' इति तै० आ०।

हुआ स्वयं (अजरम्) अजर, अविनाशी, (अनर्वम्) स्वयं 'अर्वा' अर्थात् कारण न होकर कर्त्तारूप है। (यत्र) जिसमें (विश्वा) समस्त (भुवनानि) सत् कर्म और ज्ञान (तस्थुः) आश्रित हैं। जिस प्रकार देह में आत्मा उसी प्रकार इस विराट् विश्वमय देह में परमात्मा व्यापक है। यह विश्व एकचक्र रथ है। इसका एक ही कर्त्ता है, इसको नाना सर्पणशील सौर मण्डल एवं पञ्चभूत उठा रहे हैं। एक अश्व व्यापक प्रभु सबको वश करके उनको उठाये हुए है। वह चक्र भूत, भविष्यत् वर्त्तमान या सत्व, रजस, तमस इन तीन में बंधा है। वह अजर, अनादि (अनर्वम्) अविनाशी, अशिथिल है। जिसमें समस्त भुवन लोक स्थिर हैं।

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नामा ॥३॥
ऋ० १ । १६४ । ३ ॥

भा०—(इमम्) इस (सप्तचक्रम्) सर्पणशील, विषयों तक गति करने वाले कर्त्ता, इन्द्रियों से युक्त (रथम्) रमणसाधन, भोगायतन देह में (ये) जो (सप्त) सात, या सर्पणशील प्राण (तस्थुः) स्थित हैं वे भी (अश्वाः) विषयों का भोग करते हैं, या समस्त देह में व्यापक भी हैं। वे उस रथ को (वहन्ति) धारण करते हैं। (सप्त) वे सातों (स्वसारः) स्व अर्थात् आत्मा के बल पर सरण करने वाले (अभि सं नवन्त) देह को भली प्रकार वश करते हैं (यत्र) जहां (गवाम्) गौ इन्द्रियों के सप्त, सात (नामा) स्वरूप (निहिता) रखे हैं।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः, समिधः सप्त सप्त, सप्त। इमे लोका येषु चरन्ति प्राणाः गुहाशयाः निहिता सप्त ॥मु० उप० २।१।८॥

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत् ॥४॥
ऋ० १ । १६४ । ४ ॥

३–(तृ०) 'स नवन्ते' (च०) 'सप्तनाम' इति ऋ० ।

भा०—[प्रश्न १] (प्रथमम्) सब से प्रथम (जायमानम्) प्रादुर्भूत, प्रकट होते हुए इस महान् हिरण्यगर्भ को (कः ददर्श) कौन देखता है। [प्र० २] (यद्) और (अनस्था) हड्डी अर्थात् शरीर से रहित आत्मा (अस्थन्वन्तम्) इस अस्थि वाले अर्थात् कठोर शरीर और रूपवान् जगत् को कौन (बिभर्त्ति) धारण करता है [प्र० ३] (भूम्याः) भूमि,-पृथिवी और पृथिवी का यह शरीर और (असुः) वायु का अंश प्राण और (असृक्) जल का अंश रुधिर इन तीनों से बना देह और इस शरीर में रहने वाला (आत्मा) आत्मा, चेतन ये भी (क्व स्वित्) कहां, किस पर आश्रित हैं। [प्र० ४] (कः) कौन पुरुष (एतत्) इस रहस्यमय प्रश्न को सबसे प्रथम (प्रष्टुम्) पूछने के लिये (विद्वांसम्) किसी विद्वान् के पास (उप गात्) पहुँचा होगा। इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं। (१) जब सब से प्रथम २ प्रकृति के अव्यक्त रूप से व्यक्त रूप उत्पन्न हुआ तब उसको देखने वाला साक्षी कौन था। (२) शरीर को किस अशरीरी ने धारण किया। (३) शरीर प्राण रुधिर आदि संघात का आत्मा कहां स्थित है। (४) सबसे प्रथम किसने इस प्रश्न को किसी विद्वान् से पूछा।

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥ ५॥

ऋ० १ । १६४ । ७ ॥

भा०—(अंग) हे विद्वान् पुरुषो ! (यः) जो (ईम्) भी (अस्य) इस (वेः) गतिशील हंसरूप (वामस्य) सब से सुन्दर, सब से वरणीय और सेवनीय आत्मा के (निहितम् इह) इस देह के भीतर छुपे हुए (पदम्) ज्ञातव्य स्वरूप को (वेद) जानता है वह (इह ब्रवीतु) हमें बतलावे। और जिस प्रकार सूर्य की किरणें उसी आदित्य

५-(तृ०) 'शीर्ष्णा क्षीरं' इति पैप्प० सं०।

का रूप धारण करके अपनी पद भाग से जल पी जाती हैं उसी प्रकार उस आत्मा का भी क्या स्वरूप है जिसकी (गावः) विषयों के प्रति गमन करने वाली इन्द्रियां (अस्य) इस आत्मा के (वव्रिम्) स्वरूप को (वसानाः) धारण करती हुई अर्थात् चेतना के संग से स्वयं चेतन होती हुई (शीर्ष्णः) शिरो भाग से (क्षीरम्) दूध के समान मधुर ज्ञानरूप रस (दुहुते) पूर्ण करतीं, प्रदान करती हैं और (पदा) अपने चेतना सामर्थ्य रूप पद या गति से मानो चरण से (उदकम्) जल के समान ग्राह्य विषयों के आनन्दरस का (अपुः) पान करती हैं। यह एक पहेली के समान है कि—'उस सुन्दर पक्षी का स्वरूप बतलाओ जिसकी गौएं पैरों से रस पीएं और सिर से रस बरसावें।' इसके उत्तर दो हैं। एक 'सूर्य' दूसरा 'आत्मा'। सूर्य की किरणें चरणों से भूमि पर से जल पान करती हैं और आकाश रूप सिर से मेघ रूप में बरसाती हैं। दूसरा आत्मा। देह में लगी इन्द्रियां बाह्य विषयों का रस पान करती हैं और शिरोभाग में आनन्द या ज्ञान-रस उत्पन्न करती हैं।

पाकः पृच्छामि मनसा विंजानन् देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से वष्कयेधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ ॥ ६ ॥

ऋ० ११ । १६४ । ५ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (पाकः) परिपक्व होने योग्य, अपक्व ज्ञानवाला, अल्प ज्ञानी मैं (मनसा) अपने मन, संकल्प विकल्पवान् अन्तःकरण से (अविजानन्) विशेष ज्ञान को करने में असमर्थ होकर (पृच्छामि) प्रश्न करता हूं कि (देवानाम्) प्रकाश करने वाले सूर्यादि पदार्थ, ज्ञानों को दिखलाने वाले इन्द्रिय आदि गण के (एना) ये नाना प्रकार के (पदानि) ज्ञातव्य स्वरूप (निहिताः) भीतर छिपे हैं। वे कहां आश्रित हैं और किस प्रकार हैं। और (कवयः) क्रान्तदर्शी विद्वान् ऋषिगण (वष्कये) सत्यस्वरूप (वत्से) सर्वाच्छादक, सर्वव्यापक

या स्तुत्य प्रभु के (अधि) आश्रय पर (ओतवा उ) जगत् को बुनने के लिये या उस में अपने आपको ओत प्रोत करने के लिये (सप्त तन्तून्) सात प्राणमय तन्तुओं को (वि) नाना प्रकार से (तत्निरे) तानते हैं। हे विद्वान् पुरुषो! बतलाओ वह किस प्रकार करते हैं। यह भी एक समस्या या पहेली है कि— देवों के पद कहां रक्खे हैं। और 'बष्कय वत्स' एक वर्ष के बछड़े पर विद्वानों ने विनने के लिये ही सात सूत ताने तो कैसे?' । इस अध्यात्म समस्या या पहेली का उत्तर है कि आत्मा में देवों के 'पद' अर्थात् स्वरूप छिपे हैं। इस 'बष्कय वत्स' सत्य स्वरूप जगत् के आच्छादक प्रभु में विद्वानों ने जगत् रूप पट को वयन करने के लिये सात प्राकृतिक विकार पञ्चभूत, महान् और अहंकार इनको तान दिया और अपने को उसमें ओत प्रोत करने के लिये सात प्राणों को वश कर उसमें लगा दिया और अपने आत्मा के सात शीर्षण्य प्राणों को उस में तान दिया।

अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मनो न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥७॥

ऋ० १ । १६४ । ६ ॥

भा०—(अचिकित्वान् चित्) ज्ञानरहित, (न विद्वान्) इस गूढ़ रहस्य को न जानता हुआ मैं शिष्य (अत्र) इस विषय में (चिकितुषः) पूर्ण रीति से ज्ञानसम्पन्न (विद्मनः) विद्वान् (कवीन्) क्रान्तदर्शी तत्वज्ञ ऋषियों से (पृच्छामि) प्रश्न करता हूं कि (यः) जो (इमाः) इन (षट्) छः (रजांसि) तीन भूमियों तीन द्यौः ये छः, अथवा पांच इन्द्रिय छठा मन, ये छः, संवत्सर की छः, या ऋतुएँ या सत्य लोक को छोड़ कर शेष भू आदि छः लोकों को (तस्तम्भ) थामे हुए हैं उस

७–'विद्मने न विद्वान्' इति ऋ० ।

(अजस्य) अजन्मा आत्मा के (रूपे) निरूपण में (किम् अपि) कोई भी (एकम् स्वित्) एक तत्व है या नाना शक्तियां इस जगत् को चला रही हैं । इसका निर्णय करो ।

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे ।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ॥ ८ ॥

ऋ० १ । १६४ । ८ ॥

भा०—(माता) बच्चे की मां जिस प्रकार बालक उत्पन्न करने के पूर्व बालक के (पितरम्) पिता के समीप आती और (मनसा सं जग्मे) एकत्रित होकर उसका संग करती है और वह (गर्भरसा निविद्धा) गर्भजनक वीर्य से सम्पन्न होकर प्रजा उत्पन्न करती है उसी प्रकार (माता) जगत् का निर्माण करने हारी मूलकारण प्रकृति (पितरम्) जगत् के पिता या पालक परमात्मा को (ऋते) उसके सत्यमय सामर्थ्य में आश्रय पाकर (आ बभाज) प्राप्त करती है । और (अग्रे) जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व (धीती) क्रिया शक्ति से और (मनसा) परमेश्वर की ज्ञानशक्ति से (सा) वह प्रकृति (हि) भी (सं जग्मे) उस के साथ संगत हुई, मिली और गर्भ धारण किया । और (सा) वह प्रकृति (बीभत्सुः) उस के साथ बन्धने की इच्छा करती हुई अर्थात् सुसंगत होकर (गर्भ-रसा) उसके गर्भधारक रस, तेज से (निविद्धा) अच्छी प्रकार सम्पन्न होकर इस संसार को उत्पन्न करती है । (नमस्वन्तः) ज्ञानवान् पुरुष (इत्) ही (उपवाकम्) इस प्रकार के वचन तत्वज्ञान को (ईयुः) प्राप्त होते हैं । आदित्य पक्ष में—माता पृथिवी पिता सूर्य को प्राप्त होती है, उससे संगत होकर वह उससे वर्षित जल को अपने भीतर लेती है । और प्राणी जन अन्न प्राप्त करके नाना प्रकार की वाणियां उच्चारण करते हैं ।

८—'ऋता बभाज' इति पैप्प० सं० ।

युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः ।
अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं/ त्रिषु योजनेषु ॥ ६ ॥
ऋ० १ । १६४ । ६ ॥

भा०—(माता) सर्व जगत् को निर्माण करनेवाली प्रकृति (दक्षिणायाः) क्रिया या बल से सम्पन्न, बलवती शक्ति के (धुरि) मूल केन्द्र परमेश्वर में (युक्ता) जुड़ी हुई (आसीत्) थी। (वृजनीषु) जलों, 'आपः' या सूक्ष्म प्रकृति के परमाणुओं के (अन्तः) भीतर वह परब्रह्म की सर्गकारिणी शक्ति (गर्भः) परस्पर ग्रहण करने, एक दूसरे को पकड़ लेने या परस्पराकर्षण करनेवाले बल रूप में (अतिष्ठत्) विद्यमान् थी। (वत्सः अनु गाम्) जिस प्रकार गौ को देखकर बछड़ा (अमीमेत्) हम्भारता है उसी प्रकार (वत्सः) वत्सरूप जीव (गाम्) सर्वव्यापक उस परमात्मा (अनु) को देख कर (अमीमेत्) उत्सुक हो कर उसको पुकारता है और (त्रिषु योजनेषु) तीनों लोकों में (विश्वरूप्यम्) समस्त विश्व को रूप देने वाले, ब्रह्माण्ड के कर्त्ता विश्वरूप परमात्मा का (अपश्यत्) दर्शन करता है।

आदित्य के पक्ष में—माता पृथिवी दक्षिणा द्यौ या आदित्य शक्ति के (धुरि) केन्द्र आकर्षणशक्ति से बँधी है (वृजनीषु) उस आदित्य की रश्मियों में जल गर्भित हो जाते हैं। (वत्सः) मेघ पृथिवी के प्रति बरसने के पूर्व ध्वनि करता है और लोग तीन योजनों में सूर्य का पृथिवी से योग, मेघ वायु से योग, पुनः वृष्टि जल का पृथ्वी से योग, इन तीनः योजनाओं में 'विश्वरूप' नाना रूप, उत्पन्न सृष्टि को देखते हैं।

तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्त।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम् ॥
१० ॥ (२४) ऋ० १ । १६४ १ ॥

९—(द्वि०) 'वृजनेष्वन्तः' इति पैप्प० स० ।

भा०—(एकः) एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर (तिस्रः) तीन (मातॄः) जगत् के निर्माणकारिणी शक्तियों और (त्रीन् पितॄन्) पिताओं के समान तीन पालकों को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (ऊर्ध्वः) उनसे भी ऊपर (तस्थौ) अधिष्ठाता रूप से विराजमान है । इसीलिये ये तीनों (ईम्) कभी (न अव ग्लापयन्त) शक्तिहीन, विषादयुक्त, निर्बल नहीं हो पाते । (अमुष्य दिवः पृष्ठे) इस द्यौः आदित्य या प्रकाशस्वरूप परमात्मा के (पृष्ठे) स्वरूप के विषय में (विश्व वदः) विश्व के तत्व को जानने-वाले विद्वान् (अविश्वविन्नाम्) सबके न समझने योग्य अत्यन्त गूढ़ (वाचम्) वाणी का (मन्त्रयन्ते) विचार करते हैं ।

'तिस्रः मातॄः'=तीन माताएँ=सूर्य, मेघ, पृथिवी । 'त्रीन् पितॄन्' तीन पिता=तीन लोक या अग्नि, वायु, सूर्य ।

पञ्चा॑रे च॒क्रे प॑रि॒वर्त॑माने॒ यस्मि॒न्नात॒स्थुर्भुव॑नानि॒ विश्वा॑ ।
तस्य॒ नाक्ष॑स्तप्यते॒ भूरि॑भारः स॒नादे॒व न च्छि॑द्यते॒ सना॑भिः ॥११॥

ऋ० १ । १६० । १३ ॥

भा०—(पञ्चारे) पाँच तत्व रूप अरों वाले (परिवर्त्तमाने) घूमते हुए (यस्मिन्) जिस (चक्रे) चक्र में (विश्वा भुवनानि) समस्त लोक लोकान्तर (आतस्थुः) स्थिर हैं (भूरि-भारः) बहुत भार वाला (अक्षः) जिस प्रकार साधारण गाड़ी का अक्ष, धुरा गर्म हो जाता है उस प्रकार (तस्य) उसका (अक्षः) धुरा अर्थात् वहन समर्थ व्यापक विभु, प्रभु (न तप्यते) कभी तप्त नहीं होता, कभी पीड़ित नहीं होता । और जिस प्रकार गाड़ी का धुरा चलते २ पुराना होकर घिस जाता है और टूट फूट जाता है उसी प्रकार वह (सनात्) अति पुरातन, सनातन शक्ति (एव)

१०–(द्वि०) ग्लापयन्ति (च०) 'विश्वाविदां वाचमविश्वमिन्वाम्' इति ऋ० । (द्वि०) 'ग्लापयन्ति' (च०) 'विश्वविदां' इति पैप्प० सं० ।

ही (सनाभिः) समान रूप से समस्त विश्व की 'नाभि' अर्थात् सबको अपने में बांधने वाला केन्द्र होकर भी (न च्छिद्यते) कभी नहीं टूटता फूटता, कभी विच्छिन्न नहीं होता, कभी पृथक् नहीं होता।

आदित्यकृत, काल के पक्ष में—संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, वत्सर आदि पाँच वर्षों के रूप पाँच अरों से युक्त काल चक्र या पाँच ऋतु रूप अरों से बना संवत्सर कालचक्र बराबर घूमता है उसमें समस्त लोक स्थिर हैं उसका अक्ष कभी नहीं तपता और वह कभी छिन्न भी नहीं होता।

अध्यत्म में—पाँच प्राण रूप पाँच अरों से बना चक्र=कर्त्तारूप आत्मा, उसमें समस्त भुवन=प्राण इन्द्रिय आदि आश्रित हैं उसकी अक्षः= दर्शनशक्ति या अध्यक्षता कभी पीड़ित नहीं होती अर्थात् वह आत्मा नित्य अविनाशी सब प्राणों को समान रूप में बाँधे रह कर भी कभी उच्छिन्न नहीं होता।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥ १२ ॥

ऋ० १ । १६४ । १२ ॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक, प्रकाशमय परमेश्वर के (परे अर्धे) परम स्वरूप के निरूपण के विषय में विद्वान् ऋषि लोग (पुरीषिणम्) ब्रह्माण्ड रूप पुर में विराजमान परम पुरुष को (पञ्चपादम्) पञ्चपाद और (द्वादशाकृतिम्) १२ आकृति वाला (पितरम्) पिता (आहुः) कहते हैं। जिस प्रकार सूर्य की पाँच ऋतु उसके पाँच पाद या चरण हैं और १२ आकृतियाँ, १२ मास हैं। उसी प्रकार अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, और

११–(द्वि०) 'तस्मिन्नास्थु': इति पैप्प० सं० । (च०) 'नशीर्यते सनाभिः' इति ऋ० ।

१२–(तृ०) ' उपरि विचक्षणं ' इति ऋ०, पैप्प० सं० ।

आनन्द ये ब्रह्म के पाँच पाद हैं। पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्रा, महत् और अहंकर इनमें विद्यमान ईश्वरीय शक्ति की १२ आकृतियाँ हैं। शरीर में अध्यात्म उक्त पाँच चरण है या पञ्चप्राण पञ्चपाद है और १२ प्राण १२ आकृतियाँ हैं। (अथ) और (उपरे) सबके रमण योग्य (विचक्षणे) सबके साक्षी द्रष्टा परम ब्रह्म के विषय में (इमे) और ये (अन्ये) दूसरे विद्वान् (सप्त चक्रे) सात चक्रमय, सप्तशीर्षण्य प्राणों से बने (षडरे) छः, पाँच इन्द्रिय और छठा मन इन अरों से युक्त चक्र में उस (पुरीषिणम्) पुरुष को (अर्पितम्) अर्पित, स्थित, विराजमान (आहुः) बतलाते हैं।

आदित्य पक्ष में—पञ्चपादः=पाँच ऋतु। द्वादश आकृति=१२ मास। पुरीषी=वृष्टि के उदक से सम्पन्न सूर्य। सप्त चक्र=सात आदित्य रश्मी, यद्वा अयन, ऋतु, मास, पक्ष, अहोरात्र, मुहूर्त्त इनके पुनः आवर्त्तन करनेवाले चक्रों से षड् अर=षट् ऋतु लगो हैं। उस संवत्सर में सूर्य को ही व्यापक मानते हैं। विशेष देखो प्रश्नोपनिषद् [प्रश्न १ । ११ ।]

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥१३॥

ऋ० १ । १६४ । ११ ॥

भा०—हे (अग्ने) सूर्य ! परमात्मन् ! तेरा यह (द्वादशारम्) १२ अरों से युक्त (ऋतस्य) सत्य, व्यक्त ब्रह्माण्ड का (चक्रम्) चक्र (द्याम् परि) द्यौलोक आकाश से (वर्वर्त्ति) घूम रहा है (तत्) वह कभी (नहि जराय) जीर्ण नष्ट नहीं होता। (अत्र) इस में (पुत्राः) मनुष्यों को दुःखों से त्राण काने वाले (सप्त शतानि विंशतिश्च) सात-सौ बीस [७२०] (मिथुनासः) जोड़े, दिन और रात (तस्थुः) स्थिर हैं।

इस चक्र को कोई काल-चक्र और संवत्सर चक्र कोई विष्णु-चक्र इत्यादि नाना रूप से कल्पना करते हैं। अध्यात्म में द्वादश अर=१२

प्राण हैं। संवत्सर के रात दिनों की संख्या ७२० है। ३६० रात्रि और ३६० दिन।

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १४॥

ऋ० १ । १६४ । १४ ॥

भा०—(सनेमि) नेमि अर्थात् चक्रधारा सहित, नमनशक्ति से युक्त सबको वश करने वाला यह (अजरम्) अविनाशी (चक्रम्) चक्र, कालशक्ति, ब्रह्मचक्र (विवावृते) नाना रूप से चल रहा है। उसको (उत्तनायाम्) इस उतान जगती में (दश) दश प्राण (युक्ताः) युक्त कर (वहन्ति) उठा रहे हैं। (सूर्यस्य) सूर्य, सब के प्रकाशक परमेश्वर की (चक्षुः) चक्षु अर्थात् साक्षात् ज्ञानशक्ति, दर्शन शक्ति जो संसार को उत्पन्न करती है वह (रजसा) रजो गुण से (आवृतम्) युक्त होकर (एति) गति करती है, समस्त संसार को चलाती है। जिस राजस शक्ति में (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवन और लोक (आ तस्थुः) स्थिर होते हैं।

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत्॥१५॥

भा०—(मे) मेरी जो (स्त्रियः) प्रकृति के परमाणुओं में घनीभाव उत्पन्न करने वाली (सतीः) प्रबल शक्तियां हैं (तान् उ) उनको ही विद्वान् लोग (पुंसः आहुः) 'पुं' शक्ति या प्रबल पुरुष रूप से (आहुः) कहा जाता है। उनको (अक्षण्वान्) चक्षुष्मान् विद्वान् (पश्यत्) साक्षात् करता है। (अन्धः) अन्धा मूर्ख पुरुष उन को (न विचेनत्) नहीं जान पाता। (यः) जो (पुत्रः) पुत्र बालक

१४–(द्वि०) 'युक्ता व्रजन्ति' (च०) 'यस्मिन्नार्पिता भुवनान्यार्पिता' इति पैप्प० सं०। 'यस्मिन्नार्पिता' इति ऋ०।

होकर भी (कविः) क्रान्तदर्शी है (सः) वह (ईम्) इस रहस्य को (आ चिकेत) जानता है, (यः) और जो (ताः) उन शक्तियों को (विजानात्) विशेष रूप से जान लेता है (सः) वह (पितुः पिता असत्) पिता का भी पिता हो जाता है। अथवा—(स्त्रियः सतीः तान् उ मे पुंसः आहुः) जो स्त्रियां है मेरे उत्पन्न किये उन स्त्री प्राणियों को भी विद्वान् पुरुष 'जीवात्मा' या 'पुरुष' नाम से पुकारते हैं। आदित्य पक्ष में—सूक्ष्म आदित्य की रश्मियें जलों को गर्भ में धारण करने से स्त्रियां हैं, तो भी वृष्टि के जल सेचन में समर्थ होने और पृथिवी जल सेचन के बाद गर्भोत्पादन में समर्थ होने से उनको भी पुमान् कहा जाता है। शेष पूर्ववत्।

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥१६॥
ऋ० १। १६४। १५॥

भा०—(साकंजानां) एक ही साथ उत्पन्न हुए प्राणों में से (सप्तथम्) सातवें को (एकजम्) एकज अर्थात् एक रूप से उत्पन्न हुआ (आहुः) बतलाते हैं। (यमाः) दो दो जोड़े रूप से विद्यमान (ऋषयः) प्राण (षट्) छः हैं और वे (देवजा इति) देव अर्थात् आत्मा से उत्पन्न हुए बतलाये जाते हैं। (तेषाम्) उन के (धामशः) धारण सामर्थ्य या ग्रहण शक्ति के अनुसार ही (इष्टानि) इनकी इच्छाएँ या चेष्टाएँ या कार्य (विहितानि) बनाये हैं। वे (स्थात्रे) स्थिर, नित्य, आत्मा के हित के लिये ही (रूपशः) भिन्न २ रूपों में (विकृतानि) विकार को प्राप्त होकर (रेजन्ते) प्रकट होते हैं। अर्थात् कान, नाक, आंख, ये छहों दो-दो के जोड़े हैं। इनमें सातवां मुख का प्राण जोड़ा नहीं, वह एक ही है। वह 'एकज' है। इनमें उक्त छहों ऋषि ज्ञानद्रष्टा हैं ये 'देवज' कहाते हैं। उन सब के अपने ग्राह्य विषय नियत

१५—(प्र०) 'ता उ' (तृ०) 'इमाः' (च०) 'सवितुःपि'—इति तै० आ०।—

हैं और आत्मा के निमित्त ये गति कर रहे हैं। आदित्य पक्ष में–साम ऋतुएँ हैं। जिनमें सातवीं ऋतु एक मलमास से उत्पन्न होने से वह एकज है। शेष ऋतु दो दो मासों से बनते हैं वे यम हैं। वे सूर्य से उत्पन्न होती हैं इसलिये 'देवज' है। उनके अपने २ सामर्थ्य से अपना इष्ट परिणाम होता हैं। वे 'स्थाता' सूर्य के कारण नाना रूपों में प्रकट होते हैं।

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥ १७ ॥ ऋ० १ । १६४ । १६ ॥

भा०—(एना गौः) यह ज्ञानमार्ग ब्रह्मशक्ति या प्रजापति की मेघमयी (परेण) पर, परम ब्रह्म लोक से नीचे और (एना अवरेण) इस नीचे के लोक से ऊपर भी (पदा) ज्ञान द्वारा (वत्सं) जगत् को (बिभ्रती) पुष्ट करती हुई (उद् अस्थात्) ऊपर उठती है। (सा) वह (कद्रीची) न जाने कहां से आती और कहां को जाती है और वह (कं स्वित्) किस (अर्धम्) परम श्रेष्ठ प्रभु के पास (परागात्) पुनः लौट जाती है। न जाने वह (कं स्वित् सूते) वह कहां इस सन्तान को उत्पन्न करती है। (नहि यूथे अस्मिन्) वह स्वयं इस यूथ अर्थात् विकृतिगण में नहीं है। वह ब्रह्मशक्ति इस लोक के ऊपर और उस लोक से नीचे समस्त संसार को पालती है। और फिर उसी में लीन होजाती है। इतने जीव कहां से उत्पन्न करती है इसका ज्ञान नहीं है। पर वह प्राकृतिक विकार रूप महत् आदि पदार्थों से अवश्य भिन्न है।

आदित्यपक्ष में—उषा वह गौ जो अपने चरण के समीप सूर्य रूप वत्स को धारण करती है वह कहां से आती कहां जाती है। और कहां अपने सूर्य बालक को प्रसव करती है। पूर्व प्रकाशित तारायूथ में वह उसको नहीं प्रसव करती।

१७–(च०) 'यूथे अन्तः' इति ऋ० । (तृ०) 'पराकात्' इति कठ० सं० ।

अध्यात्म में—(परेण अवः) पर आत्मतत्व से नीचे और (एना अवरेण परः) इस अधोवर्त्ती इन्द्रियगण से ऊपर (पदा) ज्ञानशक्ति से (वत्सम्) अपने वत्स रूप मन को (बिभ्रती गौः उदस्थात्) पुष्ट करती हुई (गौः) चेतना शक्ति प्रकट होती है। (सा कद्रीची) वह कहाँ से आती है (कं स्विद् अर्धं परागत्) किस उत्तम, समृद्ध आत्मा में पुनः लौट जाती है। इस मन को वह कहाँ उत्पन्न करती है जिससे यह वत्स मन इस इन्द्रिय गण में परिगणित नहीं होता ।

अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण ।
कवीयमानः क इह प्र वोचद् देवं मनः अधि प्रजातम् ॥ १८ ॥

भा०—(परेण अवः) परम परमेश्वर से उतर कर विराजमान (अस्य) इस पूर्वोक्त मन के (पितरम्) पालक आत्मा को और (परेण अवः एना अवरेण परः) पर आत्मा से नीचे और इस इन्द्रियगण से उत्कृष्ट इस मन के विषय में (यः वेद) जो जानता है वह (कवीयमानः) स्वयं अपने को क्रान्तदर्शी विद्वान् मेधावी के समान बता कर (कः) कोई दुर्लभ ही (इह) इस जगत् में (प्रवोचत्) बतला सकता है कि (देवम्) क्रीड़ाशील या ज्ञान को संकल्प विकल्प द्वारा दर्शाने वाला (मनः) मन अन्तःकरण (कुतः अधि प्रजातम्) कहाँ से प्रकट हुआ है?

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः ।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥१९॥

भा०—(ये) जो जीवगण (अर्वाञ्चः) इस लोक में शरीरधारी हैं उनको ही (पराचः) परम ब्रह्म से दूर हटा हुआ (आहुः) कहते हैं। और ये

१८–(प्र० द्वि०) 'यो अस्यानुवेद पर एनावरेण' इति ऋ०, पैप्प० सं० ।
१९–(च०) 'धुरा नियुक्ता' इति पैप्प० सं० ।

(पराञ्चः) यहाँ से इस लोक के योग से (पराञ्चः) परे चले गये हैं (तान्) उनको ही (अर्वाचः) परम पद के समीप (आहुः) कहा जाता है । (इन्द्रश्च सोम) हे इन्द्र और सोम ! जीव और ब्रह्मन् ! (या चक्रथुः) जिन कर्मों को आप दोनों करते हो (तानि) वे कर्म ही (धुरा युक्ता न) धुरे में जुड़े घोड़ों के समान (रजसः) इन जीवों को लोक लोकान्तरों में (वहन्ति) ले जाते हैं ।

आदित्य पक्ष में—जो ग्रह अर्वाग् हैं उनको ज्योतिषी पराक् दूरस्थ कहते हैं, गति के वश से जो समीप होते हैं वे ही दूर हो जाते हैं । इन्द्र और सोम गति के वश से जो सम:प होते हैं वे ही दूर हो जाते हैं । इन्द्र और सोम सूर्य और चन्द्र जिन चक्रों को लगाते हैं वे ही इस जीव लोक को वहन करते हैं ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ २० ॥

भा०—(सयुजा) एकत्र रहने वाले (सखाया) एक दूसरे के मित्र (सुपर्णा) उत्तम ज्ञान, पालन और सामर्थ्य से युक्त, दोनों ईश्वर और जीव दो पक्षियों के समान हैं। वे दोनों (समानं वृक्षम्) एक ही संसार रूप वृक्ष को (परि सस्वजाते) चिपटे रहते हैं अर्थात् उस पर आश्रय लेते हैं । (तयोः) उन दोनों में (अन्यः) दूसरा पक्षी जीव (स्वादु) आनन्ददायक (पिप्पलम्) पिप्पल, कर्मफल को (अत्ति) भोग करता है और (अन्यः) दूसरा (अनश्नत्) भोग न करता हुआ भी (अभि चाकशीति) केवल देखा करता है । अर्थात् दूसरा साक्षी रूप से विराजता है । किन्हीं के मत में ये दो पक्षी जीव और मन हैं । जो समान भाव से उच्छेद करने योग्य देह रूप वृक्ष में आश्रित हैं । असङ्ग आत्मा साक्षी है

२०—(प्र०) 'सुयुजा' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'पिप्पलं' इति क्वचित् ।

और मन भोग करता है । यह रूपक छत्रि न्याय से दोनों पक्षों में संगत है । देखो श्वेताश्वतर, मुण्डक और कठ उपनिषदें ।

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।
तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥ २१ ॥

ऋ० १ । १६४ । २२ ।

भा०—(यस्मिन्) जिस (वृक्षे) ब्रह्ममय वृक्ष पर (मध्वदः) मधु अर्थात् आत्म ज्ञानरस का उपभोग करने हारे (सुपर्णाः) शुभ ज्ञान-सम्पन्न ब्रह्मज्ञ (निविशन्ते) आश्रय लेते हैं और (विश्वे) संसार में (अधि सुवते च) पुनः आते हैं । अर्थात् पुनः मुक्ति से लौट आते हैं (तस्य) उस ब्रह्ममय वृक्ष का (यत्) जो (स्वादु) परम सुखकारी (अग्रे) सर्व-श्रेष्ठ (पिप्पलं) फल (आहुः) बतलाते हैं (यः) जो पुरुष (पितरम्) भवतारक, सकल दुःखवारक, परिपालक उस परम पालक प्रभु को (न वेद) नहीं जानता, नहीं उपासना करता (तत्) वह परम स्वादु फल उसको (न नशत्) नहीं प्राप्त होता ।

अध्यात्म में—जिस आत्मा रूप वृक्ष पर मधुर धुर फल के भोग करने वाले पक्षियों के समान प्राण या इन्द्रियगण स्वाप काल में लीन हो जाते हैं और पुनः जागरण काल में उत्पन्न हो जाते हैं जिसका वह परम स्वादिष्ट फल है, जो उस पालक आत्मा को नहीं जानते या नहीं उपासना करते उनको वह फल प्राप्त नहीं होता । इसी प्रकार आदित्य पक्ष में—सुपर्ण=किरणें सूर्य रूप वृक्ष में मधु अर्थात् जल ग्रहण करने वाली उसमें लीन होतीं और उषाकाल में पुनः प्रकट होती हैं, उसका पालक आरोग्य-प्रद फल है । जो सूर्य की उपासना या सेवन नहीं करते उनको वह फल नहीं मिलता ।

२१–(तृ०) 'तस्यः इदाहु' इति ऋ० ।

यत्रा॑ सुप॒र्णा अ॒मृत॑स्य भ॒क्षमनि॑मेषं वि॒दथा॑भि॒स्वर॑न्ति ।
ए॒ना विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य गो॒पाः स मा॒ धीरः॒ पाक॒मत्रा वि॑वेश ॥ २२ ॥ (२५) ऋ० १ । १६४ । २१ ॥

भा०—(यत्र) जिस ब्रह्म में (सुपर्णाः) उत्तम ब्रह्मज्ञानी, मुक्त पुरुष (अनिमेषम्) निरन्तर एक क्षपक भर सूक्ष्म काल के व्यवच्छेद के भी विना (अमृतस्य) उस अविनाशी नित्य अमृतरस के (भक्षम्) उपभोग को (विदथा) अपने ज्ञान सामर्थ्य से (अभिस्वरन्ति) प्राप्त कर के प्रगान करते हैं, नाना वाणियों द्वारा प्रकट करते हैं । (एना) वह (विश्वस्य) समस्त (भुवनस्य गोपाः) भुवनों का परिपालक परमात्मा (धीरः) धीर सबका धारणकर्त्ता, सर्वज्ञ (मा) मुझ (पाकं) अपक्व या अल्प पक्व, और भी पाक होने योग्य ज्ञानी मुमुक्षु को (अत्र) इस सुखमय पद या इस संसार में (आ विवेश) प्रवेश करता है ।

आदित्य पक्ष में—जिस आदित्य में सुपर्ण=रश्मियें अमृत जल को प्राप्त करके प्रतप्त होती हैं वह समस्त भुवनों का स्वामी मुझे सुख प्रदान करे । अध्यात्म पक्ष में सुपर्णाः=इन्द्रियगण ।



[१०] आत्मा और परमात्मा का ज्ञान ।

ब्रह्मा ऋषिः । गौः, विराड् आत्मा च देवताः । १, ७, १४, १७, १८ जगत्यः । २१ पञ्चपदा शक्वरी । २३, २४ चतुष्पदा पुरस्कृतिर्भुरिक् अतिजगती । २, २६ भुरिजौ । ३,६,८,१३, १५, १६,१९,२०,२२,२५, २७, २८ त्रिष्टुभः । अष्टाविंशर्चं सूक्तम् ॥

२२–(प्र०) 'अमृतस्य भागम्' (तृ०) 'इतो विश्वस्य' इति ऋ० । (तृ०) 'यो नो विश्वस्य' इति पैप्प० सं० ।

यद् गा॑य॒त्रे अधि॑ गाय॒त्रमाहि॑तं॒ त्रैष्टु॑भं वा॒ त्रैष्टु॑भान्नि॒रत॑क्षत ।
यद्वा जग॒ज्जग॒त्याहि॑तं प॒दं य इत् तद् वि॒दुस्ते अ॑मृत॒त्वमा॑नशुः॥१॥
ऋ० १ । १६४ । २४ ॥

भा०—(यद्) जो (१) (गायत्रे) 'गायत्र' में (गायत्रं अधि आहितम्) गायत्र स्थित है (वा) और (२) (त्रैष्टुभात्) त्रैष्टुभ से (त्रैष्टुभं) त्रैष्टुभ की (निर् अतक्षत्) रचना की, कल्पना की । (यद्वा) और (३) जो (जगत्याम्) जगती में (जगत्) जगत् (आहितम्) स्थिर है (तत्) उस रहस्य को (ये विदुः) जो विद्वान् लोग जानते हैं (ते) वे (अमृतत्वम् आनशुः)| अमृतत्व, मोक्ष पदका भोग करते हैं ।

(१) 'इमे वै लोका गायत्रम्' । तां० १६।११।११॥ गायत्रोऽयं भूलोकः। कौ० ८। ९॥ गायत्रेऽस्मिन् लोके गायत्रोऽयमग्निरध्यूढः। कौ० १४।२ ॥ प्राणो गायत्री प्रजननम् । ता० १६।४।५॥ प्राणः गायत्रम् । जै० उ० १।३७।७॥ अग्निर्वै गायत्री। श० १६ । ११।१५ ॥ गायत्रो ब्राह्मणः ऐ० । १।२८॥ तेजो वै ब्रह्मवर्चसी गायत्रम् । कौ० १७।२।९॥ वीर्यं गायत्री । ता० ७।३।१३॥ गायत्रम् हि शिरः। श० ८।६।२।६॥ अष्टाक्षरा गायत्री । ऐ० २।१७॥ चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। श० ३।५।१।१०॥ गायत्री प्राचीदिक्। श० २।२।१।१२॥ गायत्री वसूनां पत्नी । गो०उ० २।९॥ वसवो गायत्रीं समभरन् । जै०उ० १।१८।४॥ गायत्रं वै रथन्तरम्। ता० ५।१।१५॥ गायत्रः सप्तदशः स्तोमः । तां० ५।१।१५॥ गायत्रो यज्ञः । गो० पू० ४ । २४ ॥ गायत्रं वै प्रातःसवनम् । गो०उ० ३।१६॥ गायत्रो वै पुरुषः ॥ तै० ३।२१।१॥

गायत्री और गायत्र शब्द से वैदिक परिभाषा में तीनों लोक, भूलोक, प्राण, अग्नि, ब्राह्मण, ब्रह्मवर्चस् तेज, वीर्य, शिर, मुख, अष्टाक्षर छन्द, प्राची दिशा, वसुपत्नी, रथन्तर, सप्तदशस्तोम, यज्ञ, प्रातःसवन, और पुरुष इतने पदार्थ लिये जाते हैं । अर्थात् गायत्र में गायत्र आश्रित है,

[१०] १–(द्वि०) 'त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं' इति ऋ० ।

इस लोक में अग्नि आश्रित है या भूलोक अग्नि पर आश्रित है या ब्राह्मण में ब्रह्मतेज है, पत्नी पुरुष पर आश्रित है, प्रातः सवन यज्ञ में आश्रित है, रथन्तर साम गायत्री छन्द पर आश्रित है, प्राण आत्मा में आश्रित है, यह जीव आत्मा परमात्मा में आश्रित है।

(२) त्रैष्टुभम्— त्रिवृद्‌वज्रस्तस्य स्तोमम् इवेत्यौपमिकम्। दे० ३।१६॥ वज्रः त्रिष्टुप्, त्रैष्टुभ इन्द्रः। कौ० ३।३॥ त्रैष्टुभो वज्रः।गो०३। १।१८॥ ऐन्द्रं हि त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम्। ऐ० ६। ११॥ एते वै छन्दसां वीर्यवत्तमे यद् गायत्री च त्रिष्टुप् च। ता० २०।१६।८॥ बलं वै वीर्यं त्रिष्टुप्। कौ० ७।२॥ ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुप्। ऐ० १।५।२८॥ उरः त्रिष्टुप्। श० ८।६। २।७॥ त्रिष्टुप् छन्दो वै राजन्यः। तै० १।२८॥ क्षत्रं वै त्रिष्टुप् कौ० ७।१०॥ या राका सा त्रिष्टुप्। ऐ० ३।४७॥ त्रैष्टभो हि वायुः। श० ८।७।३।१२॥ त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षलोके त्रैष्टुभो वायुरध्यूढः। कौ० १७। ३॥ यजुषां वायुर्देवतं तदेव ज्योतिस्त्रैष्टुभं छन्दोऽन्तरिक्षं स्थानम्। गो० पू० १।२९॥ अपानस्त्रिष्टुप्। तां० ७।३।८॥ यः एवायं प्रजननः प्राण एष त्रिष्टुप्। श० १९।३। १।१॥ त्रैष्टुभं चक्षुः। ता० २०।१६।५॥ आत्मा वै त्रिष्टुप्। श० ६।४।२।६॥ त्रैष्टुभः पञ्चदश स्तोमः। तां०५।२।१४॥ त्रिष्टुप् रुद्राणां पत्नी। गो।०उ०२।९॥ एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्। कौ० ३।२॥ चतुश्चत्वारिंशदक्षरा वै त्रिष्टुप्। श० ८।५।१।११॥ त्रिष्टुप् इयं पृथ्वीः।२।१।२०॥ त्रिष्टुप् असौ द्यौः। श० १।७।२।१५॥ 'त्रिष्टुप्' और 'त्रैष्टुभ्' शब्द से वैदिक परिभाषा में तीनों लोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः, वज्र, इन्द्र, माध्यन्दिन सवन, ओज, इन्द्रिय, क्षात्रबल, क्षत्रिय, राका, वायु, अपान, प्रजनन। प्राण, चक्षु, उरःस्थल, आत्मा, पञ्चदश स्तोम रुद्रों की पत्नी ११ अक्षरों का या ४४ अक्षरों का छन्द इतने पदार्थ लिये जाते हैं। 'त्रैष्टुभ की से त्रैष्टुभ रचना की' अर्थात् अन्तरिक्ष से वायु प्रकट हुआ, उरस्थल से बल उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय में बाहुबल है, इन्द्र में वज्र आश्रित है, आत्मा में इन्द्रिय हैं, प्रज-

नन या अपान भी मध्यभाग में आश्रित है और ये भी आत्मा में स्थित हैं, रुद्रों की पत्नी शक्ति रुद्रों में आश्रित है। और जीव आत्मा उस परम लोक में आश्रित है।

(३) सर्वं वा इदमात्मा जगत् । श० ४ । ५ । ९ । ८ ॥ इयं पृथिवी जगती । अस्यां हि इदं सर्वं जगत् । श० १ । ८ । २ । ११ ॥ या सिनीवाली सा जगती । ऐ० ३ । ४७ ॥ जागतो वै वैश्यः । ऐ० १।२८॥ ता वा एता जगत्यो यद् द्वादशक्षराणि पदानि । जगती प्रतीची दिक् । श० ८।२।१।१२॥ जगत्यादित्यानां पत्नी । गो० ३।२।९॥ साम्नां आदित्यं दैवतं तदेवज्योतिर्जा-गतं छन्दो द्यौः स्थानम् । गो० पू० १।२९॥ श्रोणी जगत्यः। श० ८।६।२।८॥ अवाङ् प्राणः एष जगती । जागतं श्रोत्रम् ता० २० । १६ । ५ ॥ जागतं वै तृतीयसवनम् । ऐ० ६ । २ । १२ ॥ जागता वै ग्रावाणः । कौ० २९ । १ ॥ जगत्येव यशः ।

वैदिक परिभाषा में 'जगती', 'जागत' शब्दों से समस्त संसार, आत्मा, पृथिवी, सिनीवाली, ब्रह्म, पशु, वैश्य, द्वादशाक्षर छन्द, प्रतीची दिशा, आदित्यों की पत्नी, द्यौः स्थान, अवाक् प्राण, श्रोत्र, तृतीय सवन, ग्रावा और यश, ये पदार्थ लिये जाते हैं। 'जगती में जगत् आश्रित है' अर्थात् समस्त जगत् उसके चलाने वाले परमात्मा में आश्रित है, आदित्य द्यौलोक में स्थित हैं, अवाक् प्राण अर्थात् नाभि से नीचे का प्राण, श्रोणी या कूल्हों में स्थित है, पशुगण वैश्यों में या वैश्यवर्ण पशु समृद्धि में स्थित है, आदित्य ब्रह्मचारी तृतीय सवन में स्थित है, ४८ वर्ष की ब्रह्मचर्य शक्ति आदित्य ब्रह्मचारियों में स्थित है। श्रोत्र श्रवण या श्रुतिविद्या का श्रवण पठन, मनन विद्वानों में स्थित है। इत्यादि।

गा॒य॒त्रेण॒ प्रति॑ मिमीते अ॒र्कम॒र्केण॒ साम॒ त्रैष्टु॑भेन वा॒कम् ।
वा॒केन॑ वा॒कं द्वि॒पदा॒ चतु॑ष्पदा॒क्षरे॑ण मिमते स॒प्त वाणीः॑ ॥ २ ॥

भा०—(१) (गायत्रेण) गायत्र से (अर्कम्) अर्क को (प्रति मिमीते)

प्रतिमान करता है, मापता है, ज्ञान करता है, परिमित करता है, प्राप्त करता है। (२) और (अर्केण साम) अर्क से साम को परिमित करता या मापता या ज्ञान करता है। (३) (त्रैष्टुभेन वाकम्) त्रैष्टुभ से 'वाक' को और (४) (वाकेन वाकम्) वाक से वाक को प्रतिमान या मापन करता वा ज्ञान करता है। और (५) (द्विपदा) दो पद के और (चतुष्पदा अक्षरेण) चारपद के अक्षरों से (सप्त वाणीः प्रति मिमीते) सात प्रकार की वाणियों को मापता है।

(१) 'गायत्रेण अर्कम्'—गायत्रं पुरस्तादुक्तम्। अर्कः—अन्नं वै देवाः अर्कं इति वदन्ति ता० १५।३।२३॥ आदित्यो वा अर्कः। श० १०।६।२।६॥ अर्कश्चक्षुः तदसौ सूर्यः।अग्निरर्कः। श० २।५।१।४॥ स एषोऽग्निरर्को यत्पुरुषः।श० १० ३।४।५॥ प्राणो वा अर्कः। वेत्थार्कमिति। पुरुषं हैव तदुवाच। वेत्थार्कपर्णे इति कर्णौ हैव तदुवाच। वेत्थार्कपुष्पे इत्यक्षिणी हैव तदुवाच। वेत्थार्ककोश्याविति नासिके हैव तदुवाच। वेत्थार्कसमुद्गकावित्योष्ठौ हैव तदुवाच। वेत्थार्कधाना दन्तान्हैव तदुवाच। वेत्थार्काष्ठीलाविति जिह्वां हैव तदुवाच। वेत्थार्कमूलम् इत्यन्नं हैव तदुवाच। श० १० ३।४।५॥ अन्नं वै देवा अर्क इति वदन्ति। रसमस्य पुष्पम्। तां० १५।३।२३॥

वैदिक परिभाषा में अर्क शब्द से अन्न, आदित्य, चक्षु, अग्नि, जीव, परमपुरुष, प्राण और पुरुष या जीवात्मा कहे जाते हैं। गायत्र से अर्क को पाता है, ज्ञान करता है, या मापता है अर्थात्) पृथ्वी से अन्न प्राप्त करता है, प्राण से आत्मा का ज्ञान करते हैं, आत्मा से परमात्मा का ज्ञान करते हैं इत्यादि योग्य योजनाएँ करनी चाहियें।

(२) 'अर्केण साम'—अर्कः पुरस्तादुक्तः। साम—स प्रजापतिः हैवं षोडशधा आत्मानं विकृत्य सार्धं समैत्। तद् यत्सार्धं समैत् तत् साम्नः सामत्वम्। जै० उ० १।४८।७॥ एष आदित्यः सर्वैर्लोकैः समः, तस्मादेष एव साम। जै० उ० १।१२।५॥ एतं पुरुषं छन्दोगा उपासते। एतस्मिन्

हि इदं सर्वं समानम् । श० १०।५।२।१०॥ तद् यत् सा च अमश्च तत् साम अभवत् । जै० उ० १।५३।५॥ यद्वै तत्सा च अमश्च समवदताम् तत्साम्नः सामत्वं । गो० उ० ३।२०॥ सैव नाम ऋक् अमो नाम सा । गो० उ० ३।२०॥ प्राणो वाव अमः वाक् सा तत्साम । जै० उ० ४।२३।३॥ प्राणो वै साम प्राणे हीमानि भूतानि सम्यञ्चि । श० १४।८।१४।३॥ तद् यदेतत्सर्वं वाचमेवाभिसमापति तस्माद्वागेव साम । जै० उ० १।४०।६॥ स्वर्गो लोकः सामवेदः । ष० १।५॥ साम वै देवानामन्नम् । तां० ६।४।१३॥ साम्राज्यं वै साम । श० १२।८।३।२३॥ क्षत्रं साम । १२।८।३।२३॥ संवत्सर एव साम। जै० उ० १।३५।१॥ बन्धुमत्साम । गो० उ० ३।६।७॥ साम हि सत्याशीः । तां० ११।१०।१०॥ तयोः सदसतोः यत् सत् तत् साम तन् मनः, स प्राणः । जै० उ० १।५३।२॥ धर्मः इन्द्रो राजा । तस्य देवा विशः । सामानि वेदः । श० १३।४।३।१४॥

वैदिक परिभाषा में साम शब्द से शोडशकल प्रजापति, सर्व लोकमय आदित्य=परमेश्वर, सर्वोपास्य पुरुष, ऋग्वेद और सामवेद, प्राण् वाक्, प्राण, स्वर्ग=मोक्षपद, देवों का अन्न=ज्ञान, क्षत्रबल, साम्राज्य, सत्, मनः प्राण, विद्वानों का ब्रह्म ज्ञानमय उपासना काण्ड=सामवेद, इतने अभिप्राय लिये जाते हैं ।

'अर्क से साम' का प्रतिमान, ज्ञान, मापन और प्राप्त किया जाता है अर्थात् अन्न से प्राण और मन प्राप्त किया जाता है, आदित्य से क्षात्रबल की उपमा है, आदित्य से ब्रह्म की उपमा है । अग्नि=जीव या आत्मा से षोडशकला प्रजापति का परिज्ञान किया जाता है, प्राण से वाणी उत्पन्न होती है आत्मा से परमपद या परमात्मा प्राप्त होता है । ऋग्वेद से सामवेद का गान उत्पन्न होता है । इत्यादि नाना सत्य योजना करनी चाहिये ।

(३) 'त्रैष्टुभेन वाकम्' त्रैष्टुभः प्रागुक्तः । वाकम्—वाग् वै गौः । श० ७।२।२।५॥ वाग् वै धेनुः । गो०पू०२।२१॥ वाक् सरस्वती । श० ७।५।१।

३१॥ वाग् वै सरस्वती पावीरवी। ऐ० ३।३७॥ अथ यत् स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदग्नेः सारस्वतं रूपम् । ऐ० ३।२॥ सा वाक् ऊर्ध्वा उदातनोद् यदपां धारा संतता। ता० २०।१४।२॥ वाग् वै मनः समुद्रस्य चक्षुः। ता० ६।४।७॥ यदाहुः किं सहस्रम् । इति इमे लोकाः इमे वेदाः अथो वाग् इति ब्रूयात् । ऐ० ६।१५॥ वाग् वै सिनीवाली । श० ६।५।१।९॥ वाग् वै सार्पराज्ञी । कौ० २७।४॥ वाग् वै धिषणा । श० ६।५।४।५॥ वाग् वै राष्ट्री । ऐ० १।१९॥ वाग् इति पृथवी । जै० उ० ४।२२।११॥ वाग् इति अन्तरिक्षम् । जै० उ० ४।२२।११॥ वाग् वै विराट् । श० ३।५।१।३४॥ वाग् वै विश्वकर्मा ऋषिः वाचा हि इदं सर्वं कृतम् । श० ८।१।२।९॥ महिषी हि वाक् । श० ६।५।३।४॥ वाग् ऋक् । जै० उ० ४।२३।४॥ वाघ् हि शस्त्रम् । ऐ० ३।४४॥ वाग् वा इन्द्रः, या वाक् सा अग्निः । गो० उ० ४।११॥ वाग् हि अग्नेः स्वो महिमा । श० १४।२।१७॥ प्रजापतिर्हि वाक् । तै० १।३।४।५॥ वाग् वै वायुः । तै० १।८।८।१॥ तस्याः वाचः प्राणः स्वरसः । जै० उ० १। १।७॥ मनसः एषा कुल्या यद् वाक् । जै० उ० १।५८।३॥ अपरिमिततरमिव हि मनः परिमिततरेव हि वाक्। श० १।४।४।७॥ मनो ह पूर्वं वाचः यद्धि-मनसा अभिगच्छति तद्वाचा वदति । ता० १।१।१।३॥ वाग् यज्ञः । श० १।५।२।७॥ वज्र एव वाक् । ऐ० २।२१॥ वाग् इति स्त्री । जै० उ० ४। २२।११॥ वाचो वाव तौ स्तनौ सत्यानृते वाव ते । ऐ० ४।१॥ इत्यादि ।

वैदिक परिभाषा के अनुसार वाक् शब्द से वाणी, धेनु, मेघ, गर्जना, विद्युत्, वेद, सिनीवाली, पृथिवी, बुद्धि, राष्ट्रशक्ति, अन्तरिक्ष, विराट् विश्वकर्मा=परमात्मा, रानी, ऋग्वेद, अग्नि, प्रजापति=परमेश्वर, वायु, यज्ञ, वज्र, स्त्री इत्यादि पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं। त्रैष्टुभ से वाक् को प्राप्त किया जाता, परिमित किया तथा ज्ञान किया जाता या मापा जाता है। अर्थात् अन्तरिक्ष से वायु परिमित है, प्राण से वाणी उत्पन्न होती है, मन के भावों को वाणी परिमित करती हैं, वायु से वाक् या शब्द उत्पन्न होता

है, राजा से राष्ट्रशक्ति परिमित है, राष्ट्रशक्ति से पृथिवी शासित है, द्यौ से पृथिवी परिमित है, इत्यादि योजनाएं स्पष्ट हैं।

(४) 'वाकेन वाकम्'—वाक् इति प्रागुक्तम्। 'वाणी से वाणी' या वाक् से वाक् परिमित है अर्थात् वाक् से ये समस्त वेद प्राप्त हैं, परिमित हैं या वाणी द्वारा प्रजापति जाना जाता है। वाणी से यज्ञ होता है। वाणी से राष्ट्रशक्ति संचालित है वाणी से लोकवेद सीमित, परिज्ञात एवं वर्णित हैं इत्यादि योजनाएं स्पष्ट हैं।

(५) (द्विपदा चतुष्पदा अक्षरेण सप्तवाणीः मिमते) द्विपाद्, चतुष्पाद् अक्षरों से सातों वाणियों को मापा जाता है अर्थात् अक्षरों की गणना से दो दो चरणों और चार २ चरणों से सात मुख्य छन्द की रचना होती है। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्तिः त्रिष्टुप् और जगती, ये सात छन्द हैं। इसी प्रकार सात प्रतिछन्द, सात विच्छन्द गिने जाते हैं। जिनका संक्षिप्त विवरण साम की भूमिका में स्पष्ट है। अथवा—द्विपदाः (ऋचः) पुरुषो द्विपदाः। तै० ३।९।१२।३॥ द्विपदा अयं पुरुषः। श० २।३।४।६३॥ चतुष्पदाः पशवः। गो० उ० ११४॥ चतुष्पाद् वा ब्रह्म। छान्दो० उपनि०। कतमत्तदक्षरमिति यत्क्षरन्नाक्षीयतेति। इन्द्रः। विराजो वा एतद् रूपं यदक्षरम्। तां० ८।६।१४॥ अक्षयं वा नामैतत् तदक्षरं परोक्षम्। अर्थात् द्विपद् पुरुष और चतुष्पाद् ब्रह्म जो अक्षर अविनाशी है उनमे समस्त सातों वाणियों, सातों छन्दों का ज्ञान किया जाता है। या वे सातों छन्द आत्मा परमात्मा के वाचक हैं। जैसा गायत्र, त्रैष्टुभ, जगती आदि की विवेचना में दर्शाया है।

जगता सिन्धुं दिव्यस्कभायद् रथंतरे सूर्यं पर्यपश्यत्।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा ॥३॥

ऋ० १। १६४। २५॥

भा०—(१) परमात्मा ने (दिवि) द्यौलोक आकाश में (जगता) 'जगत्'

गतिशक्ति से (सिन्धुम्) सिन्धु गतिशील पदार्थों को (अस्कभायत्) थाम रक्खा है। (२) (रथन्तरे) रथन्तर में (सूर्यम्) 'सूर्य' का (परि अपश्यत्) दर्शन किया है। (३) (गायत्रस्य) गायत्र की (तिस्रः समिधः) तीन समिधा तीन प्रकाशमान अग्नि (आहुः) बतलाते हैं। (४) वह परमात्मा (ततः) उन सबसे भी अधिक (मह्ना महित्वा) बड़े भारी सामर्थ्य से (परिरिचे) सबसे अधिक महान् है।

(१) 'जगता'=जगत् निरन्तर गति से, 'सिन्धु'=गतिशील पदार्थों को थाम रखा है। अथवा। तद् यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः। जै०उ० १।२९।९॥ प्राणो वै सिन्धुश्छन्दः। श० ८।५। २४॥ जगत् अर्थात् अन्य आदित्यों की शक्ति से सब के बन्धक सिन्धु आदित्य को आकाश लोक में थामा है।

(२) रथन्तरं=रसतमं ह वै तद् रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्। श० ९। १। २। ३६॥ अयं पृथिवी लोको रथन्तरम्। ए० ८। १॥ वाग् रथन्तरम्। तां० ७।६।१७॥ ब्रह्म वै रथन्तरम्। ऐ० ७। १। १२॥ अपानो रथन्तरम्। तां० ७।६।१४॥ प्रजननं वै रथन्तरम्। तां० ७।७।१६॥ रथन्तरे इति निमित्त सप्तमी।

योगी साधक रसतम परमब्रह्मपद में उस सूर्य=परम ज्योतिर्मय का दर्शन करता है या पृथ्वी के निमित्त सूर्य को बना देखता है।

(३) गायत्रस्य तिस्रः समिध आहुः। समस्त संसार को तीन प्रकाशमान अग्नि हैं। अग्नि, विद्युत् और सूर्य।

(४) परन्तु वह परमात्मा अपने महान् सामर्थ्य से उनसे भी बड़ा है। 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ कठ० उप०।

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम्।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विष॒न्नो॒ऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥४॥

ऋ० १। १६४। २६॥ अथर्व० ७। ७३। ७॥

भा०—व्याख्या देखो [का० ७ । ७३ । ७]

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥ ५ ॥
ऋ० १ । १६४ । २७ ॥ अथर्व० ७ । ७३ । ८ ॥

भा०—व्याख्या देखो [का० ७ । ७३ । ८]

गौरमीमेदभि वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ ।
सृक्काणं घर्मम्भि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥ ६ ॥
ऋ० १ । १६४ । २८ ॥

भा०—(गौः) जिस प्रकार गौ (मिषन्तं वत्सं अभि) उत्सुकता के कारण छटपटाते या अनिमेष वृत्ति से देखते हुए बछड़े के प्रति (अमीमेत्) हंभारती है और जिस प्रकार (मातवा उ) बछड़ा भी माता के लिये अपने (मूर्धानम्) शिर को (हिङ् अकृणोत्) हिंकार के शब्द से उत्सुकता से हिलाता और हंभारता है उसी प्रकार यह प्रजापति की परम वाणी मेघमयी (सृक्काणं) अपने सर्जन करने वाले (घर्मं) अति तेजस्वी सूर्य के प्रति (वावशाना) अति कामना युक्त होकर शब्द करती या गर्जती हुई (मायुम्) घनघोर शब्द (मिमाति) करती है और स्वयं (पयोभिः) अपने जल वर्षणों द्वारा (पयते) रसों का पान कराती है । अध्यात्म में—गौः=सर्वव्यापक ब्रह्मशक्ति (मिषन्तं वत्सं) अति उत्कण्ठित जीव के प्रति अपना (अमीमेद्) ज्ञान प्रदान करती या अनाहत नाद उत्पन्न करती है । और वह जीव आत्मा भी अपने (मातवा) माता के समान प्रेमी परमात्मा के लिये अपने शिरोभाग द्वारा (हिङ् कृणोति) उत्सुकता प्रकट करता है । वह ब्रह्ममयी ऋतम्भरा अपने (घर्मं सृक्काणं वावशाना) तेजोमय स्रष्टा के प्रति कामना करती हुई (मायुं मिमाति) शब्द या परमज्ञान

६—(प्र०) 'अनुवत्सं' इति ऋ० । 'अपवत्सं' इति पैप्प० सं० ।

उत्पन्न करती और (पयोभिः पयते) आनन्दमय अमृतों से तृप्त करती है ।

अ॒यं स शि॑ङ्क्ते॒ येन॒ गौर॒भीवृ॑ता॒ मिमा॑ति मा॒युं ध्व॒सना॒वधि॑ श्रि॒ता ।
सा चि॒त्तिभि॒र्नि हि च॒कार॒ मर्त्या॒न् वि॒द्युद् भव॑न्ती॒ प्रति॑ व॒व्रिमौ॑हत ॥७॥

ऋ० १ । १६४ । २९ ॥

भा०—(अयम्) यह मेघ जो ध्वनि करता है (सः) वही परमात्मा प्रजापति (शिङ्क्ते) ध्वनि करता है । (येन) जिससे (अभीवृता) घिरी हुई (गौः) मध्यम लोक की वाणी (मायुम्) मायु=शब्द को (मिमाति) करती है और वह (ध्वंसनौ) मेघ में (अधिश्रिता) आश्रय लिये रहती है । (सा) वह (चित्तिभिः) नाना क्रियाओं से (मर्त्यान्) मनुष्यों को (हि) निश्चय से (नि चकार) उपकार करती है । और (विद्युत् भवन्ती) वह विद्युत् रूप में प्रकट होती हुई (वव्रिम्) रूप को (प्रति औहत) प्राप्त होती है ।

ब्रह्मपक्ष में—(अयं सः शिङ्क्ते) यह वही परमात्मा वेदमय ज्ञान का उपदेश करता है (येन गौः अभीवृता) जिसने समस्त ज्ञानमय वाणी को अपने में धारण किया है । वही (मायु मिमाति) ज्ञानमय वेद वाणी की रचना करता है । यह वेदवाणी (ध्वंसनौ अधिश्रिता) समस्त संसार के ध्वंस प्रलय के करनेहारे परमात्मा में प्रलयकाल में, भी आश्रित रहती है । (सा) वह वेद वाणी ही (चित्तिभिः) नाना प्रज्ञानों और कर्मों के उपदेशों से (मर्त्यान् नि चकार) सब मरणधर्मा प्राणियों को सब कार्यों के करने में समर्थ करती है । और वही (विद्युत् भवन्ती) विशेष रूप से पदार्थों को द्योतन-प्रकाशन करने में समर्थ होकर (वव्रिम्) प्रत्येक रूप पदार्थ को या ज्ञान को (प्रत्यौहत) धारण करती है ।

शास्त्रयोनित्वात् । वेदान्तसूत्र । १ । ३॥ न सोऽस्तिप्रत्ययो लोके यः शब्दाधि माद् ऋते ॥

७-(तृ०) 'चकार मर्त्यं' इति ऋ०, पैप्प० सं० ।

परमात्मा वेद का परम कारण है। और कोई ऐसा ज्ञान नहीं जो शब्द ज्ञान के विना हो।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥ ८ ॥

ऋ० १ । १६४ । ३० ॥

भा०—(पस्त्यानाम्) समस्त गृहों, लोकों और प्रजाओं के (मध्ये) बीच में वह महान् परमेश्वर प्रभु (ध्रुवम्) नित्य, कूटस्थ होकर (एजत्) सबको चलाता हुआ (जीवम्) चेतनस्वरूप (तुरगातु) अति तीव्र गति से सर्वत्र व्यापक (अनत्) प्राणशक्ति का संचार करता हुआ (शये) सर्वत्र प्रशान्त रूप में, अव्यक्तरूप में व्यापक है। और (जीवः) वह जीवात्मा (अमृतस्य) उसी परम अमृत, मोक्षस्वरूप परमेश्वर के दिये (स्वधाभिः) निज कर्मफलों से (चरति) नाना योनियों में फल भोगता हुआ विचरता है। वह जीवात्मा भी (अमर्त्येन) अपने अमरधर्मा स्वरूप से रह कर भी (मर्त्येन) इस मरणशील अनित्य देह के (सयोनिः) साथ रहने के कारण जन्म लेकर रहता है। इसलिये शरीर के धर्म आत्मा के साथ कहे जाते हैं।

विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठे युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥९॥

ऋ० १० । ५५ । ५ ॥ साम० प्र० ४ । ४ । २ ॥

भा०—(सलिलस्य) सर्वव्यापक परमात्मा के (पृष्ठे) आश्रय पर (दद्राणम्) गति करते हुए (विधुम्) धौंकनी के समान प्राण धारण

८–(प्र०) 'अनच्छये' इति राथकामितः पाठः ।

९–(प्र०) 'दद्राणं समने बहूनां' इति ऋ०, साम,० तै० आ० । 'विधु दुद्राणा' इति पैप्प० सं० ।

करनेहारे (युवानम्) युवा, बलशाली (सन्तम्) अपने समीप प्राप्त जीव को (पलितः) सर्वव्यापक, परमपद में प्राप्त मोक्षरूप प्रभु (जगार) अपने भीतर ले लेता है, लीन, मग्न कर लेता है। हे जीव ! वहाँ उस (देवस्य) प्रकाशस्वरूप प्रभु परमात्मा के (काव्यम्) परम ज्ञानमय कौशल को (पश्य) देख, (महित्वा) जिसके महान् सामर्थ्य से (ह्यः) कल (सम-आनः) जो भली प्रकार जीवन धारण किये हुए होता है वह (अद्य) आज (ममार) प्राण त्याग देता है। जो महान् सामर्थ्यवान् जीव परमात्मा तक पहुँचता है, परमात्मा उसे अपनी शरण में रख लेता है और उस परमात्मा के अद्भुत व्यवस्थामय कौशल को देखो जो कल जीता है वह उसी की महिमा से आज प्राण त्याग रहा है। और प्राण आदि बन्धनों से मुक्त होकर वह परमात्मा की शरण में जाता है।

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश ॥१०॥(२६)

ऋ० १ । १६४ । ३२ ॥

भा०—(यः) जो (ईम्) इस जगत् को (चकार) बनाता है (सः) वह जीव (अस्य) इस परमेश्वर के विषय में (न वेद) नहीं जानता। और (यः) जो परमेश्वर (ईं ददर्श) इस समस्त संसार को देखता है, उस पर अध्यक्ष है वह भी (तस्मात्) उस जीव से (हिरुग् इत् नु) छिपा ही हुआ है। (सः) वह परमात्मा (मातुः) निर्माण करनेवाली प्रकृति के (योनौ) परम रूप या आश्रय में (परिवीतः) प्रविष्ट हुआ (बहु प्रजाः) नाना लोकों को उत्पन्न करता हुआ (निर्ऋतिः) ऋति=चेतना से रहित इस जड़ प्रकृति के भीतर (आविवेश) व्याप्त होकर रहता है।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।

स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ ११ ॥

ऋ० १ । १६४ । ३१ ॥ १० । १७७ । ३ ॥ यजु० ३७ । १७ ॥

भा०—मैं योगी (गोपाम्) समस्त ज्ञानवाणी या गतिशील जगत् के पालक परमेश्वर को (आ पथिभिः च) समीप के लोकों और (परा पथिभिः च) दूर के लोकों में भी (चरन्तम्) व्यापक (अनिपद्यमानम्) कभी भी न नाश होने वाले, अविनश्वर, नित्य रूप में (अपश्यम्) साक्षात् करता हूँ। (सः) वह परमेश्वर (सध्रीचीः) एक साथ विराजमान् और (वि-षूचीः) नाना प्रकार से एक दूसरे के विपरीत नाना शक्तियों को भी (वसानः) स्वयं धारण करता हुआ (भुवनेषु) समस्त लोकों के (अन्तः) भीतर (आ वरीवर्त्ति) समस्त चेष्टाओं और गतियों को उत्पन्न कर रहा है।

द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ १२ ॥

ऋ० १ । १६४ । ३३ ॥

भा०—(द्यौः) प्रकाशस्वरूप सूर्य के समान परमेश्वर ही (नः पिता) हमारा पालक पिता है। और (जनिता) वही हमारा उत्पादक है। वही (नाभिः) हम सब का उत्पत्ति स्थान, मूल कारण है। वही (इयम् पृथिवी) अति विस्तृत पृथिवी के समान विशाल होकर (नः) हमारी (माता) माता के समान है। वही (नः बन्धुः) हमारा बन्धु है। वही परमेश्वर (उत्तानयोः) ऊपर को विस्तृत, उत्तान रूप से विराजमान (चम्वोः) व्यापनशील, द्यौ, पृथिवी दोनों का (योनिः) परम आश्रय स्थान है। (पिता) सबका पालक परमेश्वर (अत्र) इस संसार में (दुहितुः) समस्त पदार्थों को पूर्ण करने और उत्पन्न करनेहारी पृथिवी

१२–(प्र०) 'द्यौर्मे' (द्वि०) 'बन्धुर्मे' इति ऋ० ।

और द्यौः दोनों के भीतर (गर्भम्) नाना पदार्थों के उत्पादन और ग्रहण करने के सामर्थ्य को (आधात्) धारण कराता है, प्रदान करता है।

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि वृष्णो अश्वस्य रेतः।
पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥१३॥
ऋ० १ । १६४ । ३४ ॥

भा०—हे विद्वन् गुरो ! (त्वा) तुझसे मैं जिज्ञासु (पृथिव्याः) इस विस्तृत पृथिवी या जगत् का (परम् अन्तम्) परम अन्त, सबसे परला अन्त, अवस्था के विषय में (पृच्छामि) पूछता हूँ। और (वृष्णः) सब पदार्थों के मेघ के समान वर्षण करनेहारे, परम बलशाली (अश्वस्य) सर्वव्यापक, परमेश्वर के (रेतः) सर्वोत्पादक वीर्य, सामर्थ्य के विषय में (पृच्छामि) प्रश्न करता हूँ। और (विश्वस्य) समस्त (भुवनस्य) संसार के (नाभिम्) नाभि, केन्द्र, परम बन्धन स्थान, उत्पत्तिस्थान, मूलकारण के विषय में (पृच्छामि) प्रश्न करता हूँ। और (वाचः) वेदज्ञान या वाणी के (परमं व्योम) परम आश्रय स्थान के विषय में (पृच्छामि) प्रश्न करता हूँ।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥१४॥
ऋ० १ । १६४ । ३४ ॥ यजु० २३ । ६१ । ६२ ॥

भा०—(इयं) यह (वेदि) ज्ञानमय और सब को प्राप्त करनेवाली या सत्ता स्वरूप प्रभु शक्ति, परमेश्वरी शक्ति (पृथिव्याः परः अन्तः) पृथिवी; इस जगत् का परम आश्रय है। (अयम्) यह (सोमः) सब का प्रेरक सूर्य (वृष्णः अश्वस्य रेतः) जिस प्रकार वर्षणशील अश्व=

१३–(द्वि०, तृ०) 'पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभेः। पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः।' इति ऋ०, यजु०। पैप्प० सं० ऋग्वेदवत् पाठः (तृ०) 'पृच्छामि त्वा' इति विशेषः। 'पृच्छामः' इति ला० श्रौ० सू०।

मेघ का परम उत्पादक है उसी प्रकार वह सूर्य इस बलवान् सर्व वर्षक (अश्वस्य) सर्वव्यापक परमेश्वर का (रेतः) उत्पादक सामर्थ्य, तेज है । (अयं यज्ञः) यह यज्ञमय परमात्मा (विश्वस्य भुवनस्य नाभिः) *समस्त भुवन की नाभि, केन्द्र या आश्रय है । (अयं ब्रह्मा) ब्रह्म के समान* वह परम महान् परमात्मा ही (वाचः) वेदवाणियों का (परमम्) परम (व्योम) रक्षा स्थान या आश्रय है ।

न वि जानामि यदिव वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥१५॥
ऋ० १ । १६४ । ३७ ॥

भा०—मैं जीव (यद् इव इदम् अस्मि) जिस पदार्थ के समान यह जो कुछ भी, शरीरादि संघात रूप हूँ (न विजानामि) इस बात को भी विशेष रूप से नहीं जानता । अर्थात् मैं आत्मा के स्वरूप बतलाने के लिये किसी अन्य पदार्थ को उसके लिये दृष्टान्त के रूप में नहीं रख सकता और न शरीर, इन्द्रिय, मन आदि के संघात के तत्व को बतला सकता हूँ और जब मैं अपने पर विचार करता हूँ तब देखता हूँ कि मैं स्वयं (निण्यः) भीतर छुपा हुआ और (संनद्धः) बन्धनों से बँधा हुआ हूँ और (मनसा) मनस् अर्थात् संकल्प विकल्प शक्ति से (चरामि) कर्म फल भोगता और जीवनयापन करता हूं । और (यदा) जब (ऋतस्य) सत्य ज्ञानमय वेद के (प्रथमजाः) प्रथम २ उत्पन्न, ज्ञान (मा अगन्) मुझे प्राप्त होते हैं (आत् इत्) तभी मैं (अस्याः) इस (वाचः) परम ब्रह्ममय, वेद वाणी के (भागम्) प्राप्त करने योग्य सार का (अश्नुवे) ज्ञान प्राप्त करता हूँ ।

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥ १६ ॥   ऋ० १ । १६४ । ३८ ॥

भा०—(अमर्त्यः) अमरणधर्मा नित्य आत्मा (मर्त्येन) मरणधर्मा अनित्य देह के साथ (सयोनिः) एकत्र होकर (स्वधया) स्वयं धारण किये हुए अपने कर्म बन्धन या कर्मफल से (गृभीतः) बद्ध होकर (अपाङ्) नीचे के लोकों और (प्राङ्) उत्कृष्ट लोकों में (एति) जाता है । (तौ) वे दोनों नित्य और अनित्य देह और आत्मा (विषूचीना) नाना प्रकार के गति करनेहारे (वियन्ता) विशेष रूप से बद्ध होकर रहा करते हैं । इनमें से (अन्यम्) एक को तो (निचिक्युः) लोग साक्षात जान लेते हैं और (अन्यम्) दूसरे आत्मा के स्वरूप को (न निचिक्युः) नहीं जान पाते हैं ।

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥१७॥

ऋ० १ । १६४ । ३० ॥

भा०—(सप्तार्ध-गर्भाः) सात या सर्पण स्वभाव, गतिशील, अर्ध गर्भ अर्थात् परम उत्कृष्ट परमेश्वर की शक्ति को अपने भीतर धारण किये हुए प्रकृति के विकारभूत अहंकार, महत् और पञ्चतन्मात्राएँ, (भुवनस्य) इस समस्त संसार के (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (रेतः) उत्पादक वीर्य के स्वरूप हैं जो उस (विधर्मणि) विशेष रूप से धारण करने में समर्थ परमेश्वर में ही (प्रदिशा) उसके उत्कृष्ट शासन से (तिष्ठन्ति) विराजते हैं । (ते) वे (विपश्चितः) सब कर्मों और ज्ञानों के स्वामी परमेश्वर के (धीतिभिः) धारणा शक्तियों से सम्पन्न होकर और उसी के (मनसा) मानस संकल्पबल से या स्तम्भन सामर्थ्य से (परिभुवः) सर्वत्र फैल कर (विश्वतः) सब प्रकार से और सब रूपों में (परि भवन्ति) परिणित हो जाते हैं । अध्यात्म में—सप्तार्ध-गर्भाः=सात प्राण, (विष्णोः

१६–(प्र०) 'अप्राङ् प्राङेति' इति कठ० सं० ।

विंयश्रितः) व्यापक ज्ञानी आत्मा के कर्म और मन सामर्थ्य से नाना रूपों को धारण करते और कार्य करते हैं ।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अमी समासते ॥ १८ ॥　　ऋ० १ । १३४ । ३९ ॥

भा०—(ऋचः) ऋग्=ऋग्वेद आदि चारों वेदों की ऋचाओं के प्रतिपाद्य विषय अथवा अर्चनीय, परम पूजनीय ईश्वर के (यस्मिन्) जिस (परमे) परम (व्योमन्) विशेष रक्षा स्थान में (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् गण एवं दिव्य पदार्थ, सूर्य, चन्द्र आदि (निषेदुः) आश्रय लेते हैं। (यः) जो पुरुष (तत् न वेद) उसका ज्ञान नहीं करता (ऋचा) ऋग् मन्त्रों से (किम् करिष्यति) क्या फल प्राप्त करेगा और (ये इत् तत् विदुः) जो विद्वान् उस परम तत्व को जान लेते हैं (ते) वे (अमी) ये लोग मोक्ष में (आसते) स्थान प्राप्त करते हैं ।

ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत् ।
त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥ १९ ॥

भा०—जिस प्रकार (ऋचः) ऋचा के (पदं मात्रया) एक चरण को ह्रस्व, दीर्घ आदि मात्रा से कल्पित करते हैं उसी प्रकार (ऋचः) परम अर्चनीय, अथवा ऋचाओं के परम प्रतिपाद्य विषय या, परम पूजनीय ब्रह्म की (मात्रया) मात्रा अर्थात् जगत् के निर्माण करनेहारी शक्ति से उसके (पदम्) परम स्वरूप की (कल्पयन्तः) कल्पना करते हुए विद्वान् पुरुष (अर्धर्चेन) उसके तेजोमय समृद्ध ज्ञानमय स्वरूप से इस (एजत्) गतिशील (विश्वम्) विश्व को (चक्लृपुः) बना हुआ मानते

१८–(च०) 'त इमे' इति ऋ० ।
१९–(तृ०) 'परिरूपं विचष्टे' इति पैप्प० सं० ।

हैं। वस्तुतः (त्रिपात्) तीन चरणों वाला, तीन रूपों वाला ब्रह्म ही (पुररूपं) नाना रूप धारण करके (वितस्थे) विविध रूप से स्थित है (तेन) उसी के सामर्थ्य से (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाएँ, दिशाओं के लोक (जीवन्ति) प्राण धारण करते हैं ।

सूयवसाद् भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥२०॥(२७)
ऋ० १ । १३४ । ४० ॥ अथर्व० ७ । ७३ । ११ ॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व० [७ । ७३ । ११]

गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः
समुद्रा अधि वि क्षरन्ति ॥ २१ ॥ ऋ० १ । १३४ । ४१ ॥

भा०—(गौः इत्) वह पूर्वोक्त गौ, व्यापक ब्रह्मशक्ति ही (सलिलानि) जगत् के कारणस्वरूप प्रकृति के सूक्ष्म, आपःस्वरूप परमाणुओं को (तक्षति) विपरिणत करके सृष्टि की रचना करती है । वह (एक-पदी) एक ब्रह्म रूप से जानने योग्य होने से 'एकपदी' है। वह (द्विपदी) चर और अचर रूप से या प्रकृति-पुरुष भेद वर्त्तमान रहने के कारण द्विपदी कहाती है। (चतुष्पदी) चारों दिशाओं में व्यापक होने से अर्थात् चार भूतों में परिणत होने से 'चतुष्पदी' कहाती है। (अष्टापदी) अवान्तर दिशाओं में व्याप्त होने से अथवा वह ब्रह्म की शक्ति प्रकृति के आठ भेदों से आठ रूपों में अभिव्यक्त होने के कारण 'अष्टापदी' कहाती है। (नवपदी) वही उक्त आठों में पुरुष या जीवात्मा की गणना से 'नवपदी' कहाती है। वही (सहस्राक्षरा) सहस्र या बलमयी, शक्तिमयी 'अक्षरा', अविना-

२१–(प्र०) 'गौरीर्मिमाय (च०) 'सहस्राक्षरा परमे व्योमन्' इति ऋ० । पञ्चमः पादः ऋ० १।१६४।४२॥ इत्यस्याः प्रथमः पादः ।

शिनी ब्रह्म शक्ति सहस्रों रूपों में या सहस्र=विश्व के रूपों में प्रादुर्भाव होनेवाली (भुवनस्य) इस समस्त भुवन=ब्रह्माण्ड की (पङ्क्तिः) पकाने या परिपक्व करनेवाली है अर्थात् उसको अपरिपक्व अव्याकृत दशा से परिपक्व अर्थात् व्याकृत दशा में लानेवाली है ।

'एकपदी'—'अजः एकपात्' । वेद । जैसे गीता में लिखा है—

'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्' ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

ज्योतिषामपि तज्जोतिस्तमसः परमुच्यते ॥ १७ ॥ [गीता० अ० १३]

'द्विपदी'—प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि । [गी० अ० १३।१९]

'चतुष्पदी'—प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च । [गीता० १३ । १]

'अष्टापदी'—भूमिरापोऽनलोवायुः ख मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्नाप्रकृतिरष्टधा । [गी० अ० ७ । ४ ॥]

'नवपदी'—अपरेयमितस्त्वन्मां प्रकृतिं विद्धिमे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो मयेदं धार्यते जगत् ॥ [गी० ३ ।७।५॥]

'सहस्राक्षरा—'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय

अहं कृत्यस्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।   [गी० अ० ७ । ६]

(तस्याः) उसी ब्रह्मशक्ति से (समुद्राः) समुद्र, अक्षय भण्डार प्रकृति के अक्षयकोष (अपि) भी (विक्षरन्ति) नाना प्रकार से बह रहे हैं । पाँचों भूत पाँच अक्षय कोष हैं ।

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्त्तिभिः ।

जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् । इति मनुः १२ । १ । ४ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् । [गी० अ० १० ॥]

वाक् पक्ष में—वह सदा ब्रह्ममयी वाणी; घर आदि पदार्थों को प्रकाशित करती हुई, अव्याकृत 'ओम्' रूप एकपदा, सुप्, तिङ् भेद से द्विपदा, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात भेद से 'चतुष्पदा'; सात विभक्ति और सम्बोधन भेद से 'अष्टापदी' अव्यय भेद से नवपदी, अथवा

नाभि सहित कण्ठ तालु आदि भेद से नवपदी और फिर भी नाना रूप होकर परम व्योम हृदय देश या मूलाधार में सहस्राक्षरा होकर विराजती है, इति दिक् ।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
ते आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः ॥ २२॥

ऋ० १।१६४।४७॥ अथर्व० का० ६।२२।१॥

भा०—व्याख्या देखो [अथर्व० का० ६ । २२ । १ ।] (नियानम्) अपने परम आश्रय स्थान (कृष्णम्) कर्षण; आकर्षणशील या सर्व भव-दुःखों के विलेखन या विच्छेदन करनेहारे उस ब्रह्म को (सुपर्णाः) उत्तम ज्ञानसम्पन्न, मुक्त जीव आत्मा (हरयः) रश्मियों के समान प्रदीप्त तेजः-सम्पन्न (अपः वसानाः) कर्म और ज्ञानों से सम्पन्न होकर (दिवम्) प्रकाशमय परम मोक्षपद को (उत्पतन्ति) जाते हैं। (ते) वे पुनः अपना मोक्षानन्द भोग कर (ऋतस्य सनदात्) उस सत्यज्ञान के आश्रय स्थान परमात्मा के पास से (आववृत्रन्) पुनः लौट कर आते हैं और (घृतेन इत्) प्रकाशमय ज्ञान से सूर्य में निकली किरणें जिस प्रकार मेघ जल से पृथिवी को सींचती हैं उसी प्रकार (पृथिवीं व्यूदुः) पृथिवीवासी जनों को तृप्त करते हैं । अर्थात् ज्ञान का प्रकाश करते हैं ।

अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद् वां मित्रावरुणा चिकेत ।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्या ऋतं पिपर्त्यनृतं नि पाति ॥ २३ ॥

ऋ० १।१५२।३॥

भा०—(पद्वतीनां प्रथमा) पूर्वोक्त एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी आदि ब्रह्मशक्तियों में से सबसे प्रथम विद्यमान, अव्याकृत ब्रह्मशक्ति (अपाद्) 'अपात्' अविज्ञेय रूप, अमात्र है। वही परम 'तुरीय पद' कहाती है। हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण, प्राण और अपान ! (वां कः) तुम दोनों में

से कौन (तत्) उस 'अपात्' वाणी के स्वरूप को (चिकेत) जानता है। (अस्याः) इसके (गर्भः) गर्भ, अर्थात् गर्भ में स्थित तेजोमय स्वरूप ज्ञान या इसका धारण करनेहारा ब्रह्म ईश्वर (भारम्) समस्त विश्व के भार को या भरणपोषण के सामर्थ्य को (आभरति चित्) निश्चय से धारण करता है। और वही परमेश्वर (ऋतम्) सत्य ज्ञान और अनन्त बल या जगत् को (पिपर्त्ति) पूर्ण रूप से धारण या पालन करता है और (अनृतम्) असत्य, अज्ञान अन्धकार को नाश करता है।

(तृ०) 'आचित् । अस्याः । ऋतम् ।' इति अथर्वगतमन्त्रस्य पदच्छेदः । 'आचित् । अस्य । ऋतम् ।' इति ऋग्वेदीयः पदच्छेदः ।

विराड् वाग् विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः ।
विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं भव्यं वशे स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु ॥ २४ ॥

भा०—(विराट्) विराट् (वाक्) वाणी है। (विराड् पृथिवी) विराट् पृथिवी है। (विराट् अन्तरिक्षम्) विराट् अन्तरिक्ष है। (विराट् प्रजापतिः) विराट् प्रजापति है। (विराट् मृत्युः) विराट् मृत्यु है, वही विराट् (साध्यानाम्) समस्त साध्य अर्थात् वश करने योग्य अथवा संसार के पदार्थों के रचने के लिये विशेष नियम में लाने योग्य प्राकृत विकारों तथा साधनासम्पन्न मुमुक्षु जीवों का (अधिराजः) अधीश्वर (बभूव) है। (तस्य वशे) उसके वश में (भूतम्) भूत, उत्पन्न संसार और (भव्यम्) भविष्यत् कालिक संसार भी है। वह (भूतं भव्यम्) भूतकाल और भविष्यत्काल को (मे वशे कृणोतु) मेरे वश में करे। अर्थात् विराट् शब्द से वाक्, पृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रजापति, मृत्यु इनका भी ग्रहण है और इन नामों से भी विराट् परमेश्वर का

२३–(च०) 'अस्य ऋतं', 'नितारीन्' इति ऋ० । 'चिदाद् ऋतस्य इति पैप्प० सं० ।

ही ग्रहण है । इन आठ रूपों को लेकर वाक् और ईश्वरी शक्ति 'अष्टापदा' कही गयी है ।

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥२५॥

ऋ० १ । १६४ । ४३ ॥

भा०—मैं तत्वदर्शी ऋषि (विपूवता) नाना प्रकार से उत्पत्ति क्रिया से युक्त (एना अवरेण) इस प्रत्यक्ष कार्यरूप जगत् से (परः) परे मैं (शकमयम्) शक्तिमय (धूमम्) इस संसार को गति देने वाले परमेश्वर को कारण रूपसे (आरात्) साक्षात् (अपश्यम्) देख रहा हूं । (वीराः) वीर्यवान्, ब्रह्मचारी विद्वान् लोग उसी (उक्षाणम्) समस्त जगत् को धारण करने में समर्थ (पृश्निम्) आदित्य स्वरूप, तेजोमय समस्त आनन्द-रसों को धारण करने वाले आनन्दघन को (अपचन्त) योग अभ्यास द्वारा परिपक्व करते हैं । (तानि) वे (धर्माणि) धारण करने योग्य यम, नियम आदि के तपोमय आचार (प्रथमानि) सबसे श्रेष्ठ (आसन्) हैं जिनके अभ्यास से उस परम शक्ति का साक्षात् होता है ।

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥२६॥

भा०—(त्रयः) तीन (केशिनः) केशी, तेजस्वी पदार्थ (ऋतुथा) ऋतु काल के अनुसार (वि चक्षते) दिखाई देते हैं या इस विश्व को देखते हैं उसपर अपनी दृष्टि रखते हैं । (एषाम्) इनमें से (एकः) एक (संवत्सरे) वर्ष भर (वपते) ओषधि आदि वनस्पतियों के बीज वपन करता है । (अन्यः) दूसरा विश्व को (अभिचष्टे) प्रकाशित करता है, देखता है, रक्षा करता है । और (एकस्य) एक की (ध्राजिः) संहारकारी प्रबलगति (ददृशे) देखी जाती है, (रूपं न) उसका रूप नहीं दिखाई देता ।

२६–(तृ०) 'विश्वमेको' इति ऋ० ।

सृष्टि, स्थिति, संहारकारी ईश्वर तीनों शक्तियां यहां तेन केशी हैं वे यथाकाल अपना कार्य करती हैं एक शक्ति समस्त जीवों, वनस्पतियों या लोकों को उत्पन्न करती, दूसरी पालन करनी और तीसरी संहार करता है। भौतिक पक्षमें अग्नि, आदित्य और वायु अथवा मेघ, आदित्य और वायु हैं।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥२७॥
ऋ० १ । १६४ । ४५ ॥

भा०—(वाक्) वाणी के (चत्वारि पदानि) चार ज्ञातव्य रूप (परिमितानि) जाने गये हैं। (तानि) उनको (ये मनीषिणः) मनीषी, संकल्प विकल्प चतुर, मननशील (ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण लोग (विदुः) जानते हैं। (त्रीणि) तीन रूप तो (गुहा) गुहा में, गूढ़ परमात्मा की शक्ति में (निहिता) गुप्तरूप से रक्खे हैं। वे (न इङ्गयन्ति) अपना रूप प्रकट नहीं करते। और (वाचः) वाणी के (तुरीयम्) चौथे रूप को (मनुष्याः वदन्ति) मनुष्य स्पष्ट बोलते हैं।

'चत्वारि पदानि=' कई विद्वानों के मत से 'भूः, भुवः, स्वः, ओ३म्' ये चार पद हैं। दूसरे वैयाकरण लोगों के मत से नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात, ये चार पद हैं। याज्ञिकों के मत में मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण और लौकिक भाषा, ये चार पद हैं। निरुक्तवादियों के मतमें—ऋग्, यजुः, साम और लौकिक भाषा ये चार पद हैं। ऐतिहासिकों के मत में सर्पों की, पक्षियों की, क्षुद्र जन्तुओं की और मनुष्यों की वाणी, ये चार पद हैं। अध्यात्मवादियों के मत से पशुओं में, वाद्य यन्त्रों में, मृगों में और मानव देह में फैली वाणियां चार पद हैं, मान्त्रिक लोगों के मत में—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चार पद हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार तीनों लोकों में वाणी के तीन रूप हैं। पृथिवी में अग्निरूप, अन्तरिक्ष में वायु रूप, द्यौ में आदित्यरूप, उससे अतिरिक्त चतुर्थ व्याकृता वाणी ब्राह्मणों में है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥२८॥(२८)

भा०—उस परमेश्वरी शक्ति को (इन्द्रं मित्रं, वरुणम्, अग्निम्, आहुः) इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि नाम से पुकारते हैं । (अथो) और (सः) वही (गरुत्मान्) ज्ञान से सम्पन्न (सुपर्णः) उत्तम पालक होने से 'सुपर्ण' और (गरुत्मान्) ज्ञानमय होने से 'गरुत्मान्' भी कहा जाता है । उसीको (अग्निम्) प्रकाशमान होने से 'अग्नि' (यमं मातरिश्वानम् आहुः) नियन्ता होने से यम और अन्तरिक्ष में या प्रकृति में व्यापक-प्रेरक होने से 'मातरिश्वा' भी कहते हैं (एकं सद्) उस एक सत् सत्य-रूप परमात्मा को (विप्राः) विद्वान् मेधावी लोग (बहुधा) बहुत नामों से (वद न्त) कह लेते हैं ।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ इति मनु० १२।१२३॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ इति मनु० १२।११९॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥
[तत्र सूक्तद्वयं ऋचश्च पञ्चाशत्]

नवमं काण्डं समाप्तम्

सूक्तानि दश, षष्ठस्य षट् पर्यायाः प्रकीर्त्तिताः ।
ऋचश्च नवमे काण्डे त्रयोदश शतत्रयम् ॥

वेदवस्वंकचन्द्राब्दे फाल्गुने सितपक्षके
नवम्यां ज्ञेहि नवमं काण्डं गतमथर्वणः ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते ऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये नवमं काण्ड समाप्तम् ॥